1951
अंक ९

* नाम-माहात्म्य *

विषय सूची

भाद्रपद संवत् २००८

दानदाताओं को सूचना

सर्व सज्जनों को सूचना दी जाती है कि श्री भगवान-भजनाश्रम को जो दान मनीआर्डर बीमा द्वारा प्राप्त होता है उसकी रसीद उसी दिन डाक द्वारा दाता महानुभाव की सेवा में भेज दी जाती है, अगर किन्हीं दाता महानुभाव को अपने दान की छपी हुई रसीद श्री भगवान भजनाश्रम की प्राप्त नहीं हुई है तो उन्हें तुरन्त सूचना देनी चाहिये एवं भविष्य में कभी किन्हीं दान दाता को अपने दान की रकम की रसीद प्राप्त नहीं हो तो तुरन्त हमें सूचना देनी चाहिये, इसमें बिल्कुल विलम्ब नहीं करना चाहिये।

कृपया पत्र आदि एवं मनीआर्डर बीमा निम्नपते पर भेजने की कृपा करें

मंत्री श्री भगवान-भजनाश्रम मु० पो० बृन्दावन (मथुरा)

वार्षिक मूल्य ₹) संस्थाओं से १॥≡) एक प्रति का ≡)

"नाम--माहात्म्य"

वृन्दावन

वर्ष ११ | नाम-माहात्म्य" वृन्दावन, सितम्बर सन् १९५१ | अंक ६

दीजै लीला रूप विव, नाम धाम अनुराग।
ललित सोहनी आदि लै, सबै टहल चित लाग॥
नाम धाम लीला अली, जुगल रूप सों प्रीति।
गैये रस श्रृङ्गार को, यह रसिकन की रीति॥
राधे राधे श्याम भज, भज श्री श्यामा-श्याम।
लार सकिन मन मगन रहु, निशि दिशि आठौ जाम॥

—परम भक्त श्री ललितकिशोरीजी

ईश्वर भक्ति, सदाचार और गीता की महिमा

(लेखक—श्री जयदयालजी गोयन्दका)

(गतांक से आगे)

कलियुग समयुग आन नहिं जो नर कर विश्वास।
गाइ राम गुन गन विमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

कलियुग के समान कोई युग नहीं है यदि कोई विश्वास करे। भगवान् के गुण गाने से कलियुग में बिना ही प्रयास से कल्याण हो जाता है। यह भी ईश्वर की बड़ी कृपा है। जो ऐसा मौका हमको दिया, प्रथम तो मनुष्य शरीर ही मिलना कठिन, असंख्य कोटि जीव हैं जिनमें ८४ लाख जातियां हैं। उनमें मनुष्य भी एक जाति है। और इने गिने हैं। उन मनुष्यों में ईश्वर ने हम लोगों को शामिल कर दिया है। यह ईश्वर की कितनी बड़ी कृपा है, यह होकर जो समय समय पर सत्संग मिल जाती है, यह भगवान की और भी विशेष कृपा है। इस प्रकार का संयोग पाकर भी यदि हमारी आत्मा का कल्याण न हो तो हमारे लिए शर्म की बात है।

जो न तरे भवसागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृत निन्दक मन्दमति, आतमहन गति जाइ॥

जो नर इस प्रकार के संग को पाकर संसार सागर से नहीं तरता है वह निन्दा का पात्र है, और मूर्ख है, और आत्मा की हत्या करने वाले की जो गति होती है वही उसकी होगी।

इन सब बातों का खयाल रखते हुए हम लोगों को अपना समय उत्तरोत्तर उच्च कर्म में बिताना चाहिए अर्थात् अपनी आत्मा की उत्तरोत्तर उन्नति करनी चाहिए। जिस काम को हम सबसे उत्तम समझते हैं उसे उत्तरोत्तर बढ़ाना [illegible] आत्मा के द्वारा आत्मा की उन्नति करना है। और जिसको हम बुरा समझते हैं उस कार्य को करना अपने द्वारा अपना पतन करना है।

सबसे उत्तम बात है भगवान का हर वक्त याद करना अर्थात् भगवान् के नाम का जप और उनके स्वरूप का ध्यान हर समय करना यह सर्वोत्तम है। इसकी पुष्टि के लिए सत्सङ्ग करना, सत्सङ्ग न मिले तो स्वाध्याय करना चाहिए किन्तु आसुरी सम्पदा वालों का संग नहीं करना चाहिए, जिनका वर्णन गीता अध्याय १६ श्लोक ४ से २१ तक आसुरी सम्पदा के नाम से किया है। दैवी सम्पदा का अनुष्ठान करना, यह अपने आपके द्वारा अपनी आत्मा को उन्नत करना है। और आसुरी सम्पदा को धारण करना अपने द्वारा अपनी आत्मा का पतन करना है।

अतः दुर्गुण, दुराचार और दुर्व्यसनों को विष के समान समझ कर इनका त्याग करना चाहिए। दुर्गुण क्या हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्,
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्य शाश्वतोऽयं पुराणो,
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ २।२० ॥

'यह आत्मा किसी काल में न तो जन्मता है और न मरता है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला ही है, क्योंकि यह 'अजन्मा', नित्य, सनातन और पुरातन है। शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता है। जब देह पात होने के बाद आपकी आत्मा है तो आपको खयाल करना चाहिए कि इस थोड़े से जीवन के लिए हम अपने जीवन को कलुषित बना के यहां से क्यों बिदा हों।'

यह मनुष्य का जीवन बहुत ही मूल्यवान है। ऐसा मौका आपको बार बार नहीं मिलेगा। ईश्वर की कृपा से आपको यह मौका मिल गया है तो एक-एक क्षण को दामी समझ करके जिस काम के लिए आप यहाँ आये हैं उसे शीघ्र बना लेना चाहिए जिससे फिर कभी आपको पश्चाताप न करना पड़े। अपनी आत्मा के लिए ही आपको यह मनुष्य शरीर दिया गया है। इस बात को समझ करके लाख काम छोड़ करके सबसे पहले अपना सारा समय अपनी आत्मा के कल्याण के काम में ही लगाना चाहिए!

एक परमात्मा और महात्माओं को छोड़ कर कोई भी आपका हितकर साथी नहीं है। तुलसी कृत रामायण के उत्तरकाण्ड में श्रीरामचन्द्रजी महाराज ने जब प्रजा को उपदेश दिया था, तो उसके उत्तर में प्रजा कहती है—

स्वारथ मीत सकल जग माहीं।
सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥

हे प्रभो! सब कोई स्वार्थ के लिए मित्र हैं। स्वार्थ छोड़ कर कोई भी परमार्थी मित्र नहीं है।

"कोई नहीं है" इसका मतलब यह नहीं है कि बिलकुल नहीं है। दो आदमी हैं। कौन?

हेतु रहित जग युग उपकारी।
तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

हे प्रभो! हे असुरादि! हेतु रहित उपकार करने वाले या तो आप हैं या भक्त हैं। तीसरा कोई नहीं है।' इस बात को खयाल में रखकर भगवान का भजन, ध्यान और सतपुरुषों का संग करना चाहिए। जिससे अपनी आत्मा का शीघ्रातिशीघ्र कल्याण हो जाय।

इससे बढ़ कर और सरल उपाय शास्त्रों में है ही नहीं। यदि थोड़ा भी समय बाकी रह जायगा तब भी आपका कल्याण हो सकता है, यदि भगवान् को याद करते हुए आप मरें। किन्तु यदि आपके कल्याण का काम बाकी रह जायगा तो फिर आपका कोई भी उत्तराधिकारी उसकी पूर्ति नहीं कर सकता। जो काम आपके सिवाय दूसरे द्वारा होना सम्भव नहीं उसे पहले करना चाहिए। सबसे जरूरी काम, अहंकार, राग, द्वेष आदि जितने भी हृदय के भाव हैं, इनका नाम दुर्गुण हैं। दुराचार क्या हैं—इन्द्रियों के आचरणों में जो बुरे आचरण है जिन्हें हम पाप कहते हैं, जैसे चोरी करना, व्यभिचार करना, मांस खाना, मदिरा पीना, जुआ खेलना, हिंसा करना, झूठ बोलना इत्यादि जो बुरे आचरण हैं इनका नाम दुराचार है। दुर्व्यसन क्या हैं— बुरी आदतें फालतू बकवाद करना, फालतू चिन्तन करना, फालतू चेष्टा करना, जैसे चौपड़ खेलना, ताश खेलना सिनेमा देखना, क्लब में जाना, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाखू, भंग, गाँजा पीना, कोकीन खाना आदि जो मादक वस्तु का सेवन है, और भी जो ऐसे व्यर्थ के काम हैं, जिनसे न स्वार्थ की सिद्धि होती है और न परमार्थ की ही। वे सब दुर्व्यसन हैं।

एक नंबर तो बात यही है कि अपना समय परमार्थ में बिताना चाहिए। दूसरी बात यह है कि यदि अपने स्वार्थ में भी समय बिताया जाय तो परमार्थ को भी ध्यान में रखना चाहिए। किन्तु झूठ, कपट, बेईमानी करके जो रुपया कमाना है, और उससे भोग और आराम करना है, यह तो बिलकुल मूर्खता की बात है। क्योंकि जो भी कुछ ऐश्वर्य, स्त्री, पुत्र, धन, मकान, आदि हैं वे सब विनाशशील और क्षण भंगुर हैं। कोई भी चीज अपने साथ में जाने वाली नहीं है। यह शरीर भी अपने साथ जाने वाला नहीं है। फिर औरों की तो बात ही क्या है। ऐसे थोड़े से जीवन के लिए हम अपना जीवन पापमय क्यों बनावें। ख्याल रखना चाहिए जो कुछ अन्याय करके हम धन

कमाओगे उसका फल हमें ही भोगना पड़ेगा। और वह धन भी हमारे साथ नहीं जावेगा। क्योंकि प्रथम तो सरकार करके रूप में ले लेगी। फिर चन्दे चिट्ठे वाले ले जाएँगे। फिर साझेदार भाई लोग पांती बटा लेंगे। फिर अपने स्त्री, पुत्र आदि ले लेंगे। इसके बाद जो हमारे हिस्से में रह जावेगा वह भी यहीं रह जायेगा। रुपये में पाई भर भी हमारे साथ नहीं जायेगा। ऐसी परिस्थिति में झूठ, कपट, बेईमानी से धन इकट्ठा करना महान् मूर्खता है।

इन सब बातों का ख्याल करके हमें अन्याय नहीं करना चाहिए। हमको विश्वास करना चाहिए कि मरने के बाद भी आत्मा है। शरीर के नाश होने पर आत्मा का नाश नह होता। भगवान् ने गीता में कहा है—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥

न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था, या तू नहीं था, या ये राजा लोग नहीं थे। और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम लोग नहीं रहेंगे।

इससे यह बात सिद्ध हुई कि आत्मा नित्य है और शरीर अनित्य है। भगवान् कहते हैं—

यह है कि आप जिस काम के लिए आये उसे करना चाहिए। आपको मनुष्य शरीर आत्मा के कल्याण के लिए दिया गया है, न कि भोग के लिए।

यह तनु कर फल विषय न भाई।
स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुखदाई ॥

हे भाई। यह मनुष्य का तन यानी शरीर विषय भोगों के लिए नहीं है, तो क्या स्वर्ग के लिए है, नहीं, स्वर्ग के लिए नहीं है। वह भी अन्त में दुःख को देने वाला है।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं,
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। ९। २१

"वे उस विशाल स्वर्ग लोक को भोग कर पुन्य क्षीण होने पर मृत्युलोक को प्राप्त होता है।"

तो फिर किस लिए दिया गया है? आत्मा के कल्याण के लिए। इसलिए सब काम छोड़कर पहले यह काम करना चाहिए। नहीं तो आगे जाकर आपको घोर पश्चाताप करना पड़ेगा। क्योंकि मनुष्य शरीर का समय बड़ा दुर्लभ है। लाख रुपया खर्च करने पर भी एक दिन का समय आपको नहीं मिल सकता। ऐसे दामी समय को यदि आप भोग और प्रमाद में बिताएँ, तो मैं कह सकता हूं कि आपके समान संसार में कोई मूर्ख नहीं। देवता लोग भी इस मनुष्य शरीर की आकांक्षा करते हैं। क्योंकि मनुष्य शरीर में ही कल्याण हो सकता है। अन्य में नहीं। यदि किसी दूसरी योनि में कहीं कल्याण की बात आ जाती है तो वह अपवाद (छूट) है। वह एक विशेष बात है कानून नहीं।

यदि आप अपना समय शरीर पोषण के लिए लगाते है तो यह आपका रास्ता गलत है। क्योंकि शरीर में यदि पांच सेर मांस अधिक होगया तो क्या, कम हो गया तो क्या आखिर होगा क्या खाक ही तो होगी। आपको ख्याल रखना चाहिए कि शरीर नाशवान है। शरीर के साथ आपका सम्बन्ध अज्ञान से है वास्तव में नहीं। नाम और रूप दोनों ही विनाशशील है। कुछ देर के लिए विचार करें। जैसे मुझे जयदयाल कहते हैं। जब मैं पैदा हुआ था उस वक्त मेरा नाम जयदयाल नहीं था। फिर गर्भ में तो यह नाम हो ही कैसे सकता है। गर्भ में तो पता ही नहीं था कि इसमें लड़का है या लड़की। उस समय घर वाले यदि इच्छा करते तो मेरा नाम जयदयाल नहीं रखकर महादयाल रख सकते थे। तब आज मैं अपने को महादयाल कहता। इससे यह निश्चय होगया कि मेरा नाम जयदयाल नहीं है।

(क्रमशः)

प्रभु-महिमा

राम भक्त वत्सल निज बानो।
जाति गोत्र कुल नाम गनत नहिं, रङ्क होय कै रानो॥
ब्रह्मादिक शिव कौन जात प्रभु, हौं अजान नहिं जानो।
महता जहाँ जहाँ प्रभु नाहीं, सो द्वैता क्यों मानो॥
प्रगट खंभ तै दई दिखाइ, यद्यपि कुल को दानो।
रघुकुल राघो कृष्ण सदा ही, गोकुल कीनो थानो॥
वरणि न जाइ भवन की महिमा, बारम्बार बखानो।
ध्रुव रजपूत बिदुर दासी सुत, कौन कौन अरगानो॥
युग युग विरद यहै चलि आयो, भक्तन हाथ विकानो।
राजसूय में चरण पखारे, श्याम लये कर पानो॥
रसना एक अनेक श्याम गुण, कहँ लौं करौं बखानो।
'सूरदास' प्रभु की महिमा है, साखी वेद पुरानो॥

—परमभक्त श्री सूरदासजी

चेतावनी

रे मन मूरख जन्म गँवायो।
करि अभिमान विषय सों राच्यो, नाम सरन नहिं आयो॥
यह संसार फूल सेमर को, सुन्दर देखि लुभायो।
चाखन लाग्यो रूई उड़ि गइ, हाथ कछू नहिं आयो॥
कहा भयो अबके मन सोचे, पहिले नाहि कमायो।
'सूरदास' सतनाम भजन बिनु, सिर धुनि-धुनि पछितायो॥

—परमभक्त श्री सूरदासजी।

व्यक्ति, समाज और सदाचार

(लेखक—स्वामी श्री शिवानन्दजी सरस्वती, आनन्द कुटीर)

[गताङ्क से आगे]

और उस सम्बन्ध का नियमानुकूल अनुपालन भी करता है तथा तद्‌फलतः वह दूसरे के विनाश का विचार नहीं करेगा, उसके प्रति कटु-शब्दों का प्रयोग भी नहीं करेगा और तद् निषिद्ध कर्म करने को भी उद्यत् नहीं होगा। अतः यह प्रत्यक्ष सिद्ध होता है कि सदचरित्रता और सत्य-आचरण है, जो आचरण दूसरे के द्वारा अभिप्रशंसनीय हों, जो आचरण दूसरे के मनोविज्ञान की कसौटी पर ठीक उसी तरह खरे उतरें, जैसे उनका स्वरूप है। सदाचार मनोविज्ञान, व्यवहार तथा आध्यात्मिक-कर्मों का केन्द्रीयकरण है, जिसका प्रभाव मनुष्य के आजीवनोपान्त कर्मों में शत-प्रतिशत के अनुपात से क्रियात्मक होता रहता है।

हम नित्यप्रति धर्मग्रन्थों का अध्ययन करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि सदाचार का स्वरूप आध्यात्मिक और व्यावहारिक दोनों है और पुराणों में इसे लोकधर्म का सजीव रूप दिया है। परन्तु जो कुछ भी हो, हम अपने शास्त्रों से यही सार जान पाए हैं कि सदाचार का सूत्रपात हमारे जीवन के ईश्वरीयकरण से है—जिसका परिणाम निश्चयतः ऐसा ही होना चाहिए। यदि वटवृक्षारोपण किया जाये तो छाया भी मिलेगी ही - तदनुसार यदि जीवन में ईश्वरीय-स्फूर्ति संचारित करदी जाय तो कालान्तर में इसका विकाश भी ईश्वरीय ही होगा। अतः हम इस परिणाम पर आते हैं कि सदाचार का श्रीगणेश मनुष्य की आध्यात्मिकता के जागरण से होता है। जब अनुभूति का अध्यात्मकरण हुआ तो सदाचार का सूर्योदय होता है।

इस प्रकार सदाचार के साधारणतः तीन गम्भीर स्वरूप होते हैं, जो हमारे जीवन के सभी कर्मों और सभी विचारों और सभी अनुभूतियों को अनुस्यूत किये हुए हैं—

• सदाचार का प्रथम सत्य आध्यात्मिक जीवन है, जो सर्वप्रधान तथा सर्वव्याप्त माना जाता है, जैसे जल की अतिव्याप्ति जल के समस्त विकारों और विकल्पों में भी मानी जाती है। दैवी सम्पद्-सम्पन्न होना इस जीवन का उपादान कारण है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता और मनुस्मृति के सिद्धान्तों में यही प्रतिध्वनि है कि प्रत्येक मनुष्य को सर्वप्रथम अपने आध्यात्मिकक्षेत्र में सद्‌गुणों की अनुभूति का विकाश करना चाहिए। अपनी-अपनी अनुभूतियों को सर्वथा सद्‌गुणों का स्वरूप देकर, आप निश्चयतः उसी का अभिव्याख्यान करेंगे तथा व्यवहार भी कर सकेंगे। जैसी अनुभूति होती है, वैसा व्यवहार भी—यह विद्वानों का सर्वसम्मत सिद्ध सिद्धान्त है और यही हमारी भारतीय सदाचार प्रणाली है, जो पाश्चात्य-सदाचारविज्ञान से विकाशमान-दृष्टिकोणतया महत्तम है। आप लोगों ने सुना तो होगा कि "जैसी गति वैसी मति, यही है जग की रीति। इससे स्पष्ट यही अभिव्यक्त हो रहा है कि हमारी अनुभूतियां ही हमारे विचार का तदनुसार व्यवहार का निर्णय कर पायेंगी। यदि हमारी अनुभूति में सर्वात्मभाव तथा एकात्मसत्य का अनुभव होगा तो हम अपने को सत्य, अहिंसा, आत्मसंयम, निरहंकारिता तथा अन्यान्य शास्त्रोक्त सद्‌गुणों के लिए सचेष्ट कर सकेंगे, जिसकी प्रतिच्छाया हमारे व्यावहारिक स्तर पर पड़ेगी ही।

अपनी आध्यात्मिक-प्रकृति को रागद्वेषादि से विमुक्त कर सद्‌गुणों से अलंकृत करने के उपरान्त

ही हम अपने जीवन के प्रत्येक व्यवहार में शान्ति और कल्याण और सर्वभूतहित की रूप-रेखा का अवतरण कर सकते हैं। अतः सदाचार का सर्वप्रथम-दृष्टिकोण आध्यात्मिकता या ईश्वरीय जीवन है, जहां मनुष्य पारस्परिक भेदभाव से परे, विश्व को केवल एक परिवार ही नहीं—अपितु अपना ही स्वरूप जानता है और यह अनुभव करता है कि समस्त-विश्व निःसन्देह, उसकी ही जल, बिन्दु, सागर तथा वाष्पवत् विकाश है और सर्वकर्माध्यक्ष, सभी जीवों में अधिवास करने वाला तथा सबका आत्मा है। वह किसी का अहित नहीं चाहता। वह किसी के प्रति अन्य तथा इतर-भाव से अभिव्यक्ति नहीं करता। वह परधन हरण ही क्यों करेगा, जब कि वह ईशावास्यमिदं सर्वम्—को अपने सदाचार का सर्वप्रथम दृष्टिकोण स्थिर किए है। हमारे प्राचीन, वैदिक कालीन, वीतराग तपस्वी, ऋषि-महर्षिगण इसके युगस्मरणीय-आदर्श थे।

ऐसा मनुष्य समाज या राष्ट्र अपने प्रतिवासी के दुःखों में दुःखित होगा ही, क्योंकि वही तो सबमें है। अतः वह अपने प्रतिवासी-आत्मा के यत्किंचित् दुःखों के समूल-निवारण के लिए प्रयत्न करता रहेगा। स्वभावतः ही दया, मैत्री, करुणा, उपकार तथा अन्य मानसिक-सदाचार-सम्बन्धी सद्गुणों का आविर्भाव उसमें होगा। यदि किसी समाज के ऊपर संकट आया हो तो तत्कथित सदाचारशील व्यक्ति ही उस संकट-निवारण के उपायों के लिए कटिबद्ध हो जाता है। वह नवीनतर और नवीनतम प्रयोगों द्वारा अपने-पराए के हित और कल्याण और शान्ति की विधि के अनुसन्धान में तत्पर हो जाता है। यह सदाचार का मानसिक स्वरूप, जिसे मनोवैज्ञानिक-सदाचार भी कहते हैं। महात्मा बुद्ध इस कोटि के आदर्श थे।

सदाचार का तीसरा स्वरूप व्यावहारिक है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह स्वतन्त्र अंग ही व्यावहारिक तथा मौलिक-सदाचार सर्वदा आध्यात्मिक-अनुभूति तथा मनोवैज्ञानिक-आधारों पर ही प्रतिष्ठित रहा है। इसका कारण स्पष्ट है कि जब तक आप अपने जीवन के अनुभवों और विचारों को सत्य के पवित्र-मन्त्र में दीक्षित नहीं कर लेंगे, तब तक कैसे सम्भव है कि आप सदाचारपरायण हों। आपका आचार आपके विचारों का द्योतक है, प्रतिबिम्ब है। तात्पर्य कि आपके विचारों के अनुसार ही आपकी क्रियाशक्ति, सुकर्म और दुष्कर्म का निर्णय करेगी। यदि आप मुझे किसी प्रकार का भीषण कष्ट देना चाहते हैं और यह निश्चय करते हैं कि किसी निकट-भविष्य में उचित अवसर पाकर, आप मेरा तिरस्कार करेंगे या मुझे निश्चित कष्ट देंगे, तो क्या आप व्यवहार करते समय तद्विचारिक-निश्चय का पालन करने पर विवश नहीं होंगे? इसी प्रकार यदि आप किसी अनाथ बालक के दुःखों की अनुभूति कर, उसके दुःखनिवारण के लिए विचार कर, उसके जीवन की आवश्यक-सुविधाओं की व्यवस्था करने पर सन्नद्ध होते हैं तो संसार में कोई भी शक्ति ऐसी नहीं जो आपके इन आदर्श विचारों को पलट दे। मैंने कुछ लोगों को कहते सुना है—क्या करें, मन में उसकी दशा पर तरस आता है। परन्तु कभी कभी उसकी बातें सहन नहीं हो सकतीं। जो लोग इस प्रकार के विजातीय-सिद्धान्तों को जन्म देते हैं, वे सदाचार के आध्यात्मिक तथा मानसिक-स्वरूपों में स्थिर नहीं हो पाए हैं और उनके उपरोक्त कथन से हमको यही समझना चाहिए कि वे सत्यतः अपने मन के अन्दर भी उसी प्रकार का निश्चय किए हैं, जो उन्होंने बाहर प्रकट किया है।

ऐसा व्यक्ति, जिसने तद्वर्णित...... तीसरे अंग का सदनुशीलन किया है, वह आध्यात्मिक तथा मानसिक-सदाचार का व्यावहारिक आदर्श होना चाहिए। महात्मा गान्धीजी को यदि हम इस समन्वय का व्यावहारिक-आदर्श मानें तो सर्वथा उचित होगा।

अतः पाठक समझ गए होंगे कि सदाचार मनुष्य-जीवन का एक विशिष्ट-विज्ञान है, जिसका यहां पर अतिसंक्षेप में दिग्दर्शन कराया गया है और जिसका विशद-व्याख्यान हमारे धर्मग्रन्थमें किया गया है। सदाचार जितना व्यवहारिक दीखता है, उतना ही किसी अवस्था में उससे भी अधिक मात्रा में आध्यात्मिक है। सदाचार के अर्थ केवल समाजसुधार-विषयक आचरण ही नहीं। समाज तो इस विराट्-सदाचारवाद का एक रो मात्र है। समाज से ही सदाचार की पूर्त्ति नहीं हो सकती। ईश्वर पर ही विश्वास कर, उसको ही केवलमात्र उपास्य जानना तथा उसी को सर्वभूतमय देखना ही सदाचार की भूमिका है। जप, कीर्त्तन, सत्संग, योगाभ्यास, आत्म-विचार, सच्छास्त्र-मनन, यम-नियमादि का सम्पालन सदाचार का प्रथम सोपान है और मैत्री, करुणा, परोपकार, अहिंसा, दयाभाव, आत्मत्याग, निःस्वार्थ-व्यक्तित्व, सेवा तथान्य सद्गुण सदाचार के प्रथम सोपन को पार करते स्वतः ही आपके जीवन में ओतप्रोत हो जाते हैं, आपको विशेष-श्रम नहीं करना पड़ता। यदि आधार दृढ़ होगया तो आप विशालतर से विशालतम-भवन का भी निर्माण आसानी से कर सकते हैं। इसी प्रकार ईश्वर-चिंतन के लिए जपादि नित्यधर्मों का अक्षरशः पालन करते हुए आप अपने जीवन के सभी कार्यों को यथायोग्यरीत्या करते रहें और किसी को दुःख और क्लेश न दें तो आप सहसा ही एक दिन अनुभव करेंगे कि सदाचार आपके जीवन का अभिन्न अंग होगया और आचरण की व्याप्ति हो गया है, जिसके अतिरिक्त आप अन्य किसी प्रकार के भौतिक-आचरण को श्रेय नहीं समझते। जिस तरह फिटकिरी धीरे-धीरे आश्चर्यपूर्ण आचरण से जलमें मिल जाती है, उसी प्रकार आपका जीवन भी जप, कीर्तन और ईश्वर-प्रेम में धीरे-धीरे आश्चर्यपूर्ण आचरण द्वारा समाविष्ट होता जायगा और आप काम करते हुए, भोजन करते हुए तथान्य संसार के प्रापंचिक-कार्यों को करते हुए भी जप, कीर्तन और ईश्वर-प्रेम में निश्चल रहेंगे और अपने सदाचरण से विचलित नहीं हो पायेंगे। परन्तु ईश्वर भावना का परित्याग कर यदि केवलमात्र लौकिक-सामाजिक-व्यवहारों का पालन करोगे तो वह सीमित और अस्थाई ही रह जायगा और आप उसमें शाश्वत जीवन संचरित कर ही नहीं पायेंगे। कभी-कभी तो आप उकता कर अपनी सदाचरण की निष्ठा को तिलांजलि भी दे देंगे। यह कोई असम्भव नहीं—कई उदाहरण आपको मिलते रहते हैं। परन्तु यदि आपने भगवद्प्रेम, नामस्मरण तथा अन्य शास्त्रोक्तनित्य विधियों को अपने जीवनक्षेत्र के अथनुसार सम्पादित किया तो आप सच्चे सदाचार की आधार शिला की प्रतिष्ठा कर पायेंगे, जिस पर जन-कल्याण का विशाल प्रासाद बनाया जा सकेगा, प्रत्येक व्यक्ति जिसकी सुदृढ़ ईंट होगा, एकता तथा समभाव जिसको संवलित कर पायेंगे तथा सत्यप्रेम आनन्द, चिरकल्याण और देवत्व हमारे विशाल-प्रासाद की महामहनीय शोभा होंगे। क्या तब भी विश्वशान्ति एक समस्या ही बनी रहेगी ?

नाम-माहात्म्य के प्रेमी पाठकों से निवेदन

"नाम-माहात्म्य" की ग्राहक संख्या जितनी अधिक होगी उतना ही अधिक भगवन्नाम का प्रचार होगा। यदि आप कृपाकर १-१ नये सज्जन को इसे अपनाने के लिये उत्साहित करें तो शीघ्र ही इसकी ग्राहक संख्या में वृद्धि हो सकेगी। अतः सानुरोध प्रार्थना है कि कृपा कर अवश्य ही अपने इष्ट-मित्रों को इसके ग्राहक बनाने की चेष्टा कीजियेगा। आपके थोड़े से परिश्रम से अवश्य ही भगवन्नाम प्रचार में आशातीत लाभ होगा। कृपया वार्षिक चन्दा मनीआर्डर द्वारा भेजियेगा। वी॰ पी॰ मंगाने से आपके रजिस्ट्री के चार आना अधिक लगेंगे। —व्यवस्थापक नाम-माहात्म्य कार्यालय, वृन्दावन (मथुरा)

सन्त वाणी

राम-नाम-मणि दीप धरु, जीह देहरी-द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरो, जो चाहसि उजियार॥
हिय निर्गुन नयनहि सगुन, रसना राम सुनाम।
मनहुं पुरट सपुंट लसत, तुलसी ललित ललाम॥
सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं, निर्गुन मन ते दूरि।
तुलसी सुमरहु राम को, नाम सजीवन मूरि॥
काशी विधि वसि तनु तजै, हठि तनु तजै प्रयाग।
तुलसी जो फल सो सुलभ, राम-नाम अनुराग॥
तुलसी विलम्ब न कीजिये, भजिये नाम सुजान।
जगत मजूरी देत है, क्यों राखें भगवान॥
परारब्ध न्योतो दियो, जब लग रहे शरीर।
तुलसी चिन्ता मत करो, भज लो श्री रघुवीर॥
प्रीति प्रतीति सुरीति सों, राम राम जपु राम।
तुलसी तेरो है भलो, आदि मध्य परिनाम॥
राम-नाम-रति रामगति, राम नाम विश्वास।
सुमिरत सुभ मंगल कुसल, चहुं दिसि तुलसीदास॥
हरन अमंगल अघ अखिल, करन सकल कल्याण।
राम-नाम हित कहत हर, गावत वेद पुराण॥
सकल कामना हीन जे, राम भक्ति रसलीन।
नाम-प्रेम-पीयूष-हद तिनहुं किये मन मीन॥
राम-नाम को अंक है, सब साधन है सून।
अंक गये कछु हात नहिं, अंक रहे दसगुन॥
पुरुसारथ स्वारथ सकल, परमारथ परिनाम।
सुलभ सिद्धि सब सगुन शुभ, सुमिरत सीताराम।
तुलसी सहित-सनेह नित, सुमिरहु सीताराम।
सगुन सुमङ्गल शुभ सदा, आदि मध्य परिनाम॥
सिला-साप-मोचन करन, सुमिरहु तुलसीदास।
तजहु सोच संकट मिटिहि पूजिहि मनकै आस॥
कूकर शूकर करत हैं, खान पान सम्भोग।
तुलसी वृथा न खोइये, यह तन भजिवे योग॥
तुलसी बिलम्ब न कजिये भजि लीजै रघुवीर।
तन तरकस से जात हैं, स्वास सरीखे तीर॥

—श्री तुलसीदासजी

नारायण हरि लगन में, ये पाँचौं न सुहात।
विषय भोग, निद्रा, हँसी, जगत-प्रीति, बहुबात॥
धन यौवन यों जायगो, जा विधि उड़त कपूर।
'नारायण' गोपाल भज, क्यों चाटै जगधूर॥
रे मन क्यों भटकत फिरै, भज श्री नन्द कुमार।
'नारायण' अजहुं समझ, भयो न कछु बिगार॥
नारायण बिन बोध के, पंडित पशु समान।
तासों अति मूरख भलो, जो सुमिरे भगवान॥
नारायण हरि भजन में, तू जिन देर लगाइ।
का जाने या देर में, श्वास रहे की जाइ॥
'नारायण' तू भजन कर, कहा करेंगे कूर।
अस्तुति निन्दा जगत की, दोउन के सिर धूर॥
नारायण जो कहा भये, पाये नयन विशाल।
नयन वही जिनमें बसें, श्री राधे गोपाल॥
नारायण हरिदास की, है सहजहि पहिचान।
आप अमानी होत हैं, देत सबहिं को मान॥
सुनत न काहू की कही, कहत न अपनी बात।
'नारायण' वा रूप में, मगन रहत दिन रात॥
धरत कहूं पग, परत कहुं, सुरत न इक ठौर।
'नारायण' प्रीतम बिना, दीखत नहिं कछु और॥
लतन तरे ठाढ़ौ कबहूं, कबहूं जमुना तीर।
'नारायण' नैनन बसी, मूरति स्याम शरीर॥
नारायण सतसंग कर, सीख भजन की रीत।
काम, क्रोध, मद, लोभ में, गई आरबल बीत॥
बाँट खाय हरि को भजैं, तजैं सकल अभिमान।
नारायण ता पुरुष को, उभय लोक कल्यान॥
नारायण या जगत में, यह दो वस्तु सार।
सब सों मीठो बोलिबो, करबो पर उपकार॥
नारायण दो बात सों, और अधिक नहिं काव।
रसिकन को सतसङ्ग नित, युगल ध्यान दिन रात॥
दो बातों को भूल मत, जो चाहै कल्यान।
नारायण एक मौत को, दूजे श्री भगवान॥

—श्री नारायणस्वामी।

सन्त-वाणी

(संग्रहकर्त्ता-श्री किशोरीलालजी मेहरा)

(४)

राम भज गुजरिये, ऐसा दही बरोल ॥
मन कर मटुकी तन कर मथनियां,
या ले प्रेम की डोर।
राम नाम का माखन काढ़ लै,
छाछ छाछ दे छोड़ ॥
यिह वेला तेरे हाथ न आवे,
खरचेंगी लाख करोड़।
दुनी दास बड़ भागन गुजरी,
साधु संगत न छोड़ ॥
—भक्त दुनीदास

(५)

कर प्रभु से प्रीत रे मन, कर प्रभु से प्रीत ॥
ऐसो समय बहुर नहीं पैहो, जैहैं अवसर बीत।
तन सुन्दर छबि देखन भूलो, यिह बालुकी भीत॥
सुख सम्पति सुपने की बतियां, जैसे तृण पर शीत।
जाही कर्म पर्म पद पावे, साई कर्म कर मीत॥
शरण आए सो सब ही उबारें यिह प्रभु की रीत।
कहैं कबीर सुनोभाई साधो, चल हो भव जल जीत॥
—कबीरजी

(६)

प्रभुजी तुमको मेरी लाज।
सदा सदा मैं शरण तिहारी, तुम बड़े गरीब निवाज॥
पतित उधारण विरद तिहारो, श्रवनन सुनी अवाज।
हौं तो पतित पुरातन कहिये, पार उतारो जहाज॥
अघ खण्डन दुख भञ्जन जन के, यही तिहारो काज।
तुलसीदास पर किरपा कीजे, भक्ति दान देहु आज॥
—तुलसीदासजी

(७)

उड़ रे पखेरू, दिन तो रह गया थोड़ा।
उड़त्यां उड़त्यां जन्म गंवाया, जहां शहर तहां डेरा॥
चुन चुन कंकर महल बनाया, मूरख कहे घर मेरा।
ना घर मेरा ना घर तेरा, चिड़ियां रैन बसेरा॥
शाह हुसैन फकीर साईं दा, जङ्गल हो गया डेरा॥
—शाह हुसैन फकीर

(८)

कविता

श्वास के भरोसे; गढ़ मास में निवास लियो।
आशा मन माहिं राखी, मानन शरीरा की॥
बड़े बड़े शूरबीर; देख छोड़ गए मूरख।
रही ना निशानी, शाहों और वजीरां की॥
भज रे निरञ्जन, दुख भञ्जन कुल आलम के।
नित रोज खबर लेत, पाहन में कीड़ा की॥
कहे कवि धारामल, सिमरण की दिही पल।
एक एक घड़ी जात, लाख लाख हीरा की॥
—कवि धारामलजी

हरि उच्चारण मात्र से ही पापों को हरते हैं

(लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

गतांक से आगे—

शौनकजी ने कहा—'सूतजी ! आप अवश्य सुनाइये, दृष्टान्तों से विषय बड़ी सरलता से समझा जाता है। स्पष्ट हो जाता है। बुद्धि अपने आप ग्रहण कर लेती है।

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज, विदर्भ देश में एक बड़ी ही रूपवती वेश्या रहती थी। उसके रूप की सर्वत्र ख्याति थी। कितने धनिकों को उसने निर्धन बनाया, कितने चरित्रवानों का उसने चरित्र भ्रष्ट किया, कितने युवकों के बल वीर्य का उसने नाश किया। गरीब तो उसके दर्शन भी नहीं कर पाते थे। वह राज वेश्या थी। एक दिन वह अपनी सजी सजाई अटारी पर बैठी थी। नीचे सड़क पर उसने देखा एक व्याधा बहुत से तोताओं को लिए हुये जा रहा है। उन छोटे २ सुग्गों में एक सुग्गा बड़ा था। वह दूब की भाँति हरा था। उसकी चोंच कुदरूँ के फल की भाँति लाल थी। गले में लाल और नीले रंग की स्वाभाविक कंठी थी। वह मनुष्य की वाणी स्पष्ट बोलता था।

वेश्या को उस सुग्गे को देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने उस व्याधे को ऊपर बुलाया और उससे उस तोते को लेने के लिये मोल भाव करने लगी। मुनियों! प्राणी कैसा भी क्रूर हो, निंदित हो, हिंसक हो, सभी किसी न किसी से प्यार करना चाहते हैं। सभी के भीतर प्रेम करने की एक स्वाभाविक स्पृहा होती है। छोटे २ बच्चे भी आपस में मित्रता जोड़ते हैं, किन्तु थोड़ी देर में फिर कुट्टी कर देते हैं। क्योंकि मित्रता इस मन्त्र से की जाती है "कूआ में बबैना यार मांगे वही देना।" किसी बच्चे को मां ने सुन्दर मिठाई दी। उसके मित्र ने मांगी। उसकी जिह्वा लपलपा रही थी, वह मिठाई को देना नहीं चाहता। उसने मित्रता के विरुद्ध आचरण किया, यार के माँगने पर भी वस्तु नहीं दी, तो वह कुट्टी कर देता है—"जीभ मरोड़ूं, दाढ़ को तोड़ूं, ऐसे यार से कभी न बोलूं। यारई कुट्ट, कुट्ट, कुट्ट!' बस मित्रता छूट गई। बड़े लोग समझते हैं यह तो बच्चों का खेल है, किन्तु हम भी तो नित्य इसी प्रकार अपने स्वार्थों पर आघात होने से अपने मित्रों से कुट्टी कर देते हैं। बाल्यकाल से मित्रता करते करते—अनेकों से यारई जोरते—और कुट्टी करते मनुष्य अंत में इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि "संसार में सभी स्वारथ के मीत है।" फिर भी मित्रता किये बिना मानता नहीं। स्त्री पहिले एक से मित्रता करती है, राजद्वार में जाकर बही में लिखवा कर एक से विवाह करती है, उससे पटरी नहीं बैठती, उसे परित्याग करके दूसरे से जोड़ा जोड़ कर बही में नाम चढ़वाती है। उसे भी निर्धन देखकर विपत्ति में फंसा समझ कर छोड़कर तीसरे से सट्ट पट्ट जोड़ती है। उससे खट्ट पट्ट हुई तो झट्ट-पट्ट चौथे का पल्ला पकड़ती है। फिर भी आँख के अंधे उससे मित्रता जोड़ते हैं। प्यार का ढोंग रचते हैं, यह नहीं समझते कि जब यह पिछलों की नहीं हुई, तो हमारी क्या होगी। यही दशा पुरुषों की है। स्त्री के ऊपर लट्टू होगा तो उसे हृदयेश्वरी, अन्तःकरण की सम्राज्ञी, प्राणप्रिये न जाने क्या क्या कहेगा।

जहां किसी दूसरे से मन मिला कि दूध की मक्खी की भाँति उसे निकाल कर फेंक दिया। ये ही बनावटी झूठे प्रेम की बातें उससे बकने लगा।

जो स्वार्थी है, कामी है, विषयासक्त है, वह कभी किसी का मित्र हो ही नहीं सकता, उसकी मित्रता तो काम से है, स्वार्थ से है। यही सब अनुभव करते करते युवावस्था बीत जाने पर मनुष्य किसी से प्रेम नहीं करता। वास्तव में कोई प्रेम करने योग्य है ही नहीं, जो क्षण भंगुर विषयों से प्रेम करता है उसकी मित्रता कै दिन चल सकती है, उसके साथ किया हुआ प्यार कै दिन स्थाई रह सकता है। प्रेम करने योग्य या तो वृक्ष हैं, जो न बोलते हैं, न गाली गलोच करते हैं और न तुम्हारे किसी काम का विरोध करते हैं। उनमें सड़ी गली गंदी खाद डाल दो, तो वे फल फूल देंगे। काट लो तुम्हारे भोजन को पका देंगे। जला कर भस्म कर दो तुम्हारी खाद बनेंगे। सारांश उनमें स्वार्थ की भावना नहीं परमार्थ की भावना है, इसीलिये तो साधु सन्तों के स्थानों में, आश्रमों में नाना भाँति के पत्र, पुष्प और फलों वाले अनेकों वृक्ष होते हैं। या प्रेम करने योग्य हैं, सरल पशु-पक्षी जो खिलाने वालों के पीछे ही पीछे घूमते रहते हैं। इसीलिये साधु सन्तों के यहाँ पालतू पशु रहते हैं, गृहस्थी भी भाँति २ के पशु पक्षियों को पालते हैं। बहुत से तो अपने कुत्तों से पुत्र की भाँति प्यार करते हैं। या प्रेम करने योग्य निस्वार्थ संत हैं, जिन्हें कोई संसारी स्वार्थ नहीं, जिनके सभी काम परमार्थ ही के निमित्त होते हैं।

वह वेश्या नित्य बड़े से बड़े धनिक युवकों को देखती। सुन्दर से सुन्दर राजकुमारों से उसका काम पड़ता। वे उसे धन, वस्त्र, आभूषण देते साथ ही हृदय देने का भी अभिनय करते, किन्तु वह समझती थी, जब मैं किसी को हृदय नहीं दे चुकी हूं, तो मुझे कौन हृदय समर्पित करेगा। ये स्वार्थ की बातें हैं। यह हंस जाती, फिर भी किसी से प्यार करना चाहती थी, खुल कर बिना बनावट की बातें करना चाहती थी।

उसने उस सुन्दर सुग्गे को मुंह मांगा दाम देकर व्याधे से ले लिया और पिंजड़े में रख लिया। प्रतीत होता था कि वह किसी भक्त का तोता था। इसका सुन्दर स्वरूप और सुरीली स्पष्ट वाणी को सुनकर व्याधे ने पकड़ लिया। आज इस सुग्गे का इतना अधिक मूल्य पाकर अत्यंत आल्हादित होता हुआ अपने घर चला गया।

इधर वेश्या ने उसे दूध पिलाया, फल, चने के दाने रखे। दूध पीकर तोते ने अपने स्वभावानुसार कहना आरंभ किया—

> चित्रकूट के घाट पै, भई संतनि की भीर।
> तुलसीदास चन्दन घिसैं, तिलक देत रघुवीर॥

कहो तो मिट्ठू सीताराम सीताराम। वेश्या बड़ी प्रसन्न हुई। वह कहने लगा—'बाईजी राम, राम' वेश्या को बड़ी प्रसन्नता हुई। उसके घर जो भी युवक आता उसे देख कर सुग्गा कहता—'राम रामजी राम राम' सब उसकी वाणी सुन कर चकित रह जाते प्रातः उठते ही तोता कहता 'बाईजी राम राम।' वेश्या दुलार के स्वर में कहती—"राम राम भैय्या। राम राम।' तेरी हजारी उम्र हो, राम राम!

सूतजी कहते हैं—"भगवन्। उस वेश्या की इच्छा राम भजन की नहीं थी। उसे ज्ञान भी नहीं था कि मैं उन राम के नाम को ले रही हूँ, जो समस्त पापों को पल भर में मेट सकते हैं। अपने को निंदित पाप कर्म में निरत वेश्या ही मानती थी। सुग्गे के प्रसंग से अनिच्छा पूर्वक अज्ञान में केवल विनोदार्थ वह राम राम रटती रहती थी। वह तो अज्ञान कर सकती थी, क्योंकि तमोगुण के कारण मूढ़ा बनी हुई थी, किन्तु चैतन्य घन नाम तो प्रमाद नहीं कर सकता था। उसे अपना फल अवश्य ही प्रकट करना था। शनैः शनैः नाम के प्रभाव से उसका अन्तःकरण शुद्ध होने लगा। उसके पाप कटने लगे। जब मनुष्य के पाप कटने लगते हैं तभी संत समागम सत्पुरुषों के सत्संग का सुअवसर प्राप्त होता है।

सहसा एक दिन उसे बड़े जोरों का ज्वर आ गया। कई दिन अचेत रही। उसका शरीर पीला पड़ गया, सब सौंदर्य नष्ट होगया। मुख से दुर्गन्ध आने लगी। आँखें पथरा गईं। मुख मलीन होगया। जो कामी उसके शरीर को स्पर्श करके अपना सर्वस्व निछावर करते थे अब इसे देखने से घृणा होती। कोई पास भी न फटकता, धन लोलुप २-४ नौकर इस प्रतीक्षा में रह गये कि किसी प्रकार यह शीघ्र से शीघ्र मरे तो हम धन सम्पत्ति लेकर चम्पत हों। उसकी अचेतनावस्था में बहुत सी धन सम्पत्ति तो समीप वालों ने उड़ा ही दी।

अब उसका अन्त समय आ गया। त्रिदोष ने उसे घेर लिया। सूतजी कहते हैं—"मुनियों! मृत्यु के समय मनुष्य को अपने सब पाप याद आते हैं। जिस धन सम्पत्ति को झूठ सच बोल कर बड़ी ममता से अत्यन्त लोभ से इकट्ठी की थी, उसे छोड़ते समय अत्यन्त दुःख होता है। पापों की स्मृति से हृदय थर-थर कांपने लगता है। भय के कारण रोंगटे खड़े हो जाते हैं उस भयभीत दशा में ही यमदूतों की काली काली डरावनी भयङ्कर विकाल मूर्तियाँ दिखाई देने लगती हैं। उन्हें देखते ही पापियों का मलमूत्र निकल पड़ता है। उस वेश्या को भी अपने पाप याद आये। पाप तो उसने प्रत्यक्ष जान बूझ कर किये थे, किन्तु भगवन्नाम उच्चारण रूपी महान् पुण्य तो उसने हँसी हँसी में विनोद के लिये मन प्रसन्न करने के निमित्त तोते को पढ़ाने के निमित्त से किया था। उसका तो उसे ध्यान ही नहीं था, कि यह मेरे द्वारा एक महान् कार्य हो रहा है। उसे भले ही स्मरण न हो, किन्तु नामी के ही समान चैतन्य सर्व समर्थ नाम का प्रभाव तो व्यर्थ जाने का नहीं। इतने में ही कोई वैष्णव संत उधर से आ निकले। वेश्या को बुरी प्रकार से बिलबिलाते तड़पते देख कर उन्हें दया आगई! वे कई बार उधर से निकलते थे और उन्होंने उस वेश्या को सुग्गे को राम राम पढ़ाते उसके साथ राम राम कहते देखा भी था। आज उसकी ऐसी दुर्गति को देख कर दयालु संत का हृदय भर आया। वे दौड़ कर वेश्या की अटारी पर चढ़ गये और सान्त्वना देते हुए बोले—"देवि! तुम सुग्गे को क्या पढ़ाती थीं। इतना कहकर उन्होंने सुग्गे को उसके सामने रख दिया। सुग्गे को देखते ही वेश्या ने कहा—"राम राम राम राम" इतना कहना था कि सुग्गा भी राम राम कहने लगा। तत्काल वेश्या के भी प्राण निकल गये और उस शुक के भी। दोनों ही राम नाम के प्रभाव से तर गये। विष्णु पार्षद उन्हें दिव्य बिमान पर बिठा कर वैकुण्ठ लोक को ले गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! अनिच्छा पूर्वक किसी बहाने से भी भगवान् का नाम लिया जाय, तो वह कल्याणकारी ही है। ऐसा विष्णु पार्षदों ने यमदूतों से कहा था। यह प्रसंग बड़ा रोचक है।

निज शुक कूँ करि प्यार नित्य गनिका पुचकारे।
मन विनोद के निमित राम को नाम उचारे॥
स्वयं कहे हरि नाम और खग ते कहवावे।
शुक मुख तें अति मधुर नाम सुनि हिये हर्षावे॥

मरन समय अघ सुमिरि के,
वेश्या अति व्याकुल भई।
सन्त चितायो अंत हरि,
नाम कह्यो हरि पुर गई॥

श्रीकृष्ण जन्म

(लेखक—पं० श्रीगोविन्द दास 'सन्त' धर्मशास्त्री)

बधाई

(१)

कृष्ण घर नन्द के आये, बधाई है बधाई है ॥ टेर ॥
खबर जब जन्म की पाई
गोपियाँ दौर-दौर आई
भेंट को पुष्प हार लाई, बधाई है बधाई है ॥ १ ॥
नेति-नेति वेद गाई
शारदा शेष थक जाई
वे प्रगटे नन्द घर आई बधाई है बधाई है ॥ २ ॥
घड़ी शुभ आज की आई
प्रकटे ब्रज में यदुराई
ये 'सन्त' जन सुखदाई, बधाई है बधाई है ॥ ३ ॥

(२)

जन्मे हैं कुंवर कन्हैया, मैं वारी जाऊँ ॥ टेर ॥
धन धन है री नन्द बबा को
धन्य यशोदा मैया, मैं वारी जाऊँ ॥ १ ॥
नन्द लुटावे अन धन दौलत,
यशोदा लुटावे धन गैया, मैं वारी जाऊँ ॥ २ ॥
धन धन है री ब्रज मण्डल को,
जहँ जन्में श्री कृष्ण कन्हैया, मैं वारी जाऊँ ॥ ३ ॥
'सन्त' सदा भज राधा माधव,
सरबेश्वर सुख दैया, मैं वारी जाऊँ ॥ ४ ॥

(३)

कृष्ण का नन्द घर आना,
सदा शुभ हो सदा शुभ हो।
सुरन का पुष्प बरषाना
सदा शुभ हो सदा शुभ हो ॥टेर॥
भूमि का भार हरने को,
सुरन का काज करने को।
जन्म मथुरा में पाना,
सदा शुभ हो सदा शुभ हो ॥१॥
आपका इच्छा से अपनी,
श्री वसुदेव के द्वारा।
मथुरा से गोकुल में जाना,
सदा शुभ हो सदा शुभ हो ॥२॥
खबर जब जन्म की सुनकर,
हुआ है हर्ष गोकुल में।
आनन्द घर घर में छाना,
सदा शुभ हो सदा शुभ हो ॥३॥
टेर सुन करके भक्तों की,
यदि फिर कृष्ण बन आवो।
तो 'सन्त' का यह गाना,
सदा शुभ हो सदा शुभ हो ॥४॥

(४)

गायें रूदन करे गोपाल,
इनका दुःख मिटाने आवो ॥टेर॥
जिनका दूध दही कर पान,
बनते नर नारी बलवान।
करते दुष्ट जिन्हें कुरबान,
उनको दूर भगाने आवो ॥१॥
इन पर अनहोनी की गाज,
देखो टूट पड़ी है आज।
बचाने हिन्दू धर्म की लाज,
फिर गोपाल कहाने आवो ॥२॥
होगये हव्य कव्य सब बन्द,
यहां पर देखो आनन्दकन्द।
यह भारत का दुःख द्वन्द,
भगवन् बेग मिटाने आवो ॥३॥
नैया डूब रही मझधार,
तुम बिन कौन करे भव पार।
बनकर केवट तुम करतार,
इसको पार लगाने आवो ॥४॥
सुन कर 'सन्त' जनों की टेर,
करुणा सागर करो न देर।
कर के दया दयामय फेर,
मुरली मधुर बजाने आवो ॥५॥

प्रार्थना का व्यवहारिक निरूपण

[लेखक—पं० शिवशंकरजी मिश्र, एम. ए. "साहित्य रत्न, शास्त्री"]

आजकल भी हम प्रायः लोगों को प्रार्थना के विषय में चर्चा करते देखते हैं। यहाँ तक भी देखने में आया है कि सर्वथा समर्थ लोग भी प्रार्थना करते हैं। जीवन की किसी भी स्थिति, क्षेत्र अथवा स्तर पर भी जहाँ पर लोग प्रार्थना करते हैं, उन्हें सन्तोष, जागृति और प्रेरणा प्राप्त होती है। प्रार्थना का तात्पर्य है शक्ति, और शक्ति भी इस प्रकार की जो अन्य किसी साधन से किसी प्रकार भी प्राप्त नहीं हो सकती। सच तो यह है कि प्रार्थना शक्ति का अक्षय कोष है जिसमें से मनुष्य जितनी और जिस तरह की भी चाहे शक्ति प्राप्त कर सकता है। किसी भक्त ने ठीक ही कहा है, "प्रार्थना द्वारा जो कुछ तुम माँगो वह तुम्हें प्राप्त हो सकता है, जो कुछ भी तुम ढूंढो वह तुम्हें मिल सकता है, जरा खटकाओ और ईश्वरीय अनुकंपा का द्वार तुम्हारे लिये बड़ी सरलता से प्रार्थना द्वारा खुल सकता है। प्रार्थना करने वालों के अधिकारों की कोई सीमा नहीं होती। इसके द्वारा उनके हाथ में मानो एक हस्ताक्षर किया हुआ चेक रख दिया जाता है, जिसके द्वारा आवश्यकतानुसार निधि प्राप्त हो सकती है।

प्रत्येक व्यक्ति को तो प्रार्थना करना भी नहीं आता। इसीलिये प्राचीन-काल में गुरु बनाने की प्रथा चल रही थी। शिष्य अपने गुरुओं से कहते थे कि हमें प्रार्थना करने का ढग सिखाओ। वे प्रार्थना का रहस्य जानना चाहते थे और प्रार्थना के पहले फल पाने के इच्छुक रहते थे।

प्रार्थना करते समय प्रार्थना करने वाले के मन में किसी न किसी बात की माँग होती है। जिनकी आवश्यकता मौलिक होती है, उनकी ही माँग दृढ़ और प्रार्थना सच्ची होती है। प्रार्थना सहायता के लिये कोरी पुकार नहीं, यह तो शक्ति प्रदान करने के लिये याचना है। प्रार्थना हमें उस शक्तिशाली के पास पहुँचा देती है जिस पर हमारी अखण्ड आस्था है और जिसकी सहायता पर हमें पूर्ण विश्वास है। वह शक्ति हमारे लिये पिता के समान कृपालु है और हमारी प्रार्थना सुनने के लिये सदैव तत्पर रहती है।

ईश्वर प्रत्येक की प्रार्थना स्वीकार नहीं करता। वे लोग जो विचार, कर्म और विश्वास से पापी हैं, न तो प्रार्थना करने के अधिकारी ही हैं और न उन्हें प्रार्थना का फल ही प्राप्त होता है। इसके लिये कि उसकी प्रार्थना सुनी जावे, पापी को अपने पापों को सदैव के लिये छोड़ देना होगा। इस प्रकार चोरों, जुआरियों, बदमाशों को प्रार्थना के प्रति फल की तनिक भी आशा नहीं करना चाहिये।

हमारी प्रार्थना ईश्वर की इच्छा के अनुसार ही होना चाहिये। इस पर भी ईश्वर सदैव ही हमारी प्रार्थना को स्वीकार नहीं कर लेता, और उसका स्वीकार या मना करना बहुत कुछ प्रार्थना की शक्ति पर आश्रित रहता है। सच तो यह है कि हमारी प्रार्थनाओं का सदैव स्वीकार किया जाना, हमारे लिये हितकर भी तो नहीं हो सकता। बहुतसी बार उसका नाहीं कर देना ही हमारे लिये लाभ-प्रद प्रमाणित होता है। प्रार्थना करते समय हमें प्रायः अपने सामयिक अथवा तत्कालीन हित की चिंता रहती है और वह क्षणिक हित की

भावना संभव है, हमारे स्थायी हित के लिये बाधक हो।

यदि हमारी प्रार्थना स्वीकार नहीं होती तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह हमारी ओर से उदासीन है, अपितु यह है कि उसके पास हमारे हित की कोई दूसरी योजना है। इस आधार पर ही वह हमारी अनर्गल और अनावश्यक प्रार्थनाओं को स्वीकार नहीं करता। ईश्वर को हमारे हितों की उतनी ही चिंता है, जितनी हमें अपने बच्चों के हितों की, और कहीं उससे भी अधिक। अपनी अपने संतान के प्रति ममता से ही यह अनुमान लगाओ कि परम-पिता को अपने संतानों के प्रति कितनी ममता होगी।

प्रार्थना की क्रिया केवल माँगने और हाथ पसारने से ही पूर्ण नहीं हो जाती। हमें यह भी चाहिये कि हम ईश्वर को अपनी प्रार्थना स्वीकार करने में सहयोग दें—यानी स्वयं भी उस दिशा में प्रयत्न-शील हों। जिस दिशा में हम ईश्वर की सहायता चाहते हों।

प्रार्थना केवल एक क्षणिक भावना नहीं किन्तु स्थिर और निरंतर रहने वाली चेतना भी है। ऐसा न हो कि तनिक देर प्रतिक्षा करने के बाद ही हमारा विश्वास हिल जाये और हम अपनी साधना तोड़ दें। प्रार्थना में स्थिरता होना अत्यन्त आवश्यक है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि चौबीसों घन्टे हम मन्दिर के घण्टे बजाया करें, या मस्जिद में सिजदा किया करें, अपितु हमें यह चाहिये कि हम ईश्वर और उसकी सहायता के प्रति आस्था को अपने हृदय में जागरूक रखें। हम अपने दैनिक जीवन में नित्य ही देखते हैं कि भिखारी तक निरंतर प्रार्थना द्वारा हमारे द्वार से भिक्षा लेकर ही हटता है। अनेकों कार्य तो हम प्रार्थना द्वारा विवश होकर कर डालते हैं। फिर ईश्वर भी यदि हमारी प्रार्थना की स्थिरता देखकर उसे सुनले तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। हमारी धार्मिक पुस्तकों में हमें इस प्रकार के अनेकों उदाहरण मिलते हैं, जहाँ भक्तों के हठ के आगे भगवान् को झुकना पड़ा है। इसी भावना ने आगे चल कर हठयोग को जन्म दिया।

प्रार्थना द्वारा उन्हीं को फल प्राप्त होता है जो फल प्राप्ति का निश्चय कर चुके हैं। अधूरी और असंयत प्रार्थनायें सदैव निष्फल जाती हैं।

भगवन्नाम-महिमा

(संकलित)

अनन्य चेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष, चित्त को अन्यत्र कहीं रक्खे बिना, अनन्य चित्त से स्थित हुआ, सदा ही निरन्तर मेरे को स्मरण करता है. उस निरन्तर मेरे में युक्त हुए योगी के लिये मैं सुलभ हूं अर्थात् सहज ही प्राप्त हो जाता हूं।

(गीता ८ । १४)

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्य भाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

यदि कोई भारी दुराचारी भी अनन्य भाव से मुझे भजे, तो उसे साधु के समान ही समझना चाहिये. क्योंकि अब उसका अच्छा संकल्प है।

(गीता ९ । ३०)

मन्मना भव मद् भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

मुझ में मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे निमित्त यज्ञ कर, मुझे नमस्कार कर, मुझ में परायण होकर आत्मा को मेरे साथ जोड़, तू मुझे ही पावेगा।

(गीता ९-३४)

सकृन्मनः कृष्णपदार विंदयोर्निवेशितं तद्गुण रागियैरिह ।
नते यमं पाशभृतश्चतद्भटान्स्वप्नेपि पश्यंतिहि-चीर्ण निष्कृताः ॥

इस संसार में प्रेम के साथ एक बार भी जिन्होंने श्री कृष्ण के चरण कमलों में मन लगाया है, वे यम और यम-दूतों को हाथ में फाँसी लिये हुए कभी स्वप्न में भी नह देखते। उन्होंने अपने सब पापों का प्रायश्चित कर लिया है।

(श्रीमद्भागवत)

नहि भगवन्नघटितमिदंत्वद्दर्शनान्नृणामखिल पाप क्षयः ।
यन्नाम सकृच्छ्रवणात्पुल्कसकोऽपि विमुच्यते संसारात् ॥

हे भगवान् ! आपके दर्शन से मनुष्यों के पापों का क्षय होना असम्भव नहीं है क्योंकि आपका नाम एक बार सुनने से चाण्डाल भी सांसारिक बन्धन से छूट जाता है।

(श्रीमद्भागवत ६।१६ ४४)

एतावताऽलमघनिर्हरणाय पुंसां,
संकीर्तनं भगवतो गुण कर्म नाम्नाम् ।
विक्रुश्य पुत्र मघवान्यदजामिलोऽपि,
नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम् ॥

मनुष्यों के पापों का नाश करने के लिये भगवन्नाम-कीर्तन ही मुख्य है। पुत्र के बहाने नारायण नाम का उच्चारण करके अजामिल जैसा पापी भी मुक्ति पदको प्राप्त होगया।

(श्रीमद्भागवत)

रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्द चिदात्मनि ।
इति राम पद न्यासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥

योगी पुरुष जिस सत्यानन्द, अनन्त चिदात्मा में रमण करते हैं, वह चिदात्मा परम ब्रह्म राम नाम में अभिहित है

(पद्मपुराण)

तदेव पुण्यं परमं पवित्रं, गोविन्दगेहे गमनाय पत्रम् ।
तदैव लोके सुकृतैकमत्रं, यदुच्यते केशवनाम मात्रम् ॥

एक मात्र केशव के नामोच्चारण से ही मनुष्य, सुकृति के एक मात्र स्थान, पुण्य जनक परम पवित्र वैकुण्ठ धाम को प्राप्त होता है।

(पद्मपुराण)

यत्र तत्र स्थितो वापि कृष्णकृष्णेति कीर्त्तयेत् ।
सर्व पाप विशुद्धात्मा स गच्छेत् परमां गतिम् ॥

जहाँ कहीं स्थित होकर जो कृष्ण नाम का उच्चारण करता है, वह सब पापों से मुक्त होकर परमगति को प्राप्त होता है।

(पद्मपुराण)

यन्नाम श्रवणेनापि महापातकिनोऽपि ये ।
पावनत्वं प्रपद्यन्ते कथं तुष्यामि क्षुद्रधिः ॥

जिसके नाम स्मरण से महा पापी भी पवित्र हो जाते हैं, मैं क्षुद्र बुद्धि उसकी क्या स्तुति करूंगा ?

(बृहन्नारदीय पुराण)

जिह्वाग्रे वर्तते यस्य हरिरित्यक्षर द्वयम् ।
विष्णुलोकमवाप्नोति पुनरावृत्ति-दुर्लभम् ॥

जिस मनुष्य की जिह्वा पर "हरि" ये दो अक्षर वर्तमान हैं, वह फिर जन्म न लेकर अर्थात् आवागमन से छुटकारा पाकर, विष्णुलोक को प्राप्त होता है।

(बृहन्नारदीय पुराण)

भक्त-महिमा

(लेखक—अवध किशोरदास श्रीवैष्णव)

भक्तजन का संग ही, सुख शान्ति का भंडार है।
श्रीराम भक्ताधीन हैं, जो सर्व जगदाधार हैं॥
भव में बड़े हैं भक्त ही, हरि भक्त ही आधार है।
भक्त जिसके साथ हों उसका सदा जयकार है॥ *

सुख और शान्ति प्रेम और आनन्द के मूर्तिमान विग्रह प्रभु के प्यारे भक्त हैं, उनके बिना सुख है ही कहाँ, संसार तो दुःख की ज्वाला में धधक रहा है, कबीरजी ने ठीक ही कहा है कि—

भूप दुखी अवधूत दुखी दुखी रंक विपरीत।
कह कबीर सब जग दुखी, सुखी संत हरि प्रीत॥
नहिं शीतल है चन्द्रमा, हिम शीतल नहिं होय।
कबीर शीतल सन्त जन, राम स्नेही सोय॥

दुखियों के पास सुख कहां, आखिर हैं तो सब दुखी ही "नानक दुखिया सब संसारा। सोई सुखी जेहि नाम अधारा" इसीलिये श्री गोस्वामीजी ने समझाया है कि—

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिय तुला इक अङ्ग।
तुलै न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सत्सङ्ग॥

अन्य सन्तों ने भी इस बात को पुष्ट की है—

सुरपुर नरपुर नागपुर तीनों में सुख नाहिं।
सुख है प्रभु के शरण में या सन्तन सङ्ग माँहि॥

सन्तों का संग ही सुख शान्ति का भंडार है, क्योंकि सन्तों की कृपा से ही प्रभु भक्ति प्राप्त होती है और प्रभु भजन ही आनन्द का सागर है। तुलसी ने यह बात बड़ी सुन्दरता से समझायी है—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु रामपद होय न दृढ़ अनुराग॥

"मोह सकल व्याधिन कर मूला" है। वह भागता है सन्त की कृपा से, सत्सङ्ग से और श्रीरामचरण अनुराग ही सब सुखों का भण्डार है। वह प्राप्त होता है भक्तपद रज के अभिषेक से। यदि प्रभु चरणों में प्रेम न हुआ तो "राम भजन बिनु सुनहु खगेशा मिटै न जीवन केर कलेशा" जब कलेश ही न मिटा तब सुख क्या खाक् मिलेगा। दुख मन्दिर में सुख देवता के दर्शन तो दुर्लभ ही हैं। सुख और दुःख दोनों एक स्थान पर नहीं रहते 'तुलसी कबहुं कि रहि सके रवि रजनी इक ठाम' सुख और शान्ति प्रभु की भक्ति में ही है और वह प्राप्त होती है सत्सङ्ग से, इसीलिये "सन्त मिलन सम सुख कछु नाहीं।" और "नहिं दरिद्र सम दुख जग माँही" कहा गया है। दरिद्री कौन है "को वा दरिद्रो यो विशाल तृष्णः" जिसकी तृष्णा विशाल है। वह आशा व तृष्णा शमन करने वाले जगतीतल में केवल सच्चे सन्त ही समर्थ है। इसीलिये कहा गया है कि—

भक्तजन का सङ्ग ही सुख शान्ति का भण्डार है।

यदि कहिये कि ज्ञान भी तो सुख का साधन है, हां भाई ठीक है। परन्तु वह कठिन साधन है, सरल सरस 'मोहि लगत राज डगरोसो" नहीं, गोस्वामीजी को कहना पड़ा—

कहत कठिन समुझत कठिन साधन कठिन विवेक।
होय घुणाक्षर न्याय जो पुनि प्रत्यूह अनेक॥

* यह एक सूत्र है इसी की व्याख्या लेख है, जिसे कथाकार कथा आख्यान के ढंग पर गा-बजा कर अपने ढंग से कह सकते हैं। इस प्रकार की कथा का प्रचार महाराष्ट्र में अत्याधिक है और कुछ गुजरात में भी है। यदि हिन्दी में रुचिकर हुआ तो आगे प्रयास किया जायगा। यह लेख श्रीगोस्वामी नाभाजी महाराज भक्तमालकार के जीवन का पूर्व प्रसङ्ग है आगे सुन्दर जीवनी है।

ज्ञान को पंथ कृपान की धारा।
परत खगेश न लागत बारा॥

जिस पथ में इतना क्लेश उसे सुखद कैसे कहें स्वयं प्रभु ने भी यही बात कही है—"क्लेशोऽधिकतरस्तेषां" यदि इतना दुःख सहकर आगे कोई अवलम्ब मिले तो दुःख सहा भी जाय परन्तु वहां तो आगे भी "जे ज्ञान मान विमत्त तव भव हरणि भक्ति न आदरी। ते पाई सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी" कह कर स्पष्ट समझा दिया गया है। 'ज्ञान दीपक और भक्तिमणि" प्रसङ्ग पढ़ लेने पर फिर भक्ति विषय में कोई शङ्का रह ही नहीं जाती। आक के पत्तों से दुग्ध पीने की आशा, भूसा कूट कर अन्न पाने की आशा, पानी मथकर घृत पाने की आशा, हाथों से तैर कर समुद्र पार जाने की आशा, बालू पेर कर तैल निकालने की आशा यद्यपि त्रिकाल में पूर्ण नहीं होती परन्तु श्रीगोस्वामीजी कहते हैं यदि ये भी कभी सम्भव हो जाय तो हो जाय परन्तु "बिनु हरि भजन न भव तरिय यह सिद्धान्त अपेल" अटल है, ध्रुव है।

अव्यक्त की उपासना, निराधार दौडना एक दम सूखी नीरस, उस सलोने श्यामसुन्दर की सगुणोपासना के समान कभी हुई ही नहीं तो आज कैसे हो सकती है। सभी तो "चरित सुनहिं तजि ध्यान," और "मुक्ति निरादरि भक्ति लुभाने" कहा गया है।

नेत्रों से प्राण प्रियतम की प्यारी छवि माधुरी का अवलोकन, कानों से प्राणवल्लभ की कमनीय कीर्ति का श्रवण, हाथों से श्याम सुकोमल मृदुल कलेवर की सुन्दर सेवा, मनसे मोहन की मन्द-मन्द मुसकान, तिरछी चितवन, प्रेम रसभरी गरविली चाल, हाव-भाव कटाक्षों का मधुर मनन करने वाले सन्त के पास दुख आवेगा क्या करने के लिये। इसीलिये कहा है—

भक्तजन का सङ्ग ही सुख शान्ति का भण्डार है।

टिप्पणी—(१) सच्चे सन्त का लक्षण मानस में सन्त असन्त के लक्षण उत्तरकांड में श्रीमुख से कहे हैं। वहां देखना चाहिये। आजकल हमारे जैसे वेषधारी वंचक भक्तों की कमी नहीं है। और 'उघरहिं अन्त न होय निबाहू' भी प्रत्यक्ष देखा जाता है और 'कियेहू कुवेष साधु सन्मानू' भी होता ही है:—

—लेखक

भगवान् की भक्ति आनन्दमयी है भगवत-स्वरूप को जानना ही यथार्थ ज्ञान है, प्रभुचरणाश्रय बिना जीव का कल्याण नहीं है। यह बात हृदय में उतर जाना ही सम्पूर्ण ज्ञान का चरम फल है। न इन्द्रियों की रोक थाम और न मनकी मार, न काया को क्लेश और त्याग तितिक्षा का आडम्बर यह जो कुछ भी आवश्यक है अपने आप हो जाता है। प्रभु के भक्त होने पर अनुराग अन्तःकरण की वस्तु है, अन्तः शुद्धि ही सब शुद्धियों की पराकाष्ठा है। वह शुद्ध होता है भगवान् के दर्शन से, 'भिद्यते हृदय ग्रन्थी छिद्यन्ते सर्व संशयाः' "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" और "तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्" यही फल साधु समागम से प्राप्त होता है। उनके हृदय में तो वह नटवर सदा नाचता ही रहता है। सन्तजनों का समागम श्रद्धा-रति और भक्ति प्रदान कर जीव को परमेश्वर से मिला देता है। श्रीमद्भागवत में यही बात कही है—

सतां प्रसङ्गान्ममवीर्य संविदो, भवन्ति हृत्कर्णरसायना कथाः। तज्जोषणादाश्वपवर्ग वर्त्मनि, श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥

अन्य शास्त्र और सन्त भी यही बात सिखलाते हैं।

साधुसङ्गाद्भवेद्विष शास्त्राणां श्रवणं सदा॥
हरि भक्ति भवेत्तस्याद् साधुसङ्ग समाचर।
श्री गुरु दया संग सन्तन को इनकी बिना सहाय॥
रामचरण रति कैसे उपजे, साधेहु कोटि उपाय।

इस लिये हमने भी यही कहा कि—

(शेष पृष्ठ २ पर)

प्रसन्नता का अध्यात्मिक मार्ग

(पं० श्रीरामजी शर्मा आचार्य, सम्पादक "अखंडज्योति")

जीवन को सर्वतोमुखी सफलताओं के लिये चित्त को प्रसन्न रखना बहुत ही जरूरी है। चाहे कोई आदमी कितना ही धनी, गुणी, विद्वान् या सुन्दर क्यों न हो, दुनियाँ उससे मिलकर तब तक हार्दिक प्रसन्नता प्रकट नहीं करती, तब तक कि उसका स्वभाव प्रसन्नतामय न हो। दुनियाँ के पास अपने ही कष्ट बहुत हैं, वह तुम्हारा रोना सुनने के लिये तैयार नहीं है। हाँ, वह तुम्हारी प्रसन्नता का आनन्द लूटने में सम्मिलित हो सकती है। प्रसन्न मनुष्य को सुगंधित पुष्पों की तरह दुनियाँ ढूँढ़ निकालती है और उसका समुचित आदर करती है। डाक्टर शेल्डनलेविट लिखते हैं व्यापार के लिये, बाहय प्रभाव के लिये अथवा आरोग्य प्राप्ति के लिये हँस-मुख रहना बहुत आवश्यक है।

खिन्नता और उदासी का कारण अपनी नासमझी है। हम रोज रोज नई जरूरत पैदा करते जाते हैं और जब वे पूर्ण नहीं होती, तो दुख मानते हैं, एवं अप्रसन्न रहने लगते हैं। अपनी कमज़ोरियों पर ध्यान न देकर असफलता का दूसरों पर दोषारोपण करते हैं। वास्तव में समस्त इच्छाओं की पूर्ति होना बहुत ही कठिन है। क्योंकि यदि एक ही वस्तु चरम लक्ष्य हो और उसके लिये अनवरत तपस्या की जाय, तो वह समयानुसार मिल सकती है, किन्तु हमारी हर एक छोटी बड़ी मन चाही इच्छाएं सदा पूरी होती रहें, ऐसा कोई विधान नहीं है। इसलिये अपनी आवश्यकता को घटाना चाहिये। उन्नति की ओर से मुँह फेर कर एवं आलसियों की तरह निराश बैठ जाना बुरा है, परन्तु आवश्यकताओं की तृष्णा को बढ़ाते ही जाना, यह उससे भी बुरा है। यदि मनुष्य अपना एक लक्ष स्थिर करले, तो शेष व्यर्थ की बातों पर मन का ललचाना अपने आप रुक जायगा।

अपने से अधिक सुखी मनुष्यों को देखकर मन में ईर्षा उत्पन्न मत करो, वरन् अपने से गिरी हुई दशा के कुछ उदाहरणों को सामने रख कर उनकी और अपनी दशा का मुकाबिला करो। तब तुम्हें प्रसन्नता होगी कि ईश्वर ने तुम्हें उनकी अपेक्षा कितनी सुविधाएं दे रखी हैं। एक बार महात्मा शेखसादी के पास जूते न थे। वे सर्दी गर्मी और कुश कंटकों से बड़ा कष्ट पाते और जूते के अभाव में दुखी हो रहे थे। एक दिन वे घूमते-घूमते कोफा की मसजिद में पहुँचे और देखा कि एक व्यक्ति वहाँ ऐसा पड़ा हुआ था, जिसके हाथ पैर किसी प्रकार कट गये थे और वह चूतड़ों के बल घसिट-घसिट कर चलता था। उसे देखकर शेखसादी ने परमात्मा को धन्यवाद दिया कि मेरे जूता नहीं है, न सही, हाथ पैरों से आरोग्य तो हूँ। संसार में असंख्य मनुष्य तुम से नीची दशा में पड़े हुये हैं, उन्हें देख कर सन्तोष करो और अपने को दुखी मत होने दो।

दूसरों को दुःख न दोगे, तो तुम भी दुखी न रहोगे, यह प्रकृति का अकाट्य नियम है। किसी का दिल मत दुखाओ और न किसी के साथ अन्याय करो। यदि किसी से तुम्हारी लड़ाई हो जाय और वह तुम से बोलना छोड़ दे, तो भी तुम उसकी ओर से मुँह न फेरो। जब कभी वह फिर से रास्ता चलते मिल जाय, तो एक बार हँस पड़ो

और उसे गले लगालो या माँफी माँगलो। यह न समझना चाहिये कि ऐसा करने से तुम्हें कायर समझा जायगा। उदारता कायरों से नहीं हो सकती, यह तो बलवान का लक्षण है। प्रेम मय व्यवहार को कोई सच्चा मनुष्य चाहे वह कितना ही विरोधी हो कमजोरी नहीं समझ सकता। तुम्हारे प्रेम मय व्यवहार से उसका हृदय उमड़ पड़ेगा और सारे वैर भाव को भुला कर सच्चा मित्र बन जायगा।

जब दुखदायी परिस्थितियाँ सामने आ खड़ी होती हैं, तो मनुष्य को विशेष रूप से चिन्ता सताने लगती है। व्यापार में घाटा है। मित्रों ने धोका दिया है, धन का अभाव है, कोई आकस्मिक विपत्ति आगई है, कुटुम्बी जन कहना नहीं मानते रोगों ने आ घेरा है, ऐसी स्थितियों में साधारण पुरुषों को बड़ा क्लेश होता है, किन्तु जिनका ईश्वर पर भरोसा है वे इन परिस्थितियों में भी न तो घबराते हैं और न दुखी होते हैं। वे परमात्मा पर भरोसा रखने के कारण समझते हैं कि यह विपत्ति भी शीघ्र टल जायगी और एक कर्तव्य-परायण वीर पुरुष की भाँति उनके निवारण का साहस पूर्वक उपाय करते हैं। विपत्तियों को परीक्षा समझ कर उस पर अपने को प्रसन्नता पूर्वक कसने देते हैं, ताकि उनका भविष्य बहुत ही उज्ज्वल और आनन्दमय बन जावे। दुख सुख रोज आने वाली घटनाएं हैं फिर क्यों उनके कारण अपने को दुखी बनाया जाय?

भलाई और उपकार के विचार एवं कार्य दुख में भी सुख उत्पन्न करते हैं। कोई व्यक्ति तुम्हारे साथ बुराई कर रहा हो तो तुम सच्चे हृदय से उसकी भलाई चाहो। जिस समय दुख का वातावरण पैदा हो रहा हो उस समय किसी दुखी व्यक्ति की सेवा सहायता करने लगो या उपकार की महत्ता पर मन ही मन विचार करना आरंभ करदो। भलाई के विचारों में एक ऐसी शक्ति है कि मन चाहे कितना भी भारी क्यों न हो रहा हो उसमें तुरन्त ही हलकापन आता है और शान्ति उपलब्ध होती है। पूजा, पाठ, दान, धर्म, उपदेश, सेवा यह सब भलाई की श्रेणी ही में गिने जाते हैं।

अपने आपको चिन्ता में से उबारने की शिक्षा दो। भुला देने का अभ्यास कर लेना बहुत बढ़िया उपाय है। क्रोध या चिन्ता के विचारों पर जितना ही अधिक ध्यान दिया जाता है, वे उतने ही अधिक भड़कते हैं और दुख को अधिकाधिक बढ़ाते जाते हैं इसलिये जब कोई आवेश आरहा हो या दिल टूट रहा हो तो उसे भुलाने का प्रयत्न करो। उन विचारों या कामों पर से अपने शरीर और चित्त को दूसरे किसी प्रसन्नता उत्पन्न करने वाले काम पर लगादो और उस दुखद प्रसंग को बिलकुल भुलादेने का प्रयत्न करो मानो उस प्रकार की कोई बात हुई ही न थी। हँसी न आती हो तो भी हँसो, बनावटी हँसी हँसो। दर्पण में अपना हँसता हुआ चहरा बार बार देखो और मन ही मन प्रसन्नता प्राप्त करो।

निम्न मन्त्रों को बार-बार दुहराते रहने पर भी अप्रसन्नता की आदत छूट जाती है और प्रसन्न रहने का स्वभाव बन जाता है।

मंत्र—

(१) मैंने सदा प्रसन्न चित्त रहने की प्रतिज्ञा करली है।

(२) मैं ईश्वर की दयालुता पर पूर्ण विश्वास करता हूँ।

(३) मेरी आत्मा आनन्द, आरोग्य और ऐश्वर्य स्वरूप है।

(४) मेरे मन में चिन्ता, दुख, शोक, आदि शत्रुओं के लिये तनिक भी स्थान नहीं है।

(५) मैं आनन्दमय हूं और हर स्थिति में आनन्द प्राप्त करता हूँ।

मैंने श्रीकृष्ण नाम का जप और सनातन धर्म की शरणग्रहण क्यों की ?

(एक डिप्टी कलक्टर संतकी जबानी आप बीती सत्य कहानी)

(लेखक—भक्त रामशरणदासजी पिलखुवा)

अभी उस दिन पिलखुवा हमारे स्थान पर सुप्रसिद्ध सनातनधर्मी राजा महाराज गभाना नरेश श्री देवराजसिंहजी व नरौली नरेश रावराजा राजकुमारसिंहजी एम० एल० ए०, यादनगर के कुंवर सुलतानसिंहजी आदि राजागण पधारे थे। महाराज नरौली के साथ में एक महात्मा थे जिन का नाम था श्री स्वामी सर्वदानंद परिव्राजक एम० ए० एल० एल० बी० भूतपूर्व डिप्टी कलक्टर। आप रात्रि को हमारे स्थान पर ही ठहरे। आपने अपने जीवन के परिवर्तन की अपनी कहानी इस प्रकार सुनाई जिसे सुनकर बड़ा आश्चर्य हुवा और सुनकर यह निश्चय हुवा कि समस्त संसार में सबसे श्रेष्ठ सनातन धर्म ही एक मात्र धर्म है और श्रीकृष्ण भक्ति ही कल्याण का एक मार्ग है। जिसके बिना जीव का कल्याण नहीं। आपने बताया—

मैं कट्टर आर्यसमाजी रह चुका हूँ और १० वर्ष तक आर्यसमाज में रहकर आर्यसमाज की सेवा कर चुका हूं और कई वर्ष तक कट्टर काँग्रेसी भी रहा हूँ और गाँधीजी के आश्रम में भी कई वर्ष तक रहा हूँ। मेरा गाँधीजी से बड़ा घर का सा सम्बन्ध था। काँग्रेस के बड़े २ नेता आज भी मेरा बड़ा मान सम्मान करते हैं। परन्तु मैं अब आर्यसमाजी लोगों की इस बात को श्रीकृष्ण मनुष्य हैं नहीं मानता। मैं आज श्रीकृष्ण को मनुष्य नहीं श्रीकृष्ण को साक्षात् परब्रह्म परमात्मा मानता हूं और श्रीकृष्ण भजन करने में और "ॐ नमो भगवते वासुदेवाय" मन्त्र का जप करने में संकोच नहीं वरन् गौरव का अनुभव करता हूँ। आर्यसमाजी व काँग्रेसी होकर भी मेरे जीवन में एक दम ऐसा परिवर्तन क्यों हुवा इसका एक मात्र कारण है मेरी आँखों देखी अद्भुत आश्चर्यजनक घटनायें जिनका उत्तर मुझे आर्यसमाज न दे सका और मुझे बरबस सनातन धर्म और श्रीकृष्ण की शरण में आना पड़ा। घटनायें इस प्रकार से हैं—

मेरे पूज्य पिताजी बड़े कट्टर आस्तिक सनातन धर्मी मूर्तिपूजक थे पर मैं अंग्रेजी पढ़ने के कारण और अंग्रेजी में एम० ए० एल० एल० बी० होने के कारण आर्यसमाजी बन गया और मैं विदेशों में भी गया और काँग्रेसी बन वर्षों गाँधीजी के साथ गांधीजी के आश्रम में भी रहा और गाँधीजी से मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। मैं बहुत दिनों तक डिप्टी कलक्टर भी रह चुका हूँ। मेरे जीवन में परिवर्तन कर देने वाली घटना इस प्रकार से हुई:—

१-ॐनमो भगवते वासुदेवाय मन्त्र के जप का आदेश

एक बार जब कि मैं कट्टर आर्यसमाजी था श्रीकृष्ण को भगवान नहीं मनुष्य मानता था और श्रीकृष्ण भजन को व्यर्थ समझता था तो एक दिन रात्री में सोती बार स्वप्न में क्या देखता हूँ कि मेरे सामने श्री महर्षि श्री नारदजी महाराज खड़े हैं। और मुझे 'ॐनमो भगवते वासुदेवाय' मन्त्र की दीक्षा दे रहे हैं। और मुझसे 'ॐनमो भगवते वासुदेवाय' मन्त्र जपने को कह रहे हैं। मुझे इस अद्भुत घटना से बड़ा आश्चर्य हुवा और भगवान श्रीकृष्ण की ओर मेरा ध्यान आकर्षित हुवा।

२—चित्रकूट में देखी आश्चर्यजनक घटना

एक बार जबकि मैं चित्रकूट में गया हुआ था तो एक दिन मैंने १२ कोस की पैदल यात्रा की। घूमते २ मैं थक गया और भूख से बहुत ही व्याकुल होगया और रास्ता भी भूल गया। मैं सोच रहा

था कि मैं अब कहाँ पर जाऊँ और मैं क्या करूँ तो इतने में ही क्या देखता हूँ कि सामने एक वयो-वृद्ध तपस्वी जटाजूटधारी साधु धूनी रमाये बैठे हुये हैं। मैं थका हुआ तो था ही, मैं दौड़ा हुवा गया और उनके पास जाकर बैठ गया। उन्होंने वहीं पर बैठे बैठे मुझे जो बातें मेरे साथ घटी थीं बताई जिन्हें सुन कर मुझे बड़ा आश्चर्य हुवा और साथ ही मुझे भूखा जानकर उन्होंने मुझे खिचड़ी बनाकर खिलाई। जो स्वाद मुझे उस खिचड़ी में आया ऐसा स्वाद मुझे जीवन में आज तक नहीं आया। मैं रात्री को वहीं पर उन तपस्वी बाबा के पास ही सोगया। सुबह प्रातःकाल उठकर जो आँखें खोल कर देखता हूँ तो मैं क्या देखता हूँ कि न तो वह रात्री वाला घोर जंगल है, न वह धूनी है, न वृद्ध है, न धूनी रमाने वाले वह साधु बाबा हैं मैं एक दम १२ कोस की दूरी पर श्रीगंगाजी के किनारे बैठा हूँ यह देखकर मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। कहाँ गये रात्री वाले बाबा, कहाँ गई धूनी, कहाँ गया जंगल और मैं १२ कोस बिना चले सोता हुवा किस प्रकार श्रीगंगा किनारे आ पहुँचा यह सब बातें मुझे चक्कर में डाल रही थीं। मैं जिन बातों को अब तक आर्यसमाजी होने के कारण गप्प बताता था, मानता था और भर पेट पुराणों में लिखी ऐसी बातों को पोपों की घड़ी बताकर हँसी में उड़ाता था आज प्रत्यक्ष देख मेरी बोलती बंद होरही थी। मैंने पुराणों की बातों को सत्य रूप में पा आर्यसमाज के स्वामी नारायण स्वामीजी के पास जाकर यह सब बातें उनके सामने रक्खी तो उनके पास मैंने कोई संतोषजनक उत्तर नहीं पाया। और भी जीवन में अनेकों आश्चर्यजनक घटनायें देखीं जिनके कारण विवश हो मुझे अपना हठ छोड़ श्रीकृष्ण को परमात्मा मान श्रीकृष्ण की शरण में आना पड़ा। मैं श्रीकृष्ण की गीता का पाठ करता हूँ और ॐनमो भगवते वासुदेवाय का जप करता हूँ और प्रति वर्ष श्री बद्रीनारायण की यात्रा करने जाता हूँ और श्री बद्रीनाथजी महाराज का दर्शन करके शाँति का अनुभव करता हूँ। श्री बद्रीनाथ के रास्ते में भी मेरे साथ कई अद्‌भुत घटनायें हुई जिन्हें फिर कभी बता सकेंगे। मैं अब श्रीकृष्ण भजन में ही सुख शान्ति समझता हूं और पहिले से अब अधिक सुख शान्ति का अनुभव करता हूँ।

आपके इस जीवन की अद्‌भुत घटनायें सुनकर यह डंके की चोट घोषणा कर कहना पड़ता है कि समस्त संसार में सनातन धर्म और श्रीकृष्ण शरण ही उद्धार का एक मात्र मार्ग है। क्या नास्तिक इन घटनाओं से शिक्षा ले सन्मार्ग पर आवेंगे?

बोलो सनातन धर्म की जय

भक्तजन का संग ही सुख शान्ति का भण्डार है।
भगवान भक्ताधीन हैं जो सर्व जगदाधार है॥

हैं यह क्या कह दिया? क्या भगवान भक्त के आधीन हैं। भले भक्तों का संग सुख शान्ति का भण्डार है। यह मान लिया परन्तु त्रिभुवननाथ, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक सर्वशक्तिमान् सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र प्रभु भक्त के आधीन, यह कैसे मान लिया जाये? अच्छा भले आप माने चाहें न माने परन्तु बात है ऐसी ही। "रामते अधिक राम कर दासा" सिद्धान्त ही बन गया है। करें तो क्या करें। प्रभु का स्वभाव जो प्रेमपरवश ठहरा तभी तो स्वयं कह चले-

अहं भक्त पराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्त हृदयो भक्तैर्भक्तजन प्रियः॥
मयि निबद्ध हृदया साधवः समदर्शनाः।
वशी कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥

क्या करें "योग क्षेमो वहाम्यम्" स्वीकार कर चुके हैं। आप ने अपनी भरी सभा में अयोध्या की राजसभा में सबके सामने कहा हे पवनकुमार! ये अयोध्या, यह रघुवंश, मैं, वैदेही सब तुम्हारे ऋणी हैं। तुम्हारे उपकारों का बदला नहीं चुकाया जा सकता। तुम्हारे उपकार मेरे शरीर में ही पच जायें क्योंकि प्रत्युपकार संकट पर काम देता है। तुम्हें कभी संकट आवे मैं चाहता ही नहीं इसलिये एक काम करो, मैं सदा तुम्हारा ऋणी और तुम मेरे महाजन यह कागज लिख वालो धन्य है भक्तवश्यता।

(पृष्ठ १६ का शेष)

धर्म, ईश्वर और संसार

[स्वामी शिवानन्द सरस्वती, आनन्द कुटीर]

आप्त वाक्य तो यह है कि धर्मका अभ्युदय अच्युत-प्रतिष्ठा द्वारा हुआ। परन्तु हम आज इसको दूसरे दृष्टिकोण से देखना चाहते हैं। वह दृष्टिकोण है सत्य की एकता और हमारे विचारों की बहुलता का इसका यह अर्थ नहीं होता कि धर्मका अभ्युदय अच्युत-प्रकृति से नहीं हुआ। यदि विचार किया जाय तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि धर्म विश्व-प्रतिष्ठा का मध्यबिन्दु अथवा कीलिका है, जिसमें अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डों का परिचालन हो रहा है। यह वेद सिद्ध अनुभव है। साधारण शब्दोंमें धर्मकी परिभाषा यही हो सकती है कि मनुष्य तथा इतर जीववर्ग पदार्थवर्ग तथान्य भौतिक अन्तर्भौतिक-वर्गकी क्रियात्मक-स्पन्दनशक्ति के विशिष्ट रहस्य को लक्ष्यांकित कर, जो शक्ति उनकी गतिको विधानानुकूलरूपेण कार्यकारण से सम्बन्धित रख, इस अनवरत-चक्रकी प्रगतिको स्थिर रखे है, तथा तत्तद्कर्मरूपगुणानुकूल निर्णय के उपरान्त प्रत्येक पदार्थ को जीव अथवा चेतनता अथवा स्पन्दन अथवा सवेदन अथवा स्फुरणकी एकता से सूत्रित किये है, वही धर्मका विराट रूप है।

मनुष्य जन्मलेता है, युवक होता और वृद्धावस्थान्तर कहीं चला जाता है। वृक्ष पनपते हैं, विकाश और कालान्तर में अदृश्य हो जाते हैं। इसी प्रकार सभी लोगों की प्रगति है। हम देखते हैं नित्य समयानुकूल सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र उदय होते हैं, सप्ताह, मास, संवत, ऋतुऐं आती जाती हैं, उनका क्रम अविच्छिन्न-सा रहता दीखता है। क्या पश्चिम, क्या पूर्व, क्या उत्तर क्या दक्षिण... सभी देशवासी एक ही विधान के लक्ष्य हो रहे हैं-अभी तक कोई भी ऐसा नहीं हुआ, जिसने इन नियमों का उल्लंघन कर पाया हो। कोई जाति अथवा सत्ता ऐसी नहीं जो यह कह सके कि हम इन विश्वव्यापक विधानों के अन्तर्गत नहीं हैं।

इन सब कारणों से हमें एक प्रतीति तथा एक निश्चय होता है कि इसका सूत्रधार भी होना चाहिये, जो अविरन्तर क्रियात्मकता को प्रगतिमय किये है। विश्वका मत भी यह है कि इन सब लीलाओंका सूत्रधार सबका नियन्ता भगवान् सब में व्यापक और शक्तिमय है। हमारे वेदों और शास्त्रों ने भावों की इतिश्री ही करदी है। जो कुछ कहना चाहिये था उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। उन्हीं के विचारों से हम इस निर्णय-विन्दुपर आ पाते हैं, विराट ब्रह्माण्ड में एक ही शक्ति है। इसी शक्ति ने प्रत्येक जीववर्ग के लिये नियम निर्धारित कर दिये हैं। जैसे मानवधर्म, पशुधर्म, स्थावरधर्म, जीवधर्म इत्यादि। इन नियमों का हमें समानरूप से प्रतिपालन करना होता ही है, क्योंकि हमारा धर्म निश्चित और अनिवार्य है। हम इन नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकते और न कर ही पायेंगे।

ये ही नियम हैं जिनको हम धर्म की संज्ञा देते हैं। मानव-मतान्तर से इस धर्म का मूलरूप, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, आवर्णित-सा होगया है। जिस आवरण के भ्रम से मानव ने उसके भेद की, उसकी अनेकता की, उसकी विभिन्नता की कल्पना करली और धर्म के रूप को छिन्नभिन्न सा कर दिया। हम यह भी नहीं कहेंगे कि सभी धर्मों की चर्चाएं तो एक ही हैं, परन्तु उनमें भेदभाव आ गया है। इतनी दूर जाने की आवश्यकता ही नहीं। धर्म की चर्चा तो दूर ही रही, धर्म का पूर्वरूप तथा उसका अधिष्ठान एक ही है। एक ही आधार पर भवन के कक्षों का निर्माण हो रहा है, जिसको कलाहनुरक्त- भाइयों ने आपस में विभक्त कर, भेद की सृष्टि की है। (क्रमश:)

॥ श्रीहरिः ॥

"नाम-माहात्म्य" के नियम

उद्देश्य—श्री भगवन्नाम के माहात्म्य का वर्णन करके श्री भगवन्नाम का प्रचार करना जिससे सांसारिक जीवों का कल्याण हो

नियमः—

१—"नाम-माहात्म्य" में पूर्व आचार्य श्री महानुभावों, महात्माओं, अनुभव-सिद्धसन्तों के उपदेश, उपदेशप्रद वाणियाँ, श्रीभगवन्नाम महिमा संबंधी लेख एवं भक्ति चरित्र ही प्रकाशित होते हैं।

२—लेखों के बढ़ाने, घटाने, प्रकाशित करने या न करने का पूर्ण अधिकार सम्पादक को है। लेखों में प्रकाशित मत का उत्तरदायी संपादक नहीं होगा।

३—"नाम-माहात्म्य" का वर्ष जनवरी २१ से आरम्भ होता है। ग्राहक किसी माह में बन सकते हैं। किंतु उन्हें जनवरी के अंक से निकले सभी अंक दिये जावेंगे।

४—जिनके पास जो संख्या न पहुँचे वे अपने डाकखाने से पूछें, वहाँ से मिलने वाले उत्तर को हमें भेजने पर दूसरी प्रति बिना मूल्य भेजी जायगी।

५—"नाम-माहात्म्य" का वार्षिक मूल्य डाक व्यय सहित केवल २≡) दो रुपये तीन आना है।

६—वार्षिक मूल्य मनीआर्डर से भेजना चाहिये। वी० पी० से मंगवाने पर ।) अधिक रजिस्ट्री खर्च के लगते हैं।

७—समस्त पत्र व्यवहार व्यवस्थापक "नाम-माहात्म्य" कार्यालय मु० पो० वृन्दावन [मथुरा] के पते से करनी चाहिये।

"नाम-माहात्म्य" के ग्राहक महानुभावों से प्रार्थना

(१) प्रतिमास प्रथम सप्ताह में "नाम-माहात्म्य" के अंक कार्यालय द्वारा २-२ बार जाँच कर भेजे जाते हैं फिर भी किसी गड़बड़ी के कारण अंक न मिले हों उसी माह में अपने पोस्टआफिस से लिखित शिकायत करनी चाहियें और जो उत्तर मिले उसे हमारे पास भेजने पर ही दूसरा अंक भेजा जासकेगा।

(२) प्रत्येक पत्र व्यवहार में अपना ग्राहक नम्बर लिखने की कृपा करें एवं उत्तर के लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजने चाहियें पत्र व्यवहार एवं वार्षिक चंदा निम्न पते पर स्पष्ट अक्षरों में लिख कर भेजियेगा।

व्यवस्थापक :- "नाम-माहात्म्य" कार्यालय, भजनाश्रम
मु०—पोस्ट वृन्दावन (मथुरा)

उपदेश

नास्ति विद्यासमं चक्षुः नास्ति सत्यसमं तपः ।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम् ॥
निवृत्तिः कर्मणः पापात्सततं पुण्यशीलता ।
सद्वृत्तिः समुदाचारः श्रेय एतदनुत्तमम् ॥
मानुष्यमसुखं प्राप्य यः सज्जति स मुह्यति ।
नालं स दुःख मोक्षाय संयोगो दुःख लक्षणम् ॥
सर्वोपायात्तु कामस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः ।
कार्यः श्रेयोर्थिना तौहि श्रेयोघातार्थ मुद्यतौ ॥

—"महाभारत"

क्या स्थूल और क्या सूक्ष्म, सब वस्तुओं के प्रत्यक्ष करा[illegible] विद्या के समान संसार में नेत्र नहीं है। राग के समान कोई दुःख न[illegible] है। त्याग के बराबर सुख नहीं है। पाप कर्मों से निवृत्त होना, (सदा पुण्य-शील होना) वृत्ति और आचार उत्तम रखना ये सब परम श्रेय हैं। दुःखमय इस मनुष्य भाव को प्राप्त कर जो मनुष्य भोगात्मक सांसारिक विषयों में लिपटा रहता है, वही मोह को प्राप्त होता है। वह किं कर्त्तव्य मूढ़ पुरुष दुःख से कभी छूट ही नहीं सकता, क्योंकि अनात्म वस्तुओं के संयोग से दुःख ही होता है। कल्याण चाहने वाले का कर्त्तव्य है कि वह सब तरह अनेकों उपाय से काम और क्रोध को जीते, क्योंकि ये दोनों मनुष्य मात्र के बड़े भारी शत्रु हैं और सदा कल्याण के नाश के लिये उद्यत रहते हैं।

बाबू रामलालजी गोयल के प्रबन्ध से आदर्श प्रिंटिंग प्रेस केसरगंज, अजमेर में मुद्रित व गौरगोपाल मानसिंहका संपादक व प्रकाशक द्वारा [illegible] भजनाश्रम, वृन्दावन [मथुरा] से प्रकाशित।

नाम
अंक १०

विषय सूची

आसोज संवत २००८

दानदाताओं को सूचना

सर्व सज्जनों को सूचना दी जाती है कि श्री भगवान-भजनाश्रम को जो दान मनीआर्डर बीमा द्वारा प्राप्त होता है उसकी रसीद उसी दिन डाक द्वारा दाता महानुभाव की सेवा में भेज दी जाती है, अगर किन्हीं दाता महानुभाव को अपने दान की छपी हुई रसीद श्री भगवान भजनाश्रम की प्राप्त नहीं हुई है तो उन्हें तुरन्त सूचना देनी चाहिये एवं भविष्य में कभी किन्हीं दान दाता को अपने दान की रकम की रसीद प्राप्त नहीं हो तो तुरन्त हमें सूचना देनी चाहिये, इसमें बिल्कुल बिलम्ब नहीं करना चाहिये।

कृपया पत्र आदि एवं मनीआर्डर बीमा निम्नपते पर भेजने की कृपा करें

मंत्री श्री भगवान-भजनाश्रम मु० पो० बृन्दावन (मथुरा)

वार्षिक मूल्य २≡)   संस्थाओं से १।|≡)   एक प्रति का ≡)

दानी सज्जनों से प्रार्थना

समस्त दानी सज्जनों से प्रार्थना है कि अब कार्तिक मास आ रहा है। शास्त्रों में कार्तिक मास में भजन कराने, दान देने तथा अन्य शुभ कर्म करने का अनन्त फल लिखा है। और वृन्दावन धाम में किया हुआ शुभ कर्म तो साक्षात् मुक्ति का हेतु माना गया है। अतः ऐसे शुभ अवसर पर भजनाश्रम में माइयों द्वारा आपकी ओर से भजन होना चाहिये अथवा भजन करने वाली माइयों को अन्नादि वितरण होना चाहिये। प्रतिदिन एक माई ८ घंटे भजन करती है। एक माई का एक दिन का साढ़े चार आना और एक महीने का ८।≋) आठ रुपये सात आना खर्च लगता है। अतः जितनी माइयों द्वारा आप भजन कराना चाहें ८।≋) प्रति माई के हिसाब से भेजने चाहिये। एक माई १ दिन में लगभग १ लाख भगवन्नाम जप कर सकती है।

अन्य कोई सज्जन भजन कराना चाहें अथवा अन्न वितरण कराना चाहें तो हमें सूचित करें।

जिन सज्जनों की अन्न वितरण के लिये सहायता आयेगी वह सब एकत्रित कर कार्तिक अमावस्या और पूर्णिमा को बांट दी जायेगी।

पत्र व्यवहार व मनिआर्डर भेजने का पताः—

मन्त्री श्री भगवान भजनाश्रम, वृन्दावन (मथुरा)।

प्रेमी पाठकों से आवश्यक प्रार्थना

१—श्री भगवान भजनाश्रम को जो दान मनी आर्डर बीमा द्वारा प्राप्त होता है उसकी रसीद उसी दिन डाक द्वारा दाता महानुभाव की सेवा में भेज दी जाती है, अगर किन्हीं दाता महानुभाव को अपने दान की छपी हुई रसीद श्री भगवान भजनाश्रम को प्राप्त नहीं हुई हों तो उन्हें तुरन्त सूचना देनी चाहिये एवं भविष्य में कभी किन्हीं दानदाता को अपने दान की रकम की रसीद प्राप्त नहीं हो तो तुरन्त हमें सूचना देनी चाहिये, इसमें बिल्कुल बिलम्ब नहीं करना चाहिये। और जिस पोस्टआफिस से आपने मनीआर्डर बीमा भेजा हो उस पोस्टआफिस का पूरा नाम पोस्टआफिस से जो रसीद मिली हो उसका नम्बर तथा तारीख हमें तुरन्त लिखनी चाहिये। समस्त पत्र आदि एवं मनीआर्डर बीमा मंत्री श्री भगवान भजन आश्रम वृन्दावन (मथुरा) के पते पर भेजने की कृपा करनी चाहिये।

२—"नाम-माहात्म्य" भगवन्नाम प्रचार की दृष्टि से निकलता है इसका प्रचार जितना अधिक होगा उतना ही भगवन्नाम प्रचार में वृद्धि होगी अतः कृपा कर समस्त प्रेमी पाठक इसे अपनायें इसका मूल्य बहुत कम केवल २≶) है। आज ही आप मनीआर्डर द्वारा भेजकर इसे मंगाना आरम्भ कर दीजिये और अपने इष्ट मित्रों को भी इसे मंगाने के लिये उत्साहित कीजिये। नमूना मुफ्त मंगावें :—

पता :—व्यवस्थापक "नाम-माहात्म्य" श्री भजनाश्रम
पो० पोस्ट वृन्दावन (मथुरा)

वर्ष ११ } "नाम-माहात्म्य" वृन्दावन अक्टूबर सन् १६५१ } अंक १०

श्रीरामनाममाहिमा

राम जपु, राम जपु, राम जपु, बावरे ।
घोर भव नीर निधि नाम निज नावरे ॥
एक ही साधन सब रिद्धि सिद्धि साधिरे ।
ग्रसे कलिरोग जोर संजम-समाधि रे ॥
भलो जो है, पोच जो है, दाहिनो जो बाम रे ।
राम-नाम ही सों अंत सब ही को काम रे ॥
जग नभ-बाटिका रहा है फलि फूलि रे ।
धुआं के से धौरहर देखि तूँ न भूलि रे ॥
राम-नाम छोड़ि जो भरोसो करै और रे ।
तुलसी परोसो त्यागि मांगै कूर कौर रे ॥

—परमभक्त श्रीतुलसीदासजी

ईश्वर भक्ति, सदाचार और गीता की महिमा

(लेखक—श्री जयदयालजी गोयन्दका)

(गतांक से आगे)

अतः यदि कोई जयदयाल की निन्दा करें तो और उससे मैं दुखी होऊँ तथा कोई प्रशंसा करें और उससे मैं सुखी होऊँ तो यह मेरी मूर्खता ही है। क्योंकि स्तुति और निन्दा को सुनकर सुख दुख होता है तो यह मूर्खता ही है। इसमें अज्ञान ही हेतु है। यदि मुझे यथार्थ ज्ञान हो तो मेरी स्तुति और निन्दा में समता हो जानी चाहिए। भक्तिमान पुरुषों का लक्षण बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्
अनिकेतः स्थिरमतिः भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥१२।१९

जो निन्दा स्तुति को समान समझने वाला मननशील और जिस किसी भी प्रकार से शरीर निर्वाह होने में सदा ही सन्तुष्ट है, और रहने के स्थान में ममता और आसक्ति से रहित है, वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान पुरुष मुझे प्रिय है।

जिसको तत्व ज्ञान हो जाता है उसके भी निन्दा स्तुति समान हो जाती है। (गीता १४।२४)

जिस प्रकार यह जयदयाल नाम मेरा नहीं है, उसी प्रकार यह शरीर भी मेरा नहीं है। और न शरीर ही मैं हूँ। यदि शरीर मेरा होता तो यह मरने के बाद मेरे साथ जाता, एवं यदि शरीर मैं होता तो किसी कारण कटे हुए हाथ पैर में भी मेरी आत्मा की प्रतीति होती किन्तु उस कटे हुए अंग को हम अपने से पृथक् देखते हैं। जब कटे हुए अंग में हमारी आत्मा की प्रतीति नहीं होती तो शेष शरीर में भी अपनी प्रतीति गलत है। क्योंकि कटे हुए अंग के सदृश ही तो हमारा यह शेष शरीर है। अतएव यह शरीर भी मैं नहीं।

इस प्रकार जिनको ज्ञान हो जाता है वे नाम रूप से अपनी आत्मा को एक दम अलग समझ कर परम पद को प्राप्त हो जाते हैं। इसलिए हर एक भाई को यह ख्याल रखना चाहिए कि नाम और रूप से मैं अलग हूं। यह द्रश्य है, मैं द्रष्टा हूं यह अनित्य है, मैं नित्य हूं, यह विनाशशील है, मैं अविनाशी हूं, यह दुख रूप है, मैं आनन्द स्वरूप हूं; यह विकारी है, मैं निर्विकार हूं; यह व्यक्त है, मैं अव्यक्त हूं तथा यह एक देशी है और मैं देश काल से रहित हूं।

गीता में इसका आदेश स्थानस्थान में दिया गया है। अतः मेरी यह प्रार्थना है कि गीता का अनुशीलन अर्थ और भाव सहित करना चाहिए यानी गीता में प्रवेश होकर उसका अध्ययन करना चाहिए। गीता का भाव बड़ा गंभीर है। जैसे समुद्र का थाह नहीं, वैसे ही गीता के भावों का थाह नहीं।

आप लोग मानते होंगे कि यह गीता जानने वाला है। पर जब मैं ख्याल करता हूं तो मुझे यह मालूम होता है कि मैं इसका शतांश भी नहीं जानता। मैं एक जन्म में ही नहीं कई जन्मों में गीता का ही अध्ययन करता रहूं तो भी उसके भावों की समाप्ति नहीं। मेरी आयु समाप्त हो सकती है पर गीता के भावों की समाप्ति नहीं हो सकती।

इसलिए हर एक भाई को अपना जीवन गीतामय बनाना चाहिए। उसी का जीवन धन्य है। जिसका सारा जीवन गीतामय होता है, उसके दर्शन, भाषण, स्पर्श और वार्तालाप से दूसरे मनुष्य पवित्र हो जाते हैं।

गीता बहुत ही उच्च कोटि का ग्रन्थ है। गीता की संस्कृत बहुत ही सरल, सुन्दर और मधुर है। एक श्लोक को भी आप भाव सहित धारण करलें, तो आपकी आत्मा का कल्याण हो सकता है। गीता में ऐसे सैकड़ों श्लोक हैं, जिनमें से एक श्लोक के अनुसार जीवन बनाने पर आत्मा का उद्धार हो सकता है।

गीता को हम गंगाजी से भी बढ़कर कहें तो अनुचित न होगा। क्योंकि गंगा में स्नान करके तो करने वाला मनुष्य स्वयं ही मुक्त होता है यह बात शास्त्रों में लिखी है। किन्तु गीता रूपी गंगा में स्नान करने वाला स्वयं तो मुक्त होता ही है, दूसरों का भी उद्धार कर सकता है।

गीता का अच्छी प्रकार अध्ययन करने वाले को अपनी आत्मा के कल्याण के लिए और शास्त्रों की आवश्यकता नहीं पड़ती। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि मैं और शास्त्रों की अवहेलना करता हूं। गीता एक ऐसा ग्रन्थ है कि हमारे शास्त्रों में सबसे बढ़कर भी कहदें तो अत्युक्ति नहीं होगी, क्योंकि श्री वेदव्यासजी ने स्वयं कहा है

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
याः स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिसृताः॥

गीता का गायन अच्छी प्रकार करना चाहिए। गीता का अध्ययन अच्छी प्रकार करना चाहिए। गीता का मनन अच्छी प्रकार करना चाहिए। इसका नाम है 'गीता, सुगीता, कर्त्तव्या'। फिर अन्य शास्त्रों के विस्तार की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि यह गीता स्वयं भगवान् कमल-नाभ के मुख कमल से निकली हुई है। अन्य जितने भी शास्त्र हैं, वे ऋषियों के मुख से निकले हुए हैं। वेद जो है, वे ब्रह्मा के मुख कमल से प्रकट हुए हैं। परन्तु गीता तो स्वयं भगवान के मुख कमल से प्रकट हुई। अतः हम उसे सर्वोपरि कहदें तो कोई अत्युक्ति नहीं।

गीता को हम गायत्री से भी बढ़कर कह सकते हैं। गायत्री के जप से जपने वाले का [illegible]ण होता है। किन्तु गीता का अर्थ और भाव सहित अच्छी प्रकार अध्ययन करके धारण कर लेने पर वह दूसरों का भी कल्याण कर सकता है। अतः हम गीता को गायत्री से भी बढ़कर कह सकते हैं।

यदि मनुष्य जन्म पाकर गीता का अभ्यास नहीं किया, गीता का अध्ययन नहीं किया, गीता का मनन नहीं किया गीता के अनुसार अपना जीवन नहीं बनाया, तो मैं समझता हूं कि उसका जन्म व्यर्थ है। हमें ऐसा अभ्यास करना चाहिए कि हमारी वाणी में गीता, हमारे हृदय में गीता, हमारे कंठ में गीता, हमारे रोम-रोम में गीता, और हमारा जीवन गीतामय हो। तब उसे हम कह सकते हैं कि उसका जीवन धन्य है, उसके माता पिता धन्य हैं।

ऐसा पुरुष संसार में गीता का प्रचार करके अलग ही नहीं हजारों लाखों व्यक्तियों का उद्धार कर सकता है। आज तुलसीदासजी नहीं हैं। किन्तु उन्होंने रामायण की रचना करके संसार का बड़ा भारी उपकार किया। उससे हजारों लाखों का उद्धार हो रहा है और जब तक यह कायम रहेगी, उद्धार होता रहेगा।

उसी प्रकार जो मनुष्य गीता का अच्छी प्रकार अनुशीलन करके उसके अनुसार अपना जीवन बना लेता है। अपना जीवन गीता के प्रचार में लगा देता है, उस पुरुष के द्वारा ही वस्तुतः संसार में गीता के भावों का प्रचार होता है। उसके द्वारा भविष्य में भी कितनों का उद्धार होता रहेगा कुछ कहा नहीं जा सकता। भगवान ने गीता के प्रचार की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। भगवान ने यहाँ तक कह दिया है कि जो गीता शास्त्र का मेरे भक्तों में प्रचार करता है उसके अर्थ और भाव को धारण कराता है, वह

(शेष पृ० ८ पर)

भक्त-महिमा

(लेखक—श्री अवध किशोरदास श्रीवैष्णव)

—: गतांक से आगे :—

अपि सेवा वश भयो कनोड़ो कह्यो पवनसुत आऊ।
देवे को न कछू ऋणिया हों धनिक तू पत्र लिखाऊ॥

उनके पास है ही क्या, स्वर्ग, मोक्ष, वैकुण्ठ-यह तो भक्त चाहते ही नहीं। चाहते हैं केवल प्रभुचरण वह तो पराधीन बने बिना किसी को दे नहीं सकते। इसीलिये कहा है—

श्रीराम भक्ताधीन हैं जो सर्व जगदाधार हैं।

अनन्तशक्तिमान् प्रभु की शक्ति अपार है। वही प्रभु अपनी शक्ति का सञ्चार भक्तों की जय-ध्वनि द्वारा जीवों पर करते हैं। यही कारण है सृष्टि के आदिकाल से आज तक आप सदैव भक्त के विजय की दुंदुभि सदैव बजवाते आ रहे हैं। फिर भी उस पूर्ण काम की कामना अभी पूर्ण नहीं हुई और न होगी। इसीलिये भक्त सबसे श्रेष्ठ कहे गये हैं।

एक बार सन्तों की गोष्ठी में प्रश्न उठा कि—सबसे बड़ा कौन? किसी ने कहा पृथ्वी जो समुद्र, कानन, पर्वत, नगर लोक सभी का निवास है। दूसरे ने कहा—नहीं, शेषजी के मस्तक पर वह सरसों के समान ठहरी है इसलिये बड़े हैं शेष भगवान्। तीसरे ने कहा नहीं जी, शेषजी को गले का हार बनाने वाले भुजगभूषण भोलानाथ से बढ़ कर कौन हैं? चौथे ने कहा, वाहजी, शंकरजी को कैलास समेत उठाने वाला शिव भक्त रावण क्या बड़ा नहीं है? पांचवे सन्त बोले रावण को मारने वाले श्रीरघुकुल-शिरोमणि रामजी ही सबसे बड़े हैं। अन्त में एक सन्त ने कहा भाई यह तो बात विभास-मात्र ही हुआ "रोम रोम प्रति राजही कोटि कोटि ब्रह्माण्ड" श्रीरामजी को अपने अन्तःकरण में रखने वाले सन्त ही सबसे बड़े हैं, यह निर्णय सब ने स्वीकार कर लिया और भक्तों का जय जयकार मनाया—

भक्तों के बिना भगवान् को कौन दिखावे 'मद्भक्तानां विनोदार्थं करोमि विविधा क्रिया" प्रभु की लीला और अवतार तो केवल भक्तों के लिये होते हैं। असीम ऐश्वर्य में डूबे हुए उस अनन्त को देखने के लिये न जाने कितने मतवादी झगड़ते हैं परन्तु मिला है अब तक केवल भक्तों को ही। इसीलिये कहा है कि—

श्रीराम भक्ताधीन हैं जो सर्वजगदाधार हैं।

नामदेव की छुपरी छाना, कबीर का भंडारा करना, मीरा का जहर अमृत बनाना, प्रह्लाद के लिये पत्थर में प्रकट होना, सुग्रीव के लिये गाली सहना, महाबीरजी के ऋणिया बनना, अर्जुन का रथ हांकना, त्रिलोचन के घर टहलू बन कर रहना, सखुबाई के घर उसके पति की पत्नी बनकर रहना, क्या क्या काम नहीं किया है उस भक्तवत्सल ने, उसको तो भक्तों की सेवा में संकोच है ही नहीं, पाण्डवों के यज्ञ में पांव धुलाने की सेवा उठाने वाले प्रभु के चरणाराधन में जीव भले लजाय परन्तु उन्हें सन्तों की सेवा में कभी लाज आती ही नहीं, वह तो बिके हैं और कहा भी है—

'हम तो मेहता के कहवाते, नरसी बेचे तो बिक जाते'। धन्य है मेहता नरसी और बलिहारी है सांवलिया सेठ की। इसीलिये कहा गया है।

श्रीराम भक्ताधीन हैं जो सर्व जगदाधार है।
भव में बड़े हैं भक्त ही हरि भक्त ही आधार है।

भगवान् तो पूर्ण काम हैं, आप्तकाम हैं उनको तृप्त करने का, प्रसन्न करने का क्या उपाय है, कौनसी ऐसी प्रिय वस्तु है जिसे देकर उन्हें प्रसन्न किया जाय। शास्त्रों ने समझाया सुनो—

विष्णोः प्रसाद मांकाङ्क्षन्वैष्णवान्परितोषयेत्।
अन्यथाऽवाप्त कामोऽसौ नैव केनाऽपितुष्यति ॥

वैष्णवों की, भक्तों की परिचर्या से ही पुरुषोत्तम प्रसन्न होगा, दूसरा कोई पदार्थ उस पूर्ण काम को प्रसन्न नहीं कर सकता। शंकरजी ने कहा हे पार्वती!

आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्।
तस्मात्परतरं देवि तदीयानां समर्चनम् ॥

सब आराधनों में श्रेष्ठ प्रभु का आराधन और उससे अत्यन्त श्रेष्ठ प्यारे सन्तों की सेवा। भगवान ने स्वयं कहा

संसारो वैष्णवाधीनो देवा वैष्णव पालिताः।
अहं च वैष्णवाधीनस्तस्माच्छ्रेष्ठाश्च वैष्णवाः।

संसार वैष्णवों के आधीन है वैष्णव ही संसार की संरक्षक है, देवता भी वैष्णवों द्वारा पालित हैं स्वयं भगवान भी वैष्णवों के आधीन हैं इसलिये श्री वैष्णव ही सर्व श्रेष्ठ है। "मोते अधिक गुरु ही जिय जानी" में भी यही भाव है। अतएव कहा गया कि—

भव में बड़े हैं भक्त ही हरि भक्त ही आधार हैं।

भक्तों बिना दूसरा आधार ही कौन है, "जो अपराध भक्त कर करई रामरोष पावक सो जरई" अब सर्वजन प्रसिद्ध सिद्धान्त ही बन गया है। भक्तों की पूजा बिना प्रभु की पूजा भी केवल पाखण्ड प्रदर्शन ही समझी गया—यही कारण है आज भी प्रत्येक वैष्णव मन्दिर में यथाशक्ति वैष्णव सेवा अखंड चली आती है।

अर्चयित्वातु गोविन्दं तदीयानार्चयन्ति ये।
न ते विष्णुप्रसादस्य भाजना दांभिका जनाः ॥

भला कृपा के पात्र बने तो कैसे बने, जब पहले ही समझा दिया कि—

"मोसे प्रीति वैर भक्तन सों मेरो नाम निरन्तर लैहै।
सूरदास भगवन्त वदत यों मोहूँ सुमिरत यमपुर जैहै ॥

× × ×

बिना गुरु गोविन्द भजे, निश्चय नरक निवास।

× × ×

इसलिये जीव के पुरुषाकार, भगवत्प्राप्ति में सहायक, एकमात्र आधार, सन्तजन ही हैं। और भक्त जिसके साथ हैं उसका सदा जयकार है।

भक्त के बिना भगवान भी विजयी नहीं हुए हैं, सभी अवतारों में, सभी लीलाओं में भक्तों का आशीर्वाद, शुभकामना सदैव भगवान् के साथ रही है। इसलिये भूतल पर प्रत्यक्ष भगवान् प्रभु के प्यारे भक्त ही हैं। भक्त का सङ्गी कभी पराजित होता ही नहीं है, आज तक ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं हुआ जहां भक्त हारे हों "कबहुँ बिगरत ना सुने रामचन्द्र के दास" जहां किसी भक्त ने आर्त होकर पुकारा कि—

"किन्तु त्वदग्रे चरणाश्रितानां
पराभवो नाथ न तेऽनुरूपः"

"हे नाथ! आपके चरणाश्रितों का पराभव आपके योग्य नहीं है" इतना सुनते ही आपका अभय वरदहस्त रक्षा के लिये तैयार हो जाता है। आजानुबाहु फरकने लगती है। दुर्वासा—हिरण्यकशिपु—बालि—रावण—कंस आदि भक्त द्रोहियों की इतिहास आज भी इस बात को प्रमाणित करता है। आइये उन्हीं भक्तों का गुण गाने वाले श्रीगोस्वामी जी के समकालीन, हमारे 'तुलसी' को भक्तमाला के सुमेरु बनाने वाले श्रीनाभास्वामीजी की पावन लीला का गान करें और भक्तों की सेवा का क्या महत्त्व है? भक्तों की सेवा से कैसे सिद्धि प्राप्त होती है? इसको समझें—

एक बार फिर से कहिये—

भक्तजन का सङ्ग ही सुख-शान्ति का भंडार है।
श्रीराम भक्ताधीन हैं जो सर्व जगदाधार हैं ॥
भव में बड़े हैं भक्त ही हरि भक्त ही आधार है।
भक्त जिसके साथ हों उसका सदा जयकार है ॥

धर्म, ईश्वर और संसार

[श्री स्वामी शिवानन्दजी सरस्वती, आनन्द कुटीर]

—: गतांक से आगे :—

वास्तव में ऐसा होना एक आश्चर्य का द्योतक है। जब यह सत्य है कि धर्म अनादि है और उसका रूप सर्वत्र समरस है और उसकी व्यापकता सबको आसूत्रित किये है, तो क्यों इस प्रकार के भेदभावकी कल्पना की गई। क्योंकर मनुष्य अपनी अपनी सत्ता के स्थापन में तत्पर हो, अपने-अपने धर्म का प्रतिष्ठापन करता गया? यह प्रश्न है, परन्तु इसका उत्तर स्वत: सिद्ध हो जाता है। लक्ष्य एक है, किन्तु धर्मरूप लक्ष्य की प्राप्तिकी चेष्टा करने वाले असंख्य प्राणी, अनेक प्रवृत्ति, विचित्र रुचि-भावना-योग्यताके हैं। सभी के विचार में समताका आना तो सम्भव नहीं, क्योंकि यह विश्व विषमता का ही तो कौतुक है। अत: विषमता के नाते यह सम्भव है कि प्रत्येक प्रकृति के अनुकूल और उसकी रुचिके अनुसार अनेक मार्ग और क्रियायें प्रयुक्त हों। एक व्यक्ति को मक्खन प्रियकर है तो दूसरा दही को उत्तम तथा तीसरा दूध को रुचिकर जानता है। इसी प्रकार प्रकृति और रुचिके अनुसार धर्म की मर्यादा जीवों में तथा मनुष्यों में विभाजित की गयी। शीत-कटिबन्ध में गरम वस्त्र धारण करना वहां का धर्म है, तो उष्ण-प्रदेश में कौपीनधारण वहां का लोक धर्म है। इसी प्रकार भारत में मूर्ति की पूजा होती है, तो अन्य देशों में वीर पूजा, अथवा द्वार पूजा अथवा अन्यरूपात्मक पूजायें होती हैं। लक्ष्य दोनों का एक ही है। भारत के मन्दिरों में पुजारी को पूजा का अधिकार रहता है, तो अन्य देशों में भी उपासना घरों के लिये पुरोहित ही नियुक्त रहते हैं। यह तो कहीं देखने में नहीं आया कि उपासनाघर बने हों और पूजा न होवे। इस सबसे यही सिद्ध होता है कि विचारों की विषमता होने पर भी, मार्ग की अनेकता होने पर सिद्धांत और लक्ष्य एक ही है।

एक ही लोक धर्म होने के अतिरिक्त सभी धर्मों की मूलभूत शिक्षायें लीजिये। सबका यही उपदेश है कि नीचवृत्तिको पवित्र कर आत्मानन्द प्राप्त करो और आधिभौतिकताके दृढ़ आधार पर ईश्वरीय जीवन का प्रासादकानिर्माण करना चाहिये। प्रत्येक जाति अथवा सभ्य-मानव समाज पवित्रता, सदाचार, सद्व्यवहार, सद्गुणोंका विकास, नैतिक-विचार परायणता को उत्तम-श्रेणी में गिनता आया है, उनके देश के सन्तों और महात्माओं की परिभाषा करते समय उसके उन्हीं सार्वभौमिकगुणों का उल्लेख होता है। यह तो कहीं नहीं होता कि तत्कथित-आचरणशील को दुराचारी अथवा पशु माना जाता हो तथा पाप, दुराचार अन्याय को सदाचार कहा जाता हो। अभीतक ऐसा देखने में नहीं आया। अतः यह कहा जाता है कि धर्म मनुष्य जीवन का आधार तथा अन्य स्थावर वर्ग का नियन्ता है।

इस प्रकार हमने देखलिया है कि धर्म की एकता होने पर भी किस प्रकार उसमें अनेकता की प्रतीति हो रही है। पर अब यह देखना चाहिये कि इस धर्म का साधारण आधार क्या है और किन-किन प्रवृत्तियों में इसका प्राचुर्य दीखता है। वैसे यह सिद्ध ही हुआ कि धर्म की मौलिकता एक ही है, पर यह भी निश्चित है कि उस धर्म की अनेकताओं में भी मूलभूत एकता ही है।

मानव चरित्र में पवित्रीकरण तथा दिव्य जीवन-यापन धर्म का साधारण आधार है। यह ऐसा मधुर तथा अगोचर बन्धन है, जिसने समस्त-मानवता को सूत्र में मणि की तरह संग्रथित कर रखा है। विराट् जीवन का सूत्र विशाल और एक है, जिसमें मानवजीवन तथा तदितर-इतर जीवन माणिक्य-बीज की नाईं ओत प्रोत है ईश्वर, धर्म और चराचर समुदायका रूप इतना सौम्य है, कि हम मनुष्य अज्ञानतावश ही उसमें विषमता की सृष्टि करते आये हैं। क्या एक ही परिवार के १० भाई भिन्न भिन्न वस्त्रधारणकर यह कह सकते हैं कि वे भाई-भाई नहीं, क्योंकि उनका वेष समान नहीं।

अतः यह जाना गया कि मनुष्य में धार्मिक एकता है। क्योंकि मानव की सम्पूर्ण-भावनायें उसमें जन्म से ही अंकित की हुई रहती हैं। अन्य सभी इतर भावनाओं को अर्जन पीछे भी किया जाता है, किन्तु धर्मभावना मानवमें जीवन धारण करते ही अंकुरित हो जाती है। यह भी सिद्ध है कि आनुवंशिक-परम्परा द्वारा इस भावना की चेतना को बालक में विद्यमान देखा गया है। यदि हम मायामय तथा पृथकत्व की भावनाओं द्वारा इसका दुर्व्यवहार करें तो हमारी बड़ी भूल होगी। प्रेम तथा ऐक्य की कसौटी द्वारा इस धर्म की सार्वभौमिक-चेतनता का प्रसार हममें महान् शक्ति उत्पन्न करेगा, जिसमें मनुष्य और मनुष्य के बीच सम्बन्ध स्थिर तो होगा ही, इसमें कोई सन्देह नहीं, साथ-साथ समस्त विरोध, कलह और दुर्भावनाओं का निर्मूलन हो जायगा और विशाल परिमाण में मानव जाति शान्ति, एकता, सहयोग, साहचर्य, सहोदर्य तथा सिद्धि को प्राप्त होंगे" सम्भवतः इसी के लिये आज मानव भरसक प्रयत्न कर रहा है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि धर्म प्राकृतिक विधान है, इसका अर्थ यह है कि जो गुण मनुष्य में स्वभावतः ही विद्यमान रहते हैं, वे धर्म और जिनका विकास वह समाज के वातावरण से प्रभावित होकर करता है, वे धर्मातिरिक्त कर्म हैं। यह ठीक है कि आज के अनुपात की दृष्टि से स्वाभाविक गुणों की विद्यता का स्थान मानव-विरोधी दुर्गुणों द्वारा प्राच्छन्न है। इसीलिये हम नित्यप्रति समाज और समाज, व्यक्ति और व्यक्ति में कलह देख रहे हैं। भाई भाई में कोई ऐसा सूत्र नहीं, जो उनको संग्रथित करे। स्वार्थपरता, लोलुपता ने उदारता और दयालुता का स्थान ले लिया है अतः आज पूछा जाय तो लोग कहते हैं कि कलियुग आ गया, अर्थात् अधर्म का अभ्युदय तथा धर्म की ग्लानि हो रही है। स्वयं वे ही लोग अधर्म का आचरण कर रहे हैं, परन्तु आश्चर्य इस बात का है कि वे जानते हैं कौन धर्म और कौन अधर्म है! पापकर्मरत रहने पर भी वह जानता है कि वह जो कुछ कर रहा है, अनुचित और कलुषित है। यही धर्म की भावना है, जो सभी चराचर जगत् में समान रूप से ओतप्रोत है।

इस प्रकार हम देख आये कि सभी सिद्धान्तों और प्रणालियों के पृष्ठ प्रदेश में एक ही रूप-रेखा संयोजित की गयी है। प्रवृत्ति के अनुसार उनका सम्पालन हुआ, अतः उनमें बहुलता दीख पड़ने लगी, जो वास्तव में प्रतीति है और विकल्प ही है। जो कुछ भी हो हम मनुष्य ही तो हैं। मनुष्यत्व के नाते हमारे कर्त्तव्य निश्चित है और अब यह देखना है कि हम कौन-कौन सिद्धान्तों को व्यवहृत करते हैं, जिनके द्वारा समाज, व्यक्ति, राष्ट्र और विश्व में एक ही विचारवादिता, एक ही निष्ठा का सूत्रपात हो। हम चाहते हैं कि यदि मानव समाज के व्यवहार भी एक दूसरे से न मिलें तो उसके सिद्धान्तों में एकता हो और उनके परिणामों में भी एकता ही हो। आज से इस धर्म शिक्षा का मूल रूप समझने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को सचेष्ट होना पड़ेगा। शान्ति का और कोई उपाय, इसके अति-

रिक नहीं। धर्म के द्वारा अनेकता को विचलित तथा भंग किया जाता है और एकता को सुप्रतिष्ठित किया जाता है, जिसके प्रकाश में मनुष्य अपने कर्तव्य-कर्म का साक्षात्कार कर पाता है और उन सबके पीछे और उन सबके अन्दर व्यापक आत्मा और ईश्वर का दर्शन करता है, जो शाश्वत, कूटस्थ, भू, सत्य, शिव और सुन्दर है। सब धर्म जिसमें धारण, अभ्युदित तथा विलीन किये जाते हैं, जो धर्म चक्र को संचालित करता आ रहा है, सम्भवतः मानव को देव बनाने के लिये।

———

(शेष पृष्ठ ३ का)

मेरी भक्ति के द्वारा मेरे को प्राप्त होता है। उसके समान मेरा प्यारा काम करने वाला न कोई हुआ, न हो सकता है और न होगा ही। यही भाव भगवान ने गीता के अठारहवें अध्याय के ६८-६९ वें श्लोकों में दिखलाया है।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥१८।६८।
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥१८।६९।

जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्य युक्त गीता शास्त्र को मेरे भक्तों में कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं। उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करने वाला, मनुष्यों में कोई नहीं है तथा पृथ्वी भर में उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्य में होगा भी नहीं।

मैंने जिस दिन यह श्लोक पढ़ा और इसका अर्थ कुछ समझा तभी से मेरे हृदय में यह भाव उठा कि अपने जीवन को गीता में लगाना चाहिए।

मैं अभी तक अपने जीवन को गीतामय नहीं बना सका, किन्तु इस बात को मैं बहुत उत्तम समझता हूं। इसलिए सबसे प्रार्थना करने का मेरा अधिकार है कि आपको अपना जीवन गीतामय बनाना चाहिए। फिर अपने घर में, अपने प्रान्त में, अपने देश में, सारी त्रिलोकी में गीता का खूब जोरों से प्रचार करना चाहिए।

एकादशी

(लेखक—पं० श्री राधिकादासजी महाराज)

आज-कल वैष्णवता का ह्रास हो रहा है। श्रद्धा का अभाव हो चला, शास्त्रों का शासन मानना तो दूर रहा, कुछ मन चले मोहाक्रान्त जीव शास्त्रों को अपना शिष्य बनाना चाहते। पद्म पुराणान्तर्गत श्रीमद्भागवत माहात्म्य में श्री नारदजी और श्री भक्ति के संवाद में वर्णित है, कि कलियुग में सबका सार नष्ट होगया। कथा सुनते हैं, चित्त शुद्धि नहीं होती। तीर्थ यात्रा करके भी लोग ज्यों के त्यों, या कोरे ही लौट आते हैं, उनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता! तप करने पर भी कुछ लाभ दृष्टिगोचर नहीं होता इत्यादि।

उक्त बातों का कारण यही प्रतीत होता है, कि लोग शास्त्राज्ञानुसार आचरण नहीं करते, अथवा यों कहिये कि संसार के प्रत्येक धार्मिक विभाग (तीर्थ यात्रा, तपस्या, एवं दान आदि) में शास्त्र मर्यादा को एक ओर धकेल कर अनधिकारी प्रविष्ट हो गये हैं और इन अधिकारियों की अनधिकार चेष्टा के लिये दोषी ठहराया गया कलियुग। आश्चर्य तो तब होता है, जब कलियुग की मनमानी सहने के लिये श्रीकृष्ण सर्वेश्वर भी उद्यत बताये जाते हैं—

> अत्यन्तु युगदोषो हि वर्त्तते कस्य दूषणम्।
> अतस्तु पुण्डरीकाक्षः सहते निकटे स्थितः॥
>
> (पद्मपुराण)

अर्थात्—यह युग (समय?) का दोष है, किसी और का दूषण नहीं। अतः कमलनयन श्रीकृष्ण निकटस्थ होते हुए भी, कलियुगी अनाचारों का सहन करते हैं!

उक्त वाक्य श्रीनारद भगवान् के मुखारबिन्द से निःसृत हुये हैं, अतः हमको इन वाक्यों की सत्यता में सन्देह नहीं हो सकता, परन्तु कलियुग में केवल दोष ही दोष भरे हों सो बात नहीं, कुछ गुण भी होने चाहिये, 'जड़, चेतन, गुण दोषमय विश्व कीन्ह कर्तार, और क्यों न हम सन्तों की भाँति उसके गुण ग्रहण कर अवगुण त्याग दें। 'सन्त हंस गुण गहहिं पय परिहरि वारि विकार।' अस्तु, कलियुग 'दोषनिधिअथवा 'अवगुण आगार' होते हुये भी एक महान् गुण रखता है, श्री शुकदेवजी कहते हैं—

> कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान्गुणः।
> कीर्त्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्॥
>
> (श्रीमद्भागवत)

सारांश—कलियुग में श्रीकृष्ण-कीर्तन से ही बन्धन मुक्त हो परमपद को प्राप्त होता है। श्रीविष्णुपुराण में भी कहा है—

> ध्यायन्कृते यजन्यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरे ऽर्चयन्।
> यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ सङ्कीर्त्य केशवम्॥

अर्थात्—सत्य, त्रेता, द्वापर में क्रमशः ध्यान, यज्ञ एवं अर्च्चा से जिस फल को प्राप्ति होती है, वही फल कलियुग में श्रीकृष्ण-सङ्कीर्तन से अनायास मिल जाता है। प्रियपाठक वृन्द! विषयान्तर नहीं होने देंगे। कुछ ना समझ कलियुग को दोष देकर कर्म-धर्म से निवृत्त हो जाते हैं, अतः उक्त पंक्तियां लिखनी पड़ीं। अब प्रकृत विषय पर आते हैं।

हां तो, श्रीकृष्ण कीर्त्तन और एकादशी का निश्च सम्बन्ध है अर्थात् उपवास करके जागरण कीर्त्तन करने से व्रत की पूर्ति होती है। वैसे तो एकादशी व्रत सबके लिये कर्त्तव्य एवं लाभदायक है, किन्तु वैष्णवों का तो प्रधान

कर्त्तव्य है, श्रीनारद पञ्चरात्र में कहा है—"अविज्ञात व्रतविधिर्वैष्णवः स्यादवैष्णवः।"

व्रत विधि को न जानने वाला वैष्णव भी अवैष्णव है, अतएव वैष्णवों को एकादशी व्रत अवश्य करना चाहिये। स्कन्द पुराण का वचन है कि—

परामापदमापन्नो हर्षे वा समुपस्थिते।
नैकादशी त्यजेद्यस्तु यस्य दीक्षाऽस्ति वैष्णवी॥
समात्मा सर्व जीवेसु निजाचारादविच्युतः।
विष्णवर्पिताखिलाचारः स हि वैष्णव उच्यते॥

परमापत्ति अथवा हर्ष प्राप्त होने पर भी वैष्णवी दीक्षायुक्त व्यक्ति को एकादशी का त्याग नहीं करना चाहिये। सब जीवों में समदर्शी, अपने आचार विचार का पक्का और सम्पूर्ण कर्माचरण श्रीकृष्ण को अर्पण करने वाला वैष्णव कहलाता है। अस्तु, नीचे कुछ प्रमाण उद्धृत किये जाते हैं, जिनसे यह सम्यक् सिद्ध होगा, कि एकादशी सदा करनी चाहिये—

रटन्तीह पुराणानि भूयो भूयो वरानने।
न भोक्तव्यं न भोक्तव्यं प्राप्ते चैकादशी दिने॥
(पद्मपुराण)

× × ×

एकादशी सदोपोष्या पक्षयोः शुक्लकृष्णयो।
(सनत्कुमार संहिता)

× × ×

उपोष्यैकादशी नित्यं पक्षयोरुभयोरपि॥
(गरुड़पुराण)

'हे वरानने! सब पुराण बार-बार कहते हैं, कि एकादशी दिन कदापि भोजन नहीं करना चाहिये।' 'शुक्ल कृष्ण दोनों पक्षों की एकादशी का उपवास सदा करना चाहिये' इत्यादि। इसी प्रकार भविष्य पुराण, वाराह पुराण, श्रीमन्नारदीय पुराण, अग्नि पु०, कूर्म पु०, विष्णु रहस्य एवं कण्व ऋषि ने भी एकादशी का समर्थन किया है। विस्तार भय से सब प्रमाण नहीं लिखे।

संसार में श्रीकृष्ण कृपा से जिनका मन सांसारिक सुख भोगों से विरक्त होगया है, ऐसे मुमुक्षु प्रश्न कर सकते हैं कि क्या एकादशी मोक्ष प्रदान कर सकती है? उत्तर में में शास्त्र कहते हैं, कि हां, एकादशी से मोक्ष भी मिल जाता है! अवलोकन कीजिये—

स्वर्गमोक्षप्रदा ह्येषा राज्यपुत्र प्रदायिनी।
सुकलत्रप्रदा ह्येषा शरीरारोग्यदायिनी॥
(श्री नारदपुराण)

यदीच्छेद्विष्णुसायुज्यं सुतासन्सम्पदमात्मनः।
एकादश्यां न भुञ्जीत पक्षयोरुभयोरपि॥
(श्रीविष्णुरहस्य)

'एकादशी स्वर्ग, मोक्ष, राज्य, पुत्र, सुन्दर गुणवती स्त्री और शरीर को आरोग्य देने वाली है। यदि सायुज्य मुक्ति तथा पुत्र और धन की इच्छा हो, तो दोनों पक्षों की एकादशी को भोजन न करें।' कात्यायन स्मृति में कहा है—

'संसारसागरोत्तार मिच्छन्विष्णुपरायणः।

× × ×

एकादश्यां न भुञ्जीत पक्षयोरुभयोरपि'॥

संसार सागर से पार होने की इच्छा वाला विष्णु-परायण (वैष्णव) पक्षद्वय की एकादशी के दिन भोजन ग्रहण न करे।

उक्त प्रमाणों से स्पष्ट है, कि एकादशी व्रत से केवल मोक्ष ही नहीं किन्तु स्वर्ग, राज्य, पुत्र, कलत्रादि भोग सुखों की भी प्राप्ति होती है। यह व्रत श्रीकृष्ण को बहुत प्रिय है, सर्वेच्छापूरक तथा अन्य देव व्रतों से श्रेष्ठ एवं ब्राह्मणादि सब वर्णों और स्त्रियों के लिये भी कर्त्तव्य है, ऐसा बृहन्नारदीयादि शास्त्रों में लिखा है—

"ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्चैव योषितम्।
मोक्षदं कुर्वतां भक्त्या विष्णोः प्रियतरं द्विजाः॥
एकादशीव्रतं नाम सर्वकामफल प्रदम्।
कर्त्तव्यं सर्वथा विप्रैर्विष्णुप्रीणनकारणम्"॥
'शिवव्रत सहस्रैस्तु यत् ब्रह्मोश्व कोटिभिः।
तत्फलं कर्विभिः मोक्षं वासरैकेन वै हरेः॥'

इन श्लोकों का आशय ऊपर दिया जा चुका है। इतने विवेचन से निम्नलिखित चार बातें स्पष्ट होती हैं—

१ एकादशी व्रत सदा सबको करना चाहिये।

२ उक्त व्रत के यथावत् आचरण से सर्वार्थ सिद्धि होती है।

३ यह व्रत श्रीकृष्ण को प्रियतर है।

४ इतर देव ब्रह्मादि के व्रतों से एकादशी व्रत श्रेष्ठ है।

उपवास का शाब्दिक अर्थ भी द्रष्टव्य है, कात्यायनादि स्मृतियों में कहा है—

'उपावृतस्य पापेभ्यो यस्य वासो गुणैः सह।
उपवासः स विज्ञेयो नोपवासस्तु लङ्घनात्॥

पाप से पराङ्मुख एवं गुणों में वास (सत्य भाषणादि गुणों से युक्त होना) उपवास है, केवल लङ्घन से तो उपवास नहीं होता। निम्नलिखित आचरणों से व्रत दूषित हो जाता है—

असकृज्जलपानाच्च सकृताम्बूलभक्षणात्।
उपवासः प्रदुष्येत दिवास्वापाच्चमैथुनात्॥

बारम्बार जलपान, ताम्बूल भक्षण, दिन में शयन एवं स्त्री सङ्ग से उपवास दूषित होता है। कतिपय जन किसी स्मृति आधार पर एकादशी को दन्तधावन का निषेध भी करते हैं। किन्तु वैष्णवों को दन्तधावन, अवश्य निरय कर्त्तव्य है। वाराहपुराण में श्रीभगवान का वाक्य है—

'दन्त काष्ठमखादित्वा यो मां समुपसर्पति।
सर्वकालकृतं कर्म तेनैकेन च नश्यति॥

तात्पर्य दन्तून किये बिना श्रीभगवत्सेवा में जाने से सर्व कालिक कर्मनष्ट हो जाता है। आठ वर्ष से अधिक और अस्सी वर्ष से न्यून आयु वाला एकादशी का अधिकारी है—

अष्टवर्षाधिको मर्त्यो ह्यनशीतिस्तु हायनैः।
एकादश्यामुपवसेत्पक्षयोरुभयोरपि॥
(कात्यायन स्मृति)

दश इन्द्रियां एवं एक मन इन ग्यारहों को वश में करना भी एकादशी (ग्यारस) का लक्ष्यार्थ हो सकता है। श्री नारद पुराण में दशमी विद्धा एकादशी करने से नरक प्राप्ति कही गई है, अतः शुद्धाएकादशी करनी चाहिये। एकादशी का प्रधान अङ्ग जागरण है और जागरण का प्रधान अङ्ग श्रीकृष्ण कीर्त्तन है।

श्रीराधेकृष्ण राधेकृष्ण कृष्ण-कृष्ण जय राधे राधे।
जय राधेश्याम राधेश्याम श्याम-श्याम जय राधे राधे।

श्री भगवन्नाम जप कराइये

श्री वृन्दावन में लगभग ८०० गरीब माइयाँ प्रति दिन प्रातः एवं सायंकाल ६ घन्टे परम मंगलमय श्री भगवन्नाम जप एवं संकीर्त्तन करती हैं। इन्हें आश्रम द्वारा अन्न, वस्त्र व पैसों की सहायता दी जाती है। एक माई प्रति दिन एक लाख श्री भगवन्नाम जप कर सकती है।

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

कलियुग में संसार सागर से पार उतरने का एक मात्र सुगम उपाय श्री भगवन्नाम जप करना ही शास्त्रों में वर्णित है। सभी महानुभावों को स्वयं अधिक से अधिक भगवन्नाम जप करने की चेष्टा करनी चाहिये।

जो महानुभाव अपनी ओर से गरीब माइयों द्वारा श्री भगवन्नाम जप कराना चाहें वे कृपाकर हमें सूचित करें। भजनाश्रम में लगभग ८०० गरीब माइयाँ आती हैं। जिनमें से इस समय ३१० माइयाँ दानदाताओं की ओर से भजन कर रही हैं। बाकी माइयों से भजन कराने के लिये हम सभी सज्जनों से निवेदन करते हैं कि अपनी अपनी श्रद्धा, प्रेम अनुसार जितनी माइयों द्वारा जितने माह के लिए आप चाहें अवश्य भजन कराइयेगा एवं अपने इष्ट मित्रों को भी भजन कराने के लिये प्रोत्साहित कीजियेगा।

एक माई को नित्य प्रति साढ़े चार आने की सहायता दी जाती है। इस हिसाब से एक माई का ८।≡) और एक वर्ष का १०२।) खर्च लगता है।

पत्र व्यवहार एवं मनीआर्डर भेजने का पताः— मन्त्री:-श्री भगवान भजनाश्रम मु० पो० वृन्दावन

जिस घर में राम कृष्ण का नाम, वहां भूत प्रेतों का क्या काम ?

पूज्यपाद महामण्डलेश्वर १००८ श्री स्वामी श्री हरिहरानन्दजी महाराज वेदान्त भूषण के सदुपदेश

(प्रेषक—भक्त श्री रामशरणदासजी पिलखुआ)

प्रश्न—महाराजजी ! राम राम कृष्ण कृष्ण कहने से क्या लाभ ? और पुराणों में जो भत प्रेतों का वर्णन आता है क्या यह सत्य है और जो यह कहा जाता है कि जिस घर में श्रीहरि का नाम लिया जाता है वहां से प्रेत भाग जाते हैं यह भी ठीक है ।

उत्तर—राम राम कृष्ण कृष्ण कहने से पुण्य होता है और श्रीभगवन्नाम में बड़ी विलक्षण शक्ति है । और पुराणों में जो भूत प्रेतों का वर्णन आता है वह अक्षर अक्षर सत्य है । जो यह कहते हैं कि भूत प्रेत आदि नहीं होते वह गलत कहते हैं हम उनकी इस बात को कदापि भी मानने को तैयार नहीं हैं कारण कि भूत प्रेतों से हमारा काफी पाला पड़ा है हमने अपनी आँखों से देखा है, खूब बातें की हैं व उनसे काम लिया है । अभी पिछले दिनों तक एक प्रेत से खूब काम लिया है । हमारी खूब बातें हुवा करती थीं । हम अपनी आँखों देखी सत्य घटना आपको सुनाते हैं जिससे भूत प्रेतों का होना और भजन पूजन का प्रभाव सत्य सिद्ध होता है । हमारा जन्म उदयपुर की तरफ का है और हमारे घर पर पहिले जब हम घर पर थे तो उस समय खेती का काम हुआ करता था । जब हम छोटे थे तो उस समय हमारे यहाँ पर एक नौकर जाति का चमार था रहता था और खेती के काम की देख भाल करता था । वह चमार स्वयं तो बीड़ी सिगरेट पीता ही था उसने धीरे धीरे हमें भी बीड़ी सिगरेट पीने का शौक लगा दिया था । पिताजी के डर से हम छिपकर पीते थे । कुछ दिन बाद वह हमारा नौकर चमार मर गया । एक दिन हम और एक कायस्थ का लड़का और एक पटवारी का लड़का तीनों मिलकर अपने गांव से एक दूसरे गांव में रात्रि को लीला देखने गये । जब रात्री को ११-१२ बजे लौट कर अपने घर को वापिस आने लगे तो हमें एक हमारे गांव के पास का पीपल का वृक्ष रास्ते में पड़ा । उस वृक्ष पर से हमें किसी ने हमारा नाम लेकर आवाज दी । हमने जो आवाज ध्यान से सुनी तो वह उसी हमारे नौकर मरे हुये चमार की आवाज थी । वह तुरन्त ही हमने देखा कि हमारे सामने आकर खड़ा होगया और कहा कि हरिहर भैया हमें सिगरेट पीने को दो । हम बहुत घबड़ाये और हमने कहा कि तू तो मर गया था तू अब कैसे आगया ? उसने कहा कि हाँ मैं मर तो गया था पर अब मैं भूत होगया हूँ तुम घबड़ावो मत मुझ से डरो मत मैं तुम्हें नुकसान नहीं पहुँचाऊँगा तुम मुझे सिगरेट पीने को दो । हमने उसे सिगरेट पीने को दे दी । हम जब घर पर आये तो डर जाने के कारण हमारे दोनों साथियों को बहुत तेज बुखार हो गया । उसके कुछ दिन बाद जब हम एक दिन अपने गाँव से बाहर शौच होने के लिये गये और जाकर एक खेत में बैठ गये तो क्या देखा कि एक आदमी भी पास में बैठा हुआ है जिसे हमने समझा कि यह भी हमारे गांव का ही कोई व्यक्ति है जो शौच

फिर रहा हूं। बहुत देर होगई वह उठा नहीं इधर हम चाहते थे कि यह उठ जाँय तब हम उठें इस लिये हमें भी बहुत देर हो गई। बहुत देर से न आने के कारण हमारे घर वाले हमारी खोज में निकले और हमारा नाम ले लेकर हमें आवाज देने लगे। अब हम जो उठें तो हमने देखा कि क्षण मात्र में वह हमारा मरा हुआ चमार नौकर जो भूत बन गया था हमारे पास चला आया और बोला घबड़ाओ मत मैं तुम्हें सताऊंगा नहीं और जो तुम्हारा कार्य हुआ करेगा तुम मुझे याद किया करना मैं आकर तुम्हारा कार्य किया करूंगा। मैं घर आगया। एक बार हमने अपने एक साथी से जो पहलवानी करता था कुश्ती लड़नी पड़ी जिसमें उस साथी ने हमें कुश्ती में पछाड़ दिया। हमने उस चमार भूत के याद किया तो क्या देखा कि सचमुच में ही हमारे याद करते ही वह हमारे पास आगया और हमसे कहा कहो क्या कार्य है? हमने उससे कहा कि तू उस पहलवान को तंग कर उसने हमें कुश्ती में पछाड़ दिया है। चमार भत ने कहा कि बहुत अच्छा। भूत चला गया और अगले दिन ही उस पहलवान को खून की कै होनी प्रारम्भ हो गई और बहुत तेज बुखार हो गया। अब तो उसके सब घर वाले घबड़ाये और खूब इलाज कराया कुछ भी फायदा नहीं हुआ। फायदा कहाँ से हो वह रोग तो था नहीं वह तो भूत का आक्रमण था। उसकी मां रोती हुई हमारे घर आई। हमें फिर उसके ऊपर दया आगई हमने उस भूत को फिर याद किया तो वह झट आगया हमने उस से कहा कि अब तू उसे तंग मत कर छोड़ दे। भूत ने कहा अच्छा जैसी आज्ञा। अगले दिन से ही वह अच्छा होने लगा। हमारा अब कुछ दिनों बाद यज्ञोपवीत होगया और संध्या वन्दन करने लगे गायत्री का जप करने लगे, भजन पूजन करने लगे रामकृष्ण का नाम लेने लगे तो वह भूत हमारे पास पहिले से बहुत कम आने लगा और पहिले तो वह हमारे बिल्कुल पास में आकर बैठ जाता था लेकिन अब तो वह कम आता और आता भी तो पास में बिल्कुल नहीं बैठता दूर खड़ा होकर ही बातें करता और हम से कहने लगा कि मुझे अब तुम्हारे पास में आते समय भय सा प्रतीत होता है और आपके पास एक आगसी जलती प्रतीत होती है। वह भूत बहुत दिनों तक हमारे पास बराबर आता रहता था परन्तु अब कुछ दिनों से नहीं आता। पता नहीं उसकी मोक्ष हो गई या उसका जन्म हो गया या वह कहां पर चला गया? अब हमसे कोई लाख कहे कि पुराणों में आई भूत प्रेतों की बातें झूठ हैं या भूत प्रेत नहीं होते तो हम उनकी यह बात कभी भी मानने को तैयार नहीं हैं। जब हमारा स्वयं भूत से सम्बन्ध रहा है और खूब बातें हुई हैं और आँखों देखा है, उससे काम लिया है तो हम कैसे कह दें 'कि भूत प्रेत नहीं होते।' जो भूत प्रेतों को नहीं मानते और पुराणों की बातों को गप्प बताते हैं वह गलती पर हैं। जिस घर में भजन पूजन होता है, राम राम कृष्ण कृष्ण का उच्चारण होता है उस घर में भूत प्रेत आने से डरते हैं यह बिल्कुल सत्य है।

❀ सूचना ❀

वृन्दावन के किसी मंदिर व स्थानों से "भजनाश्रम" का कोई सम्बंध नहीं है। भजनाश्रम के लिये अन्य स्थान पर सहायता नहीं देनी चाहिये। सीधी बीमा या मनीआर्डर द्वारा मंत्री श्री भगवान-भजनाश्रम, पोस्ट वृन्दावन को ही भेजियेगा। प्रत्येक दान की रसीद श्रीभगवान-भजनाश्रम के नाम की छपी हुई दाता महानुभाव की सेवा में भेजी जाती है।

भजनाश्रम के प्रेमी महानुभावों से प्रार्थना है कि आप या आपके मित्र एवम् सम्बन्धीजन जब कभी वृन्दावन पधारें तो एक कार्ड द्वारा आगमन की पूर्ण सूचना हमें दीजियेगा। आपकी आज्ञानुसार हम स्थान, रसोई, तथा अन्य प्रबन्ध कर देने का प्रयत्न करेंगे।

हमारी सेवायें अवश्य अपनाइये

मंत्री-श्रीभगवान-भजनाश्रम, वृन्दावन

चातुरी

(रचियता—श्रीराम किंकर भगवानवल्लभजी पाठक)

बोले नट नागर ग्वालिन से—
फिर जाओ तो कौशल, छल से,
फिर जाओ कल का भाव लिये
फिर जाओ वही स्वभाव लिये
जाओ गोपी ! अब आज और—
कल का सा वही प्रभाव लिये,
हम हारें, जीत सकें न कभी—
तुझ मतवाली से, चंचल से
बोले नट नागर ग्वालिन से—
फिर जाओ तो कौशल, छल से
जाओ ब्रज की हे गुणागरी !
जाओ हे मूर्त्तिमती छलना !
जाओ कुलिशाधिक—पाषाणी !
जाओ सरला ! जाओ ललना !
जाओ माया के वैभव से—
जाओ स्वजाति—कृति के बल से,
बोली ग्वालिन नट नागर से—
क्यों जाऊंगी कौशल, छल से,
स्वागत का क्यों आभार न हो ?
आमन्त्रण क्यों स्वीकार न हो ?
हे पुरुष ! तुम्हारे पौरुष का—
क्यों प्रकृति-जनित प्रतिकार न हो ?
क्यों द्वन्द और आनन्द न हो—
तुम से शरणागत वत्सल से ?
बोली ग्वालिन नट नागर से—
क्यों जाऊंगी कौशल, छल से,

यह क्या, गोपी क्यों मौन हुई ?
इसमें क्यों कुछ भी भान नहीं ?
यह सत्य समर्पण है, अथवा—
हो सका इसे अनुमान नहीं ?
जो कुछ भी हो, यह त्याग मुझे—
स्वीकार, सरल अन्तस्तल से,
बोले नट नागर ग्वालिन से—
फिर जाओ तो कौशल, छल से,
सौन्दर्य रहे, सन्मान रहे—
फिर भी कोई व्यवधान रहे,
मेरी भी यही कामना है—
सुन्दरी ! तुम्हारी आन रहे,
मैं सावधान हूँ, उत्सुक हूँ—
शंकित मन से, कौतूहल से,
बोले नट नागर ग्वालिन से—
फिर जाओ तो कौशल, छल से,
बोली ग्वालिन नट नागर से—
क्यों जाऊंगी कौशल, छल से,
ज्योंही हरि का कर गोपी के—
सहसा घूंघट पट पर आया,
त्योंही गोपी का वेष धरे—
श्रीदामा को सम्मुख पाया,
यह क्या ? मुखरित हो उठा हास—
नभ से, अवनीतल से, जल से,
बोली ग्वालिन नट नागर से—
क्यों जाऊंगी कौशल, छल से,

निषाद का राम प्रेम

(लेखक—पं० श्री गोविन्दजी दुबे 'साहित्य रत्न')

स्वपच सबर खस जमन जड़, पामर कोल किरात।
राम कहत पावन परम, होत भुवन विख्यात॥

जिन प्रभु के पावन चरणों से निसृत पुण्य सलिला भगवती जगज्जननी जान्हवी अपने कलकल नाद से निनादित करती हुई धराधाम पर प्रवाहित होकर लोक-कल्मषों का प्रक्षालन करती हुई अवतीर्ण हुई है; जिनकी अहैतुकी अनुकम्पा के आश्रयभूत भगवान मरीचिमाली अपनी सहस्र दीधित रश्मियों द्वारा पुण्यभमि वसुन्धरा को अपने प्रकाश से आलोकमय बनाए हुए हैं; कुमुदवन्धु निशानाथ अपनी शीतल किरणों द्वारा एवं अपनी निर्मल चाँदनी द्वारा जगत को शीतलता, औषधियों को रस और समस्त संसार को आनन्द प्रदान करते हैं; मायानर्त्तकी जिस सूत्रधार की भृकुटि विलास के सहारे जगत को अपने बाहुपाश में कसे हुए, उद्भव, पालन और संहार करती है एवं जो जिसकी इच्छा के विरुद्ध तिल भर भी अपने कर्त्तव्य पथ से विचलित नहीं हो सकती उसी प्रभु का पावन नाम जिस किसी भी जीव की जिह्वा पर हो; भला उस भक्त से किस प्रकार लोकों का अकल्याण हो सकता है; वह तो 'सतरति स तरति स लोकाँस्तारयति" (नारदभक्तिसूत्र) वह स्वयं तर जाता है, स्वयं तर जाता है और लोकों को तार देता है; परम-भागवात निषाद इन्हीं भक्तों में से एक थे। उनका तन, उनका मन, उनका धन, और जीवन सब कुछ राम-मय ही था तब ही इतने सम्मान के पात्र हुए थे—

जेहि लखि लखनहुँ ते अधिक मिलेउ मुदित मुनिराउ
सो सीतापति भगति को प्रगट प्रताप प्रभाऊ॥

रामचरितमनास में गुह और निषाद दो शब्द आते हैं कहीं कहीं इन शब्दों का ऐसा प्रयोग किया गया है कि दोनों एक ही मालुम पड़ते हैं परन्तु वास्तव में ये दोनों शब्द दो व्यक्तियों के लिए अलग-अलग प्रयुक्त हुए हैं, मानस का गम्भीर अध्ययन करने पर यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि वे दोनों व्यक्ति अलग-अलग थे; गुह जाति विशेष है और निषाद नाम विशेष। निषाद की जाति भी गुह थी। दूसरा व्यक्ति जो नाव से पार उतारने वाला था वह गुह जाति का केवट था जो निषाद से अलग था। यदि ऐसा नहीं हो तो नाव से उतरने पर—

उतरि ठाढ़ भए सुरसरि रेता।
सीय राम गुह लषन समेता॥
केवट उतरि दण्डवत कीन्हा।
प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा॥

नाव से पार उतार कर केवट तो वहीं रह गया और निषाद भगवान् राम के साथ आगे तक चला गया है और फिर भगवान् राम की आज्ञा से लौट कर अपने घर आया है। केवट के लिए—

बहुत कीन्ह प्रभु लषन सिय, नहिं कछु केवट लेइ।
बिदा कीन्ह करुणायतन भगति विमल वरु देइ॥

निषाद के लिए—

तब प्रभु गुहहिं कहेउ घर जाहू।
सुनत सूख मुख भा उर दाहू॥
दीन वचन कह गुह कर जोरी।
विनय सुनहु रघुकुल मनि मोरी॥
× × ×
सहज सनेह राम लखि तासू।
संग लीन्ह गुह हृदय हुलासू॥

इस प्रकार इन प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि गुह और केवट दो अलग-अलग व्यक्ति थे निषाद जाति का राजा था और केवट था नाव से पार उतारने वाला।

जिस समय पितृ आज्ञा से निसृत भगवान् राम वन को प्रस्थान करते हैं राजाज्ञा से प्रेषित सुमंत्र उनके साथ हैं नगर के निवासी जो अवध से यहां तक बिलखते हुए साथ आ रहे हैं उसी स्थिति में छोड़ कर आगे चल देते हैं शृंगवेरपुर गंगा के किनारे आज भी स्थित है जिसे सिंगरौर कहते हैं वहाँ का राज्य केवट की जाति के लोग आज भी करते हैं, यह प्रयाग से १२ मील उस उत्तरीय तट पर गंगा के किनारे स्थित है; वहां का राजा था निषाद और था वह भगवान राम का अनन्य भक्त; उसे ज्योंही इस बात का पता चला कि अखिल कोटि ब्रह्माण्डों के अधीश्वर भगवान् राम नररूप में अवतरित अपनी शक्ति और अंश के साथ इधर आ रहे हैं वह परम प्रेम मार्गीय पथिक सपरिवार अपने आपको सफल करने की सदिच्छा से भेंट लेकर मिलने चल दिया। सरकार को किया दण्डवत् उसने; भगवान् ने उसे अपना परम प्रेमी समझ कर अपने समीप बिठाला कुशल समाचार पूछने के अनन्तर वह नगर में ले चलने के लिए आग्रह करने लगा; भगवान् राम ने उसकी बात पर अपना निश्चय बताया कि—

बरस चारि दस बिपिन बसि;
मुनि व्रत बेष अहारु।
ग्राम बास नहिं उचित सुनि,
गुहहिं भयउ दुःख भारु॥

फिर तो उसने समीप में शिशुपा (सीसम) के वृक्ष के नीचे कुश और किसलय की सुन्दर शय्या निर्माण कर दी। आगत अतिथियों के स्वागतार्थ कंद-मूल फल की सुन्दर व्यवस्था की, नित्य-कर्म से निवृत होकर सरकार राघवेंद्र विश्राम स्थली पर पधार गए—उस समय का वह दृश्य तो बड़ा ही अपूर्व था सरकार कुशशय्या पर लेटे हुए हैं; सुन्दर घुंघराले केश आजान बाहुएँ हैं; कमर में तरकस बाँधे हुए हैं समीप ही धनुष रखा हुआ है; कटिवस्त्र शोभित शृंगार को और भी सुन्दर बना रहा है; दूसरी ओर सीताजी की साथरी है; आज्ञाकारी अनुज लषनलाल सरकार की चरण सेवा में संलग्न हैं; जब जगत को विराम देने वाले सरकार ने निद्रा देवी की गोदी में प्रवेश किया तब लषनलाल उठे और वीर वेश में उस झांकी का पहरा देने लगे निषाद उपयुक्त समय सविचार कर उनके समीप आ जाता है; भगवान् राम को पृथ्वी पर सोया हुआ देख कर निषाद के हृदय का राम प्रेम उमड़ पड़ता है उसने अपने हृदय के उद्गार लक्ष्मण पर प्रगट किए जिनमें उसकी अनुभूति, प्रतिभा, श्रद्धा, विश्वास और सरूप अनुरक्ति का सामंजस्य दिखाई देता है; महाराज दशरथ का वह राज्य वैभव जिसे देखकर धनपति कुबेर भी लज्जित होता था; सुरपति इन्द्र भी सम्मान करता था जिन महाराज अवधेश का उन्हीं महाराज दशरथ का पुत्र जो जगत का आधार है, आश्रय है, पालक, उत्पादक और संहारक है आज कुश शय्या पर विश्राम कर रहा है; जिन जगज्जननी जानकी के पिता विदेह की समता का दूसरा मनुष्य संसार में नहीं हुआ उन्हीं की अयोनिजा पुत्री सीता आज इस प्रकार से नीचे सो रही हैं;

सिय रघुबीर कि कानन जोगू।
करम प्रधान सत्य कह लोगू॥

इस प्रेम प्रलाप को जिसे ज्ञानी मोह कहते हैं लक्ष्मण के ज्ञानोपदेश द्वारा दूर किया गया, रात्रि व्यतीत हुई प्रभात में सुमन्त्र बिदाई, गंगापार, प्रयाग आदि स्थानों से होते हुए निषाद को भगवान ने अपने स्थान पर वापिस लौटाया।

राम रजायसु सीस धरि।
भवन गवन तेहि कीन्ह॥

अब निषाद के राम प्रेम की झांकी का दूसरा अवसर हम निषाद भरत मिलन के समय पाते हैं। भक्त अपना अपमान सहन कर लेता है परन्तु भगवान का अपमान सहन करना उसे असह्य है; उनका अपमान सहन करना तो दूर रहा। अपमान

की सम्भावना भी वे नहीं सह सकते; निषाद ने जब सुना कि भरत ससैन्य चित्रकूट को जा रहे हैं संभवतः उनके चित्त में राम को राज्य से बिलकुल अलग कर देने की इच्छा हो ? नहीं तो—

जो जिय न होति कुटिलाई।
तो कत लीन्ह संग कटकाई ॥

बस क्या था ! अब तो उसकी क्रोधाग्नि भड़क उठी; अपने प्रियतम का अपमान करने वाले उस भरत को मैं ससैन्य गंगा पार ही नहीं होने दूँगा—समस्त वीरों को प्रोत्साहन दिया वे अपने स्वामी की आज्ञा से वीरोचित वेष बनाने लगे। कोई कमर कस रहा है, कोई तलवार पर धार बना रहा है, कोई कूद रहा है, कोई उछल रहा है, एक कोई कवच पहन रहा है। इस प्रकार की तैयारी सेना की करके आप स्वयं उन वीरों से कहता है कि—

भाइहु लावहु धोख जनि, आजु काजु बड़ मोहि।
सुनि सरोष बोले सुभट, वीर अधीर न होहि ॥

उसने इस कार्य को अपना कार्य समझा था, अर्थात् वह राम में और अपने में कोई भेद ही नहीं समझता था; छींक के सगुन ने उसे लौकिक मर्यादा निबाहने को बाध्य किया सब वीरों को वहीं रुकने की आज्ञा देकर वह तीन तरह की भेंट सात्विक, राजस और तामस लेकर भरत के भावों की परीक्षा लेने चल दिया। भला भरत जैसे त्यागी व्यक्ति के आगे पहुँच कर भी निषाद की क्रोधाग्नि प्रचण्ड हो सकती थी, कभी भी नहीं! भेंट सम्मुख उपस्थित की, दण्डवत् प्रणाम किया।

देखि दूरि ते कहि निज नामू।
कीन्ह मुनीसहि दण्ड प्रणामू॥
× × ×
करत दण्डवत् देखि तेहि,
भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहुं लषन सन भेंट भइ,
प्रेम न हृदय समाइ॥
भेंटत भरत तहि अति प्रीति।
लोग सिराहिं प्रेम की रीती॥

यह है उस राम प्रेम का प्रभाव ! भला, निषाद के पास क्या था वह तो उस जाति का था जिसकी छाया पड़ने से छींटा लेते थे लोग। आज राम प्रेम के कारण, राम कृपा का वास्तविक अधिकारी होने के कारण इस प्रकार आदर का पात्र बन रहा है, अब जो लोग कहते हैं कि भगवान् जाति अथवा गुण विशेष से ही प्रसन्न होते हैं उन्हें निषाद के इस व्यवहार की ओर देखना चाहिए, अवध के कुल पुरोहित महामना महर्षि वशिष्ठ सच्चे कर्मकाण्डी थे। शूद्र के स्पर्श की तो कौन कहे शरीर की छाया मात्र पड़ जाने से न मालूम कितना कर्म करना पड़ता था शुद्धि के लिए। आज वे ही वशिष्ठ उसी निषाद को जो लोक और वेद में सब प्रकार नीचा था गले से गला लगाकर लक्ष्मण से अधिक समझ कर मिल रहे हैं—

जेहि लखि लखनहुं ते अधिक मिलेउ मुदित मुनिराउ।
सो सीतापति भजन को, प्रगट प्रताप प्रभाउ॥

यह है भगवान् राम के प्रेम का प्रसाद। इतना होते भी जो लोग ऐसे दयालु प्रभु की शरण नहीं आते; भगवान् राम का भजन नहीं करते उन्हें तो यही समझना चाहिए कि वे संसार में विधाता द्वारा छले गए हैं, संसार की समस्त भोग्य वस्तुएँ मानव का हित सम्पन्न नहीं कर सकतीं। धनपति कुबेर होने पर भी धन की इच्छा प्रबल होती है, इन्द्र के समान स्वर्गाधिप होने पर भी भोग भोगने की इच्छा दिनों दिन प्रबल होती जाती है मानव कितना ही गुणवान, कीर्त्तिमान्, यशवान्, शीलवान्, कुलवान्, बुद्धिमान् और धनवान् हो जावे परन्तु इन सबसे परलोक की कोई अर्थ सिद्धि नहीं होती यह सब उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार बिना प्राण का शरीर और बिना पानी की नदी। भगवान् राम की शरण होकर निषाद

सरीखे नीच जाति वाले व्यक्ति भी जब पावन हो जाते हैं तो हम लोग जिनका भारत भूमि में जन्म हुआ है, गंगाजी समीप मिली, उच्चकुल में जन्म हुआ, सब प्रकार की सुविधाएँ होकर भी हम यदि उनका भजन नहीं करते तो हमारा जन्म व्यर्थ है, हमारी माता को या तो बांझ रहना था अथवा गर्भपात हो जाना था। निषाद ने भेंट करके समस्त नगर निवासियों की समुचित व्यवस्था की और सबका समुचित सम्मान करके आप राम बंधु भरत के गले में हाथ डालकर अब उस स्थान को देखने के लिए प्रस्थानित होते हैं जहां भगवान् राम ने विराम लिया था। उस स्थान को देखने से भरत के हृदय में प्रेम प्रवाह उमड़ पड़ा जिसे निषाद के लक्ष्मण प्रदत्त ज्ञानोपदेश ने दूर किया। भरत को सान्त्वना देकर और उनके साथ वहां से लौटकर अपने डेरे पर आए। भरद्वाज के आश्रम पर पहुँचे और मार्ग की अनेक कठिनाइयों का सामने हुए। भरत भगवान् राम के सखा निषाद के साथ भगवान् राम से मिलने की तीव्र आकांक्षा से चित्रकूट प्रस्थानित होते हैं। अब तो निषाद भरत के गले का हार हो जाता है; चित्रकूट के समीप नगर निवासियों को ठहरा कर भरत के साथ निषाद भगवान् राम के समीप ले चलने को प्रस्तुत हुआ। भगवान् राम एक वेदी पर विराजमान हैं एक ओर माता जानकी हैं, लक्ष्मण सेवा में प्रस्तुत हैं। भरत ने प्रणाम किया। मिले; निषाद ने भी भेंट की और वह भी समस्त समाज से मिला। उस समय उस अपूर्व मिलन में सबकी स्तब्ध दशा हो रही थी जिसे प्रेम मार्गी परादशा कहते हैं। उस समय जब कि सब प्रेम प्रवाह में प्रवाहित हो रहे हैं निषाद को धीरज हुआ और कह ही तो उठा वह—

> तेहि अवसर केवट धीरज धरि।
> जोरि पानि विनवत प्रणाम करि॥

इस निषाद की इस बात से प्रभावित भगवान् राम नगर निवासियों से मिलने के लिए चले। सबकी समुचित व्यवस्था की; माताएँ निषाद को पुत्र के समान समझ कर आशीर्वाद देती हैं, महर्षि वशिष्ट भी उससे अपने सखा सरीखा मिलते हैं; यह सब क्या था। यह सब उसी राम प्रेम का प्रभाव है जिसने निषाद सरीखे नीच जातीय और असभ्य को भी आज इस योग्य बनाया। चित्रकूट में जब तक अवध समाज रहा निषाद ने अपनी जाति वाले लोगों द्वारा उनके खाने पीने की समुचित व्यवस्था कराई; भगवान् राम की आज्ञा से जब भरत ससैन्य लौट कर अवध आते हैं तब वह उनके साथ लौटा और अपने नगर में रहकर भगवान् राम का स्मरण करने लगा।

निषाद के हृदय से भगवान् कभी दूर नहीं होते थे; अब भगवान् रावणादि का वध करके और १४ वर्षों की अवधि समाप्त करके लौटते हैं। उस समय भी वह उनके स्मरण में संलग्न है; ज्योंही उसे मालूम हुआ कि भगवान राम आ रहे हैं वह दौड़ कर उनसे मिला—

> सब भांति अधम निषाद सो हरि
> भरत ज्यों उर लाइयो।
> मतिमन्द तुलसीदास सो प्रभु,
> मोहवश बिसराइयो॥

निषाद भगवान् राम के साथ अवध आया, माताएँ अपने पुत्र की भाँति उससे मिलीं। राज्याभिषेक में वह साथ रहा और जब भगवान् ने अपने अन्य सेवकों की विदाई की उस समय निषाद की विदाई करके उसे सदैव नगर में आने जाने का आदेश देकर विदा किया—

> पुनि कृपालु लियो बोलि निषादा।
> दीन्हें भूषन वसन प्रसादा॥
> जाहु भवन मम सुमिरन करे।
> मन क्रम वचन धर्म अनुसरेहु॥
> तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता।
> सदा रहेहु पुर आवत जाता॥

[शेष पृष्ठ २० पर]

॥ ॐ ॥

चिन्ता-चमत्कार

[लेखक—श्री बैजनाथजी अग्निहोत्री]

चिन्ता में महान् शक्ति है। चिन्ता से प्राणी दुःखी रहता है, स्मृति नष्ट हो जाती है, कर्त्तव्या-कर्त्तव्य का ज्ञान, सत्य असत्य का भाव भी नहीं रहता, कष्ट पाता है, मृत्यु के उपरान्त नीच योनि पाकर अधम भोगों को भोग कर पुनः मरता है, फिर उत्पन्न होता है, इसी प्रकार आवागमन के चक्र में पड़ कर नष्ट होता रहता है और चिन्ता के द्वारा ही मिथ्या से सत्य की ओर प्रगति करता है, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक करता है, सत् को पहचानता है, दुःखों का विनाश, स्मृति की प्राप्ति तथा सुखों को भोगता है, इतना ही नहीं भगवत्ता-त्कार कर आवागमन के चक्र से मुक्त होकर परमानन्द को भोगता है। प्राणी जिस वस्तु की चिन्ता करता है उसे प्राप्त कर लेता है यही नहीं चिन्ता की तीव्रता से स्वयं भी वैसा ही हो जाता है, इसमें भृंगी कीट का स्पष्ट प्रमाण है। वैषयिक भोगों की, स्वार्थपरता की चिन्ता से प्राणी दुःखी एवं बन्धनयुक्त तथा परोपकार, भगवच्चिन्ता एवं आत्म चिन्ता से प्राणी सुखी तथा मुक्त होता है।

प्रत्येक प्राणी चाहता है कि 'मेरा विनाश न हो अपितु मैं सर्वत्र बना रहूँ', 'ज्ञानवान् भी रहूँ, मूर्ख न होऊँ', सुखी रहूँ, दुःखी न रहूँ', 'परतन्त्र न होऊँ, स्वतन्त्र रहूँ', तथा 'शासित न रहूं किन्तु शासक होऊँ', तात्पर्य प्राणी मृत्यु से अमर, जड़ से चेतन, लेश रहित दुःख से आनन्द, परतन्त्र से स्वतन्त्र एवं सेवक से स्वामी होना चाहता है या इनको सीधे सीधे कह सकते हैं कि प्राणी नर से नारायण, जीव से ईश्वर होना चाहता है। क्योंकि उपर्युक्त पंच लक्षण सिवाय ईश्वर के अन्यत्र तो है ही नहीं। यहां पर एक गम्भीर प्रश्न उपस्थित होता है कि प्राणी या जीव इनकी कामना क्य करता है? इसके दो ही कारण हो सकते हैं, प्रथम तो यह इन कि ईश्वर के पंच लक्षणों से विपरीत 'असत्' 'अचेतन' 'अनानन्द' 'परतन्त्र' एवं 'शासित' लक्षण प्राणी के हैं, अतः इससे मुक्त होना चाहता है। कि द्वितीय यह पंच लक्षण प्राणी के स्वतः सिद्ध हैं और किसी प्रतिबन्ध के कारण अप्राप्त से हो रहे हैं, अतः स्वतः सिद्ध स्वरूप की ओर प्राणी की इच्छा होना स्वाभाविक है। इन दोनों पक्षों पर बहुत लिखा जा सकता है किन्तु लेख को विषयान्तर करना उचित नहीं। यह अवश्य कहा जा सकता है यदि जीव ईश्वर ही है 'तत्वमसि' या ईश्वर का अंश है, ममैवांशो जीव लोके जीव भूतः सनातनः' के अनुसार अथवा 'अमृतस्य पुत्राः' के अनुसार ईश्वर का पुत्र है तो निश्चय ही जो लक्षण या गुण ईश्वर में हैं वह जीव में भी होने ही चाहिये। यही कारण है कि स्वतः सिद्ध लक्षणों की ओर जीव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। जीव में सर्वथा तथा सर्वदा यह गुण विद्यमान हैं, किन्तु विपरीत चिन्ता के द्वारा तिरोहित से हो रहे हैं और सांसारिक वैषयिक भोगों की प्रवृत्ति स्वभाविक बन गई है, अपने स्वरूप की विस्मृति होगई है, इसका एकमात्र कारण है यही 'चिन्ता'।

यदि प्राणी उपर्युक्त सत्, चित्, आनन्द, स्वतन्त्रता एवं प्रभुता प्रकट या प्राप्त करना चाहता है तो सांसारिक चिन्ता त्यागनी पड़ेगी और इस के स्थान पर ईश्वरीयचिन्ता (ध्यान) करनी पड़ेगी। बिना चिन्ता अब साधारण कार्य-दर्शन, श्रवण, गन्धादि एवं गमन, आगमन, मल मूत्रादि भी

(शेष पृष्ठ २४ पर)

"आत्म-ज्ञान"

(लेखकः—साहित्याचार्य पं० श्री चतुर्भुजदासजी चतुर्वेदी)

जब जीव जिसे थोड़ा भी ज्ञान है अपने आपको प्रभु चरणों पर चढ़ा देता है तब इसका नाम आत्म समर्पण पड़ जाता है और फिर यही आत्म-समर्पण योग कहलाता है। इसे भक्ति प्रधान कहते हैं बिना भक्ति के भगवान नहीं रीझते जहां भगवान की भक्ति है वहां ज्ञान दीप की लौ टिमटिमाने लगती है। फिर वही प्रेम दीप स्नेह से सच्चिकन हुआ अनन्त पथ की ओर लेता जाता है। जिससे आत्मज्ञान होने लगता है।

यह आत्मज्ञान उतना सरल नहीं है जितना मनुष्य समझते हैं हां गुरु कृपा दूसरी बात है। "भगवान की भक्ति दो प्रकार की है पहली बान्दरी और दूसरी मारजारी। बान्दरी भक्ति में भक्त अपने आप पर विश्वास रख अपनी शक्ति का अनुभव करता हुआ प्रभु मार्ग पर चलता है किन्तु मारजारी भक्ति का अनुसरण करने वाला त्वया हृषीकेश हृदयस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' का अनुसरण करता प्रभु भक्ति प्राप्त का अनुगामी होता है। बन्दर का बच्चा अपनी मां को दोनों हाथों से कसकर पकड़ता है ताकि गिर न जाय। मां को भी यह विश्वास हो जाता है कि मेरा बच्चा मुझे कसकर पकड़े है। निश्चिन्त बनी रहती है। माँ के ऊपर अधिक चिन्ता नहीं किन्तु बिल्ली का बच्चा अपनी माँ पर निर्भर रहता है। उसकी माँ उसे जहाँ चाहे उठाकर ले जाती है और जहां चाहें रख आती है। बच्चे की उसे चिन्ता है। बच्चा अपनी मां पर निर्भर है अतः वह मां उसका सदैव ध्यान रखती है। इस तरह उभय भक्ति के भक्त अपने अपने मार्ग पर चल कर आत्म ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस आत्म ज्ञान में कोई कुछ दूर तक जाते हैं तो कोई कहीं तक। वे विरले ही वीर होते हैं जो पूरे निशाने पर पहुँचते हैं और यह सब कुछ तब ही हो सकता है जब प्रभु की कृपा हो अथवा सद्गुरु से भेंट हो।

सद्गुरु भी बिना प्रभु कृपा के प्राप्त नहीं होते। बिन प्रभु कृपा न भेंटहि सन्ता।

ऋषि, महर्षि आदि से सन्त का आसन बहुत ऊंचा है जो प्रभु कृपा से ही प्राप्त होता है।

आत्म ज्ञान प्राप्त के लिये जीव को चाहिये कि शान्ति से प्रभु पद कंज पर मन भ्रमर को जाने दे। इस तरह धीरे धीरे अभ्यास कर अपने आपको समर्पण योग में प्रविष्ट करे। फिर सच्चिदेकम् ब्रह्म को मानता हुआ प्रभु में लीन बना रहे। प्रभु पद लीन होने से सुध बुध जाती रहती है फिर उसमें छि का भाव न आने से आत्म ज्ञान होने लगता है और प्रभु भी हमें हर प्रकार से चाहने लगता है।

[शेष पृष्ठ १८ का]

यह है निषाद की सहयानुरक्ति। भगवान् राम किसी जाति और गुण विशेष से प्रसन्न नहीं होते वे तो शुद्ध प्रेम और निर्मल हृदय वाले को ही मिलते हैं, इसलिए जिन्हें भी भगवान् राम के चरणों की प्राप्ति करना हो वे निषाद सरीखा अपना हृदय बनावें।

पाई न केहि गति पतित पावन,
राम भजु सुनु सठ मना।
गनिका अजामिल गीध गजादि,
खल तारे घना॥

आभीर जमन किरात खस स्वपचादि अति अघरूप जे।
कहि नाम कारक तेहि पावन होंहि राम नमामि ते॥

सियावर रामचन्द्र की जय

प्रेम पुकार

[संग्रहकर्ता—पं० श्री गोविन्ददास 'सन्त' धर्म-शास्त्री]

—: दोहा :—

मैं अपराधी जन्म का, नख शिख भरा विकार ।
तुम दाता दुःख भंजना, मेरी सुनो पुकार ॥

(१)

दीन पुकार सुनी गज की तुम,
कोल किरातन स्वर्ग दई है ।
आरत नाद करी शिव ने तहँ,
रावण मार बचाय लई है ॥
कोटिन पापिन तार दिये,
जिनकी करनी अपवाद मई है ।
हे करुणानिधि मो तन हेरहु,
काहे करी अब रीस नई है

(२)

जाही हाथ धनुष चढ़ायो है सीतापति,
जाही हाथ रावण संहार लंक जारी है ।
जाही हाथ तारयो औ उबारयो हाथ हाथी गह,
जाही हाथ सिन्धु मथ लक्ष्मी निकारी है ॥
जाही हाथ गिरि उठाय गिरिधर गिरधारी भये,
जाही हाथ नंद काज नाथ्यो नाग कारी है ।
हूं तो अनाथ कहूं हाथ जोड़ दीनानाथ,
वाही हाथ मेरो हाथ गहिये की बारी है ॥

(३)

दीन बन्धु दीनानाथ व्रजनाथ रमानाथ,
राधानाथ मो अनाथ की सहाय कीजिये ।
तात मात भ्रात कुल देव गुरुदेव स्वामी,
नातो तुम ही सों मो विनय सुन लीजिये ॥
रीझिये निहाल देर कीजिये न झीती कहूं,
दीन जान दासी मोहिं अपनाय लीजिये ।
कीजिये कृपा कृपाल सावले बिहारीलाल,
मेट दुःख जाल आज लाज रख लीजिये ॥

(४)

कैसे तुम गणिका के औगुण न गिने नाथ,
कैसे तुम भीलनी के बेर झूठे खाये हो ।
कैसे तुम द्वारिका में द्रोपदी की टेर सुनी,
कैसे तुम गज काज नंगे पैर धाये हो ॥
कैसे तुम छिन में सुदामा के दरिद्र हरे,
कैसे उग्रसेन तुम बंदी ते छुड़ाये हो ।
मेरी बेर ऐसी देर कान मूंद रहे नाथ,
दीन बन्धु दीनानाथ काहे को कहाये हो ॥

नाम-साधन

(लेखक—श्री राजनारायण द्विवेदी)

यह मृत्यु संसार ! यह भवसागर ! बड़ा भयंकर है। खूब ही दुस्तर है; दुःखमय है। इससे पार पाना कठिन है। ऐसा होते हुए भी नामरूप नौका पार कर देता है। पर हो तब जब आत्मज्ञान का सहारा लिया जाय। चौरासी लाख योनियों के बाद प्रभु की कृपा से नर देह की प्राप्ति भव-सागर पार करने के लिए होती है।

गन्तव्यपथ का निश्चय कर जप यज्ञ में सम्मिलित हुआ जाय तो सफलता की कुन्जी हाथों लग जाय। नाम जप से बढ़कर कोई ज्ञ नहीं। गीता की उक्ति है-"यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि"। राम, कृष्ण, शिव और दुर्गा प्रभृति जिस किसी का नाम रुचि अनुसार लिया जा सकता है। उपासक जिस नाम में अधिक रुचि रखे वही नाम इष्ट बनाले। और दत्तचित्त हो उसी से अनुराग बढ़ावे। नाम जप के लिए कोई भी निश्चित समय नहीं। किसी प्रकार की शुद्धि और जाति पाँति का विचार नहीं। आवश्यकता है सिर्फ नाम धुन की। विश्व के सभी काम होते रहें और नाम जप चलता रहे; जोश और होश के साथ। नाम लेने में भाव की अपेक्षा होती है पर हमें उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। भाव स्वयं आजाता है। नाम का अभ्यास भाव को कालान्तर में खींच लाता है।

जप काल में और ध्यान के समय अनुरक्ति जिस रूप में होगी वही कल्याणकारी होगा। राम तथा कृष्ण को उनके भक्तों ने अपनी अपनी रुचि के मुताबिक देखा है उसका निदर्शन निम्न पंक्तियों में—

कोउ सिय पिय, कोउ अवधलाल,
कोउ श्यामगौर, वर जोरी।
कोउ जिय तारन, कोउ जग कारन,
जनु लिये छवि भोरी॥
कोउ श्रृङ्गार तन कोउ अपार बल,
कोउ मुनि शिष्य सुहायो।
निज निज रुचि अवलोकि नाथ,
सब तुलसी नारि सुख पायो॥
कोउ हरि कृष्ण कांध मुरली धर,
नन्द ललन गिरधारी।
कोउ नट नागर कोउ गति गागर,
कोउ कहे श्याम विहारी॥
कोउ व्रज चन्द्र रसिक शेखर,
छवि भोर कोउ श्रृङ्गारी।
'सूरश्याम' कोउ जगत-धाम,
कोउ नारी रटत बनवारी॥

अतः भजन के वास्ते कोई नाम चुन लें। और निर्भय, निसंशय तथा, विगत मोह नाम धुन में मस्त हो जाय। अपने चतुर्दिक नाम का वातावरण उपस्थित कर दें। भोजन करने के समय राम, रोटी पकाते राम, पानी लाते समय राम, पढ़ते-पढ़ाते समय राम, जंभाई लेते राम, छींकते समय राम, घर की दीवाल पर सीताराम सब समय सीताराम। यहां तक कि किसी संस्था का नाम करण करना है उसमें भी रहे यह नाम। विद्यालय का नाम, यथा राम इक्ल विद्यालय। पुत्र का नाम यथा— राम शरण प्रसाद। कहां तक कहें सब में राम नाम का सम्बन्ध हो जाय। इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य कर राम— भक्तों ने 'राम तरोई' तरकारी में नाम घुसेड़ दिया रामरस नमक के स्थान में। 'राम रोटी' रोटी के पहले, राम दुलारे, रामप्रसाद, रामरज, रामभरोसा, रामभवन, राम निवास

नामरूप आदि। तुलसीदासजी ने झट कह दिया भाई भक्तों बरी वरी नमक क्यों?

"सिया राम मय सब जग जानी।
करौं प्रणाम जोरी जुग पानी" ॥

बस प्रेम हो तो तुलसीदासजी के सदृश।

प्रेम में अतृप्ति होती है। यदि तृप्ति होगई तो समझ जाइये धोखा है। प्रेम की उपमा उससे ही दी जा सकती है। उसके लिए वस्तु जगत में उत्तम अन्य कोई चीज नहीं जिससे उसकी तुलना हो। प्रेम में अनिर्वचनीय आनन्द होता है। वह कथन से बाहर है, जैसे गूंगे को गुड़ खिला उसके स्वाद की जिज्ञासा। प्रेमी पागल और बधिर होता है। वह लोकामिल्या से ऊपर उठकर आनन्द लोक में विचरता है। भक्त अपने प्रियतम को भूल नहीं सकता। भूलने की उसने कला ही नहीं सीखी। यदि दुर्भाग्यवश वैसा हो जाय तो मुर्गे बिस्मिल की तरह उसकी दशा चिंतनीय हो जाती है।

प्रेमी भक्त प्रियतम के वियोग को सहन नहीं कर सकता। विस्मृति को विष और स्मृति को वह जीवन का पाथेय समझता है। उसके लिए आत्म और अनात्म दोनों भाव बहजाते हैं—

लाली मेरे लालकी जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं चली मैं भी होगई लाल।
(कबीर)

प्रेम मतवाली गोपियाँ बँसी की टेर सुनते ही अपने को भूल जाती हैं:—

श्याम ने मुरली मधुर बजाई।
सुनत टेरतब सुधिबिसारि सब गोप बालिका धाई॥
लंहगा ओढ़ि ओढ़ना पहिरे कंचुकि भूलि पराई।
नक बेसर डारे स्रवनन मह अद्भुत साज सजाई॥
श्याम ने०।

प्रश्न होता है कि नाम ग्रहण से मृत्यु संसार सहज में ही पार किया जा सकता है? उत्तर में निवेदन है कि नाम का इतना ही काम नहीं है। नाम में बड़ी शक्ति है। नाम आपको विनयी बना देगा। नाम साधक बना देगा। नाम अष्ट सिद्धि नव निधि ला देगा। नाम धन-धान्य से पूर्ण कर देगा। और स्वयं नामी शील, शक्ति तथा सौंदर्य प्रदान कर अपने पुकारने वाले को प्रयाचक कर देता है। नाम स्वर्ग देता है, मोक्ष देता है और आवागमन के मोह बंधन से रहित कर नामी के पास रख छोड़ता है। नाम की शक्ति आगे की पंक्तियाँ साफ करती हैः—

नाम प्रसाद संभु अविनाशी।
साजु अमंगल मंगल रासी॥
सुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी।
नाम प्रसाद ब्रह्म सुख भोगी॥
ध्रुव सगलानि जपेउ हरि नाऊँ।
पायउ अचल अनुपम-ठाऊँ॥
सुमिरि पवन सुत पावन नामू।
अपने वसकरि राखे रामू॥
अपतु अजामिल गजु गनिकाऊ।
भये मुकुट हरि नाम प्रभाऊ॥
कहौं कहा लगि नाम बड़ाई।
राम न सकहिं नाम गुन गाई॥
नाम काम तरु काल कराला।
सुमिरत समन सकल जगजाला॥
राम नाम कलि अभिमत दाता।
हित परलोक लोक पितु माता॥

राम का सर्व व्यापी नाम सारी चिंताओं को नष्ट कर देता है। शोक में, जैसे-पुत्र शोक,-प्रिय वर्ग का शोक। क्लेश-भूखका, गरीबी का, शत्रुओं का, कन्याओं का इत्यादि दुखों को मिटाने वाला है। कर्म फल की अटलता और संसार की असारता का वास्तविक ज्ञान नाम से ही संभव है। भगवान् का नाम ही जब सब कुछ है तब क्यों नहीं नाम की शरण में रहा जाय। यह ध्यान रहे जीव अंश है और राम अंशी है। भगवान उग्र हैं, वीर हैं, महाविष्णु हैं, सर्वतो मुख हैं, ज्वलन्त हैं, नृसिंह हैं, भीषण हैं, भद्र हैं, और हैं मृत्यु; और उसके भी मृत्यु। यही कारण है उसके नाम परायण होने का।

श्रीरामजी की महिमा, नाम, रूप और गुणों की कथा सभी अपार हैं तथा वे स्वयं अनंत हैं। मुनि गण अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार श्रीहरि के गुण गाते हैं। वेद शेष और शिवजी पार नहीं पाते। श्रीराघवेन्द्रजी की महिमा भी अथाह है। उसकी थाह क्या कोई पा सकता है।

राम काम शत कोटि सुभग तन।
दुर्गा कोटि अमित अरिमर्दन॥

सक्र कोटि सत सरिस बिलासा।
नभसत कोटि अमित अवकासा॥
मरुत कोटि सत विपुल बल,
रबि सत कोटि प्रकास।
ससि सत कोटि सुसीतल,
समन सकल भव त्रास॥
काल कोटि सत सरिस,
अति दुस्तर दुर्ग दुरंत।
धूम केतुसत कोटि सम,
दुराधरष भगवंत॥
प्रभु अगाध सत कोटि पताला।
समन कोटि सत सरिस कराला॥
तीरथ अमित कोटि समपावन।
नाम अखिल अघ पूग नसावन॥

हिमगिरि कोटि अचल रघुबीरा।
सिंधु कोटि सत सम गंभीरा।
काम धेनु सत कोटि समाना।
सकल काम दायक भगवाना॥
सारद कोटि अमित चतुराई।
बिधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई॥
विष्णु कोटि सम पालन कर्ता।
रुद्र कोटि सत सम संहर्ता॥
धन कोटि सत सम धनदाना।
माया कोटि प्रपंच निधाना॥
भार धरन सत कोटि अहीसा।
निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा॥

चपल कांसी जगकी रमणीयता पर मुग्ध हो भोगों के माया-जाल में नहीं फंसना ही श्रेयस्कर है। विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त है ईश माया प्रमेयवत्। यह स्मृति बनी रहे।

(पृष्ठ १६ का शेष)

सम्भव नहीं, तब सच्चिदानन्द स्वरूप ईश्वर की प्राप्ति होना कैसे सम्भव है? चिन्ता ईश्वर प्राप्ति का उत्कृष्ट एवं सन्निकट साधन है, आन्तरिकभाव है—मानसिक वृत्ति है। वैषयिक भोगों की चिन्ता के द्वारा जीव का सुख स्वरूप छिप जा गया है इसीलिये प्राणी दुःखी हैं, यह ऊपर कहा गया है। इस दुःख के निवारण के लिये हमारे यहां विविध प्रकार बतलाये गये हैं, कर्म, भक्ति एवं ज्ञान के अन्तर्गत सभी का समावेश है। कोई भी साधन हो बिना चिन्ता के इसमें सफलता नहीं मिलती, चिन्ता का प्रत्येक साधन में महत्व पूर्ण स्थान है। ज्ञान के प्रमुखतः तीन साधन माने गये हैं—श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन, अन्तिम चिन्ता ही निदिध्यासन के नाम से कही गयी है। अष्टाङ्ग योग में भी चिन्ता 'ध्यान' से कही गयी है, यह चिन्ता ही तीव्रता से समाधि होजाती है। भक्ति में तो चिन्ता का स्थान प्रमुख ही है, अपराभक्ति से पराभक्ति के द्वारा चिन्ता ही ईश्वर साक्षात्कार का कारण है। तात्पर्य कोई भी साधन हो बिना चिन्ता के बन नहीं सकता अपितु यह कहना अत्युक्ति नहीं कि 'चिन्ता ही साधन है'।

ईश्वर जगत् का निर्माण, संरक्षण एवं विनाश भी चिन्ता के द्वारा ही करते हैं इसी प्रकार मनुष्य भी वस्तु का निर्माण, पालन एवं संहार भी चिन्ता से करते हैं। हमारे पूर्वज ऋषियों ने मन्त्रों का साक्षात्कार, जगत् कारण की खोज, ईश्वर-दर्शन एवं विधिनिषेधात्मक शास्त्रों की रचना भी चिन्ता से ही की थी। आज कल भी भौतिक आविष्कार, शासन, व्यापार, उपदेश तथा जो भी कार्य व्यक्ति से होते हैं सभी में चिन्ता का प्रमुख स्थान है। वास्तव में जो भी शुभ या अशुभ है सब चिन्ता का ही चमत्कार है, चिन्ता में सभी गुण विद्यमान हैं, आवश्यकता है उसके सदुपयोग की। विषय भोगों से रहित अपने सुख स्वरूप की ओर जिस चिन्ता के द्वारा प्रगति कर सके वही उसका सदुपयोग और जिस चिन्ता के द्वारा वास्तविक सुख स्वरूप से दूर होता चले वह है चिन्ता का दुरुपयोग। अपने इष्ट देवता के नाम, रूप एवं गुणों की चिन्ता द्वारा प्राणी ईश्वर को—अपने सुख स्वरूप को प्राप्त कर सकता है, अतः चिन्ता का चमत्कार विचित्र है।

॥ श्रीहरिः ॥

"नाम-माहात्म्य" के नियम

—:❀:—

उद्देश्य—श्री भगवन्नाम के माहात्म्य का वर्णन करके श्री भगवन्नाम का प्रचार करना जिससे सांसारिक जीवों का कल्याण हो

नियमः—

१—"नाम-माहात्म्य" में पूर्व आचार्य श्री महानुभावों, महात्माओं, अनुभव-सिद्धसन्तों के उपदेश, उपदेशप्रद वाणियाँ, श्रीभगवन्नाम महिमा संबंधी लेख एवं भक्ति चरित्र ही प्रकाशित होते हैं।

२—लेखों के बढ़ाने, घटाने, प्रकाशित करने या न करने का पूर्ण अधिकार सम्पादक को है। लेखों में प्रकाशित मत का उत्तरदायी संपादक नहीं होगा।

३—"नाम-माहात्म्य" का वर्ष जनवरी ४१ से आरम्भ होता है। ग्राहक किसी माह में बन सकते हैं। किंतु उन्हें जनवरी के अंक से निकले सभी अंक दिये जावेंगे।

४—जिनके पास जो संख्या न पहुँचे वे अपने डाकखाने से पूछें, वहाँ से मिलने वाले उत्तर को हमें भेजने पर दूसरी प्रति बिना मूल्य भेजी जायगी।

५—"नाम-माहात्म्य" का वार्षिक मूल्य डाक व्यय सहित केवल २≥) दो रुपये तीन आना है।

६—वार्षिक मूल्य मनीआर्डर से भेजना चाहिये। वी० पी० से मंगवाने पर ।) अधिक रजिस्ट्री खर्च के लगते हैं।

७—समस्त पत्र व्यवहार व्यवस्थापक "नाम-माहात्म्य" कार्यालय मु० पो० वृन्दावन [मथुरा] के पते से करनी चाहिये।

"नाम-माहात्म्य" के ग्राहक महानुभावों से प्रार्थना

(१) प्रतिमास प्रथम सप्ताह में "नाम-माहात्म्य" के अंक कार्यालय द्वारा २-३ बार जाँच कर भेजे जाते हैं फिर भी किसी गड़बड़ी के कारण अंक न मिले हों उसी माह में अपने पोस्टआफिस से लिखित शिकायत करनी चाहियें और जो उत्तर मिले उसे हमारे पास भेजने पर ही दूसरा अंक भेजा जासकेगा।

(२) प्रत्येक पत्र व्यवहार में अपना ग्राहक नम्बर लिखने की कृपा करें एवं उत्तर के लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजने चाहियें पत्र व्यवहार एवं वार्षिक चंदा निम्न पते पर स्पष्ट अक्षरों में लिख कर भेजियेगा।

व्यवस्थापक:- "नाम-माहात्म्य" कार्यालय, भजनाश्रम
मु०—पोस्ट वृन्दावन (मथुरा)

"परोपकार की महिमा"
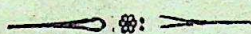
दानेन भूतानि वशी भवन्ति दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम् ।
परोऽपि बन्धुत्वमुपैतिदानैर्दानं हि सर्वव्यसनानि हन्ति ॥
तृणं चाहं वरं मन्ये नरादनुपकारिणः । घासोभूत्वा पशून्पाति भीरुन्पातिरणाङ्गणे ।
परोपकृतिकैवल्ये तोलयित्वा जनार्दनः । गुर्वीमुपकृतिं मत्वा ह्यवतारान् दशाग्रहीत् ॥
परोपकारशून्यस्यधिङ मनुष्यस्यजीवितम् । जीवन्तु पशवो येषां चर्माप्युपकरिष्यति ॥

दान से सब प्राणी वश में हो जाते हैं, दान से वैर नष्ट हो जाते हैं, दान से पराये भी अपने भाई-बन्धु बन जाते हैं और दान सारे व्यसनों को मिटा देता है। उपकार न करने वाले मनुष्य से मैं तिनके को भी श्रेष्ठ मानता हूं-क्योंकि वह घास बनकर पशुओं की रक्षा करता है और रणाङ्गण से भागे हुए डरपोक मनुष्यों को छिपा कर बचा लेता है। एक बार विष्णु भगवान् ने मुक्ति और परोपकार को तराजू के पलड़ों पर रखकर तौला तो परोपकार का पलड़ा ही भारी रहा। इसीलिये उन्होंने दस अवतार धारण करके परोपकार किया। परोपकार न करने वाले मनुष्य के जीवन को धिक्कार है। जीते रहें वे पशु, जिनका चमड़ा भी जूता बन कर उपकार करेगा।

बाबू रामलालजी गोयल के प्रबन्ध से आदर्श प्रिंटिंग प्रेस केसरगंज, अजमेर में मुद्रित व गौरगोपाल मानसिंहका संपादक व प्रकाशक द्वारा भगवान भजनाश्रम, वृन्दावन [मथुरा] से प्रकाशित।

ॐ
१-३-१९५२
साहित्य
अंक ११

विषय सूची

कार्तिक संवत् २००८

प्रेमी पाठकों से आवश्यक प्रार्थना

श्री भगवान भजनाश्रम को जो दान मनीआर्डर बीमा द्वारा प्राप्त होता है उसकी रसीद उसी दिन डाक द्वारा दाता महानुभाव की सेवा में भेज दी जाती है, अगर किन्हीं दाता महानुभाव को अपने दान की छपी हुई रसीद श्री भगवान भजनाश्रम की प्राप्त नहीं हुई हों तो उन्हें तुरन्त सूचना देनी चाहिये एवं भविष्य में कभी किन्हीं दानदाता को अपने दान की रकम की रसीद प्राप्त नहीं हो तो तुरन्त हमें सूचना देनी चाहिये, इसमें बिल्कुल बिलम्ब नहीं करना चाहिये। और जिस पोस्ट आफिस से आपने मनीआर्डर बीमा भेजा हो उस पोस्ट आफिस का पूरा नाम पोस्ट आफिस से जो रसीद मिली हो उसका नम्बर तथा तारीख हमें तुरन्त लिखनी चाहिये। समस्त पत्र आदि एवं मनीआर्डर बीमा मंत्री श्री भगवान भजन आश्रम वृन्दावन (मथुरा) के पते पर भेजने की कृपा करनी चाहिये।

वार्षिक मूल्य २≡)   संस्थाओं से १।≡)   एक प्रति का ≡)

वर्ष ११ | "नाम-माहात्म्य" वृन्दावन नवम्बर सन् १९५१ | अंक ११

नाम-महिमा

जो सुख होत गोपालहिं गाये।
सो नहिं होत किये जप तप के,
कोटिक तीरथ नहाये॥
दियै लेत नहिं चार पदारथ,
चरन कमल चित्त लाये॥
तीन लोक तृण सम करि लेखत,
नन्द नन्दन उर आये॥
वंशीवट वृन्दावन यमुना,
तजि बैकुण्ठ को जाये॥
"सूरदास" हरि को सुमिरन करि,
बहुरि न भव चलि आये॥

—परमभक्त श्री सूरदासजी

अजामिल उपाख्यान

"नामोच्चारण का फल अमोघ है"

[लेखक श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी]

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोक नाम यत्।
संकीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥
यथागदं वीर्यतममुपयुक्तं यदृच्छया।
अजानतोऽप्यात्मगुणं कुर्यान्मन्त्रोऽप्युदाहृतः॥

विष्णु पार्षद यमदूतों से कह रहे हैं—"देखो, भैया! अज्ञान से किया गया हो अथवा ज्ञान से उत्तम श्लोक, भगवान् के नाम का कीर्तन पुरुष के पापों को उसी प्रकार भस्म कर डालता है जैसे अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है। जिस प्रकार बलवती औषध को उसका गुण बिना जाने भी स्वेच्छा से सेवन कर लेने पर लाभ करती है उसी प्रकार हरिनाम महामन्त्र उच्चारण करने पर अपना फल देगा ही।

हरि कीर्तन या श्रवन करें श्रद्धा बिनु प्रानी।
निश्चय तेऊ तरें वेद संतन की बानी॥
राम विमुख लखि सन्त जीव पै यदि दुरिजावें।
बिनु इच्छा ऊ देहिं नाम तोऊ तरि जावें॥
कृष्ण नाम भव रोग की, है अव्यर्थ औषध सुगम।
चाहें जस सेवन करो, निश्चय देगी पद परम॥

भूल से भी बीज उर्वरा भूमि में पड़ जायगा तो जम ही जायेगा। भूल से भी पैर में काँटा गड़ जाय तो पीड़ा देगा ही। भूल से भी बच्चा अग्नि को छूले तो जल ही जायेगा। क्योंकि जो जिसका गुण है, उसका प्रभाव उस पर पड़ेगा ही। इसी प्रकार भूल कर भी जिसकी जिह्वा से अंत समय भगवान् के नाम का उच्चारण हो जायगा, वह परम पद का अधिकारी बन ही जायेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन! जब विष्णुपार्षदों ने यमदूतों को गुण जाने बिना स्वेच्छा से भूल में स्वभावानुसार पूर्व अभ्यासानुसार अंत समय में नामोच्चारण होने से सदगति की बात कही, तो इस पर यमदूतों ने कहा—"महाराज! हमने यह मान लिया कि नाम में अत्यन्त प्रभाव है, हम यह भी मानते हैं, नाम कैसे भी ज्ञान से अज्ञान से लिया जाय गुणकारी होगा ही, किन्तु अजामिल नाम का इतना भारी माहात्म्य तो जानता नहीं था। वह तो अपने पापों को ही स्मरण कर रहा था। अंत में मनुष्य की जैसी भावना होती है वैसा ही फल मिलता है। इसकी भावना तो अब तक यही बनी है, कि मैं घोर पापी हूं। फिर आप इसे हमें क्यों नहीं ले जाने देते।"

इस पर विष्णुपार्षदों ने कहा—"भाई! देखो, भावना की बात यहां हम नहीं कर रहे हैं। यहां तो हम नारायण नाम का माहात्म्य बता रहे हैं। मुख से कैसे भी नाम का उच्चारण हो जाय, एक ही भगवान के नाम में ऐसी शक्ति है, कि वह बड़े से बड़े पापों का तत्क्षण नाश कर देता है। भगवान के नाम में 'कितनी शक्ति है, उसके उच्चारण का क्या फल है, इसे शेषजी भी अपने श्रीमुख से उच्चारण करने में समर्थ नहीं।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह फल स्वेच्छा परेच्छा, भाव कुभाव कैसे भी नाम लेने से होता है, या आर्त होकर प्रेम से नाम पुकारने से होता है?"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महा भाग ! मैं पीछे बार बार तो इस बात का उत्तर दे आया हूं । प्रेम पूर्वक श्रद्धा से आर्त होकर नामोच्चारण किया जाय, तो उसके फल के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या ? अजी, परेच्छा से बल पूर्वक हठ पूर्वक कैसे भी नामोच्चारण हो जाय वही कल्याणकारी है । उच्चारण न भी हो, केवल सुन ही लिया जाय, सो भी स्वेच्छा से नहीं कोई हठ पूर्वक सुना दे उस का ही इतना फल है, कि ब्रह्मादिक देवता भी उसके फल को नहीं बता सकते । इस विषय में एक बड़ी प्राचीन रोचक कहानी है, उसे आप ध्यान पूर्वक सुनें । उसके सुनने से आपको नाम श्रवण का महत्व मालूम पड़ जायगा ।"

किसी एक नगर में दो भाई रहते थे । छोटा भाई धर्मात्मा था, साधु सेवी था महात्माओं में श्रद्धा रखता था । दूसरा जो उससे बड़ा भाई था वह भगवन् नाम से भगवत् कथाओं से विमुख रहता था । महात्माओं का द्वेषी था । जहाँ भी कथा पुराण हो, भगवन् नाम कीर्तन हो वहाँ कभी नहीं जाता था । घर में कथा कीर्तन की बात सुनी कि वह कानों में रूई लगा कर कोठरी में छिप जाता कि मेरे कान में ये व्यर्थ की बातें न पड़ जायें । उसके इस आचरणों से उसका छोटा भाई मन ही मन अत्यन्त दुखी रहता कि मेरे भाई के कौन से पाप उदय हुए हैं जो वह भगवान् से इतना विमुख है । वह मन ही मन भगवान् से उसके कल्याण के निमित्त प्रार्थना करता । मुनियों ! जिसके कल्याण के लिये भक्त इच्छा करता है उसका कल्याण अवश्य हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं, क्योंकि भक्त के हृदय में सदा भगवान् विराजते हैं, उनकी समस्त इच्छाओं की वे स्वयं पूर्ति करते हैं इसलिये कि वे वाञ्छा कल्पतरु हैं ।

संयोग की बात एक दिन कोई एक बड़े अच्छे संत उस नगर में आगये । संत शरीर से भी हृष्ट पुष्ट थे, हृदय भी उनका पवित्र था और परमार्थ पथ में भी वे निष्णात थे । और भी १०-२० संत उनके साथ थे । गाजे बाजे के साथ भगवान् के नामों का कीर्तन करते । नगर भर में उनकी प्रशंसा फैल गई । वह साधु सेवी भाई भी संतों की सेवा में पहुंचा । सब को चरण वन्दना करके वह महन्तजी के गद्दी के समीप बैठ गया । उन कृपालु सत ने इधर उधर की शिष्टाचार की बातें पूछ कर उनके संकोच को छुड़ाने के अनन्तर उनके मन की बात पूछी ! — भक्त ने कहा — भगवन आप तो अन्तर्यामी हैं । सब कुछ जानते हैं मेरी इच्छा है, सन्तों की चरण धूलि मेरे घर में पड़े और मेरे भाई का भी किसी प्रकार उद्धार हो ।"

'संत ने कहा—"तुम अपने भाई को यहाँ ले आना ।" उसने निराशा के स्वर में कहा—"भगवन ! वे आते ही तो मैं अब तक क्यों ठहरता । वे तो सन्तों के नाम से कोसों दूर भागते हैं । घर में भी आप पधारेंगे तो वे सबसे एकान्त की ऊपरी कोठरी में जाकर छिप जायेंगे जहाँ शब्द भी सुनाई न पड़े ।"

यह सुनकर सन्त कुछ विचलित से हुये । वे सोचने लगे । रोगी यदि सम्मुख आवे औषधि खावे तो उसके रोग का निदान हो, औषधि की व्यवस्था हो, रोग दूर हो, किन्तु वैद्य से तथा औषधि से दूर भागता है, उससे सम्पर्क भी रखना नहीं चाहता ऐसे रोगी के रोग के लिये क्या किया जाय ।" कुछ देर वे ऐसी ही बातें सोचते रहे । संत में उन्हें एक युक्ति सूझी और उस भक्त से बोले—"तुम जाओ, कल तुम्हारे यहाँ सब सन्तों का महाप्रसाद बनेगा । दोपहर के समय बुलाने आजाना ।"

यह सुनकर भक्त को बड़ी प्रसन्नता हुई । कल संत मेरे घर को अपनी पद धूलि से पावन बनायेंगे । मेरा जीवन सफल हो जायगा । इन्हीं विचारों में उसे रात्रि भर

नींद भी नहीं आई। भोर में उठ कर उसने सब व्यवस्था की, दूध लाया और सब सामान एकत्रित किया। बड़ी शुद्धता पवित्रता से भगवान् का प्रसाद बनाया गया दोपहर के समय जब सब सामान तैयार होगया, तो वह सन्तों को बुलाने गया। सभी संत लंबे लंबे तिलक छापे लगाये बाजे गाजे के साथ हरिनाम संकीर्तन करते हुए चले।

भक्त के भाई को पता चल गया था, कि आज ये बेकार में गृहस्थियों के ऊपर भार बने संडे मुसंडे साधु मेरे घर के सामान का अपव्यय करने आवेंगे फिर भी उसने अपने भाई से कुछ कहा नहीं। सोचा—"अपने को क्या? जहाँ आँख मींचली समझ लिया अपने लिए कोई है ही नहीं। अपन तो इन व्यर्थ की बातों से दूर ही रहेंगे। यही सोच कर वह उदासीन रहा! दूर से जब उसने बाजों का शब्द सुना तभी कानों में रुई डाल कर कोठरी बन्द करके तान दुपट्टा सो गया।

सन्त बड़ी धूमधाम से पधारे। उन्होंने आकर पहिले भगवान का भोग लगाया। भोग के सुन्दर पद गाये। नाम संकीर्त्तन किया पातर परसी जाने लगी। सब सन्त नारायण नाम का कीर्तन करने लगे। बहुत से आस-पास के दर्शनार्थी नरनारी भी एकत्रित हो गये थे। प्रसाद परस जाने पर 'हरी हर हुई, सबने पेट भर कर भगवान का प्रसाद बड़े प्रेम से पाया। भक्त बार बार आग्रह करके परोसने लगे। सन्त सिंह की भाँति दहाड़ दहाड़ कर भगवान का नाम ले लेकर मना करने लगे। "महाराज तनक खीर और ले लो" तब दोनों हाथों को पत्तल पर रोप कर सिर हिलाते हुए कहते—"सीताराम सीताराम, सीताराम सीताराम।" इस प्रकार बड़े प्रेम से पंक्ति हुई। भक्त ने सब के हाथ प्रक्षालन कराये, मुख शुद्धि के लिये लौंग, इलायची आदि पदार्थ दिये। सब संत जैसे आये थे वैसे ही बाजे गाने के साथ लौट गये। किन्तु वे उस मंडली के महन्त सन्त नहीं गये। उन्होंने भक्त से पूछा तुम्हारा वह भगवत विमुख साधु द्रोही भाई कहां है।

भक्त ने कहा महाराज वह तो उपर छिपा हुआ सो रहा है।" यह सुनकर कृपालु सन्त ऊपर जाकर छिप गये। उसके भाई ने जब देखा ये साधु हा हा हू हू मचाकर पेट पूजा करके चले गये, तब वह अपनी कोठरी के बाहर निकला। वो ज्यों ही निकला सन्त ने कस कर उसका हाथ पकड़ लिया। अब क्या था, सन्त ने जिसका कस कर हाथ पकड़ लिया, उसका उद्धार हो गया। साधु को देखते ही वह चमका बड़ी बड़ी जटाओं और लम्बे २ तिलकों को देख कर वह आग बबूला होगया। अपना सम्पूर्ण बल लगा कर हाथ छुड़ाते हुए कहा—"छोड़ दो छोड़ दो, पाखंडी कहीं के, भाग जाओ मेरे सामने से। खबरदार मेरे शरीर को फिर छुआ तो। अभी मेरा हाथ छोड़ दो।"

किन्तु सन्त जिसे पकड़ लेतें हैं, उसे छोड़ना जानते ही नहीं उन्होंने दृढ़ता के स्वर में कहा—"एक बार भगवान का नाम ले दो।

इतना सुनते ही वह कानों की रूई को और भी अधिक ठूंसने लगा अब तो साधु बाबा ने अपना रूप दिखाया। मल्ल विद्या में महन्तजी निपुण थे उन्होंने दाव चला ज्योंहीं झपट्टा मारा बच्चुजी चित्त हो गये। अब तो सन्त उनकी छाती पर चढ़ गये। कानों की रूई निकालकर जोर से कहा 'राम'"

इतना कह कर कह दिया—"देखो, कोई भी तुम्हें इसके बदले में कुछ माँगने को कहे तो तुम कह देना जो इसके बदले योग्य वस्तु हो, वही दे दो। मैं तो इसका मूल्य जानता नहीं।"

इतना कहा और सन्त झट से चल दिया। उसने ये सब बातें सुनी तो सही। किन्तु सुनकर भी अन सुनी कर दी, उनकी ओर ध्यान भी नहीं दिया। वह चाहे ध्यान न दे, किन्तु सन्तों के मुख से जो अमोध भगवन्नाम उसके कानों द्वारा हृदय में गया है वह तो व्यर्थ होने का नहीं। वह तो अपना फल दिखावेगा ही।

सन्त के चले जाने पर कुछ दिनों के पश्चात् उसकी मृत्यु का समय आया। अपने सब पाप उसे याद आये। यमदूत आकर गर्जन तर्जन करने लगे डराने धमकाने लगे। निर्दयतापूर्वक उसे पकड़ कर यम पाश में बांध कर यमराज के समीप ले गये। जब यमदूतों ने उसे यमराज के आगे उपस्थित किया, तो उन्होंने उस पापी की ओर देखकर एक दूत से कहा—"तनिक मुनीमजी चित्रगुप्तजी को बुलाना।" दूत दौड़कर गया। अपने स्वामी का आह्वान सुनकर झट चित्रगुप्तजी आकर उपस्थित हुये। यमराज ने देखते ही कहा—"मुनीमजी! इसका खाता खोल कर मुझे बताइये इसने कौन कौन सा पाप पुण्य किया है।"

इतना सुनना था, कि चित्रगुप्तजी बही के पन्ना पलटते पलटते एक स्थान पर रुक कर बोले—"धर्मावतार इसका पुण्य वाला खाना तो सफाचट है। जीवन भर इसने पेट पाला है, पाप कमाया है। साधु द्रोह किया है, नास्तिक से बढ़कर और कौन पापी हो सकता है। इसे नरकों के भयंकर कुन्डों में फिकवा दो। वहाँ यह अपने किये पापों का असंख्यों वर्षों तक भोग करता रहेगा।"

यमराज ने यह सुनकर कहा—"अच्छी बात है, भेज दो इसे नरकों में, किन्तु देखलो कोई पुण्य भी किया हो तो उसे नीचे टीप लो। बात यह है, जो बहुत पुण्यात्मा होते हैं और उनसे कोई एक आध पाप बन जाता है, तो हम लोग पहिले उसके पाप को ही भुगा देते हैं, जिससे फिर वह निष्पाप होकर चिरकाल तक पुण्य ही भोगता रहे। इसी प्रकार जिसके पाप तो बहुत होते हैं, कोई छोटा मोटा पुण्य भी भूल से बन जाता है, तो पहिले उसके उस पुण्य का फल भुगा कर नरक में भेजते हैं, जिससे सुख के पश्चात् दुःख भोगने में उसे और भी अधिक कष्ट का अनुभव हो।"

यह सुनकर चित्रगुप्तजी ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि को और भी सूक्ष्म करके, बही को ध्यान पूर्वक देखते हुए कहा—"हाँ हाँ! धर्मावतार एक सन्त की कृपा से अनिच्छापूर्वक इससे एक महान पुण्य भी बन गया है। इसके कानों में एक बार सन्त के मुख से भगवन्नाम पड़ गया है। उसके लिये आप जो उचित समझें सुख की व्यवस्था कर दें।"

यह सुनकर यमराजजी के तो कान खड़े हुये। वे बड़े प्रेम से उस पापी पुरुष से बोले—"भैया! तुमने एक बार भगवन्नाम को अनिच्छा से श्रवण किया है इसके निमित्त तुम जो भी चाहो माँग लो।"

कहावत है बड़ों की बातें विपत्ति में ही स्मरण आती हैं तभी उनका महत्व भी मालूम पड़ता है। उस पापी को सन्त की बात याद आगई। उसने नम्रता के साथ कहा—"धर्मावतार! मैं तो मूर्ख हूं कुछ जानता बूझता नहीं। मैंने तो स्वेच्छा से भगवन्नाम श्रवण किया भी नहीं। कृपालु संत ने बलपूर्वक मेरी छाती पर चढ़कर नाम सुना दिया है। अब इसका जो भी फल होता हो, वह आप दे दीजिये।"

यह सुनकर यमराज उसे फुसलाते हुए अत्यन्त प्रेम के स्वर में बोले—"ना, भैया! इच्छा से सुनो या अनिच्छा से भगवन्नाम श्रवण का फल तो होता ही है। पुण्य तो हुआ हो, उसके बदले में तुम जो भी माँगना चाहो माँग लो। संकोच की तो इसमें कोई बात ही नहीं!

एक साथ यमराज के व्यवहार में ऐसा परिवर्तन देख कर उस पुरुष को बड़ा आश्चर्य हुआ, साहस भी हुआ आशा भी हुई। विश्वास भी बढ़ने लगा कि मैं अवश्य ही इस विपत्ति से छूट जाऊंगा। उसने साहस के साथ कहा- "महाराज! मुझे आप क्या पूछते है! धर्माधर्म का निर्णय करने वाले तो आप ही हैं। किस पाप का किस पुण्य का क्या फल होगा इसका न्याय आपके अतिरिक्त कौन कर सकता है।

यदि अनिच्छा से भगवन्नाम श्रवण करने का कुछ फल होता हो, तो मुझे मिलना चाहिये।"

यह सुन कर धर्मराजजी कुछ सकपका गये पास में बैठे अपने मंत्री चित्रगुप्तजी से बोले—"कहो मंत्रीजी इस का क्या फल है!"

मंत्रीजी ने दोनों हाथ हिलाते हुये कहा—"धर्मावतार इसका फल बताना मेरी शक्ति के बाहर की बात है। यह मेरा काम भी नहीं हैं महाराज! मैं तो केवल पाप पुण्यों का लेखा रख सकता हूं। इसके द्वारा यह पाप हुआ, यह पुण्य हुआ इतना बता देना ही मेरा काम है। उन पाप पुण्यों के लिये कौन कौन से सुख दुःख दिये जाँय, इसका निर्णय आप ही कर सकते हैं।"

यह सुन कर विवशता के स्वर में यमराजजी ने कहा- भैया! सच्ची बात तो यह है कि इसका फल मैं भी नहीं जानता संभव है स्वर्गाधिप, इन्द्र जानते होंगे क्योंकि वे सब देवताओं के राजा हैं। चलो, वहीं चलके इसका निर्णय करावें। जब तक मैं लौट कर न आऊँ। तब तक ये अर्यम्णा पितर मेरे स्थान पर काम करेंगे। स्थानापन्न यमराज रहेंगे।

अब क्या था बात की बात में विमान सज गया। उस पापी को प्रेम पूर्वक प्रतिष्ठा के साथ समीप बिठा कर यमराज स्वर्ग लोक गये। देवराज की बड़ी भारी सभा जा रही थी। बड़े-बड़े ऋषि महर्षि, देवता, यक्ष, किन्नर, गुह्यक, तीर्थ, नद, नदी, वृक्षों आदि के अधिष्ठातृ देव बैठे थे। यमराज को आया हुआ देख कर सबने उनका स्वागत किया। बैठने को आसन दिये। देवराज के बराबर वे दोनों सुन्दर आसन पर बैठ गये। पूजा सत्कार कुशल प्रश्न हो जाने के अन्तर यमराज ने स्वयं ही कहना आरम्भ किया— "ये जो मेरी बगल में पुण्यात्मा महानुभाव विराजमान हैं इन्हीं को लेकर मेरे सन्मुख एक धर्म संकट उपस्थित होगया है। उसी का निर्णय कराने आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूं। यहां हम देवों के आचार्य भगवान् बृहस्पतिजी भी विराजमान हैं। आप सब मिलकर निर्णय करें कि संत के मुख से एक बार भगवन्नाम श्रवण करने के उपलक्ष में इन्हें कौनसा पद देना चाहिये, किस लोक में भेजना चाहिये।

यमराज के प्रश्न को सुनते ही चारों ओर काना फूंसी होने लगी। कोई कुछ कहता कोई कुछ इस पर गम्भीर होकर देवगुरू बृहस्पतिजी बोले भैया! सच्ची बात तो यह है, हम लोग इसका निर्णय नहीं कर सकते। हमें स्वयं पता नहीं इस महान पुण्य के प्रति फल-स्वरूप इन्हें क्या दिया जाय। ये जो मांगे वही दे दो।"

इस पर यमराज ने कहा—"महाराज! यदि ये कुछ माँग ही लेते तब तो झगड़े वाली कोई बात ही नहीं थी ये महानुभाव तो कहते हैं, इसका जो भी उचित प्रतिफल हो वह मुझे मिलना चाहिये।"

इस पर देवराज इन्द्र ने कहा—"तब भैया! इसका निर्णय तो लोकपितामह ब्रह्माजी ही कर सकते हैं। वे ही धर्म प्रवर्तक हैं वेद गर्भ हैं, धर्माधर्म का यथार्थ निर्णय करने में वे ही समर्थ हैं। चलो, हम सब लोग भी इसका निर्णय सुनने के लिये चलें।"

बस, फिर क्या पूछना विमानों की पंक्तियाँ यमराज के विमान के पीछे चलीं! ब्रह्म लोक में पहुंच कर सब लोगों ने लोक पितामह की सभा में प्रवेश किया। सब ने प्रजापति के पाद पद्मों में प्रणाम किया कुशल प्रश्न के अनन्तर यमराजजी ने अपना अभिप्राय कह सुनाया। एक बार संत-कृपा से अनिच्छापूर्वक इन्होंने भगवन्नाम सुना है, स्वयं कुछ मांगते नहीं, कहते हैं. इसका जो यथार्थ प्रतिफल हो वह न्यायतः मिलना चाहिये।"

सब सुनकर ब्रह्माजी गम्भीरता के साथ बोले—"भैया! देखो सच्ची बात तो यह है, मैं हूं प्रवृत्ति मार्ग का पक्षपाती। सृष्टि रचना धर्म अधर्म का निर्णय करना यह मेरा काम है। किन्तु भगवन्नाम श्रवण तो सभी धर्मों से परे है। भगवान् के नाम का महत्व भला मैं क्या जान सकता हूं। हाँ, शिवजी निरंतर राम राम रटते रहते हैं। जब उन्होंने इसका कुछ महत्व समझा होगा तभी तो ये राम राम रटते रहते हैं। चलो, हम सभी चलते हैं, उन्हीं से चल कर पूछा जाय।"

सब मिल कर कैलाश पर्वत पर पहुंचे। शिवजी ने सब सुना और बोले—देखो, भाई! नाम का यथार्थ महात्म्य उसके उच्चारण के यथार्थ फल को सिवाय नामी श्री हरि के और कौन जान सकता है। अतः हम सब मिल कर वैकुण्ठ लोक में भगवान् लक्ष्मीनारायण की सेवा में चलें। वे ही इसका निर्णय करेंगे।"

अब वह समुद्र की लहरों के समान बढ़ती हुई विमानों की भीड़ वैकुण्ठ लोक की ओर चली। भगवान के सम्मुख भी यह अभियोग उपस्थित किया गया इस पर भगवान कुछ न बोले। उस पुरुष को बुला कर अपनी गोद में बिठाते हुए बोले—'देवताओं! तुम अपने अपने लोकों को सुख पूर्वक लौट जाओ।"

इस पर हाथ जोड़ कर यमराज ने पूछा—"महाराज! जिस कार्य के लिये आये हैं उसका कुछ निर्णय हो जाना चाहिये। इसे हम किस लोक में ले जावें।"

यह सुन कर हँसते हुए भगवान बोले—"भैया! निर्णय होतो गया। अब कहां इसे ले जाओगे। मेरे धाम में तो आगया, फिर वह लौटकर जाता ही नहीं, अपने नाम लेने और सुनने वाले को मैं भी कुछ देने में समर्थ नहीं। केवल उसे अपना लेता हूं अपनी गोद में बिठा लेता हूं"

यह सुनते ही सभी देव एक स्वर से कहने लगे—"भक्त वत्सल भगवान की जय। भगवान और उनके प्यारे भक्तों की जय।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियों! भगवन्नाम श्रवण की ऐसी महिमा सुनकर सभी देवता प्रसन्न होते हुए अपने अपने लोकों को लौट आये।"

विष्णुपार्षद यमदूतों से कह रहे हैं—'दूतो! जब अनिच्छा पूर्वक भगवन्नाम श्रवण करने का इतना महात्म्य है, तो इस अजामिल ने तो आर्तस्वर में स्पष्ट "नारायण" नाम का कीर्तन किया है। इसे तुम छोड़ दो, इसे मत ले जाओ।"

श्री शुकदेवजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार जब भगवान् के प्रिय पार्षदों ने विशुद्ध भागवत धर्म का निर्णय किया। नारायण नाम की महिमा बताई, तो यम के दूतों ने डर कर उस अजामिल को पाश से छोड़ दिया! उसे प्रणाम किया और अपना सा मुंह लेकर जैसे आये थे वैसे ही रिक्त हस्त यम लोक को लौट गये।

इधर यमदूतों के पाशसेमुक्त हो जाने पर अजामिल को चेतना हुई सम्मुख उसने दिव्य रूप धारी भगवान के प्रिय पार्षदों के दर्शन किये। उनके दर्शनों से निर्भय और सावधान होकर अजामिल मारे प्रेम के फूला नहीं समाया।

भगवान की मानसिक पूजा

श्यामाश्याम सुनो विनती मोरी,
यह वरदान दया कर! पाऊं।
प्रात समय उठ मज्जन करके,
प्रेम सहित मैं ध्यान लगाऊं॥
आय विराजो (प्रभु) रतन सिंहासन,
मैं चरणोदक अर्घ चढ़ाऊं।
केसर, कस्तूरी अरु चन्दन,
लै गंगा जल स्नान कराऊं॥
आप पहरो प्रभु! पट पीताम्बर,
मैं यज्ञोपवीत पहराऊं।
अगर, कपूर, केसरिया चन्दन,
बाल—बाल में मुक्ता लाऊं॥
धूप, दीप, तुलसी की माला,
सुन्दर सुरभित पुष्प चढ़ाऊं।
छप्पन भोग छतीसों व्यञ्जन,
रुचि रुचि प्रभु मैं तुम्हें जिमाऊं॥

भांति भांति के परम स्वाद मय,
फल दे कर आचमन कराऊं।
लवँग, इलायची, पान सुपारी,
केसर दे मुख—वास कराऊं॥
जो कुछ पाप किये तन मन से,
परिक्रमा कर सभी जलाऊं।
शरणागत मैं दीनबन्धु प्रभु!
भवसागर में भटक न जाऊं॥
एक बूंद चरणामृत ले कर,
कुटुम्ब सहित बैकुण्ठ सिधाऊं।
पनवाड़ो भक्तन को पाकर,
जीवन भर मैं हरि यश गाऊं॥
अर्ज यही दासानुदास की,
जन्म जन्म मैं दास कहाऊं।
तन मन धन सब अर्पण कर के,
प्रेम सहित नित शीश नवाऊं॥

था। उसने बड़ी श्रद्धा भक्ति के सहित उठकर भगवान् के पार्षदों को प्रणाम किया और कृतज्ञता प्रकट करते हुए ज्यों ही उसने कुछ कहने का विचार किया, त्योंही वे सबके सब पार्षद उसी प्रकार अन्तर्धान होगये, जैसे स्वप्न की सब वस्तुएँ निन्द्रा खुल जाने पर विलीन हो जाती है। विष्णु पार्षदों को सम्मुख न देखकर अजामिल को बड़ा दुःख हुआ। वह अपने पापों को स्मरण करके अत्यंत पश्चाताप करने लगा। राजन्! यथार्थ पश्चाताप से बढ़कर दूसरा पाप कोई भी प्रायश्चित्त नहीं। अजामिल ने कैसा हृदय स्पर्शी पश्चाताप किया इसे मैं आगे सुनाऊँगा।

संत अनुग्रह करी विमुख कूँ नाम सुनायो।
मरयो अधम जब दूत तुरत यमपुर पहुँचायो॥
नाम श्रवण को पुण्य सुन्यो सब सुर घबराये।
ब्रह्मलोक शिवलोक फेरि सब हरि पुर आये॥
सुनि सब हरिने अंकमहं प्रेमसहित वाकूँ लयो।
भव बन्धन ते मुक्त ह्वै, प्रभु पार्षद वह बनि गयो॥

—*—

हम कहाँ हैं !

[वाणी भूषण पं० राजेन्द्र मोहन शर्मा, साहित्यालंकार]

एक प्रश्न और उसका निराकरण क्या आज तक हो सका ? तो कहना पड़ेगा कि प्रश्न इतनी उलझन का है जिसका निराकरण कोई खेल नहीं। यह न तो आज पर्यन्त हल हो सका है न सम्भव है हो ही सकेगा। प्रश्न है क्या मनुष्य का परिवर्तन होता है या समय मनुष्य को परिवर्तित कर देता है ! प्रश्न विवादग्रस्त है और इस सम्बन्ध में अधिकांश दो ही मत हैं। समय के अनुसार उभय पक्ष में से कभी एक और कभी दूसरा पक्ष मनुष्य समाज पर छाया हुआ दिखाई पड़ता है। इन दो मतों के अन्तर्गत एक वर्ग की धारणा है कि समय और युग का निर्माण मानव द्वारा होता है तथा मानव स्वयं उसी प्रकार का अभिनय करने लगता है तब द्वितीय वर्ग ऐसा मानता है कि समय प्रकृत्यान्तर्गत है और वह आप ही आप परिवर्तन होता रहता है उसी के अनुसार मनुष्य की मनोवृतियां बनती रहती हैं।

परन्तु क्या मानव आज का है ? नहीं ! मानव तो अनादिकाल से है। यद्यपि शरीरों का निर्माण तत्वों के आधार पर समय २ पर होता रहता है परन्तु पंचतन्मात्राओं के साथ जीव का न तो स्वरूप परिवर्तन होता है और न उसकी स्थिति में ही अन्तर आता है। इस दशा में हमारे उपरोक्त प्रश्न का सम्बन्ध जीव से नहीं रह गया वरन् भोक्ता शरीर से है। शरीर के साथ मन है जो इन्द्रियों का सहचर है बस वही चाहे संसार के साथ २ जिस प्रकार भी अपनी चाल बनाले, इसमें वह पूर्ण स्वतन्त्र है।

हम उपरोक्त प्रश्न के उत्तर मत से सहमत हैं और वह इस लिये कि मनुष्य के किये कुछ होता नहीं। हम ही नहीं वरन् भक्ति पक्ष का ईश्वरवादी वर्ग प्रायः हमारे मत से सहमत होगा ही नहीं वरन है भी। इस मत के मतावलम्बी तो यही विश्वास रखते हैं कि—

'जेहि जब रघुवर करहिं तब,सो तस तेहिछण होइ'

अथवा

'नट मर्कट इव सबहिं नचावत'

या

'सबहिं नचावत राम गुसाईं,

तब इससे तो स्पष्ट हो गया कि कर्ताधर्ता सब कुछ वही जगन्नियन्ता है। फिर भी मानव मात्र तो इस सिद्धान्त को परोक्ष में स्वीकार करने को उद्यत नहीं। ऐसी स्थिति में हम वहां पहुंचते हैं कि

'तुझे पराई क्या पड़ी, तू अपनी ही निरबार'

यद्यपि इस विचार के साथ 'सर्व भूत हिते रताः' का सिद्धांत एक ओर पड़ जाता है और केवल मनुष्य अपने शरीर ही नहीं वरन् आत्मा में ही सीमित होकर रह जायगा। विधि-निर्मित इस संसार का क्रम किस प्रकार संचालित होगा ? इसे चलाने के लिये मनुष्य को किसी धर्म, जाति, देश अथवा समाज या वर्ग के साथ रह कर चलना पड़ेगा। उसके रीति रिवाज और प्रचलन आदि में सुधारों का उत्तरदायित्व मनुष्य पर पड़े बिना नहीं रहेगा। ऐसी दशा में मनुष्य को मानवोचित धर्म और अधिकारों का प्रयोग करने पर बाध्य होना पड़ता है और वह उन संचालित प्रक्रियाओं को तब अपने ऊपर आरोपित करता है या अपने द्वारा संचालन होने का अहंकार रखकर भ्रम वश कर्तापन का मिथ्या स्वामित्व निश्चित कर बैठता है। यह स्वामित्व भावना ही पतन का श्रीगणेश है।

जैसा ऊपर लिखाजा चुका है कि मनुष्य को किसी धर्म, जाति, देश अथवा समाज के साथ रहना पड़ता है। तब हमें यह विचार करना भी आवश्यक होता है कि उस धर्म, जाति, देश और समाज के नियमों के भीतर रहना चाहिये या उच्छृंखलता का आश्रय लेकर अनर्गल सिद्धान्त या मत निर्धारित कर उसके प्रचार द्वारा समाज को विशृंखल कर देना चाहिये ? इसका उत्तर तो प्रत्येक बुद्धि संयुक्त मस्तिष्क रखने वाला व्यक्ति यही देगा कि समाज को विशृखलित करने वाला कोई भी व्यक्ति पनप नहीं सकता। समाज में भ्रष्टाचार फैलने से जाति ही नहीं वरन् समस्त राष्ट्र प्रायः नष्ट होते देखे गये हैं, इतिहास इस बात का साक्षी है।

हमारे पावन देश के विभिन्न कालों के इतिहासों से यह दिखाई पड़ता है कि जब २ वैदिक सिद्धान्तों का विरोध किया गया तब २ ही मनुष्य पर एक महाविपत्ति की काली घटा बरस पड़ी और समस्त विरोधी शक्ति छिन्न भिन्न हो अस्त-व्यस्त हो गई। हमारा देश जहाँ अद्भुत और अनुपम है वहाँ दैव द्वारा निर्धारित नियम और धर्म भी अनुपम और दिव्य हैं। हम पूर्व में हैं जहाँ ज्ञान रूपी सूर्य का उदय ही रहता है अस्त कभी नहीं होता। परन्तु उदयाचल का प्राणी अस्ताचल अर्थात् पश्चिम जहाँ प्रायः नित्य ही ज्ञान सूर्य अस्त होता है उस ओर देखे और अपनी स्थिति को विस्मृत कर दे तो उस पर भूला भटका तथा भ्रमित राही तो हँसेगा ही। क्या हँसेगा तो वह नित्य दृष्टा परमात्मा, जिसने सदैव प्रकाश पुञ्ज के उदय में ही उसे बिठा रखा है। अस्ताचल पहुँचे हुए सूर्य का दर्शन भी, वैदिक सिद्धान्त तक से वर्जित है जब कि उदयाचल से प्रकट होने वाले सूर्य का नित्य दर्शन, कल्याणप्रद और ज्योतिप्रदाता माना गया है तब हम किसे क्या कहें ?

विचार की बात तो यह है जिस पर खेद भी होता है कि पश्चिम वासियों ने पूर्व से प्रकाश लिया और उसके आश्रय से उन्नति के शिखर की ओर चले यद्यपि वह भौतिक ही है, जिसका मूल्य हमारे ऋषि प्रणीत सिद्धान्तों से न कुछ बराबर है। परन्तु हमने अपनी स्थिति को त्यागा, स्थान भ्रष्ट हुए, सिद्धान्तों को ठुकराया, इतिहासों से दृष्टि फेर ली, वेदों को कल्पना मात्र मान लिया, मिथ्याभिमान का अनुसरण किया, दर्शनों को दबा दिया और अन्त में केवल अंधकार उत्पन्न करने वाले पश्चिम पर दृष्टि ही न डाली वरन् गम्भीरता से ध्यान भी दिया। परिणाम यह निकला कि दृष्टि ही मारी गई और आज हम यह भी देखने योग्य न रह गये कि 'हम कहाँ हैं !' श्री हरिः

-:❀ भजन ❀:-

[लेखक—श्री लाला किशोरीलालजी मेहरा]

गोविन्द के गुण गाओ प्राणी।
माया मोह का फन्दा पड़ा है, तू उसमें क्यों भर माया। प्राणी···
धन औ दौलत माल खजाना, अन्त समय संग न जाये। प्राणी···
मतलब के हैं संगी साथी, मतलब की अपनी नार। प्राणी···
कहे किशोरी इस दुनिया में आकर, तूने राम नाम की सार न जानी। प्राणी···

रति, प्रेम और राग

[लेखकः—श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दार, सम्पादक "कल्याण"]

भगवान् श्रीकृष्ण आनन्दमय हैं। उनकी प्रत्येक लीला आनन्दमयी है। उनकी मधुर लीला को आनन्द-शृङ्गार भी कह सकते हैं। परन्तु इतना स्मरण रखना चाहिये कि उनका यह आनन्द-शृङ्गार मायिक जगत् की कामक्रीड़ा कदापि नहीं है। भगवान् की ह्लादिनी शक्ति श्रीराधिकाजी तथा उनकी स्वरूपभूता गोपियों के साथ साक्षात् भगवान श्रीकृष्ण की परस्पर मिलन की जो मधुर आकांक्षा है, उसी का नाम आप आनन्द शृंगार रख सकते हैं। यह काम गन्धरहित विशुद्ध प्रेम ही है। श्रीकृष्ण की लीला में जिस 'काम' का नाम आया है वह 'अप्राकृत काम' है। 'साक्षान्मन्मथमन्मथः' भगवान् के सामने प्राकृत काम तो आ ही नहीं सकता!

वैष्णव भक्तों ने रति के तीन प्रकार बतलाये हैं—'समर्था', 'समञ्जसा' और साधारणी'। 'समर्था' रति उसे कहते हैं, जिसमें श्रीकृष्ण के सुख की ही एकमात्र स्पृहा और चेष्टा रहती है। यह अप्राकृत है और व्रजधाम में श्रीमती वृषभानुनन्दिनी श्री राधिकाजी में ही इसका पूर्ण विकास माना जाता है। 'समञ्जसा' रति उसे कहते हैं, जिसमें श्रीकृष्ण के और अपने—दोनों के सुख की स्पृहा रहती है, और 'साधारणी' रति उसका नाम है जिसमें केवल अपने ही सुख की आकांक्षा रहती है। इन तीनों में 'समर्था' रति सबसे श्रेष्ठ है। इसका प्रसार महाभाव तक है। यही वास्तविक 'रस-साधना' है।

प्रेम के भी तीन भाव बतलाये गये हैं मधुवत्', 'घृतवद' और 'लाक्षावत्'। 'मधु' भाव का प्रेम वह है जो मधुकी भाँति स्वाभाविक ही मधुर है। जिसमें स्नेह, आदर, सम्मान, सेवा आदि अन्य किसी भाव का न तो जरा सा मिश्रण ही है और न आवश्यकता ही है। जो नित्य-निरन्तर अपने ही अनन्य भाव में आप ही प्रवाहित है। यह प्रेम होता है केवल प्रेम के ही लिये। इसमें प्रेमास्पद का सुख ही अपना परम सुख होता है। अपना कोई भिन्न सुख रहता ही नहीं। इस प्रेम में प्रेमास्पद का स्वार्थ ही अपना एक मात्र स्वार्थ होता है। पूर्ण आत्म समर्पण ही इसका रहस्य है, और नित्य वर्द्धनशीलता ही इसका स्वभाव है। यह वस्तुतः अनिर्वचनीय भाव है।

'घृतभाव' का प्रेम वह है जिसमें पूर्ण स्वाद और माधुर्य उत्पन्न करने के लिये घृत में नमक, चीनी आदि की भाँति अन्य रसों के मिश्रण की आवश्यकता होती है। साथ ही, घृत जैसे सर्दी पाकर कड़ा हो जाता है और गरमी पाकर पिघल जाता है, वैसे ही, विविध भावों के सम्मिश्रण से इस प्रेम के भी रंग बदलते रहते हैं। यह प्रेमास्पद के द्वारा आदर—सम्मान पाकर बढ़ता है और उपेक्षा घृणा पाकर मर-सा जाता है। इसमें प्रेमी अपने प्रेमास्पद को सुखी तो बनाना चाहता है, परन्तु स्वयं भी उसके द्वारा विविध भावों में सुख की आकांक्षा रखता है। यदि प्रेमास्पद से आदर-सम्मान नहीं मिलता तो यह प्रेम घट जाता है। इस प्रेम में स्वार्थ का सर्वथा अभाव नहीं है। न इसमें पूर्ण समर्पण ही है।

'लाक्षाभाव' का प्रेम वह है, जो चपड़े के समान स्वाभाविक ही रस हीन और कठोर होने पर भी जैसे

चपड़ा अग्नि का स्पर्श पाकर पिघल जाता है वैसे ही प्रेमास्पद को देखकर उदय होता है। प्रेमास्पद के द्वारा भोग—सुख प्राप्त करना ही इसका लक्ष्य होता है।

वृषभानुनन्दिनी श्री राधिकाजी के प्रेम को 'मधुवत्', चन्द्रावलीजी आदि के प्रेम को 'घृतवत्' और कुब्जा आदि के प्रेम को 'लाक्षावत्' कह सकते हैं।

इसी प्रकार राग के भी तीन प्रकार माने गये हैं—'मञ्जिष्ठा' 'कुसुमिका' और 'शिरीषा'।

'मञ्जिष्ठा' नामक लाल रंग की चमकीली बेल जैसे धोने पर या अन्य किसी प्रकार से नष्ट नहीं होती और अपनी चमक के लिये किसी दूसरे वर्ण की भी अपेक्षा नहीं रखती, इसी प्रकार 'मञ्जिष्ठा' नामक राग भी निरंतर स्वभाव से ही चमकता और बढ़ता रहता है। यह राग श्रीराधा-माधव के अन्दर नित्य प्रतिष्ठित है। यह राग किसी भी भाव के द्वारा विकार को प्राप्त नहीं होता। प्रेमोत्पादन के लिये इसमें किसी दूसरे हेतु की आवश्यकता नहीं होती। यह अपने आप ही उदय होता है और बिना किसी हेतु के आप ही निरन्तर बढ़ता रहता है।

'कुसुमिका' राग उसे कहते हैं जो कुसुम्बे के फूल के रंग की तरह हृदय क्षेत्र को रंग देता है और मञ्जिष्ठा और शिरीषादि दूसरे रागों को अभिव्यञ्जित करके सुशोभित होता है। कुसुम्बे के फूल का रंग स्वयं पक्का नहीं होता परन्तु किसी दूसरी कषाय वस्तु को साथ मिला देने पर वह पक्का और चमकदार हो जाता है। वैसे ही यह राग भी श्रीकृष्ण के मधुर मोहन सौन्दर्यादि कषाय के द्वारा पक्का और चमकदार हो जाता है।

'शिरीषा' राग अल्पकाल स्थायी होता है। जैसे नये खिले हुए शिरीष के पुष्प में पीली-सी आभा दिखायी देती है, परन्तु कुछ ही समय में वह नष्ट हो जाती है, वैसे ही यह राग भी भोग सुख के समय उत्पन्न होता है और वियोग में मुरझा जाता है। इससे इसका नाम 'शिरीषा' है।

जिनका जीवन श्रीकृष्ण-सुख के लिये है—उनकी रति 'समर्था' प्रेम 'मधुवत्' और राग 'मञ्जिष्ठा' होता है। जिनका दोनों के सुख के लिये है—उनकी रति 'समञ्जसा', प्रेम 'घृतवत्' और राग 'कुसुम्भी' होता है, और जिनका प्रेम केवल निजेन्द्रियतृप्ति के लिये ही होता है—उनकी रति 'साधारणी', प्रेम लाक्षावत् और राग 'शिरीषा' होता है। इनमें पहले भाव उत्तम, दूसरे मध्यम और तीसरे अधम हैं।

प्रेम मार्ग के साधक भक्तों को यह आदर्श भली भाँति हृदयङ्गम करके अपने-अपने साध्य का चुनाव करना चाहिये और उत्तरोत्तर आगे बढ़ने की कोशिश करनी चाहिये।

दृढ़-विश्वास

द्रौपदी लाज को राखन हार,
हैं मेरी भी लाज को राखन हारा।
बहु पाप अजामील टारन-हार
हैं मेरे भी पातक टारन हारा॥
झट शंकर-सायक तोड़न हार,
हैं मेरा भव-बन्धन तोड़ने हारा।
"सुमनाकर" मोद मनाले सदा,
जब शीश पै है यशोदा का दुलारा॥

श्री भगवान् की कृपा

[श्री लाटू महाराज का उपदेश]

ईश्वर की कृपा पाने का उपाय केवल एक है-और वह है—आंखों का जल, अर्थात् कातर भाव से अश्रु विसर्जन करना। भगवान् के पास से रो रो कर भिक्षा मांगनी होगी। उनकी दया जब होती है, तब वे समझ लेते हैं कि हां, यह मुझे ठीक २ प्यार करता है और मुझे चाहता है—काम-कांचन में इसका मन नहीं है। सच यह है कि इधर तो विषय खींचता रहे और उधर केवल मुँह से 'कृपा करो-कृपा करो' कहता रहे, इससे भला क्या लाभ होगा? इससे तो भगवान् का आसन डोलेगा नहीं। वास्तव में, जिस दिन वह कपट-व्यवहार चला जावेगा और सरल प्राणों से रोते रोते उनकी दया पाने के लिए अपना दुःख बता सकोगे, उसी दिन उनकी कृपा प्राप्त कर लोगे। क्योंकि भगवान् सरल और सत्यवादियोंके निकट ही प्रकाशित हुआ करते हैं।

प्रभु की कृपा किसके ऊपर होती है? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि उनकी कृपा पाने के लिए जो लालायित होता है, या जिसका अन्तर उसके लिए छट-पटाता है, उसी के ऊपर उनकी कृपा होती है। वे जीवों के मंगल हेतु सर्वदा-विचार करते रहते हैं। किन्तु विषयासक्त जीवों के प्राण क्या उनकी कृपा पाने के लिए लालायित होते हैं? प्रार्थना करो कि—"हे दीनबन्धु दयासागर! आपकी कृपा के बिना मेरे प्राण्ण कभी नहीं बच सकेंगे।" और इसी प्रार्थना के साथ कातर भाव से उनकी चरण शरण लेकर उनकी ओर बढ़ोगे उसी दिन समझ सकोगे कि प्रभु कितने कृपामय हैं, कितनी अहेतुकी कृपा के सागर हैं और कृपा करने के लिए व्यस्त होकर जीवों की ओर कितने बढ़े हुए हैं।

(देर केवल तुम्हारी है।) *

अनुवादक—श्री कृष्णगोपाल माथुर, उज्जैन।

*स्वामी सिद्धानन्द के बँगला लेख से।

-: भजन :-

मत कर तू अभिमान झूठी तेरी शान।
तेरे जैसे लाखों आये,
लाखों इस मिट्टी ने खाये। रहा न नाम निशान ॥ मत कर तू० ॥
झूठी काया झूठी माया,
वोही तरा जिसने हरी गुन गाया। भजले कृष्ण भगवान ॥ मत कर तू० ॥
इस माया का अन्धकार निराला,
ऊपर उजला भीतर काला। मूर्ख इसको जान ॥ मत कर तू० ॥
तेरे पल्ले हीरे मोती, तेरे मन मन्दिर में ज्योति। कौन हुआ भगवान ॥ मत कर तू० ॥

"इच्छा"

(लेखकः-श्री गिरीशचन्द्रजी अवस्थी)

संसार के सभी प्राणी इच्छा की पूर्ति में सुखी होते हैं और इच्छा विघात में दुःखी होते हैं। परन्तु इच्छायें इतनी हैं कि कभी कम नहीं होती हैं। एक के बाद दूसरी आजाती हैं। जीवन पर्यन्त उनके पूरे करने में सभी का प्रयत्न रहता है कुछ पूरी होती हैं, कुछ रह जाती हैं। अच्छा तो यह है कि उन्हें छोड़ दे। परन्तु यह बात असम्भव नहीं तो, अत्यन्त कठिन अवश्य है। जब इच्छा पूरी करने में ही जीवन बिताना है, तो उसके पूरे करने के साधन जुटाना ही बुद्धिमानी है। मनुष्य मात्र साधन जुटाने में उठा नहीं रखता, परन्तु वे साधन कमजोर और अनित्य हैं। यदि उनको पकड़ कर एक साधन और पकड़ ले तो इच्छा पूर्ति जिसके हाथ में है उसका सहारा बहुत कुछ उसको सहायता दे सकता है। वह सहारा ईश्वर की शरणागति है। यदि ईश्वर में चित्त लगा कर उससे मांगे तो बड़ी बड़ी इच्छायें सरलता से पूरी हो सकती हैं। ईश्वर की उपासना के लिये धन की आवश्यकता नहीं। जहाँ समय पाया नाम का स्मरण करने लगे। खर्च कुछ न लगेगा और कार्य बढ़िया होगा। अब प्रश्न समय पाने का है। कुछ लोग इतने कार्य में व्यग्र रहते हैं कि उनको क्षण भर भी अवकाश नहीं मिलता। परन्तु यह बात ठीक नहीं, यदि वे लोग समयाभाव से नाम स्मरण नहीं कर सकते, तो समय हम उनको बताते हैं। जिस समय वे लोग रात्रि में सोने के लिये जाते हैं शय्या पर लेटे कोई काम सोने तक नहीं करते उनको चाहिए कि निद्रा के आने तक नाम का स्मरण करें। वह समय तो उनका व्यर्थ ही जाता है। उसको काम में लें। जब मार्ग में जाते हैं, उस समय भी नाम स्मरण कर सकते हैं। यदि दिन रात्रि में पाँच बार भी नाम स्मरण कर लेंगे तो महिने में १५० बार और साल में १८०० बार हो जायेगा। भगवान् का नाम उच्चारण करते ही और कान में पड़ते ही पाप के समूह के समूह नष्ट हो जाते हैं। १८०० बार नाम स्मरण जितना पाप नष्ट करेगा उतनी सद्बुद्धि उत्पन्न होगी और नाम लेने की ओर चित्त आकर्षित होगा और इच्छा पूर्ति भी होगी। एक दिन यह होगा कि घंटों भगवद् भजन के लिये समय मिलेगा और संसार में इच्छा पूर्ति पाकर अन्त में मोक्ष सुख का भागी होगा।

-: सूचना :-

वृन्दावन के किसी मंदिर व स्थानों से भजनाश्रम" का कोई सम्बंध नहीं है। भजनाश्रम के लिये अन्य स्थान पर सहायता नहीं देनी चाहिये सीधी बीमा या मनीआर्डर द्वारा मंत्री श्री भगवान-भजनाश्रम, पोस्ट वृन्दावन को ही भेजियेगा। प्रत्येक दान की रसीद श्रीभगवान-भजनाश्रम के नाम की छपी हुई दाता महानुभाव की सेवा में भेजी जाती है।

'भक्त शिरोमणि श्री सूरदास'

[ले० श्री उदयकरणजी सुमन, प्रभाकर]

सौन्दर्य तथा माधुर्य की अलौकिक धारा प्रवाहित करने वाले, भारतीय जनता के हृदय में, उत्कट भगवत प्रेम की निर्झरणी बहा देने वाले, भक्तराज सूर के अनुपम अभिव्यक्ति वाले, पद आज भी देश की शिक्षित, अशिक्षित जनता को, ईश्वर प्रेम का सन्देश दे रहे हैं। सूर के पदों में वह जीवन का शाश्वत सन्देश गूंज रहा है जो भारतीय जनता को, हमेशा संकट काल में किसी न किसी महापुरुष के द्वारा मिलता रहा है।

महात्मा सूर भक्त शिरोमणि तो थे ही, साथ ही साथ वे सर्व श्रेष्ठ महाकवि एवं सुमधुर गायक भी थे। जैसी तन्मयता, सरसता, निश्चल सात्विक भक्ति सूर में पाई जाती है, वैसी तुलसी को छोड़, और किसी सन्त कवि में नहीं मिलती। इसीलिए तो सूर हिन्दी साहित्याकाश के चन्द्र माने गये हैं। हिमांशु अपनी सरस चन्द्रिका संस्कृति को प्रदान कर उसके ताप को हरता है। वही सरस रजत चन्द्रिका की मादक शक्ति सूर के प्रत्येक पद में है। वह कौन नीरस हृदय होगा जो सूर के पद को पढ़ कर या सुनकर आत्म विभोर न हो उठेगा, प्रेम विह्वल न हो उठेगा।

महात्मा सूर महा प्रभु श्री वल्लभाचार्यजी महाराज के शिष्य, तथा कृष्ण भक्ति शाखा के प्रतिनिधि अत्यधिक श्रेष्ठ अद्वितीय महाकवि थे। सूर का जन्म संवत् १५४० में रुणकता ग्राम में हुआ था। कोई २ जन्म स्थान सिहीं को भी मानते हैं। गोलोक वास सं० १६२० में पारसोली में माना गया है।

ये अन्धे थे। कुछ लोग इन्हें जन्मान्ध मानते हैं। कुछ लोगों का मत इससे भिन्न है। लेकिन इनके साहित्य को पढ़ने से विदित होता है कि ये जन्मान्ध न थे। साहित्य में स्थान २ पर ऐसे पद अंकित हैं जो यह सूचित करते हैं कि जन्मान्ध इन्हें व्यक्त नहीं कर सकते। अन्धे होने का कारण चाहे कुछ भी रहा हो परन्तु जन श्रुति के आधार पर, यह निर्विवाद रुप से कहा जा सकता है कि चिन्ता नामक वैश्या के प्रेम से क्षुब्ध होकर इन्होंने अपनी आंखें फोड़ली थी।

ये मथुरा तथा आगरा के मध्य गऊघाट पर रहा करते थे। और "मैं पतितन को टीको जैसे पद निर्मित कर गाया करते थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने इनके पदों को सुना तो वे अत्याधिक प्रसन्न हुए। और तभी से श्रीनाथजी के मंदिर में लाकर हरिकीर्तन का मुखिया बना दिया। कृष्ण प्रेम में विभोर होकर जब ये अपनी स्वर लहरी छेड़ते, तो जनता मन्त्र मुग्धसी, ठगी सी, साक्षात पतित उधारण श्रीकृष्ण का साक्षात्कार सा अनुभव करती थीं!

अष्टछाप के आठों कवियों में इनका स्थान सबसे ऊँचा तथा प्रमुख था! इनकी लिखी हुई, कई पुस्तकें हैं। परन्तु सूरसागर अकेला ही, इन्हें उस सर्वश्रेष्ठ स्थान पर बैठा देने में समर्थ है—जो दूसरे भक्त कवियों को उपलब्ध नहीं हो सका!

सूर-सागर श्रीमद्‌भागवत् का स्वतन्त्र हिन्दी भाषानुवाद है! दसम स्कन्ध में, बाललीला, रुपमाधुरी, प्रणय, विनय, विरह श्रृंगार तथा भ्रमरगीत का वह विस्तृत श्रोत बहा है जो आज भी साहित्य में अन्यत्र उपलब्ध नहीं। बाल कृष्ण का वह स्वाभाविक आस्रत विहीन, सरस सुन्दर चित्र, रुपमाधुरी की वह अनुपम छटा, कृष्ण प्रेम में

उन्मत गोपिकाओं की वह प्रेमरत करुण दशा का मौलिक वर्णन सूर सरीखे, महापुरुष की वाणी से प्रस्फुटित होकर निखर उठा है! वत्सल प्रेम में तो लेखनी का जादू सिर चढ़कर बोला है।

(२)

कृष्ण मथुरा चले गये हैं। पुत्र प्रेम में उन्मत्त यशोदा का हृदय विदीर्ण हो उठा है! ना मालूम कृष्ण को कोई समुचित ढंग से खिलाता भी होगा! इसीलिये तो वह देवकी तक सन्देश पहुंचाने में व्यग्र है! अन्त में पथिक को ही कहती है कि वह मेरा सन्देश देवकी तक पहुंचा दे!

सन्देसो देवकी सों कहिये।

हौं तो धाय, तिहारे सुत की, मया करत ही रहियो।
जदपि टेव तुम जानत उनकी, तऊ मोहि कहि आवे।
प्रातहि उठत तिहारे कान्हा, को माखन रोटी भावे।

कितना कठोर सत्य अंकित किया गया है। मातृ हृदय का!

संसार के रचियता, विश्व के पालक, अपने साथियों के साथ खेलते हैं। बलराम खेल ही खेल में कुछ कह देता है। तभी बालकृष्ण दौड़े हुए, माता के पास शिकायत करने आते हैं। कहते हैं—

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो।
मोंसो कहत मोल को लीनों, तोहि जसुमति कब जायो।
गोरे नन्द जसोदा गोरी, तुम कत श्याम शरीर।
चुटकी दै दै हंसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर।

कैसे अद्भुत हैं श्रीकृष्ण! माता का हृदय एकाएक प्रसन्नता से विभोर हो उठता है। परन्तु उन्हें भी तो कुछ कह कर राजी करना है। इसलिये तो माता बलराम को बुरा बता कर सत्य को छिपा लेती हैं।

यही क्यों? नित्य दूध पीते हैं। परन्तु चोटी नहीं बढ़ती। इसलिये तो माता को कहते हैं

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पिवत भई यह अजहुँ है छोटी
काचो दूध पियावत पचि पचि, देतना माखन रोटी

कितना स्वभाविक वर्णन है बालक हृदय का।

अभी कृष्ण छोटे हैं। गाय चराने के योग्य नहीं परन्तु वे तो गाय चराने अवश्य ही जायेंगे। जैसे कोई प्रण ही कर लिया हो। तभी तो जिद करके कहते हैं "आज मैं गाय चरावन जैहों!" गाय चराकर घर आते हैं। तो पता लगता है कि गाय चराना तो आसान तो फिर रुठ कर कहते हैं "मैया मैं न चरैहों गाई"

गोपियां उपालम्भ लेकर आती हैं। परन्तु भोले कृष्ण कितने चातुर्य से माता को सफाई देकर कहते हैं—

"मैयो मोरी मैं नहिं माखन खायो!"

क्यों कि मैं तो सुबह से ही मधुबन में गाय चरा रहा था। फिर दूसरी बात यह:-

मैं बालक बहियन को छोटों छिंको किहि विध पायों

विरहिणों की मनोवृतियों का भी एक सुन्दर चित्रात्मक मार्मिक चित्र देखिये। उद्धव निर्गुण का सन्देश देते हैं परन्तु गोपिकायें तो केवल इतना कहती हैं।

'उर में माखन चोर गढ़े' उद्धव तिस पर सन्देश का क्रम तोड़ते नहीं तो गोपिया कहती है।

उदो मन नाहीं दस बीस।
एक उतो सो गयो श्याम संग को आराधे ईश।

उद्धव का ज्ञान गर्व फिर भी नहीं बहता। तो प्रश्न पूछते हुए गोपियाँ कहती हैं। निरगुन कौन देश को वासी?

अन्त में उद्धव भी सगुन ब्रह्म की भक्ति का पाठ पढ़कर आये।

इस प्रकार सूर के पदों में हृदय में गढ़ जाने वाली अनुपम शक्ति के दर्शन होते हैं। ब्रज भाषा का माधुर्य कमल सूर की वाणी से और भी अधिक खिल उठा है।

कब ऐहैं

[रचियता—आचार्य्य श्री सत्यनारायणसिंहजी वर्मा]

हरि हो ! ऐसो दिन कब ऐहैं।
राम-नाम को छाड़ि पतित मन, मेरो अन्त न जैहैं॥
उलझन झंझट सकल नसै हैं, चिन्ता चिता बुझैहैं।
ह्वै निर्द्वन्द चित्त केन्द्रित ह्वै, राम नाम गुन गैहैं॥
मधु-मिश्री से अधिक मधुरता, राम-नाम में पैहैं।
पल-पल पी-पी राम-नाम रस कबहूं नहीं अघैहैं॥
ज्यों बालक माँ ललकि पुकारै, त्यों कहि राम बुलैहैं।
उछलि गोद में लिपटि गलेसों, मोद अलौकिक पैहैं॥
नयन-नीर बानी-गद्गद अरु, तन पुलकावलि छैहैं।
नाम लेत नामहि रहि जैहैं, सारा जगत हेरैहैं॥
सुत-वनिता-धन-धाम-बड़ाई, इन मंह नाहिं भुलैहैं।
राम-नाम के आगे सहजहि, सब फीके ह्वै जैहैं॥
दीन दयालो ! या जीवन में, दिन वैसो क्या ऐहैं।
नाम सुधा-सागर में वर्म्मा, मन गागर ह्वै जैहैं॥

अन्त में मैं इतना और कह दूं। सूर एक ऐसा देदिप्यमान नक्षत्र है। जिससे भक्तजन युग युगों तक उनके पदों को अपने कलकन्ठों से दोहरा कर भक्ति की अविरल धारा प्रवाहित करते हुए सारे विश्व को प्रकाशित करते रहेंगे।

किसी ने कहा है:—

किन्धौ सूर को सर लग्यों, किन्धौ सूर को तीर !!
किन्धौ सूर को पद लग्यो, बेधत सकल शरीर !!

यहाँ एक पद देना असामयिक न होगा !

अब हौं नाच्यो बहुत गोपाल !

काम क्रोध को पहन चोलना, कंठ विषय की माल !
महामोह के नुपूर बाजत, निन्दा शब्द रसाल !
भरम भरो मन भयो पखावज, चलत कुसंगति चाल !
तृसनानाद करति घट भीतर, नाना विध दै ताल !
माया को कटि फैंटा बाँध्यो, लोभ तिलक दियो भाल !
कोटिक कला काछि दिखराई, जल थल सुधि नहीं काल !
'सूरदास' की सबै अविद्या, दूर करहु नन्दलाल !

ईश्वर भक्ति परम धर्म है

(ले० श्री रामदास शास्त्री साहित्यरत्न संपादक—भक्त भारत)

प्रत्येक शरीर धारी प्राणी को एक अवलम्बन की आवश्यकता है, जिसको हम निरालम्ब, निराश्रय, असहाय आदि शब्दों से सम्बोधित करते हैं उसका भी एक अलक्षित आश्रय, अवलम्बन होता है। उसे हम उसका तद्गत धर्म भी कह सकते हैं, और यह प्रकृति-प्राङ्गण में क्रीड़ा करने वाले सभी जड़-चेतन में होता है। लौकिक धर्म जिनके द्वारा हम अपना और अपने से सम्बंधित वर्ग के साथ ऐसा सुख कर व्यवहार प्रकट कर लेते हैं, जिनसे हम और हमारे सम्बधी प्रसन्न रहते हैं, इसी प्रकार वही धर्म, किन्तु जब हम उसे विपरीत रूप में स्वीकार करते हैं, तो हमको हमारे अपनों को दुःखकर, कष्ट प्रद हो जाता है।

यही बात अलौकिक आत्म-धर्म की है। आत्मा को सुख और शान्ति पहुंचाने वाला आत्म धर्म है, उसके विपरीत सभी अनात्म धर्म हैं। इसके अतिरिक्त एक परम धर्म भी है, साधारण की अपेक्षा विशेष धर्म की शक्ति बलवती होती है। पशुरक्षा एक धर्म है, किन्तु गौ की रक्षा परम (विशेष) धर्म है, दान एक धर्म है किन्तु सत्पात्र और अधिकारी को देना विशेष (परम) धर्म है। परम धर्म का आचरण करना परम कर्तव्य है। शरीर रक्षा के लिये, भोजन, वस्त्र, मकान की आवश्यकता एक धर्म है, किन्तु अन्तःपुर वासी आत्मा की रक्षा के लिये, उसे अधोगति में न गिरने देने के लिये, उसके मार्ग भ्रष्ट न होने देने के लिये एक परम धर्म की आवश्यकता है और वह परम धर्म है—अधोक्षज भगवान के श्री चरणों में अहैतुकी (निष्काम) अप्रतिहता (विघ्नरहित) भक्ति का होना। श्रीमद्भागवत में इसी को स्पष्ट किया गया है:—

> सवै पुंसां परो धर्मो यतो भक्ति रधोक्षजे।
> अहैतुकाय प्रतिहता ययात्मा संप्रसीदति॥

आध्यात्मिक विवेचन पर यह निर्णीत होता है कि जिसको हम पुरुष कहते हैं, उसका परम धर्म (स्वभावगत प्रक्रिया) ईश्वर भक्ति ही है। इस परम धर्म स्वरूपा भगवद् भक्ति का अवलम्बन लेकर ही यह जीव इस तमस्साच्छादन घोर संसार-सागर के पार जा सकता है और सुख-शान्ति का उपभोग कर सकता है।

इस जगत का जाल तो वास्तव में मछुहा (वंशी) का जाल है, जिसके मुख पर शहद-कण लगा है और फिर तो जहर का घूंट है ही। पाप (कष्ट) सागर में गोते लगाते रहने पर भी उस मधु-कण के सहारे यह उसमें अमृत की खोज करता है—जो नितान्त भ्रम पूर्ण है, पाप के पहाड़ पर अमृत-संजीवन कहाँ? और भक्ति धर्म तो पाप-पहाड़ को फोड़ कर उसे जला कर, खाक बनाकर उस पर अमृत की वृष्टि करता है, जिससे यह आत्मा अजर, अमर हो जाता है:—

> यथाग्नि सुसमिद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
> पापानि भगवद्भक्तिस्तथा दहति तत्क्षणात्॥

बढ़ी हुई अग्नि जैसे इन्धन समूह को भस्मसात् करने में दूसरे की अपेक्षा नहीं रखती ठीक इसी प्रकार भगवद्भक्ति धर्म पाप-पहाड़ भस्म करने में दूसरे साधनों की अपेक्षा नहीं रखता। और दूसरे साधन तप आदि जो बहुत ही कष्ट साध्य हैं, वे अघवान पुरुष के पाप को अच्छी प्रकार धो नहीं सकते—जैसा कि श्रीकृष्ण में अर्पित प्राण वाला भक्त उनकी चरण सेवा के द्वारा, उनके सेवन

द्वारा अपने हृदय गत समस्त पाप क्लेशों को नष्ट कर अपने क्षेत्र को परम सौरभमय आनन्द पूर्ण कर लेता है।

भगवान् की प्रसन्नता भी भक्ति से ही होती है, भक्ति से भगवान् का हृदय सन्तुष्ट होता है। भगवदानंद को निरतिशयानन्द कहा गया है, वेदान्त सूत्र की—"आनन्दमयोऽभ्यासात्" कह कर उसके अपार आनन्द की सूचना करता है। फिर भगवान जब स्वयं आनन्द स्वरूप है तब वे भक्ति पर मोहित क्यों होते है? भक्ति करने वाले भक्त पर वे क्या अपने को निछावर कर देते हैं, यही नहीं, दुर्वासा से भगवान ने स्वयं कह दिया कि—"अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभि" मैं भक्तों के पीछे-पीछे इसलिये घूमता हूं कि उनकी चरण रज उड़कर मेरे ऊपर प' और मैं पवित्र हो जाऊँ?"—इससे जाना जाता है कि भक्ति में एक ऐसा विलक्षण रस है—जिसके लिये भगवान भी लालायित होते हैं। उस भक्ति को धारण करने से ही यह आत्मा भी परम पवित्र और भगवान की प्रिय योग्य वस्तु बन जाती है। तब भगवान अपने प्रिय को छोड़ कैसे सकते हैं?

यहाँ भक्ति का स्वरूप भी जान लेना आवश्यक है भक्ति, भगवान के स्वरूप में नित्य सदा सर्वदा रहने वाली अन्तरङ्गा आह्लादिनी शक्ति का ह्लादिन्यंश प्रधान वृत्तिरूप ही है। उस अपने ही आँह्लादकत्व को अपने प्रिय सहचर (जीवात्मा) के हृदय में डालकर, भक्त के हृदय का पुट चढ़ा कर स्वयं उस आनन्द का अनुभव करने लगते हैं जिसमें, आत्मा-परमात्मा, जीव-ईश्वर, स्वामी-सेवक, प्रेमी-प्रिय दोनों ही तन्मयता को प्राप्त हो जाते हैं, यही वह भक्ति है—जिसके द्वारा भगवान पकड़े जाते हैं, और भक्त को भी अनुपम सुख का आनन्द प्रदान करते हैं। इस आनन्द को प्राप्त करना ही जीव का परम धर्म है।

मानव शरीर धारण करने वाले को अपनी मानवता पर ध्यान रखते हुए अपने कर्त्तव्य की ओर प्रतिक्षण बढ़ते चले जाना चाहिये। इसी में मानवता का साफल्य है। मनुष्य को अपनी उसकी हार्दिक भावना अपने कर्त्तव्य की ओर स्वाभाविक भी खींचती है, परम धर्म भी जो उसके हृदय का एक अलक्षित रूप है—उसे अपने पथ पर चलने को 'रित करता है। किन्तु अज्ञानो जीव अपने विधर्मी अभिमान को हृदय में आश्रय देने से ही लक्ष्य च्युत मार्ग भ्रष्ट हो जाता है—तब वह स्वधर्म को भूल कर संसारी धर्म का धारण करने वाला बन जाता है—जिसके कारण ही 'पतन्ति नरकेऽशुचौ" की दशा को प्राप्त होता है। अतः हमें सदा ही गीता के निम्न वाक्य का ध्यान रखना है:—"स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः"

अपने धर्म में मर कर ही कल्याण होगा। अतः अपने आत्मा के परम धर्म को पहचानो और उसे जान कर उसे प्राप्त करो—तब अनन्तानन्द के स्वरूप को प्राप्त हो सकोगे।

"नाम-माहात्म्य" भगवन्नाम प्रचार की दृष्टि से निकलता है इसका प्रचार जितना अधिक होगा उतना ही भगवन्नाम प्रचार में वृद्धि होगी अतः कृपा कर समस्त प्रेमी पाठक इसे अपनायें इसका मूल्य बहुत कम केवल २=) है। आज ही आप मनीआर्डर द्वारा रुपया भेजकर इसे मंगाना आरम्भ कर दीजिये और अपने इष्ट मित्रों को भी इसे मंगाने के लिये उत्साहित कीजिये। नमूना मुफ्त मंगावें।

पताः—व्यवस्थापक "नाम-माहात्म्य" श्री भजनाश्रम
मु० पोस्ट वृन्दावन (मथुरा)

मन को उपदेश

(लेखक—श्री अवधकिशोरदासजी, श्रीवैष्णव, 'प्रेमनिधि' जनकपुर धाम)

(१)

मन क्यों राम नाम नहिं गाता ?
दुनिया की बातों में शूरा, सुमिरण में अलसाता ॥ १ ॥
जिसको राम नाम का कीर्तन, सहज न मन में भाता।
वह मूरख तो जमराजा के घर, हाथ मसलता जाता ॥ २ ॥
राम नाम कीर्तन में जो नर, सच्ची लगन लगाता।
देवों से पूजित होकर वह, प्रभु के धाम सिधाता ॥ ३ ॥
देश-गांव घर के झगड़ों को, खोज खोज कर लाता।
वैसे ही सियवर के गुणगण, क्यों न मुदित मन गाता ॥ ४ ॥
भक्त जनों का संघ जहां पर, कीर्तन खूब मचाता।
वहां सदा श्रीराम कृपा से, 'प्रेमनिधी' लहराता ॥ ५ ॥

(२)

रे मन, राम नाम क्यों छोड़ा ?
झूठे दुनिया के लोगों से, झूठा नाता जोड़ा ॥ १ ॥
सुख पाने के लिये निरन्तर, दुखसागर में दौड़ा।
सुख का छींटा मिला न मूरख, लगा काल का कोड़ा ॥ २ ॥
सन्तों ने दिखलाया प्रभु के, घर का मारग चौड़ा।
राम भजन करके भक्तों ने, भव का बन्धन तोड़ा ॥ ३ ॥
प्रभु से लगन लगाकर जिसने, विषयों से मुँह मोड़ा।
उस बन्दे ने काल दूत का, सचमुच मत्था फोड़ा ॥ ४ ॥
मंदिर महल बनाये ऊंचे संग चला नहिं रोड़ा।
'प्रेमनिधी' कर सुमिरण अब तो, प्रभु का थोड़ा-थोड़ा ॥ ५ ॥

(३)

भक्त के कल्याण का भंडार हरि संकीर्तन, कलिमल तृणों के गंज में अंगार हरि संकीर्तन।
पावनों का भी परम पावन हरि संकीर्तन, सज्जनों का प्राण मन भावन हरि संकीर्तन ॥
कविजनों की वाणी का विश्राम हरि संकीर्तन, सर्वदा सबको महा सुखधाम हरि संकीर्तन।
कल्प पादप धर्म का शुभ बीज हरि संकीर्तन, 'प्रेमनिधि' के हृदय का ताबीज हरि संकीर्तन ॥

'तस्याहं सुलभः ।'

[लेखक पं० श्री राधिकादासजी महाराज]

अखिल कल्याणगुणैकराशि श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण क्षमा, दया आदि सर्व सद्गुणों से अलंकृत तो हैं ही, किन्तु उन गोपीमनोमुग्धकर वंशीधर का सौलभ्य गुण तो कलिमलदूषित अस्मदादि जीवों के लिये अमित कल्याणकर और अपना एक विशिष्ट स्थान रखने वाला है।

अपनी बुद्ध्यनुसार उसी अनुपम सौलभ्य गुणको यत्किञ्चित् चर्चा करके अपने को पवित्र करना है। श्रीगरुड़-पुराणमें कहा है—

"सुगमं भगवन्नाम जिह्वाच वशवर्तिनी।
तथाऽपि नरकं यान्ति धिग् धिगस्तु नराधमान् ॥

अर्थात् श्रीभगवान्‌का नाम सुगम है और जिह्वा अपने वशमें है तोभी अधम मनुष्य नरकमें जाते हैं, ऐसे नराधमों को वारं वार धिक्कार है। श्रीकृष्ण स्मरणमें न धनकी आवश्यकता है न परिश्रम की। श्रीविष्णुसहस्रनाममें भगवान् का एक नाम 'सुलभ' भी है। (सुलभः सुव्रतः सिद्धः। वि. स. नाम श्लोक ८८।) सुलभ का अर्थ है सुगमता से मिलने वाला। परन्तु इसके साथ कुछ शर्तें भी हैं, उन्हें भी सुनिये—

"अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

श्रीगीता ८।१४॥

अर्थात् हे अर्जुन ! मन्य दूसरे में चित्त न लगाकर अतिशय प्रेम से जो निरन्तर मेरा स्मरण करता है। उस नित्ययुक्त (नित्य मेरा योग-प्राप्ति चाहने वाले योगी के लिये वृत्सहय करुणा सौलभ्यादि गुणोंके वशीभूत हो, अपने प्रेमी भक्त का दुःख वियोग न सहन कर सुलभ सुखसे प्राप्त होता हूं।

आदि कवि महर्षि श्रीवाल्मीकि अनन्य चित्त से 'मरा मरा' स्मरण करके डाकू से त्रिलोक विश्रुत महर्षि बन गये। अजामिल आदि अनेकों भक्त इस बात के प्रमाण हैं। अस्तु, महाभारत में कहा है—

"तुलसीदल मात्रेण जलस्य चुलुकेन वा।
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः ॥"

अर्थात् एक तुलसीपत्र अथवा खोवा भर जल से ही भक्तवत्सल भगवान् भक्तों के हाथ बिक जाते हैं। इतना ही नहीं, श्रीकृष्ण तो वैर द्वेषादि भावों से निरन्तर चिंतन-स्मरण करने वाले कंसादि असुरों को भी सुलभ हो गये और उनको सद्गति भी प्रदान की। फिर जो प्रेमभाव से श्रीकृष्ण का अनन्यचित्त से नित्य स्मरण करते हैं उनका तो कहना ही क्या ? और भी देखिये, पाण्डवगीता में कहा है —

ये ये हताश्चक्रधरेण राजन् !
त्रैलोक्यनाथेन जनार्दनेन।
ते ते पुरा विष्णुपुरीं प्रयाताः !
क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः ॥"

भावार्थ—त्रिलोकपति चक्रपाणि के हाथ से प्राचीन काल में रावणादि जो जो मारे गये वे सब वैकुण्ठ को चले गये अतः श्रीकृष्णका क्रोध भी वरदान के समान है। ऐसा कल्याणकारी है श्रीकृष्णका सौलभ्य गुण। इसकी महिमा कहां तक कही जाय। अन्त में यही कहना है कि—

"जानतहु अस स्वामि विसारी।
फिरि ते काहे न होहिं दुखारी ॥

सदाचार की रूपरेखा

(लेखक—श्री राजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी एम. ए.)
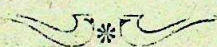
सदाचार दो शब्दों से बना है, सत् तथा आचार। सत् शब्द के अर्थ हैं १. अच्छा, शुभ २. परमात्मा और ३. सनातन जो जैसा सदा से है और वैसा ही सदैव रहेगा। आचार के अर्थ होते हैं, हमारे दिन प्रतिदिन के कार्य, शारिरिक व मानसिक दोनों ही। इस प्रकार सदाचार के अर्थ हुये, क्रमशः वे कार्य जिनसे १. हम अच्छे बनें, लोगों की दृष्टि में हम एक सम्भावित सज्जन समझे जायँ, २. हमारा परलोक सुधरे और हमें परमात्मा की प्राप्ति हो, और हम अपने कार्यों को शास्त्र सम्मत बनावें, क्योंकि वे ही हमारे लिये प्रमाण हैं, यानी हम "महाजनो येन गतः स पन्थाः" का अनुसरण करें। इन सब का सारांश यह हुआ कि सदाचार वे साधन हैं जिनका मन, बचन तथा कर्म तीनों द्वारा अनुसरण एवं पालन करने से हमें इस लोक में यश तथा परलोक में कल्याण की प्राप्ति होती है।

यहां पर तनिक सनातन आचार की व्याख्या करते हैं, तब आगे चलेंगे। यदि सतयुग में सत्य बोलना अच्छा था और उसी के बल पर राजा हरिश्चन्द्र की यश-चन्द्रिका आज तक सबको शान्ति दे रही है, तो सत्य के बल पर आज भी गाँधीजी विश्व की विभूति बने हुए हैं। सत्य का आज भी बोलबाला है। यदि द्वापर में पापात्मा रावण का वन्श नष्ट हुआ था, तो आज दिन कलियुग में भी परधन अथवा परदारा को अपहरण करने वाले दंडनीय हैं। यदि त्रेता में भाई के साथ अन्याय करने वाला दुर्योधन को अन्त में हार खानी पड़ी थी, तो आज दिन भी हिटलर आदि बड़े बड़े वीरों को दूसरे के राज हड़पने के अभियोग में नष्ट हो जाना पड़ा है। कहने का तात्पर्य यह है कि दया, क्षमा, सहनशीलता, सत्य एवम् प्रिय भाषण, शान्ति, अहिन्सा, ब्रह्मचर्य, भाईचारा आदि गुण सदाचार के सदैव से अंग रहे हैं। इनकी मान्यता में सतयुग से लेकर आज तक किसी समय में किसी भी देश में कभी भी कोई अन्तर नहीं पाया है। यह बात दूसरी है कि उनकी मात्रा में अथवा रूप में कुछ अन्तर आ गया हो। विश्व बन्धुत्व को हम अपने ढंग पर "उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्" का आधुनिक उत्थान मानते हैं।

अब हम धर्म पर आते हैं। जो हमें धारण करे धर्म है। मोटे तौर पर नैयायिकों द्वारा की गई परिभाषा को माने लेते हैं। अभ्युदय निःश्रेयसि यं सिद्धि स धर्मः। जिससे हमें इस लोक में अभ्युदय तथा परलोक में कल्याण अथवा मोक्ष की प्राप्ति हो धर्म है। इसको तनिक और स्पष्ट करते हैं। इसके द्वारा हम जीवन काल में धर्म, अर्थ और काम सिद्ध करें, तथा मरने पर कल्याण पावें उसे हम धर्म कहते हैं। जो सदाचार है वही हमारा धर्म है, और धर्म की जो शिक्षा है वह केवल सदाचार का उपदेश है। दोनों एक दूसरे के साथ रहते हैं, एक ही सिक्के की दो पीठ हैं। इस तरह यदि हम सदाचार को अपने वास्तविक रूप में देखें तो इसके अन्तर्गत हमारे, यानी मनुष्य मात्र के सब धर्म, हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के कर्त्तव्य अन्तर्भूत हो जायेंगे। हम बिना सदाचार के न गृहस्थी में, न समाज में, न राजनीति में, न युद्धस्थल में, कहीं भी मनुष्य कहे जाने के अधिकारी नहीं हो सकते।

सदाचार और धर्म दोनों का एक ही उद्देश्य है, हमें सुख और शान्ति की प्राप्ति इस सम्बन्ध में सदाचार कहता है कि:—

ईर्ष्या द्वेष को त्याग कर, प्रेम धरो मन माहिं।
फिर देखो संसार में, शत्रु होइ कोउ नाहिं॥

वास्तव में सबसे प्रेम करना ही जीवन की कुंजी है, और यही हमारे धर्म का सार है।

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

जो बात अपने को प्रतिकूल लगती है, वह दूसरों के साथ कभी न करो। मनुजी महाराज ने मनुस्मृति में हमें धर्म के दस लक्षण बताये हैं।

धृतिः, क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दसकं धर्म लक्षणम्॥

वास्तव में बुद्धि, क्षमा, संयम, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण आदि ये सबके दस लक्षण हमारे सदाचार के अंगी हैं। सदाचार साधन है, और धर्म साध्य हैं। मन की शुद्धि सदाचार की प्रथम सीढी है, बिना इसके कुछ भी सम्भव नहीं है। अतः हमें कभी भी मन तन से किसी का अहित न सोचना चाहिये। जब हमारे मन में भी कोई हिंसक अथवा पापी विचार न आयेगा तभी यह सम्भव है कि हमें अखिल विश्व परब्रह्म की व्यक्त प्रवृत्ति का सरस आभास मिले। धर्म के ग्रन्थों में हृदय की इसी अवस्था को, भक्ति की भूमिका माना गया है। और यही हमारे जीवन की सत् साधना का परम लक्ष है।

अब प्रश्न आता है शुभाशुभ कर्मों के निर्णय का। यह समस्या जितनी जटिल है उतनी ही बृहत्। मोटे तौर पर हम शुभ कर्म दो तरह के समझते हैं। १. साधन के रूप में और २. साध्य के रूप में। इन सबका मोटे तौर पर यही निर्णय है कि अन्त भला होने पर ही हम किसी कर्म को शुभ कह सकते हैं। उदाहरण के लिये यदि एक कसाई किसी गाय को मारने के लिये उसके पीछे दौड़ रहा हो और वह गाय किसी गली में मुड़ जाय। वह कसाई हमसे पूछे कि गाय किधर गई और हम उसे उलटा रास्ता बता कर गाय का प्राण बचालें, तो हमें उस झूठ बोलने का पाप न लगेगा। यदि कुछ फल मिलेगा तो वह गाय के प्राण बचाने का पुण्य ही होगा। वास्तव में धर्म की गति कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय, अति दुसह है, तभी तो शास्त्रकारों ने धर्म की गति का निर्णय अन्त में यही कह कर किया है कि "लक्षय के व्यापकत्व पर ही धर्म का महत्व निर्भर है।"

सदाचारी बनने के लिये हमें उचित है कि सदैव अपने मन को टटोलें, क्योंकि अपना अंतःकरण आप ही आचारों का सुविचारी है। इसके लिये शास्त्रों के पन्ने पलटने की आवश्यकता नहीं। लोग हमें बुरा कहते हैं अथवा भला, इससे हमें क्या। हम तो वास्तव में वैसे ही हैं, जैसा कि ठंडे दिल से सोचने पर हम स्वयं अपने आपको पाते हैं। विचारने पर स्पष्ट विदित हो जायेगा कि हमारे सदाचारी होने के सच्चे अर्थ हैं, कि हमें सुबुद्धि मिले, हममें विवेक आवे, हमें ज्ञान हो, परमात्मा का ध्यान हो और कष्ट पड़ने पर हम अपने पथ से विचलित न हों। हमारे जीवन का उद्देश्य रोटी के टुकड़े नहीं हैं, उनके पीछे लड़ने के लिये तो कुत्ते बहुत हैं। हमें चाहिये कि जीवन को एक प्रयोगशाला मानें। इसके बाह्य लाभ या हानि में मन को न फंसाकर उससे ज्ञान प्राप्त करें तथा जहाँ तक सम्भव हो, उस ज्ञान को संसार के और लोगों में वितरित करें और साथ-साथ सन्तों के सत्संग द्वारा उसकी वृद्धि तथा अपना कल्याण करें। भगवान शंकराचार्यजी यही कहते हैं कि, क्षण मिह सज्जन संगति रेका, भवति भवार्णवतरणे नौका।

सामयिक विचार

[लेखक—श्री शीतलप्रसादजी सिन्हा]

विनाशकारी वस्तुओं का आविष्कार ही आज के जगत का प्रधान कार्य रह गया है। जिस देश राष्ट्र में ऐसी भयानक वस्तुओं का सृजन हुआ है या हो रहा है वही देश या राष्ट्र अधिक उन्नत, सभ्य, सर्वाङ्गपूर्ण और राज्य संचालन के योग्य समझा जा रहा है। न तो अपने कर्म का ज्ञान है और न धर्म का ही। ईश्वर का स्मरण तथा उनकी भक्ति करना आज की दुनियाँ में, समाज में ढोंग रचना है। इन सब बातों को समझते हुये संसार के सभ्य पुरुष पुकार-पुकार कर कह रहे हैं कि अब मनुष्य मनुष्यता के सोपान पर न जाकर गर्व की तलहटी में गया हुआ समझे। आज की दुनियाँ में जो कुछ भी आविष्कार हुआ है या जो कुछ आविष्कार होने जा रहा है अनिष्टकारी वस्तुओं को छोड़ अन्य किसी भी श्रेष्ठ वस्तु का प्रादुर्भाव होने की सम्भावना नहीं। और यदि विचार द्वारा विचार किया जाये तो 'विनाश काले विपरीत बुद्धि' के अनुसार ही मनुष्य कार्य कर रहा है। उसे कुछ भी स्मरण नहीं कि मेरे द्वारा प्रतिपादित कार्य उचित है या अनुचित। वह जो कुछ भी उचित समझकर इन दिनों कार्य किया है या अवशिष्टकार्यों की पूर्ती भविष्य में करने वाला है उस कार्य को विशुद्ध या अध्यात्म दृष्टि से देखा जाये तो उन सभी में विनाश की मात्रा अधिकाधिक मिलेगी। जैसे हीरा बहुमूल्य होते हुए भी उसमें विष भरा हुआ है। सूर्य के उदय में निशा विहित है। जन्म के साथ ही मृत्यु का होना अनिवार्य है। वैसे ही आधुनिक जगत के विज्ञान द्वारा निर्मित वस्तुओं के अन्त में दुख है अवनति है। क्लेश और रुदन, पश्चाताप के अतिरिक्त यदि और कुछ अवशिष्ट है तो वह मृत्यु है।

जीवधारियों में श्रेष्ठ मनुष्य का विशुद्ध ज्ञान माया (प्रकृति) भी असन से उसी भांति तिरोहित है। जैसे कपास को अनेक प्रकार का रंग उसके मूल स्वरुप को ढक देता है। मनुष्य इतना भी समझ नहीं पाता कि कपास का मूल स्वरुप श्वेत है। बिना उसके गहराई में गये ही लाल को लाल और हरे को हरा या इसी भांति जिस रंग का रंगा हो कह देता है। पर वह सचमुच में वास्तविक बात नहीं। उसी तरह आज के वस्तुओं का चमक दमक देख लोग उससे होने वाली हानी को भूल जाते हैं। उन्हें तो सिर्फ मृत्यु का ही भय बना रहता है। वह मृत्यु से बचने का प्रयास अनवरत करता रहता है। अभी हाल में ही एक ऐसी भयानक वस्तु का पता चला है। जो केवल साढे तीन छटांक में ही विश्व के सभी प्राणियों के हनन के लिये प्रर्याप्त है। भला! यह भी कोई अनुसन्धान है, खोज है, विज्ञान है। क्या ही उत्तम होता आधुनिक वैज्ञानिक मृत्यु से बचने के लिये काम, क्रोध, मद, मोह, आदि दुर्गुणों से बचने के लिये क्षुदा रोगादि से बचने के लिये नये नये वस्तु का अनुसन्धान करते, उनकी कीर्ति अमर रहती, वे अमर रहते। हमारी भावी सन्तानें अमर गीत गा-गा कर उन्हें सुनाया करती। और उन्हें गर्व होता हम सब के सन्तान कहाने में जैसे आज दिन हम भारतीय पूर्वजों के सन्तान कहाने में गर्व करते हैं। उनके नामों को उच्चारण करते ही आनन्द सिन्धु में गोता लगाने लगते हैं।

पर आधुनिक वैज्ञानिकों को पता नहीं आज जो मेरे अनुकुल है वही कल प्रतिकूल होगा।

(क्रमशः)

॥ श्रीहरिः ॥

"नाम-माहात्म्य" के नियम

—:※:—

उद्देश्य—श्री भगवन्नाम के माहात्म्य का वर्णन करके श्री भगवन्नाम का प्रचार करना जिससे सांसारिक जीवों का कल्याण हो

नियमः—

१—"नाम-माहात्म्य" में पूर्व आचार्य श्री महानुभावों, महात्माओं, अनुभव-सिद्धसन्तों के उपदेश, उपदेशप्रद-वाणियाँ, श्रीभगवन्नाम महिमा संबंधी लेख एवं भक्ति चरित्र ही प्रकाशित होते हैं।

२—लेखों के बढ़ाने, घटाने, प्रकाशित करने या न करने का पूर्ण अधिकार सम्पादक को है।

लेखों में प्रकाशित मत का उत्तरदायी संपादक नहीं होगा।

३—"नाम-माहात्म्य" का वर्ष जनवरी ४१ से आरम्भ होता है। ग्राहक किसी माह में बन सकते हैं। किंतु उन्हें जनवरी के अंक से निकले सभी अंक दिये जावेंगे।

४—जिनके पास जो संख्या न पहुँचे वे अपने डाकखाने से पूछें, वहाँ से मिलने वाले उत्तर को हमें भेजने पर दूसरी प्रति बिना मूल्य भेजी जायगी।

५—"नाम-माहात्म्य" का वार्षिक मूल्य डाक व्यय सहित केवल २≡) दो रुपये तीन आना है।

६—वार्षिक मूल्य मनीआर्डर से भेजना चाहिये। वी० पी० से मंगवाने पर ।) अधिक रजिस्ट्री खर्च के लगते हैं।

७—समस्त पत्र व्यवहार व्यवस्थापक "नाम-माहात्म्य" कार्यालय मु० पो० वृन्दावन [मथुरा] के पते से करनी चाहिये।

"नाम-माहात्म्य" के ग्राहक महानुभावों से प्रार्थना

(१) प्रतिमास प्रथम सप्ताह में "नाम-माहात्म्य" के अंक कार्यालय द्वारा २-३ बार जाँच कर भेजे जाते हैं फिर भी किसी गड़बड़ी के कारण अंक न मले-हों उसी माह में अपने पोस्टआफिस से लिखित शिकायत करनी चाहियें और जो उत्तर मिले उसे हमारे पास भेजने पर ही दूसरा अंक भेजा जासकेगा।

(२) प्रत्येक पत्र व्यवहार में अपना ग्राहक नम्बर लिखने की कृपा करें एवं उत्तर के लिये जबाबी कार्ड या टिकट भेजने चाहियें पत्र व्यवहार एवं वार्षिक चंदा निम्न पते पर स्पष्ट अक्षरों में लिख कर भेजियेगा।

व्यवस्थापक :- "नाम-माहात्म्य" कार्यालय, भजनाश्रम
मु०—पोस्ट वृन्दावन (मथुरा)

रजिस्टर्ड नं० ए ५४६

श्री भगवन्नाम जप कराइये

श्री वृन्दावन में लगभग ८०० गरीब माइयां प्रति दिन प्रातः एवं सायं-काल ६ घन्टे परम मंगलमय श्री भगवन्नाम जप एवं संकीर्त्तन करती हैं। इन्हें आश्रम द्वारा अन्न, वस्त्र व पैसों की सहायता दी जाती है। एक माई प्रति दिन एक लाख श्री भगवन्नाम जप कर सकती है।

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥

कलियुग में संसार सागर से पार उतरने का एक मात्र सुगम उपाय श्री भगवन्नाम जप करना ही शास्त्रों में वर्णित है। सभी महानुभावों को स्वयं अधिक से अधिक भगवन्नाम जप करने की चेष्टा करनी चाहिये।

जो महानुभाव अपनी ओर से गरीब माइयों द्वारा श्री भगवन्नाम जप कराना चाहें वे कृपाकर हमें सूचित करें। भजनाश्रम में लगभग ८०० गरीब माइयाँ आती हैं। जिनमें से इस समय ३१० माइयां दानदाताओं की ओर से भजन कर रही हैं। बाकी माइयों से भजन कराने के लिये हम सभी सज्जनों से निवेदन करते हैं कि अपनी अपनी श्रद्धा व प्रेम अनुसार जितनी माइयों द्वारा जितने माह के लिए आप चाहें अवश्य भजन कराइयेगा एवं अपने इष्ट मित्रों को भी भजन कराने के लिये प्रोत्साहित कीजियेगा।

एक माई को नित्य प्रति साढ़े चार आने की सहायता दी जाती है। इस हिसाब से एक माह का ८।≋) और एक वर्ष १०१।) खर्च लगता है। पत्र व्यवहार एवं मनीआर्डर भेजने का पता:-

मन्त्री:— **श्री भगवान भजनाश्रम**

मु॰ पोस्ट, वृन्दावन।

बाबू रामलालजी गोयल के प्रबन्ध से आदर्श प्रिंटिंग प्रेस केसरगंज, अजमेर में मुद्रित व गोरधनलाल मानसिंहका संपादक व प्रकाशक द्वारा भगवान भजनाश्रम, वृन्दावन [मथुरा] से प्रकाशित।

अंक १२

विषय सूची

मार्गशीर्ष संवत् २००८

—:❀ प्रेमी ग्राहकों से निवेदन ❀:—

यह ग्यारहवें वर्ष का आखरी अंक है इस अंक के साथ इस साल का चंदा समाप्त हो जाता है आगामी वर्ष हम अधिक से अधिक उपयोगी सामिग्री देने की चेष्टा कर रहे हैं। आप अगामी वर्ष इसे अवश्य ही अपनाने की कृपा करें। वार्षिक मूल्य केवल २≡) ही रक्खा है। कृपया मनीआर्डर द्वारा शीघ्र ही २≡) भेजने की कृपा करें। किन्हीं कारण वश आप इसे मंगाना न चाहें तो एक कार्ड द्वारा अवश्य सूचना देने की कृपा करें। ताकि वी० पी० भेजने के खर्च से कार्यालय को नुकसान न हो।

वी० पी० मंगाने में छः आने अधिक लगते है इसलिये अपना चंदा मनीआर्डर द्वारा ही भेजियेगा। मनीआर्डर से चंदा भेजने में सुविधा रहेगी।

निवेदकः—व्यवस्थापक "नाम-माहात्म्य" कार्यालय वृन्दावन (मथुरा)

वार्षिक मूल्य २≡) संस्थाओं से १॥≡) एक प्रति का ≡)

वर्ष ११ | "नाम-माहात्म्य" वृन्दावन दिसम्बर सन् १९५१ | अंक १२

प्रभु की परम उदारता

ऐसो को उदार जग माँही ।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर, राम सरिस कोउ नाहीं ॥
जो गति योग बिराग जतन कर, नहिं पावत मुनि ज्ञानी ।
सो गति देत गीध सबरी कहें, प्रभु न बहुत जिय जानी ॥
जो संपति दससीस अरपि कर, रावन शिव पहँ लीन्हीं ।
सो सम्पदा विभीषन कहँ अति, सकुच सहित हरि दीन्हीं ॥
"तुलसीदास" सब भांति सकल सुख, जो चांहसि मन मेरो ।
तौ भजु राम काम सब पूरन, करें कृपानिधि तेरो ॥

श्री तुलसीदासजी

* श्री *

"अनमोल सार बातें"

(श्री सेठ जयदयालजी गोयन्दका के सतसंग में प्राप्त)

निम्न लिखित बातों पर विचार करना चाहिये ये बातें बहुत ही अनमोल, सबके हित की, लोक परलोक में कल्याण करने वाली हैं इन्हें नित्य काम में लाने की चेष्टा करनी चाहिये।

(१) प्रत्येक भाई बहन को अपने कल्याण के लिये अधिक से अधिक संख्या में भगवन्नाम का जप करना चाहिये।

(२) चलते, फिरते, उठते, बैठते, काम काज करते सब समय भगवान को याद रखने की चेष्टा करनी चाहिये पहले आध आध घन्टे पर फिर पन्द्रह पन्द्रह मिनट के निरन्तर भगवद्स्मरण करने की चेष्टा करनी चाहिए इसके लिये निम्न चार उपायों से बड़ी सहायता मिल सकती है।

(अ) एकान्त में बैठकर करुणा भाव और गद गद वाणी से भगवान से प्रार्थना करनी चाहिये कि हे परमेश्वर मैं हृदय से आपकी स्मृति चाहता हूं। आपसे आपकी स्मृति बनी रहने की भीख मांगता हूं। इस प्रकार नित्य अपने अपने भावों को भगवान के आगे रख कर कातर स्वर से प्रार्थना करे। एक मिनट की सच्ची प्रार्थना से भी बड़ा लाभ होता है।

(ब) नित्य नियम-पूर्वक सत्संग करे। यदि कभी सतसंग न मिले, तो सद् ग्रन्थों का स्वाध्याय एवं भगवद्वाक्यों का मनन करे।

(स) समय बड़ा मूल्यवान है। मनुष्य का शरीर मिल गया ये भगवान की बड़ी दया है। अब भी यदि भगवद् प्राप्ति से वंचित रह ही गये तो हमारे समान कौन मूर्ख होगा। हमें अपने अमूल्य समय को अमूल्य काम में ही लगाना चाहिये। भगवान की स्मृति ही अमूल्य है। इस प्रकार नित्य विचार करना चाहिये।

(ड) मृत्यु न मालुम कब आ जाय। वह प्रतिक्षण हमारे सामने मुंह बाये खड़ी है। अतः जब तक निरन्तर भजन नहीं होने लगेंगे तब तक बड़ा खतरा है।

इस प्रकार बराबर मृत्यु को याद रखने से भी विषयों से वैराग्य होकर भगवद् स्मृति बनी रह सकती है। निम्न उपायों को काम में लाने से भगवान की स्मृति में मदद मिल सकती है।

(१) नित्य प्रातः सायं सब बड़ों को प्रणाम करना चाहिये। यदि इसका अभ्यास छूट गया हो तो फिर से प्रारम्भ कर देना चाहिये। दिन में कम से कम एक बार तो अवश्य ही बड़ों को प्रणाम करना चाहिये। ऐसा करने से घर में कलह नहीं होता, आपस में प्रेम का प्रादुर्भाव होता रहता है। यह बहुत बड़ा लाभ है, तथा तप, तेज, आयु, कीर्ति विनय, बल और धर्म की वृद्धि एवं मरने पर उत्तम गति मिलती है।

(२) यह बात बहुत कीमती है इसे आज से ही काम में लाने की चेष्टा करनी चाहिये। इससे बहुत थोड़े समय में आप लोगों के भाव सुधर सकते हैं। भगवान भी जल्दी ही मिल सकते हैं। बात कुछ कठिन भी नहीं है। सबसे प्रेम बढ़ाइए। प्रेम के लिये महाराज दशरथजी और भरतजी

का आदर्श सराहनीय है। भगवान प्रेमी के अधीन हो जाते हैं। हम लोगों को आपस में निरन्तर प्रेम की वृद्धि करनी चाहिये। मेरे द्वारा दूसरे का हित कैसे हो, निरन्तर यही बात सोचते रहना चाहिये। अपने घर में, सबके साथ प्रेम की नदी बहा देनी चाहिए। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो प्रेम के बदले न दी जा सके। तन, मन धन प्रायः सभी इस पर निछावर किये जा सकते हैं। यथा शक्ति सबकी सेवा सहायता करनी चाहिये। प्रेम बढाने का सर्वोत्तम उपाय सेवा और मधुर भाषण है। इसे हरेक भाई बहन को काम में लाना चाहिये। यह शरीर, धन, आदि तो नाशवान है अतः संसार में आकर भलाई लेकर ही जाना चाहिये। जिससे मरने के बाद भी आपको लोग याद करते रहें। स्वयं भगवान् ने गीता में डंके की चोट कहा है;—

"ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्व भूत हिते रताः।"

जो सब भूतों के हित में लगे रहते हैं वे मुझे ही प्राप्त होते हैं अपने से जो बड़े है, पूज्य हैं, दुखी हैं, लाचार हैं उनकी सेवा का और भी अधिक महत्व है। कोई भी मिल जाय उसे देख कर प्रसन्न होना चाहिये मानो भगवान ही मिल गये। सबसे मीठा बचन बोलना चाहिये। अपनी दृष्टि से सबको भगवान का स्वरूप समझना चाहिए। सेवा भी इसी भाव से करनी चाहिए। सेवा का इतना प्रभाव है कि अपने से द्वेष रखने वाला पिघल कर उसके अनुकूल हो जाता है। इसलिये तन मन धन से माता पिता गुरु भाई बहन सास ससुर देवरानी जेठानी ननद इत्यादि सबकी सेवा परम प्रसन्नता से मन के साथ करनी चाहिये।

"जहां सुमति तहं सम्पति नाना।
जहां कुमति तहं विपति निदाना॥"

सेवा करने के दो साधन हैं। दाम (धन) काम (कर्म) हमें भगवान ने रुपये, भोग पदार्थ, ऐश्वर्य आदि जो कुछ भी दिया है वह यदि किसी प्रकार भी दूसरों की सेवा में लगे तो अहो भाग्य समझना चाहिये। उसे दूसरों को देकर बहुत प्रसन्न होना चाहिये। यह मानना चाहिये कि आज मैंने भगवान की ही सेवा की है।

इसी प्रकार शरीर से करने योग्य सेवा का कोई काम सामने आजाय तो उसे खूब परिश्रम के साथ प्रसन्न चित से करना चाहिये। सेवा के दो साधन दाम और काम बड़े महत्व के हैं। एक में ऐश्वर्य का त्याग है दूसरे में शारीरिक परिश्रम है। अथवा यों कहे कि एक में ममता का त्याग और दूसरे में अहमता का त्याग है। अहमता और ममता ये दो बड़ी व्याधियां है। इन का त्याग होना अति आवश्यक है। अतः कहीं भी सेवा का अवसर मिल जाय तो समझना चाहिये कि असली धन मिल गया। सेवा का काम मिल गया तो ऐसी प्रसन्नता होनी चाहिए मानों भगवान मिल गये।

अच्छे पुरुष अपने समय का एक एक मिनट काम में लेते हैं। आयु समाप्त हो जाती है पर काम समाप्त नहीं हो पाते। गीता अ० २ श्लोक ४० में भगवान ने कर्म योग की बड़ी प्रशंसा की है। स्वार्थ का त्याग ही कर्म योग है। यही असली धर्म है। इसका उलटा फल कभी नहीं होता न इसका कभी नाश ही होता। इसका थोड़ा सा भी पालन किया जाय तो वह जन्म मरण के बन्धन से छुड़ा सकता है। इसलिये सेवा को साक्षात् भगवान समझ कर आदर करना चाहिए। उसे तत्परता के साथ पूरी करने की चेष्टा करनी चाहिये। सेवा के कई स्वरूप हैं। दूसरों को मान बड़ाई देना भी सेवा ही है। सेवा रत्नों की ढेरी है उसे लूटने की चीज समझ कर खूब लूटना चाहिये। कोई भी नीचा काम जैसे पैर धुलाना, हाथ धुलाना, पत्तल उठाना, बरतन धोना, झाडू देना आदि मिल जाय तो सम-

समझना चाहिये कि भगवान की विशेष दया है । यदि किसी बीमार की और दूसरे के बालकों की टट्टी पेशाब उठाने का काम मिल जाय तब तो भगवान की पूर्ण दया समझनी चाहिये । सेवा कार्य में जितना उच्च भाव रक्खा जा सके रखना चाहिये । यदि सेवा कार्य को साक्षात् परमात्मा की सेवा समझी जाय तब तो कहना ही क्या है ? उससे परमात्मा बहुत जल्दी मिल सकते हैं । यदि कोई व्यक्ति हम से सेवा करावे तो हमें अपने ऊपर उसकी बड़ी दया समझनी चाहिए । समझना चाहिए कि यही है हमें मुक्त कराने के लिये हमसे सेवा करवा रहा है । किसी ने हमारी सेवा स्वीकार कर ली तो समझना चाहिये उसने हमारा उद्धार कर दिया । यदि सेव्य को ईश्वर मान कर सेवा की जाय तब तो खुला दरबार है । सेवक को साक्षात् नारायण की सेवा का लाभ हो सकता है । यह बड़े ऊंचे दर्जे का भाव है । सेवा को नारायण की सेवा बनाना सेवक के हाथ की बात है । अपने धन और ऐश्वर्य को अपने पूज्य जनों एवं दीन दुखियों की सेवा में समर्पित कर देना चाहिये । इससे भी ऊंचाभाव यह समझ कर देना है कि साक्षात् नारायण ही उनके रूप में प्रकट होकर हमारे धन और ऐश्वर्य को सेवा के रूप में स्वीकार कर रहे हैं । इससे दूसरा लाभ यह समझना चाहिये कि हमारी ममता का परित्याग हो रहा है । हमारा बोझा हल्का हो रहा है । तीसरा लाभ यह है धन और ऐश्वर्य के त्याग से उदारता बढ़ती है, दया बढ़ती है । यह सद्गुण धन और ऐश्वर्य से कहीं अधिक मूल्यवान है । आज यदि हमारी मृत्यु हो जाय तो यह धन और ऐश्वर्य यहीं छूट जायगें । और न जाने यह किसके काम आवेगें । अतः इन्हें बटोर कर रखने से कोई लाभ नहीं । जीते हुए ही भलाई ले लेनी चाहिये नहीं तो ये उलटे हमारे लिये बन्धन रूप भी हो जा सकते हैं । एक रहस्य की बात और भी है । अन्त समय में हममें हमारा मन रम गया तो असंख्य जन्मों के लिये भटकना पड़ेगा ; परन्तु यदि हमने इनको दूसरों के उपकार में लगा दिया, इनसे दूसरों का उपकार होगया तो समझ लीजिए कि उससे हमारा बड़ा उपकार होगया । भगवान की चीजें भगवान् के काम में लग गईं । यदि ऐसा समझ कर निष्काम भाव से अपना सारा स्वत्व दूसरों की सेवा में अर्पित कर दिया जाय तो उससे बड़ा भारी लाभ है । इतनी बात तो सबके लिये कही गई । अब कुछ स्त्रियों के लिये काम की बातें विशेष रूप से कहनी हैं । स्त्रियों में कुछ अज्ञानता अधिक होती है । उनमें लड़ाई झगड़ा प्रायः अधिक होते हैं । इसका कारण उनकी ना समझी ही है । घर में प्रेम बढ़ाने के लिये उन्हें सब से हंस कर बोलना चाहिये । सबके साथ विनय पूर्वक, व्यवहार करना चाहिए । यदि कोई उनके ऊपर क्रोध करे तब भी उन्हें प्रसन्नता से हंस कर मीठा ही उत्तर देना चाहिये । मिष्टभाषिता स्त्रियों का प्रधान गुण है । जो स्त्री दूसरों को मान बड़ाई देती है सबके साथ विनय और प्रेम का बर्ताव करती है उसके ऊपर भगवान शीघ्र प्रसन्न होते हैं । साथ साथ उनके अहंकार तथा कठोरता का नाश होता है । यदि किसी स्त्री के कारण कलह होगया तो उसे ऐसा मानना चाहिये कि मानो मुझ पर कलंक लग गया । इस बात पर ध्यान रखना चाहिये और दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये कि अपने को तो संसार से भलाई लेकर ही जाना है । भलाई तभी मिल सकती है जब हमारा व्यवहार सबके अनुकूल होगा । स्त्रियां प्रायः भोली होती हैं उनमें मोह और आसक्ति की मात्रा अधिक होती है । उनकी गहनों, कपड़ों में बाल-बच्चों में आसक्ति अधिक होती है । यह आसक्ति बन्धन है । मुक्ति में बाधा डालने वाली वस्तु है । दूसरे के हित के लिये उदारता पूर्वक इन वस्तुओं का त्याग करना चाहिये । स्त्री पुरुष दोनों ही के लिये पर पुरुष अथवा पर

स्त्री की ओर देखना ब्रह्मचर्य में कलंक समझना चाहिये। विधवा स्त्री को तो यह समझना चाहिये कि यदि किसी पुरुष की ओर उसकी दृष्टि चली गई तो उसकी धर्म में हानि हो गई। स्त्रियां झाड़ फूंक और टोना आदि पर अधिक विश्वास करती हैं। यह सब वहम है इनका त्याग कर देना चाहिये। यदि कोई बीमार हो जाय तो उसके लिये औषधोपचार का प्रयत्न करना चाहिये। कोई कामना करनी हो तो सीधे परमेश्वर से करनी चाहिये। पतिव्रता स्त्री तो कभी कामना करती ही नहीं। यदि करती भी है तो अपने पति से ही करती है। किसी दूसरे से नहीं। इसी प्रकार ईश्वर को छोड़ कर किसी दूसरे से कामना न करे. परमपति के रहते किसी दूसरे से याचना क्यों की जाय? और सर्वोत्तम बात तो यह है कि किसी से याचना करे ही नहीं। स्त्रियों को चाहिये कि वे किसी कल्पित देवी देवताओं के मन्दिर में भूलकर भी न जांय! बनावटी देवी देवताओं के मन्दिर में भूल कर भी न जाय। बनावटी देवी देवताओं की रचना धूर्तों ने की है। उनकी मान्यता छोड़ कर शास्त्रीय देवी देवताओं की उपासना करनी चाहिये। पार्वती, लक्ष्मी, सावित्री आदि देवियों, ब्रह्मा, शिव, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु आदि देवताओं, व्यास, वशिष्ठ, नारद, आदि ऋषि महात्माओं, ध्रुव, प्रहलाद, हनुमान आदि महान भक्तों की पूजा उपासना करनी चाहिये। इनके स्मरण मात्र से आत्मा पवित्र हो जाती है। इनके अलावे किसी बहकावे में पड़कर अशास्त्रीय देवि, देवताओं की पूजा कदापि नहीं करनी चाहिये। नहीं तो धूर्तों की बन आती है। पीर पैगम्बर आदि का तो पूजन बिलकुल ही उठा देना चाहिए। इनका पूजन अर्चन करना और इनसे किसी कामना की सिद्धि चाहना पाप और मूर्खता के सिवाय कुछ भी नहीं है। इनका परित्याग करके प्रत्येक स्त्री को अपना घर शुद्ध पवित्र बनाना चाहिये। पूजा या तो भगवान की करनी चाहिये या शास्त्रीय देवी देवताओं की। भगवान के भक्त तो देवताओं से भी बढ़ कर होते हैं। स्त्रियों को खान पान में भी भेद भाव नहीं रखना चाहिये। जो स्त्री घर में खान पान के सम्बन्ध में भेद बुद्धि रखती है वह मर कर चमगादड़ होती है। ऐसी बात शास्त्रों में लिखी है।

स्त्रियों के साथ साथ पुरुषों को भी अपने कर्तव्यों का पालन भली भाँति करना चाहिये। पुरुषों को लोभ के त्याग का विशेष ध्यान रखना चाहिये। साथ ही सत्य पालन का तो पूर्ण रूपसे ध्यान रखना चाहिये। प्राण जाय तो भले ही जाय पर सत्य कभी न जाय यह व्रत बना लेना चाहिये। यदि पुरुष झूठ कपट, पराया हक मारने की चेष्टा तथा लोभ का त्याग करदे तो बहुत जल्दी सुधार हो सकता है। पुरुषों के लिये आशक्ति का त्याग सर्व प्रधान कर्तव्य है। विशेष कर कंचन, कामिनी और देह की आसक्ति का त्याग बड़ी दृढ़ता के साथ करना चाहिये। काम, क्रोध और लोभ यह तीन प्रबल शत्रु हैं। साक्षात् नरक में ले जाने वाले हैं। (गीता १६-२१ तक) इसलिये इनसे विशेष सावधान रहना चाहिये। मान, बड़ाई अथवा प्रतिष्ठा की इच्छा करना मृत्यु की इच्छा करने के समान है। अच्छे अच्छे मनुष्य इसमें फंस कर साधन से च्युत हो जाते हैं। यहां तक कि कंचन, कामिनी के त्याग करने वाले भी इसमें फंस कर रुक जाते हैं। साधन मार्ग में आगे नहीं बढ़ पाते। उनके अभ्यास से न जाने कितने पुरुष गिरकर चकना चूर होगये। इसलिये बड़ी सावधानी के साथ इनसे बचना चाहिये। वैराग्य का अभ्यास करना चाहिये। जीवन को कठोर संयम के साथ बिताना चाहिये। संयम मनुष्य की रक्षा करने के लिये सुदृढ किला है। उसे हर एक शत्रु नहीं तोड़ सकता मन बुद्धि और इन्द्रियों को विषयों से रोकना ही संयम है। सांसारिक भोग पदार्थों से इन्द्रियों और मन की वृत्तियों को वैराग्य, विवेक या भय दिखाकर उनसे रोकना चाहिये। इसी से रक्षा होती है।

प्रत्येक मनुष्य को अधिकारानुसार स्वाध्याय करना चाहिये। गीता, रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत्, वेद उपनिषद् आदि का स्वाध्याय करना सबसे बढ़कर है। गीता, रामायण और महापुरुषों के वचनों में तो सबका अधिकार है, वे सबके लिये लाभप्रद हैं। इसलिये प्रति दिन नियम से एवं प्रेम पूर्वक उनका स्वाध्याय करना चाहिये। प्यारे मनमोहन को कभी नहीं विसारना चाहिये। हृदय से सदा सर्वदा उनका स्मरण करते रहना चाहिये। प्राण चाहे छूट जायें पर प्राण प्यारे की स्मृति एक क्षण के लिये भी हृदय से न हटे। नेत्र उन्हीं को देखें; कान उन्हीं की चर्चा सुनें; वाणी से उन्हीं के गुणों का कीर्तन और नाम जप हो। शरीर के द्वारा उन्हीं को प्रणाम किया जाय और हाथ भी उन्हीं की सेवा पूजा में लगे रहें। अर्थात् शरीर एवं मन सहित सारी इन्द्रियां भगवान में लग जायें, ऐसी चेष्टा करनी चाहिये। यही सच्ची वीरता है।

अब कुछ बालकों के लाभ की बातें बताई जाती हैं। ये बड़ों के भी काम की हैं:—

(१) प्रत्येक बालक को इस बात की चेष्टा करनी चाहिये कि उसके बलकी वृद्धि हो। इनमें चार बातें सहायक हैं—

(क) ब्रह्मचर्य का पालन, इससे शरीर के साथ साथ आत्मबल की भी वृद्धि होती है।

(ख) नित्य प्रति नियम पूर्वक व्यायाम करना चाहिये, इससे शरीर में पौरुष एवं स्फूर्ति का उदय होता है।

(ग) सायं प्रातः उचित मात्रा में दुग्धपान करना; दुग्ध साक्षात् अमृत है। बल एवं बुद्धि की वृद्धि करने वाला इससे बढ़कर और कोई पदार्थ नहीं है व्यायाम करके दुग्ध पीने से विशेष लाभ होता है। दुग्ध से मन सात्विक बनता है।

(घ) स्वास्थ्य की बातों पर विशेष ध्यान रखना नीरोग रहने के लिये अपना घर, शरीर एवं वस्त्रों को साफ रखना अत्यन्त आवश्यक है।

(२) प्रत्येक बालक को अपनी बुद्धि का विकास करना चाहिये। विद्या और सत् शास्त्रों के अभ्यास से बुद्धि बढ़ती है। वृद्ध और अच्छे पुरुषों का संग, सेवा और प्रणाम करने से विचार निर्मल होते हैं। उत्तम गुणों का संग्रह, उत्तम आचरण, एवं शौचाचार का पालन करने से भी बुद्धि पवित्र एवं तीक्ष्ण होती है।

(३) बालकों को उच्छिष्ट नहीं खिलाना चाहिये। इससे उनकी बुद्धि तामसी हो जाती है।

(४) सब बालकों को भगवान की भक्ति अपने हृदय में धारण करनी चाहिये। भगवद् भक्ति से सदाचार और सद्गुणों की वृद्धि अपने आप होने लगती है। भगवद् भक्ति उत्तम आचरणों की जड़ है। भगवान् का भजन, ध्यान, पूजा, प्रार्थना, नमस्कार, स्तुति ये सब भक्ति के अंग हैं। बालकों को इस पर विशेष ध्यान देना चाहिये। कुछ बातें विशेष रूप से काम में लाने के लिये और बताई जाती हैं।

(१) भगवान के नाम, रूप, लीला, धाम, तत्व, रहस्य, गुण और प्रभाव का श्रवण, पठन, कथन स्मरण करना चाहिये।

(२) भगवान के भोग लगाना, पूजा आरती करना, उनमें श्रद्धा प्रेम बढ़ाना, उनकी स्तुति करना और उनसे प्रार्थना करना।

(३) उनमें दासभाव, निष्काम भाव से करना, उनमें माधुर्य भाव, वात्सल्य भाव, मित्रभाव करना तथा उनको सर्वस्व समर्पण करना, उसके विधान में सदा सन्तुष्ट रहना उनकी इच्छा और आज्ञानुसार चलना। शेष पृष्ठ ८ पर
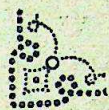
सामयिक विचार

(लेखक—श्री शीतलप्रसादजी सिन्हा)

(गतांक से आगे)

दूसरे दिन वही अहंकार रुप में परिवर्तित हो दलन कर देता है। रमणियों के लिये सौन्दर्य अति ही प्यारा है। पर उसी सौन्दर्य के रक्षार्थ प्राणों की आहुति देनी पड़ती है। इसी से तो हमारे पूर्वजों का उपदेश है कि कार्य वही हो जो सीमा बद्ध हो या अनन्त काल तक फूल का फूल ही बना रहे शूल न बनने पाये। अतः प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह अनिवार्य है कि एक न एक दिन अवश्य काल कवलित होगा। उसे ऐसी कीर्ति छोड़ जानी चाहिये। जिससे प्राणी मात्र लाभ उठा सकें। समझ सके काल्पनिक विडम्बना को और समझ तो इस नाशमान् जगत या इस शरीर के मध्य स्थित स्वयंभू को।

भगवान राम, कृष्ण, ईसा, मोहम्मद, गांधी आदि जितने भी महापुरुष का प्रादुर्भाव और तिरोभाव हुआ है वे क्या कम वैज्ञानिक थे। वे क्या कम कर्मवीर थे। भला सोचो तो वे महापुरुष मरने वाले थे जिनके समक्ष मृत्यु भी मृत्यु के भय से डरता रहे। वह भी संसार को एक सीख देने के लिये कि मृत्यु अवश्यमभावी है इस से डरने या बचने की कोशिश न करो, कह कर आलिंगिन किया। आज दिन उनकी कीर्ति अमर नहीं, उनके द्वारा संपादित कार्य का गुणगाण दुनिया नहीं कर रही है। क्या उनके द्वारा आविष्कार किया यन्त्र आज दिन सम्मान नहीं पाता, क्या इस बात को आधुनिक विज्ञान वेत्ता बता सकते हैं कि उन महापुरुषों ने क्यों नहीं संहारात्मक वस्तु का निर्माण किया। उन युग प्रवंतकों का आदेश मृत्यु लोक के लिये नहीं वरन् स्वर्ग एवं अपवर्ग के लिये भी कल्याणप्रद है। उनका एक-एक कार्य एक-एक चरित्र एक एक उपदेश सुधा है उनकी क्रीड़ा ही सुख सागर है। पर यह उचित नहीं कि महापुरुषों के आदर्श को अमृत से तुलना करें कारण अमृत तो अमर बना कर सुख दुखादि में समिष्ठ रखना ही है। उसमें सिर्फ एक ही गुण प्रधान है। जो जरावस्था को प्राप्त नहीं होने देता। पर इससे क्या अपने कर्मानुसार तो सुख दुखादि भोगना ही पड़ता है। किन्तु महापुरुषों का आदर्श तो अनेक गुणों से सम्पन्न है अवर्णिय है। पियुष से भी परे है। जो एक बार पान कर लेने पर ही आवागमन से मुक्त होने के लिये पर्याप्त है। वास्तव में यह शरीर तभी धन्य होता है। जब उन महापुरुषों के कृति रुपी चरणामृत का पान कर मोक्ष मार्ग का पथिक हो जाता है।

अतएव उक्त बातों को हृदयाङ्गम कर प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह सर्व प्रथम इस नाशवान शरीर से जो कुछ भी दूसरे जीवों की सेवा बन सके करें। वह यह न सोचे कि संहारत्मक यंत्रों का आविष्कार कर विजयी हो अमर बना रहूँगा और वह यह भी नहीं सोचे कि मैं अपने वैभव का उपभोग स्वयं ही करूंगा या वह मेरे असमय में काम आयेगा। बहुत बार देखा गया है कि धनादि के मद में मतवाला मनुष्य अनेक प्रकार का अधर्म कर बैठता है। नित्य प्रति चोर डाकुओं का भय बना रहता है। सुख से खाना सोना तो दुश्वार हो ही जाता है। साथ ही साथ अध्यात्म बुद्धि पाज्ञान से भी अधिक

पथरा जाती है। अतः यह श्रेष्ठ मानव शरीर पृथ्वी का भार हो जाता है। जिस शरीर को पाने के लिये देवगण तरसा करते हैं वही शरीर पृथ्वी का भार बने सचमुच लज्जा की बात है। वस्तुतः में यह शरीर अत्यन्त दुलर्भ हैं। इसे पाकर भी परमात्मा की प्राप्ति के साधन में तत्परता के साथ नहीं लगता। वह बहुत बड़ी भूल करता है। अतएव श्रुति कहती है कि जब तक यह दुर्लभ मानव शरीर विद्यमान है भगवत्कृपा से प्राप्त साधन सामग्री उपलब्ध है तभी तक शीघ्राति-शीघ्र परमात्मा को जान लिया जाय तो सब प्रकार से कुशल है। मानव जन्म की परम सार्थकता है। यदि यह अवसर हाथ से निकल जावे तो फिर महान विनाश हो जायेगा। बार बार मृत्यु रुप सागर के प्रवाह में बहना पड़ेगा। फिर रो-रो कर पश्चाताप करने के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं रह जायेगा। संसार के त्रिविध तापों और विविध शूलों से बचने का यही एक परम साधन है कि जीव मानव जन्म में दक्षता के साथ साधन परायण होकर अपने जीवन को सदा के लिये सार्थक कर ले। मनुष्य जन्म के सिवा जितनी और योनियां हैं सभी केवल कर्मों का फल भोगने के लिये मिलती हैं। इनमें जीव परमात्मा को प्राप्त करने का कोई साधन नहीं कर सकता। बुद्धिमान पुरुष इस बात को समझ लेते हैं। और इसीसे वे प्रत्येक जाति के प्रत्येक प्राणी में परमात्मा का साक्षात्कार करते हुये सदा के लिये जन्म मृत्यु के चक्र से छूट कर अमर हो जाते हैं।

इहचेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः। भूतेषु भतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्मा-ल्लोशद मृता भविन्तः॥

(पृष्ठ ६ का शेष)

(४) संसार से वैराग्य और उपरति रखना, इन्द्रियों का, मन का संयम रखना।

(५) भगवान से मिलने की तीव्र इच्छा करना, सत्संग और शास्त्रों के अभ्यास के लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिए।

(६) बड़ों की सेवा, जीवों पर दया, स्वार्थ त्याग पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

(७) प्रमाद, आलस्य भोग और पाप का कतई त्याग करके सद्गुण और सदाचार के पालन पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

(८) काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या और दुर्गुणों का भी कतई त्याग करना चाहिये।

(९) एक क्षण भी कभी समय व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये, बल्कि उत्तरोत्तर समय का बहुत उत्तम से उत्तम सद् उपयोग करना चाहिये!

एक महात्मा ने चार हजार अध्यात्मविषयक ग्रंथों का अध्ययन करके सार रूप में इन चार बातों को प्रामाणिक तथा तत्व रूप से निकाला है:—

(१) भगवान का निरन्तर भजन ध्यान करना।

(२) भगवान की आज्ञा का पालन करना।

(३) भगवान के विधान में संतुष्ट रहना।

(४) पाप कार्य नहीं करना।

(खुलासा) व्याख्या

(१) यदि भगवान का भजन ध्यान न कर सके तो उनकी किसी भी वस्तु को काम में न लावे तथा उनकी दी हुई कोई चीज को न खावे, न पीवे जैसे हवा, अन्न, जल इत्यादि।

(२) उनकी आज्ञा का पालन यदि न करना चाहें तो भगवान के राज्य में न रहे।

(३) भगवान के विधान में यदि संतोष न हो तो उनसे अच्छा कोई दूसरा मालिक खोजकर उनकी शरण ग्रहण करले।

(४) पाप कर्म न छूटे तो भगवान से छिपकर करें भगवान सब जगह है ही, इससे पाप नहीं करना चाहिये।

"राम रावरो नाम साधु सुरतरू है"

(लेखक—पं० श्री जानकीनाथजी शर्मा)

परम पावन, दिव्य, मङ्गलमय, अशरणशरण, अकारण करुण, करुणा वरुणालय भगवन्नाम के सम्बन्ध में हम तुच्छतितुच्छ, तृणादपि सुनीच, 'घुरर्वानिया की वान' वाले तुच्छाशय प्राणी क्या कह सकते हैं। हां यह बात अवश्य है कि त्रिविध पाप-तापापहारी परमकल्याणकारी प्रणतपाल, दीन-दयाल भगवन्नाम की हम सबों पर यदि अनुकम्पा न होती तो कहीं क्षण भर भी अस्मदादिकों जीवन-यात्रा का निर्वाह कठिन था। 'राम नाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितुमाता।' वही स्वजन, स्नेही, गुरू, स्वामी, मित्र, तथा अकारणकरुणाकर है। वह सभी यज्ञों में श्रेष्ठ है—'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' विधि यज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टः'

(मनु० २-८५)

जप्येनैवतु संसिद्ध्येद ब्राह्मणो नात्र संशय।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते

(महा० शान्ति० ६०-१३-२।८७)

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधि यज्ञ समन्विताः।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम"।

महा० २-८६, महा० शा-६०-१२)

भगवन्नाम सभी धर्मों का बीज तथा सर्वोच्च है-"बीजं धर्मद्रुमस्य' सकल धर्म सहसिजकों सर है 'रामनाम को अंक है, सब साधन है सून।' इत्यादि भगवन्नाम की प्रशंसा सभी वेद शास्त्रों में बेतरह भरी पड़ी है। विज्ञ महानुभावों का कथन है कि सभी शास्त्रों का तात्पर्य भगवन्नाम में ही पर्यवसित होता है-"सतकोटि चरित अपार दधि निधि, मथि लियो काढ़ि वामदेव नाम-घृतु है। 'ब्रह्म रामते नाम बड़, वरदायक वरदान। रामचरित शतकोटि मंह, लिय महेश जिय जानि।' इस दुर्युग के लिये तो एक मात्र यही साधन भी है।

'कलि नाम काम तरू रामको'।
'राम नाम अवलम्बन एकू'।
'राम नाम सरीखो न और हितु है।

आजकल कुछ भाग्यहीन असेवित गुरु शास्त्र कहते हैं कि 'दैव दैव आलसी पुकारा' में राम जापक को आलसी बतलाया गया है। पर वे ज्ञान दुर्विदग्ध इतना तक नहीं जानते कि "दैवदैव" का अर्थ राम नाम नहीं होता है। गोस्वामीजी जैसा नामोपासक नाम पर ही कीचड़ उछाले, यह सर्वथा असम्भव है। उन्होंने तो 'दैवेन देयमिति का पुरुषा वदन्ति' इस प्रसिद्ध श्लोक का भाव इस चौपाई में व्यक्त किया है जो एक प्रथमा का विद्यार्थी भी भली भांति समझ सकता है। सभी कोषकारों ने 'दैव' शब्द का अर्थ भाग्य किया है—'दैवं दिष्टं भागधेयं, भाग्यं स्त्री नियति विधिः' (अमरकोष)। प्रसङ्ग देखने से भी यही सिद्ध है, वहां नाम जप का कोई कोई प्रसंग ही नहीं। ऐसे ही पण्डितमानी आज तिलकधारियों को मूर्ख बतलाते हैं और स्वयं को शास्त्र मर्मज्ञ होने का दम भरते हैं।

भगवन्नाम प्राणों का भी प्राण, जीव का भी परम जीवन, तथा सुखों का भी सुख है। सीतानाथ नाम नित चित हू को चित है 'प्राण प्राण के, जीव

परम पूज्यपाद परमभागवत श्री पं० रामानंदजी महाराज के सदुपदेश

(प्रेषक—भक्त रामशरणदासजी पिलखुवा)

देहली के सुप्रसिद्ध गौडीय सम्प्रदाय के महान विद्वान परमभागवत पं० श्रीरामानन्दजी महाराज बड़े ही उच्चकोटि के शास्त्रोक्त जीवन व्यतीत करने वाले महापुरुष हैं। आप एक बार हमारे स्थान पर पिलखुवा पधारे थे तभी के यह सदुपदेश दिये जा रहे हैं। इसमें जो गलती हो हमारी समझनी चाहिये पूज्यपाद महाराजजी की नहीं।

१-सनातन धर्म ही ऐसा धर्म है कि जिसमें गरीब अमीर, छोटा, बड़ा सभी का निभाव हो जाता है। जो अमीर है, जो धनाढ्य हैं उन्हें सुवर्ण का पात्र दान देना लिखा है और जो गरीब हैं जो निर्धन हैं उन्हें मिट्टी का पात्र दान देना लिखा है पर पुण्य दोनों को एकसा होता है, बराबर होता है कमती ज्यादा नहीं। यदि मिट्टी का पात्र भी दान न कर सके तो श्रद्धा से श्री नारायण का नाम लेले और श्री सत्यनारायण की कथा सुनले तो इसी से श्री नारायण प्रसन्न हो जाते हैं।

\+ \+ \+

२—बड़े उच्चस्वर से बड़े प्रेम के साथ यदि हम—

'हरे कृष्ण वासुदेव गोविन्द नारायण'

बोलते हैं और बोलने में लज्जा तनिक भी नहीं करते तो इसी से हमारे सब पाप नष्ट हो जाते हैं।

× × ×

३—संत समाज में बैठकर श्री हरिनाम लेते हुये शान्तभाव से जो संत कहें उसे बड़ी ही श्रद्धा भक्ति से मन लगाकर सुनना चाहिये और भूलकर भी कभी कथा कीर्तन में किसी भी प्रकार का विघ्न नहीं डालना चाहिये नहीं तो बड़ा पाप होता है और नर्क होता है।

× × ×

४—श्री हरिनाम ही भवसागर से पार करने वाला है इस कलिकाल में कोई दूसरा साधन दृष्टि नहीं पड़ता। सब काम छोड़कर भी श्रीहरि नाम का नाम अवश्य लो और सब प्रेम से

हरे कृष्ण वासुदेव गोविन्द नारायण

गावो, कीर्तन करो यही कल्याण का मार्ग है।

के तुम सुखके सुख राम'। इसमें जिसका अनुराग हुआ, वही परम भाग्यशाली बना। 'भागत अभाग अनुरागत विराग, भाग जागत आलसी तुलसी हूँ से निकाम को।'

राम नाम मति राम नाम मति राम नाम अनुरागी। होई गये हैं जे होहिंगे त्रिभुवन तेई गिनयत बड़भागी। इत्यादि—

यदि समय मिला तो शीघ्र ही हम पाठकों की सेवा में भगवन्नाम विषयक एक विस्तृत निबन्ध उपस्थित कर सकेंगे।

"श्री राधातत्त्व-धर्म-पाण्डित्य"

(ले०—महर्षि श्री प्रेमप्रकाशजी महाराज)

राधा कृष्ण की चिच्छक्ति हैं। राधाकृष्ण के संयोग से 'ब्रह्माण्ड' की उत्पत्ति हुई। कुछ भक्तों के मन में यह सन्देह होता है कि राधा की उपासना (Radha-Cult) कृष्णोपासना से बहुत नवीन है।

जैसे पाश्चात्य विद्वान पुराणों को रद्दी एवं कपोल कल्पित मानते हैं। वैसे ही हमारे कुछ नास्तिक भारतवासी भी इन अमूल्य ग्रन्थ-रत्नों को तुच्छ समझते हैं। श्री दुर्गा (बुद्धि शक्ति) की प्रेरणा से एक पारगीटर (PARGITER) साहब का ध्यान पुराणों की ओर आकर्षित हुआ है। उनका लिखना है कि भारतीय इतिहास बिना पुराणों की सहायता के लिखना असंभव है।

आद्या 'प्रकृति' के पांच रूप हैं—(१) दुर्गा, (२) राधा (३) लक्ष्मी (४) सरस्वती तथा (५) सावित्री (देवी भागवत ६।१।१) "गणेश-जननी दुर्गा राधा लक्ष्मीः सरस्वती। सावित्री च सृष्टिविधौ प्रकृतिः पञ्चधा स्मृता ॥"

श्री देवी भागवत के अध्ययन से जान पड़ता है कि श्री राधा देवी की शक्ति उच्चतम है। जैसे श्रीकृष्ण परमात्मा के पूर्ण अवतार होते हैं। वैसे ही श्री राधा पराशक्ति के अवतार होते रहते हैं। पुराणों के अनुसार श्री राधा बरसाना निवासी श्री वृषभानु सुता भी है और पराशक्ति भी है।

सब दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति के साथ मोक्ष रूप परमानन्द के लाभार्थ पराभक्ति ही उत्तम उपाय है। भक्ति मार्ग निरुपद्रव है। विष्णु भक्ति ही मुक्तिदायिनी है। पराभक्ति का अभ्यास श्रीमती राधा देवी की कृपा से ही हो सकता है। जब तक भारतीय जनता राधा भाव का अभ्यास नहीं करती तब तक पूर्ण शान्ति अथवा पूर्णानन्द कैसे प्राप्त हो सकता है। प्रार्थना और निष्काम उपासना से ही जीवात्मा को शान्ति प्राप्त हो सकती है। देवर्षि नारद को जब अहर्निश भजन करते हुए शान्ति नहीं प्राप्त हुई तब भगवान् शंकर ने राधा भाव से श्रीकृष्ण परमात्मा की उपासना करने को कहा था। श्र अगस्त्य संहिता में इस प्रकार वर्णन है:—

"श्री महादेव ने कहा—हे रघुनन्दनपरायण मुनि श्रेष्ठ तुम धन्य हो। अत्यन्त गुह्य तत्व और श्रेष्ठतम रहस्य मैं तुम्हें आज कह रहा हूँ। जरा जन्म मृत्युरहित जीवन मुक्त सिद्धों को तथा चिरंजीवी महर्षियों को अथवा गुणातीत भक्तों को अथवा अपरोक्ष ज्ञानियों को जो परम रहस्य ज्ञात नहीं है वह तुम्हें आज बता रहा हूँ।

यह गुप्ततम रहस्य स्वयं श्री जानकीनाथजी ने मुझ से पूर्वकाल में मुझे करुणापात्र समझ कर इस दुर्लभ-तत्व के रहस्य को बताया था। यह तत्व जीवों के लिए कल्याणकारक है। इस तत्व का रहस्य विखिल वेदान्त से भी गुह्य है। यह अति दुर्लभ और आहतमय है। हे ब्राह्मण, मैं तुम्हें उस सहजानन्दप्रद परमतत्व को कहता हूँ। परमात्मा राम और कृष्ण में अचला प्रीति इस रहस्य को जानने से सहज ही में हो जाती है।

भक्ति के पाँच भेद हैं- १) शान्त रस (२) दास्य रस (३) सख्य रस (४) वात्सल्य रस (५) शृङ्गार रस

पांचवा माधुर्य भ्रुकुटिक्षेप, हर्ष प्रभृति विभावों के द्वारा समन्वित रति रूप स्थायी भाव को "शृङ्गार" भाव कहते हैं।

(१) क्रमानुसार साधुसंग, निरहङ्कार, निर्वेद प्रभृति विभाव द्वारा समन्वित स्थाई शान्त भाव ही शान्त रस है।

(२) क्रमशः सम्यक शरणागतत्व, आज्ञा कारित्व, दैन्य प्रभृति विभाव द्वारा समन्वित स्थाई आदर भाव को दास्य भाव कहते हैं।

(३) मधुर वचन, परिहास एवं हर्ष प्रभृति 'विभाव द्वारा सदा युक्त स्थाई भाव को 'सख्य' भाव कहते हैं।

(४) क्रमशः चापल्य, पुलक, अनिष्टशङ्का प्रभृति 'विभाव' द्वारा युक्त स्थाई वत्सलता को 'वात्सल्य भाव कहते हैं।

पांच प्रकार के रसों के आश्रित भक्तों के लक्षण आगे कहे जाते हैं। जो भक्त श्रीमान रघुपति को सर्व परात्पर साक्षात् ब्रह्म जानकर उनका भजन करते हैं। वह (१) शान्त रस के आश्रय हैं।

भगवान् श्री रामचन्द्र करुणा सिन्धु हैं, वह सदा अपने भक्तों की रक्षा करते हैं-इस प्रकार जानकर जो इस श्रेष्ठ सम्बन्ध से उनका भजन करते हैं वह (२) दास्य रसके आश्रय हैं।

जो श्री रघुनन्दन को मित्र और प्रेमपात्र जान परम स्नेह से उनके साथ नित्य रमण करते हैं वह (३) सख्य रस के आश्रय हैं। (अर्जुनप्रभृति भगवान के सख्य भाव के भक्त थे)

बाल स्वरूप, परम सौन्दर्य युक्त, कोमलाङ्ग परमानन्ददायक रूप में भगवान, श्री रामचन्द्र को अपना बाह्य सञ्चारी प्राण समझकर जो भजन करते हैं वह (४) वात्सल्य रस के आश्रय हैं।

माधुर्यमय, मनोहर श्रीरामचन्द्र को अथवा श्री कृष्णचन्द्र को अपना पति जानकर जो सदा उनका भजन करते हैं वह (५) शृङ्गाररस के आश्रय हैं।

मनुष्य के मन (Mind) का विश्लेषण (Analysis) करने पर इन भावों के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्राप्त होता।

संसार में यह चिर परिचित भाव है। इनके ही पूर्ण भाव भगवान् हैं। इन पाँच प्रकार के भावों में जो एक 'प्राकृतिक क्रम' है उसे भी समझ लेना चाहिये। सर्व प्रथम जनक-जननी भाव है। उसके बाद भाव आचार्य भाव (गुरुभक्ति) है। उसके बाद सख्य भाव है। एक भाव की साधना हो चुकने पर दूसरा भाव स्वयं ही आजाता है। सबके अन्त में शृङ्गार भाव आता है। यही भक्ति का श्रेष्ठ भाव है। इसी का नाम राधा भाव है।

श्री चैतन्य महा प्रभु ने राजा रामानन्द राय को श्री गोदावरी नदी के तट पर प्रेम सत्संग करते हुए श्री कान्ता भाव से भी बढ़कर श्री राधाभाव को श्रेष्ठ समझाया था। श्री राधाभाव की दृढ़ता तथा विश्वास के लिए श्री कृष्णचैतन्य ने अपने ही रूपमें श्रीराधाकृष्ण का रूप प्रत्यक्ष श्री राजा रामानन्दराय को दर्शन कराया था।

राध्-धातु से "राधा" पद सिद्ध होता है। जो सर्व परिणाम का साधन करती है, वह राधा है। अतएव, राधा मूल प्रकृति है। जो भक्तों की समस्त मङ्गल कामनाओं को सिद्ध करती है, वह राधा है। आराधन, संराधन, मुक्ति, पूर्ण प्रेम अथवा परमानन्द की प्राप्ति जिनका उद्देश्य है उन्हें राधा या मूल प्रकृति की शक्ति द्वारा ही नित्य पूर्ण आखण्डानन्द प्राप्त हो सकता है। 'रा' दानवाचक है। 'धा' धारणार्थक है। "श्री राधा देवी की कृपा से भारत में निरन्तर रामराज्य, प्रेमराज्य, सत्यराज स्थाई हो।" "यही श्री चरणों में विनीत प्रार्थना है।

'श्रीराम नाम का जप'

लेखक:-श्री अवधकिशोरदास 'श्रीवैष्णव' वेदान्तरत्न, साहित्य धुरीण, रामायण विशारद, भागवत-भूषण

मधुर मधुरमेतन्मङ्गलं मंगलानां, सकल निगमवल्ली यत्फलं चित्स्वरूपम् ।
सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा, सभवति भव पारं रामनामानु भावात् ॥

भगवान् के नाम का जय हो। जो जप मात्र से ही जीवों का परम कल्याण कर देता है उस नाम की बलिहारी है। मधुराति मधुर, परममङ्गलमूल, समस्त निगमागम स्वरूप कल्पलता का अमृत फल, एक बार श्रद्धा किंवा अश्रद्धा से किसी प्रकार संकीर्त्तन करने पर भवसागर से पार कर देने वाले श्रीराम नाम को बार-बार नमस्कार है। "भाव, कुभाव, अनख, आलस हूँ। नाम जपत मंगल दिशि दश हूँ" करना ही जिसका स्वभाव है उस नाम से प्रीति न करने वाले वस्तुत: विधाता से ठगे गये ही हैं। श्री हनुमानजी ने भाव से, वाल्मीकि ने कुभाव से, रावण ने अनख से तथा कुंभकर्ण ने आलस्य से ही श्रीराम नाम का स्मरण किया था परन्तु सबको समानपद प्रभु धाम प्राप्त होकर ही रहा। कौन होगा ऐसा दयालु ? इसीलिये तो महर्षि अगस्त्यजी को कहना पड़ा कि—

'अनेन सदृशो मन्यो जगत्स्वपि न विद्यते'

ऐसा परम मधुर नाम भी सबको मीठा क्यों नहीं लगता इसके उत्तर में अनन्य श्रीराम नाम निष्ठ कविकुल शिरोमणि गोस्वामी श्री तुलसीदासजी ने क्या ही सुन्दर कहा है—

'तुलसी' पूर्व के पाप से, हरि चर्चा न सुहाय। जैसे ज्वर के जोर से, भोजन की रुचि जाय ॥

जिसने इसका अनुपम स्वाद चख लिया है उसकी तो दशा ही दूसरी हो जाती है, सन्तों ने सत्य ही कहा है—

जो मोहि राम लागते मीठे। तो नवरस षटरस सब अनरस ह्वै जाते अति सीठे ॥

\+ + + +

जे रघुवीर चरण अनुरागी। तिन सब भोग रोग सम त्यागी ॥

आज परिस्थिति विपरीत है। संसार कामना की ज्वाला में जल रहा है। शान्ति-सन्तोष-सुख सब स्वप्न की बातें हो गई हैं। श्रीराम नाम और भगवत्प्रेम से हम बहुत दूर चले गये हैं। अग्नि जलाता ही है। जल शीतल करता ही है, सुमन सुगन्ध देते ही हैं। परन्तु उनकी कामना रख कर उनके पास जायं, उनको सेवा संग करें तब न ? श्रीराम नाम जैसा अमोघ अस्त्र रहते हुए भी आज लोलुप संसार काल व्याल के मुँह में जाना ही अच्छा समझता है। मोहमयी मदिरा पीकर उसके नशे में प्रमादी यह जगत् उन्मद हो रहा है।

कामभुजंग डसत जब जाही । विषय नीम कटु लगत न ताही ॥

उसे तो मिश्री ही तीती लगती है। यही बात आज प्रत्यक्ष है। श्रीराम नाम लोगों को तीता लगता है। मीठे लगते हैं विषयी गीत जिनको गाने में लज्जा भी लज्जित हो जाय वैसे गीत आज सर्वप्रिय बन गये हैं, यही कारण है कि जगत् आपदाओं से घिर गया है । यदि आपदाओं से मुक्ति चाहते हैं तो—

आपदामप हन्तारं दातारं सर्व सम्पदाम् । लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥

आपत्तियों को निर्मूल करने वाले; समस्त सम्पदाओं को देने वाले, अखिल लोक का कल्याण करने वाले श्रीराम नाम का बार-बार रटन करो। एक नहीं, दो नहीं, लाखों प्रमाण दिये जा सकते हैं। वेद-शास्त्र-सन्त सभी इस बात पर एक मत हैं, दयामय सन्तों ने अपने लोक साहित्य द्वारा कुछ समझाना बाकी नहीं छोड़ा है, फिर भी दवा क्या करे जो उसे गले से नीचे ही न उतारें ? यही बात आज हम आप चरितार्थ कर दुखी हो रहे हैं। जीते हैं तब तक तो कभी राम नाम रटा नहीं, अन्त में मरने पर "राम नाम सत्य है" पुकारा जाता है, जीतेजी तुलसी गले नहीं लगाई मरने पर चिता पर गाड़ी जाती है इसमें भी रहस्य है। कई बार देखा गया है कि मुरदा में किसी प्रेत का प्रवेश हो जाता है और कभी २ बड़ा उपद्रव कर बैठता है। हैजा के दिनों में बिहार में अभी भी कई बार २०-२० दिन के मुरदे लाल बुलन्द कफन मुंह में डाले हुए उखड़ते हैं और उस कफन चीर को जब तक टुकड़े २ न कर दिया जाय तब तक नाम का हैजा बंध नहीं होता। रुद्रयामल में इस आपत्ति के निवारण के लिये कहा गया है—

शिवे ! शवे न सचारो भवेत्प्रेतस्य कीहीचित् । अतस्तद्दात् पर्यन्तं राम नाम जपो वरम् ॥

हे पार्वति । मुरदा में प्रेत का संचार न हो जाय इसलिये उसके जल कर भस्म हो जाने तक निरन्तर श्रीराम नाम का जप करते रहना ही श्रेष्ठ है।

यही कारण है कि 'श्रीराम नाम सत्य है' पुकारा जाता है, उसी की सत्तासे जीव दुर्गति से बच जाता है, मरने वाला प्रेतयोनि में नहीं फंसता है, तथा श्मशानवासी अन्य जीवों का भी श्रीराम नाम स्मरण से परम कल्याण हो जाता है। 'श्री राम रक्षा' में एक श्लोक है—

पाताल भूतल व्योमचारिणश्छम कारिणः। न द्रष्टुमभिशक्तास्ते रामनाम्नाभि रक्षितम् ॥

श्रीराम नाम से अभिरक्षित मनुष्य को पाताल, पृथ्वी और आकाश में रहने वाले कोई भी छलछिद्र करने वाले दुष्टात्मा क्रूर नेत्र से देख भी नहीं सकते हैं । यही कारण है कि वैष्णवों को प्रेतसिद्धि नहीं होती है। अघोरमन्त्रों का प्रभाव उन पर नहीं पड़ता है। प्रेत साधन प्रकरण में स्पष्ट समझा दिया है कि—

'शव साधन वेलायां राम नाम विवर्जयेत्'

मैं अपने एक सत्संगी सज्जन का उदाहरण देकर यह निबन्ध पूर्ण करता हूँ । ये सज्जन [illegible]पुर जिले के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे, श्री अयोध्याजी आये और साकेत निवासी [illegible]

पं० श्री रामवल्लभाशरणजी महाराज श्री जानकी घाट के द्वारा श्रीराम मन्त्र की दीक्षा लेकर कृतार्थ हुए थे।

आपने बहुत दिनों तक श्रीराम मन्त्र का अनुष्ठान किया परन्तु कुछ प्रत्यक्ष प्रभाव न दीख पड़ा तब उनके ही किसी मित्र ने एक भैरव का अनुष्ठान सिखलाया और नवरात्र में ही सिद्ध हो जाने का पूरा विश्वास दिला कर इनको अनुष्ठान करने बैठा दिया। अनुष्ठान ग्यारहवें दिन पूर्ण हुआ तब उनको स्पष्ट शब्द सुनाई पड़ा कि "मांगो-मांगो मैं वरदान देता हूँ" इन्होंने पूछा कि कि आप कौन है? उन्होंने कहा कि मैं 'भैरव देव हूँ'। इन्होंने कहा कि—"तब आप प्रत्यक्ष दर्शन देने की कृपा करें।" भैरव देव ने कहा। मैं आपके सामने नहीं आ सकता, आपने एक ऐसा मन्त्र जपा है उसका तेज मैं सह नहीं सकता हूँ। इस पर ब्राह्मण देव ने कहा—तब उस तेज को हम क्यों नहीं देखते हैं? श्री भैरव देव ने कहा कि "अभी आप उस योग्य नहीं बने हैं, कुछ दिन और लगेंगे।" इस बात पर हमारे इन सज्जन की आँखें खुल गयीं और इन्होंने पूर्ण विश्वास पूर्वक श्रीराम मन्त्र का ही अनुष्ठान कर अपना जीवन सफल किया।

अभी नयी दिल्ली २ सितम्बर की भारतीय संसद के डेपुटी स्पीकर श्री एम० अनन्तशयनम् आयंगर ने घोषित किया है कि तीन वर्ष पूर्व कोबरा (दर्वीकर) से दंशित एक युवती को आपने स्वस्थ किया, युवती ठंडी पड गयी थी, आपने लगभग एक सहस्र 'नारायण' नाम जप किया, जिससे वह मूर्छित अवस्था से होश में आगयी और नवजीवन प्राप्त किया, यह बात आयंगर ने स्वामी शिवानन्दजी की ६५ वीं वर्ष गांठ के समारम्भ पर भाषण करते हुए कही (टाइम्स ऑफ इण्डिया)।

संसार सर्प से दंशित जीवों का त्राण करने वाले श्री प्रभु नाम के लिये तो यह अत्यल्प बात है। परन्तु हमें तो आज भी प्रत्यक्ष शिक्षाप्रद उदाहरण मिलते ही हैं।

अन्त में मेरी यही प्रार्थना है कि प्रचण्ड तेजपुंज सूर्य भी आवरण रहित होने पर ही पूर्ण प्रकाश देता है। आवरण रहित पारस और लोह का संसर्ग कंचन सिद्धि प्रदान करता है। आवरण रहित अग्नि ही जलाने में समर्थ होता है। अमृत भी निरावरण उदरस्थ होने पर ही अमरता देता है। आवरण रहने पर भी बिलकुल व्यर्थ तो नहीं जाता परन्तु आवरण जलाने, हटाने, पचाने आदि में कुछ समय तो लग ही जाता है। उसी प्रकार श्रीराम नाम का जप संकीर्तन भी नामापराध त्याग कर अनन्य श्रद्धा के साथ करने पर प्रत्यक्ष परमानन्द प्रदान करता है, अन्यथा कुछ विक्षेप आवरण कर ही देते हैं। आज के युग में हम सर्वथा निर्दोष विशुद्ध प्रेमी यदि तत्काल न बन सकें तो श्रीराम नाम के अमोघ बल पर उनसे छुटकारा पाने के लिये अनन्य भाव से श्री प्रभु के शरण जाना चाहिये, प्रभु अवश्य हमारे हृदय को विशुद्ध कर देंगे, उनकी कृपा नाम जापक पर अपार रहती है। 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा' उनकी अमर वाणी है। हमें तो श्री नाम महाराज का अवलम्ब ही एक मात्र आधार है। रूप सम्पत्ति तो श्रीजू की निज सम्पत्ति है परन्तु नाम सम्पत्ति तो भक्तजनों को स्वेच्छा पूर्वक उपयोग करने के लिये सौंप दी गयी है। यही नाम श्रीजू का भी जीवन धन है, यदि नाम स्मरण करते रहे तो श्रीजू भी, परम करुणामयी मां भी, स्वरूप साक्षात् कराने में विलम्ब न करेंगी—

* बोलिये श्री सीताराम नाम महाराज की जय *

प्रभु श्री गौरांग देवजी की श्री व्रजलीलाओं पर भावना

[लेखकः—श्री रामदासजी शास्त्री, साहित्यरत्न संपादक भक्तभारत]
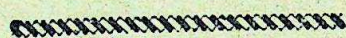
कलि-कल्मष कलुषित-हृदय एवं त्रिताप-जनित-पीड़ा-पीड़ित-प्राण तथा माया मोहित-मानसिक व्यथा-व्यथित मानव की दयनीय दशा को देख कर परम करुणा वरुणालय प्रभु ने श्री गौर सुन्दर रूप में प्रकट होकर अपने स्वयं आचरणों के द्वारा लोक को शिक्षा देते हुए शुभ मंगल रूप मार्ग उपस्थित किया है। यद्यपि एक ही अखिल ब्रह्माण्ड नायक भगवान समय-समय पर तत्कालानुरूप शक्तियों का प्रकाश करते हुए प्रगट होते हैं, और उन अपने रूपों द्वारा विश्व का कल्याण करते हैं तथापि हम देखते हैं, इस कलि-काल ग्रस्त पापात्मा-प्राणियों के त्राण के लिये भगवान का प्रभु गौराङ्ग रूप में अवतरित होना आज की लोक स्थिति के लिये महान उपयुक्त था। प्रभु श्रीकृष्ण-चैतन्यदेव ने एक ओर जहां बड़े २ पापी-तापी यवनादि एवं आचाण्डाल पर्यन्त जीवों को भी गले लगा कर उनका कल्याण किया वहां दूसरी तरफ सबसे बड़ी देन जो प्रभु निमाई ने भावुक-भक्तों के लिये दी वह है श्री व्रजलीला की निगूढ़ रहस्यमय भावनाओं से सम्पन्न माधुर्य स्थिति की सर्वोत्कृष्ट-रस-प्रणाली।

यद्यपि माधुर्य रस में स्थायी रतिभाव की उपासना से नित्य भगवद्दास यह जीव श्री हरि के सान्निध्य को प्राप्त कर लेता है किन्तु माधुर्यरस की स्वकीयाभाव उपासना में स्वकीय ज्ञान से कादाचित्कशैथिल्य को स्थान मिलता है। स्वीयत्वज्ञान विशिष्ट यह शिथिलता, उत्कृष्ट रस-धारा प्रवाहित जन के लिये एक त्रुटि ही होगी—अतएव करुणा-वरुणालय श्री हरि ने शैथिल्य-संजिहीर्षा से श्रीचैतन्य रूप में प्रगट होकर "आराध्यो भगवान" इत्यादि उक्त परकीया भाव का उपदेश किया।

परकीया भाव की उत्कृष्ट भावना-भावित प्रभु ने उन्मत्त की भांति होकर स्वयं भी इस महाभाव का रसास्वादन किया है। यह बात उनके 'शिक्षाष्टक' निम्न श्लोक से व्यक्त है:—

> आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मा—
> मदर्शनान् मर्महतां करोतु वा।
> यथा तथा वा विदधातु लम्पटो
> मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥

उक्त श्लोक में 'लम्पट' शब्द से स्पष्ट परकीयात्व की भावना विदित होती है। नीलाचल (जगन्नाथपुरी) में विराजमान श्री गौराङ्गदेव को श्रीपाद रूप गोस्वामीजी द्वारा दर्शनार्थ प्रेषित पत्रिका मिली तो श्री मुख से यह श्लोक निकल पड़ा—

> परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृह कर्मसु।
> तदेवास्वादयत्यन्तर्नव संग रसायनम्॥

रस-विशेषज्ञ महानुभाव इस श्लोक का आशय ठीक तरह से समझ सकेंगे। स्वकीयात्व-जनित शैथिल्य के इस भाव में स्थान नहीं है।

रसिक शेखर श्रीमाध्व गौड़ेश्वर संप्रदायाचार्य—

श्री नरोत्तम ठाकुर महाशय द्वारा रचित 'श्रीप्रेमभक्ति चन्द्रिका" की एक त्रिपदी द्वारा यह विषय और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है, त्रिपदी इस प्रकार है:—

नूपुर-मुरली-ध्वनि, कुलवधू मरालिनी, सुनिञा रहिते नारे घरे। हृदये वाढ़ये रति, येन मिले पति सती, कुलेर धरम गेल दूरे ॥

अर्थात् कुल वधू मरालिनी गोपियां श्रीकृष्ण के नूपुर एवं मुरली ध्वनि को सुन कर घर में न रह सकीं और उनके हृदय में श्रीकृष्ण विषयिनी रति उद्दीप्त हो उठी। सती नारी जिस तरह अपने पति से मिलने के लिये तड़फ उठती है उसी तरह अपने प्राण-वल्लभ की प्राप्ति के लिये गोपियों ने दुस्त्यज लोक-धर्म-मर्यादा का उल्लङ्घन करके अपनी गति को निर्बाध बना लिया।

श्री माध्व गौड़ेश्वर सम्प्रदायाचार्य श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ने उक्त ग्रन्थ की टीका करते हुए परकीयात्व की चरम सीमा प्रदर्शित की है— "ब्रजललनाएँ परवधू थीं और श्रीकृष्ण पर पुरुष थे"— इस सिद्धान्त की पुष्टि ठाकुर महाशय के उक्त पद्य से तो होती ही है—साथ ही शास्त्रीय प्रमाण भी परकीया भाव के पोषक हैं श्रीमद्भागवत १०।२९।७। का यह श्लोक निर्विवाद है।

ताः वार्यमाणाः पतिभिः, पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः।
गोविन्दापहृतात्मानो, न न्यवर्त्तन्त मोहिताः ॥

अर्थात् पति-पुत्र प्रभृति बान्धव गण शत-शत प्रयत्न करने पर भी उन गोविन्दापहृतात्मा गोपियों को घर में रखने के लिये समर्थ न हो सके।

हां, प्रगतिशील अनुरागी जनों को यहां एक प्रश्न करने का अच्छा अवसर मिल जाता है—यह मिलना भी चाहिये, राजा परीक्षित जैसे महाभागवत के हृदय में भी यदि ऐसे प्रश्न उठ सकते हैं तो कलि-हतधी पुरुषों की बात ही क्या है। अस्तु-यह कहा जाता है कि जो भगवान सकल नियन्ता, सर्वेश्वर, अधर्म के निवारक और धर्म के संस्थापक समझे जाते हैं, जिनकी लीलामाधुरी आत्माराम-मुनीगण-वन्द्य श्री शुकदेवजी जैसे ज्ञानैकनिष्ठ के चित्त को भी आकर्षित कर लेती है-क्या वह व्रजराजनन्दन श्रीकृष्ण भी व्रजदाराभिमर्षण-जनित दोष-संस्पर्श से कलङ्कित है? और क्या इसी तरह वे व्रजललनाऐं भी – जिनसे कि धर्म परायण अरुन्धती प्रभृति भी पातिव्रत की भिक्षा मांगती है, तथा श्रुतिगण भी भाव प्राप्ति के निमित्त उनका आनुगत्य स्वीकार करके गोपी रूप से जन्म धारण कर प्रगट होते हैं। श्री उद्धव जैसे हरिदास ने भी वर्षों जिन गोपियों के भाव निर्दोषता की घोषणा करते हुए स्वयं उनके बीच में रहने की अभिलाषा प्रगट की है आत्माराम-चूड़ामणि श्री शुकदेवजी ने भी अनुराग विलसित लीला समूह का वारबार कीर्त्तन किया है और धार्मिक-प्रवर महाराज परीक्षित जी ने भी जिनकी मधुमयी लीलाओं को ध्यान पूर्वक श्रवण किया है—वे परमवन्द्या श्री व्रजाङ्गनागणों को व्यभिचारिणी कह कर निन्दाभाजन बनाया जा सकता है क्या?

श्रीमद्भागवत के रास पंचाध्यायी प्रकरण में श्रीशुकोक्ति द्वारा इस शंका के सम्बन्ध में स्पष्ट कर दिया गया है कि "धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्। तेजीयसां न दोषाय, वह्नेःसर्वभुजो यथा" इसके आगे यह भी समझा दिया गया है कि कदाचित् मायिक बुद्धिवाला अनीश्वर जीव इस के सम्बन्ध में कुछ भी साहस करेगा तो निश्चय ही नाश को प्राप्त होगा—विष को पान करने की शक्ति तो शिव में ही थी। जनसाधारण से यह संभव नहीं है। "नैतत्समाचरेज्जातु मनसाऽपि ह्यनीश्वरः। विनश्यत्याचरन्" इत्यादि में स्पष्ट है। किन्तु बुद्धि का स्वभाव है कि वह जहां तक संभव होता है अपनी दौड़ धूप करती है और किसी भी वस्तु के तह में पहुंचना चाहती है इसलिये उक्त विषय को शास्त्र प्रमाण सम्मत हो जाना भी ठीक होगा।

समझना यह है कि श्रीकृष्ण क्या वस्तु है ? इस सम्बन्ध में वेदादि सकल शास्त्रों ने श्रीकृष्ण को अखिल ब्रह्माण्डधिपति, जगन्नियन्ता परमेश्वर स्वीकार किया है। यथा—कृष्णो वै परम दैवतम्"—गोपाल तापिनी। "कृष्णस्तु भगवान स्वयम्"—श्रीमद्भागवत।" ईश्वरः परमःकृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः। अनादिरादि गोविन्दः सर्व कारण-कारणम्॥" ब्रह्म संहिता। इत्यादि अनन्त प्रमाण समूह विद्यमान है। इसी तरह समस्त शास्त्रों ने श्री व्रजाङ्गनाओं को भी नन्द नन्दन श्रीकृष्ण की निज शक्ति कह कर कीर्त्तन किया है। यथा—'गोपी जन्मा: विद्या-कलाप्रेरकः" गोपी समूह सम्यक रूप से श्रीकृष्ण को वश करने वाली कला अर्थात श्रीकृष्ण की स्वरूप भूता शक्ति विशेष हैं और श्रीकृष्ण उनके वल्लभ हैं। "स वो हि स्वामी भवति"—गोपाल तापिनी श्रुति। "पादन्यासै"... इत्यादि। श्रीमद् भागवत (१०।३३।८) के श्लोक में—"कृष्णवध्वः" कह कर व्यक्त किया है। 'अनेक जन्मसिद्धानां गोपीनां पति-रेव वा"—गोतमीय तन्त्र। आनन्दचिन्मय रस प्रतिभाविता भिस्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः—ब्रह्मसंहिता इत्यादि अनेक स्थलों में व्रजरमणियों को नन्दनन्दन श्रीकृष्ण की शक्ति एवं प्रेयसी रूप से वर्णन किया गया है। ऋकपरिशिष्ठ में 'राधयामाधवो देवो...' इत्यादि से सिद्ध है कि श्रीकृष्ण अन्य परिकर की अपेक्षा श्रीराधिका जी के साथ ही अधिक रूप विहार करते हैं।

सुतरां, उक्त वचनों से यह प्रगट होता है कि राधा आदि समस्त व्रज गोपिकाएें श्रीकृष्ण की नित्यप्रेयसी और निज शक्ति रूपा हैं और श्रीकृष्ण ही उनके नित्य कान्त हैं। इस सिद्धान्त के स्थिर होने से उपरोक्त शंका निर्मूल हो जाती है। 'परदाराभिमर्षण' आदि दोषों को स्थान ही नहीं है। किन्तु साथ ही एक जिज्ञासा और प्रगट होती है—उसे भी समझ लेना चाहिये—वह यह है कि—श्री व्रजाङ्गनागण और श्रीकृष्ण के 'नित्य प्रेयसी एवं नित्य कान्त रूप' सत्य सिद्धान्त के स्थिर होने से तो पूर्वोक्त श्री चैतन्य चरितामृत एवं श्रीमद्भागवतादि के द्वारा वर्णित 'परकीयात्व में विशेष रसोल्लास' आदि संघटित नहीं हो सकेंगे ? यहां पूर्वापर का सामाञ्जस्य करना होगा। व्रज-लीला की भाव-गाम्भीर्यता का कुछ दर्शन यहां होता है। "परवधू और पर-पुरुष रूप परकीयात्मक भावना में ही व्रजमाधुरी का चरम रसोत्कर्ष निहित है"—इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए पतित पावन, स्वभजन विभजन प्रयोजनावतार प्रभु श्री गौराङ्ग देव ने भी उन्मत्त होकर इस भाव का आस्वादन किया है। नित्यकान्त नित्यप्रेयसी रूप स्वकीयात्व रहते हुए भी एक विशेष सर्वाधिक भावना का आनन्द लेने के लिये ही "परवधू एवं परपुरुष" की भावना मात्र है। जैसा कि शास्त्र में वर्णित है। ब्रह्मसंहिता आदि में—"आनन्द चिन्मयरस प्रतिभाविताभिः" इत्यादि वाक्यों के आगे वर्णन किया है—"गोलोक एवं निवसत्य-खिलात्मभूते गोविन्दमादि पुरुषंतमहं भजामि" इससे रसिक शेखर श्रीकृष्ण का गोलोक में नित्य विहार (स्वकीयाभाव में) सिद्ध है—किन्तु इस विहार में भी किसी रस विशेष की कमी रह जाती है, क्योंकि स्वकीयात्व में सीमा उल्लङ्घन नहीं होता—अतएव एक अपूर्व आकांक्षा के वशवर्ती होकर परमानन्दकन्द भगवान श्रीकृष्णचन्द्र यह संकल्प करते हैं।

वैकुण्ठाद्ये नाहि ये ये लीलार विस्तार।
से से लीला करिमू याते मोर चमत्कार॥

—चैतन्य चरितामृत

श्रीकृष्ण की ये आकांक्षा कोई आगन्तुक वस्तु नहीं है, उनका तो ये स्वभाव ही है, वे परिपूर्ण परमानन्द

स्वरूप होते हुए भी अपने उस सुख का आनन्द प्राप्त करने के लिये लालायित होते हैं। "सुखरूप कृष्ण करे सुख आस्वादने" चै० चरितामृत। रसकृत उत्कर्ष ही श्रीकृष्ण स्वरूप की असाधारण विशिष्टता एवं रसिक शेखरता का प्रतिपादक है। "रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा-रसस्थितिः"—भक्तिरसामृतसिन्धु। सम्प्रदायाचार्यों के सिद्धान्तानुसार मुख्य भक्तिरस में एक श्रृङ्गार रस में ही सब भावों का समावेश है, अतएव वही सर्वापेक्षा श्रेष्ठ है। श्रृङ्गार रस का भी चरमोत्कर्ष परकीयाभाव में ही प्रतिष्ठित है। "अत्रैव परमोत्कर्ष श्रृङ्गारस्य प्रतिष्ठितः"—उज्जवलनील-मणिः। अतएव श्री गौर सुन्दर की भी ब्रजलीलाओं पर सर्वोत्कृष्ट भावना यही है। श्रीकृष्ण जब यह विचार करते हैं कि गोलोक में भी चरमोत्कर्ष अवस्था का रसास्वादन नहीं मिला—तथा च रसगत उत्कर्ष चरमावस्था का आस्वादन एक मात्र उस व्रजभूमि पर ही मिल सकता है। तब इसी हेतु परकीया भाव में अव्यभिचारिणी नित्य स्थिति के आस्वादन के निमित्त ब्रजलीला का विस्तार करते हैं। लेख के कलेवर विस्तार का भय है—अतएव श्री चैतन्य चरितामृत कार के निम्न पद्यों के साथ हम इसे विराम देते हैं:—

परकीया भावे अतिरसेर उल्लास।
व्रजविना इहार अन्यत्र नाहिं वास।
व्रजवधू गठोर एइ भाव निरवधि।
तार मध्ये श्रीराधार भावेर अवधि॥
प्रौढ़ निर्मल भाव प्रेम सर्वोत्तम।
कृष्णेर माधुरी आस्वादनेर कारन॥

—:❀ श्री भगवन्नाम जप कराइये ❀:—

श्री वृन्दावन में लगभग ८०० गरीब माइयां प्रति दिन प्रातः एवं सायंकाल ६ घन्टे परम मंगलमय श्री भगवन्नाम जप एवं संकीर्तन करती हैं। इन्हें आश्रम द्वारा अन्न, वस्त्र व पैसों की सहायता दी जाती है। एक माई प्रति दिन एक लाख श्री भगवन्नाम जप कर सकती है।

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

कलियुग में संसार सागर से पार उतरने का एक मात्र सुगम उपाय श्री भगवन्नाम जप करना ही शास्त्रों में वर्णित है। सभी महानुभावों को स्वयं अधिक से अधिक भगवन्नाम जप करने की चेष्टा करनी चाहिये।

जो महानुभाव अपनी ओर से गरीब माइयों द्वारा श्री भगवन्नाम जप कराना चाहें वे कृपाकर हमें सूचित करें। भजनाश्रम में लगभग ८०० गरीब माइयाँ आती हैं। जिनमें से इस समय ५०० माइयां दानदाताओं की ओर से भजन कर रही हैं। बाकी माइयों से भजन कराने के लिये हम सभी सज्जनों से निवेदन करते हैं कि अपनी अपनी श्रद्धा व प्रेम अनुसार जितनी माइयों द्वारा जितने माह के लिए आप चाहें अवश्य भजन कराइयेगा एवं अपने इष्ट मित्रों का भी भजन कराने के लिये प्रोत्साहित कीजियेगा।

एक माई को नित्य प्रति साढ़े चार आने की सहायता दी जाती है। इस हिसाब से एक माह का ८।≡) और एक वर्ष १०१।) खर्च लगता है। पत्र व्यवहार एवं मनीआर्डर भेजने का पता:—

मन्त्रीः—भगवान भजनाश्रम
मु० पोस्ट, वृन्दावन।

सदाचार और उससे कल्याण

(लेखक--पं० श्री बैजनाथजी अग्निहोत्री)
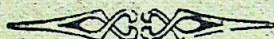
आचार जीवन है अनाचार मृत्यु। महानता, उच्चता, विवेकशीलता, अहंकार-शून्यता, यश, वैभव आदि का कारण है आचार। किसी भी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के उत्थान का कारण भी आचार ही है, इसके विपरीत लघुता, नीचता, अज्ञानता, अहम्मन्यता एवं पतनादि के कारण हैं आचार हीनता। धर्म मूलक आचार ही 'सदाचार' कहा जाता है। वास्तव में आचार ही परम धर्म एवं परम तप है, आचार से आयु वृद्धि तथा पाप का नाश होता है। आचार मोक्ष का साधन होने से मानव को मोक्ष के योग्य बना कर परमानन्द की प्राप्ति भी करा देता है, इसी से भारत में सदाचार का महत्वपूर्ण स्थान है। वैदिक मतावलम्बियों में आचार का वही स्थान है जो शरीर में प्राण का। बिना प्राण शरीर एक क्षण भी नहीं रह सकता, इसी प्रकार आचार बिना जीवन भी एक पग प्रगतिशीलता की ओर नहीं बढ़ सकता।

कोई भी युग हो बिना आचार के व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र की न तो स्थिरता हो सकती है और न सहकारिता, प्रेम तथा कल्याण ही हो सकता है। वर्तमान नास्तिक युग प्रधान में भी 'नैतिकता' की दुहाई नास्तिकों द्वारा ही दी जाती है, यह नैतिकता भी दूसरे शब्दों में कहा हुआ आचार ही है। नास्तिक भले ही धर्म तथा संस्कार का शत्रु हो किन्तु आचार के कुछ अंशों के बिना उसका भी कार्य नहीं चल सकता, जिन आचार के अंशों में विरोध पड़ता है उनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष धर्म तथा संस्कार से होने के कारण ही। आस्तिक व्यक्तियों का तो जीवन आचार मय ही है, धार्मिक शिक्षा के अभाव में सर्व साधारण को भले ही आचार का ज्ञान न हो किन्तु किसी न किसी रूप (विकृत रूप) में प्रत्येक कार्य आचार युक्त ही होता है। आचार, संस्कार एवं धर्म का सम्बन्ध एक दूसरे से इतना ओत प्रोत है कि किसी को भी पृथक नहीं किया जा सकता। पृथक करने से तीनों अर्थ शून्य--व्यर्थ हो जाते हैं। शरीर में प्राण आचार है तो संस्कार मन एवं जीवात्मा धर्म है। या मानसिक संकल्प धर्म, वाणी द्वारा व्यक्त करना संस्कार तथा क्रिया रूप में परिणत करना आचार है। इन तीनों को इसके द्वारा भी समझा जा सकता है, रोग निवारण के लिये चिकित्सक प्रथम निदान की खोज करता है फिर औषधि की। औषधि के साथ ही चिकित्सक आहार, विहार भी बतलाता है, तात्पर्य रोग निवारणार्थ निदान, औषधि एवं पथ्य की आवश्यकता होती है, यदि इनमें से किसी एक को त्याग दिया जावे तो पूर्णतः लाभ नहीं होता, अपितु कभी कभी तो जीवन से भी हाथ धो लेना पड़ता है। जो सम्बन्ध रोग निवृत्त हेतु निदान, औषधि एवं पथ्य का है वही सम्बन्ध धर्म, संस्कार तथा आचार का है। प्राणी भी अज्ञान रोग से ग्रसित होकर संसार में नाना प्रकार की यातनाओं को भोगता अनेक पशु, पक्षी, वृक्षादि योनियों में गमनागमन कर्मानुसार करता और शोक, मोह से संतप्त रहा करता है, अपने पास सुख सिन्धु होते हुये भी नारकीय दुःख में पड़ा रहता है। प्रत्येक प्राणी की स्वाभाविक प्रवृत्ति वैषयिक भोगों की ओर ही अधिकतर हुआ करती है, इसका कारण है 'इन्द्रियों की बहिर्मुखता'। भोगों से वासना होती है और वासना

से पुनः भोग की इच्छा, इस प्रकार वासना और काम के संस्कार बनने से प्राणी अपने स्वरूप सुख सिन्धु को नहीं पाता-अन्तर्मुखता नहीं हो पाती। इच्छा की पूर्ति न होने से क्रोध, सम्मोह, स्मृति विभ्रम, बुद्धि नाश एवं बुद्धि नाश से प्राणी का पतन, होजाता है। इस पतनावस्था में शुभाशुभ, पाप पुण्य, कर्तव्याकर्तव्य आदि का कुछ भी भान नहीं रहता, केवल जिस किसी भी प्रकार धन स्त्री आदिक विषयोपभोग की वस्तुयें प्राप्त होसकें वही करने लगता है, परस्वत्वापहरण, आदिक कार्य उसके साधारण कार्य हो जाते हैं। इन नारकीय अशुचि एवं बन्धनकारक दोषों से मुक्ति पाने के लिये हमारे आध्यात्मिक त्रिकालज्ञ ऋषियों ने जिन्हें आध्यात्मिक चिकित्सक भी कह सकते हैं। अपने ज्ञान बल से पतन रोग के शमनार्थ एवं स्वस्थ जीवन धारण करने के लिये निदान, औषधि एवं पथ्य स्थानीय धर्म, संस्कार एवं आचार बतलाये। 'क्या करें और क्या न करें' शुभाशुभ, पुण्य, पापादि का ज्ञान धर्म से ही होता है, पतनावस्था से ऊपर उठने में सहायक ही शुभ, पुण्यादि कहे गये हैं, इसके विपरीत अशुभ पापादि। अधर्म से ही पतन प्रारम्भ होता है, अतः उत्थान के लिये 'धर्म' ही निदान है। वैषयिक भोगों के संस्कार ही प्राणी को बलात् भोगों में प्रवृत्ति कर देते हैं, अतः गर्भाधानादि संस्कार द्वारा वासना क्षीण होती है। एवं उत्तम गुणों का विकास होता है, इस कारण 'संस्कार' ही औषधि है आहार विहार पथ्य स्थान य ही 'आचार' है। कितना ही सुन्दर निदान एवं औषधि क्यों न हो यदि रोगी कुपथ्य करता है तो लाभ नहीं होता अपितु हानि ही होती है, इसी प्रकार धर्म तथा संस्कार होने पर भी यदि प्राणी सदाचार युक्त नहीं तो कोई लाभ नहीं अपितु हानि ही होती है। यदि नियमित आहार, विहार युक्त ही व्यक्ति हो तो रोग की सम्भावना ही नहीं की जा सकती कभी कभी केवल आहार, विहार समुचित होने से भी रोग निवारण होते देखे जाते हैं, भले ही औषधि सेवन न करता हो, हां कुछ विलम्ब अवश्य हो सकता है, इसी प्रकार सदाचार परायण पुरुष भी उन्नति कर सकता है किन्तु सदाचार रहित होकर उन्नति की आशा मरुभूमि से तेल निकालने के समान है। यही कारण है कि हमारे शास्त्रों में सदाचार की महिमा बड़ी विशदता के साथ वर्णित है सदाचार को ही श्रेष्ठ धर्म कहा गया है—'आचारः परमो धर्मः।'

सदाचार से उपर्युक्त अलौकिक लाभ ही होता हो ऐसा नहीं, सदाचार से प्रत्यक्ष लौकिक लाभ भी कम नहीं होते। सदाचार से काम, क्रोध, मद, मोह, मात्सर्य, क्रूरता, हिंसा आदि का अभाव होता है एवं सत्य, क्षमा, सरलता, ध्यान, त्याग, दान तथा इन्द्रियों का संयम, सर्वदा प्रसन्नता, कोमलता, शौचादि का भाव आता है। शरीर आरोग्य रहता है, पूर्ण आयु होती है। गार्हस्थ्य जीवन सुन्दर एवं मानसिक शान्ति प्राप्त होती है। परोपकार मय जीवन होता है, प्रत्येक व्यक्ति वह विद्वान, बलशाली धनवान या श्रमजीवी कुछ भी क्यों न हो एक दूसरे का पूरक होता है, पोषक होता है, शोषक नहीं। व्यक्ति से समाज, समाज से राष्ट्र, राष्ट्र से संसार के स्वार्थ की ओर प्रस्थान करना सदाचार से ही होता है। सदाचार से कर्तव्य भावना आती है, अधिकार भावना नहीं, अधिकार तो सदाचार परायण पुरुष के समीप स्वतः आता है। प्रायः वर्तमान काल में अधिकार की ही धूम हो रही है, कर्त्तव्य को कोई नहीं कहता, इसका कारण सदाचार से दूर होते जाना ही है। निकट हो या दूर बिना सदाचार के व्यक्ति समाज या देश किसी का भी कल्याण नहीं। क्या ही सुन्दर हो लोग इस ओर ध्यान दें। लौकिक हो या पारलौकिक सदाचार ही कल्याण की कुंजी या आधार भित्ति है।

धर्म या सदाचार कोई आकाश से टपकने वाली वस्तु नहीं और न कोई मौखिक कल्पना ही है, किन्तु व्यक्ति के नित्यप्रति जीवन में सम्बन्धित कृत्य ही सदाचार हैं। यदि सदाचार का दैनिक जीवन से सम्बन्ध नहीं तो व्यर्थ हैं, कोरी कल्पना है। हमारे पूर्वज अलौकिक द्रष्टाओं ने इस पर बड़ा ही गम्भीर विचार किया है। प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव एवं रुचि भिन्न भिन्न होती है, इस कारण एक ही कर्म से सब का कल्याण नहीं हो सकता और स्वभाव विपरीत होने से न प्रवृत्ति ही हो सकती है, इसीलिये विभिन्न स्वभावानुसार भिन्न भिन्न आचरण नियत किये गये हैं, इसमें देश, काल तथा परिस्थिति का भी पूर्णतया ध्यान रखा गया है। धर्म के विवेचन में दो प्रकार के भेद किये गये हैं, प्रथम तो सार्वदेशिक तथा सार्ववर्णिक है, इसमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, काम-क्रोध-लोभ से रहित होना और प्राणियों की प्रिय और हितकारिणी चेष्टा में तत्पर रहना आदि आचरण समस्त व्यक्तियों के लिए एक सा बतलाया गया है, इसे सामान्य धर्म कहा गया है। द्वितीय भेद को विशेष धर्म कहा गया है, यह विशेष धर्म सामान्य धर्म का पूरक है, इसी में प्रत्येक व्यक्ति के गुण, स्वभावानुसार आचरण बतलाये गये हैं। गुरु का शिक्षा देना, शिष्य का शिक्षा ग्रहण करना, छोटों का अभिवादन करना, बड़ों का आशीर्वाद देना, इसी प्रकार बालक, युवा, वृद्ध तथा स्त्री आदि के भिन्नता युक्त आचरण होना स्वाभाविक ही है। शिक्षार्थी को गुरु के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिये, कितना समय सोने में और कितना अध्ययन में लगाना चाहिये, कौन से भोज्य पदार्थ में क्या गुण हैं और क्या अवगुण हैं इसका विश्लेषण करके बतलाया है कि यह भोजन करना चाहिये और यह न करना चाहिये, तामसिक, कामोत्तेजक, वीर्यपातक तथा चंचलता आदि बढ़ाने वाले भोजन का निषेध है, इन भोजनों से अध्ययन में बाधा पड़ती है और बिया स्थिर नहीं रहती। इसी प्रकार गृहस्थ और यति के आचरण भी भिन्न हैं, यति के लिये 'संग' दोष है तो गृहस्थ के लिये स्वाभाविक तात्पर्य किस आचरण से किसका कल्याण होता है यही ध्यान में रख कर कहा गया है। इस प्रकार समस्त अहोरात्रि के आचरणों का नियमित होना ही सदाचार है। आज कल प्रायः नवशिक्षित वर्ग आक्षेप करते हैं कि 'हिन्दुओं ने तो क्या खाना चाहिये, कैसे खाना चाहिये, कैसे बैठना चाहिये आदि को ही धर्म मान लिया है।' ऐसे लोगों से क्या कहा जाय जिन्होंने इस साधारण सी बात को भी नहीं समझा है, प्रत्येक वस्तु में गुण विद्यमान है उसके सेवन से हमारे मस्तिष्क में—विचारों में क्या प्रभाव पड़ता है और उससे कैसा आचरण होता है, इन बातों को ध्यान में रख कर ही क्या खाना चाहिये, क्या न खाना चाहिये बतलाया गया है। इसी प्रकार उठने, बैठने, शौचादि में भी भिन्न भिन्न प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं। वास्तव में ऐसे लोगों के विचार पाश्चात्य भोग विलास मय जीवन से दूषित हो रहे हैं और जहां भी संयम की बात आयी कि धर्म की खिल्ली उड़ाने में ही गौरव का अनुभव करते हैं, उन्हें न धर्म में विश्वास है और न ईश्वर में।

यह एक निश्चित सी बात है कि पर सम्पत्ति हरण, अपने स्वार्थ के लिये दूसरे का जीवन भी बलिदान करना, दूसरे के अधिकारों का हनन, घूस, भ्रष्टाचार आदि की जिनकी भरमार हो रही है रोकने का एक मात्र उपाय धार्मिक आचरण ही हैं। इसकी जब तक अवहेलना होती रहेगी यह कदापि बन्द न होंगे फिर सुख, शान्ति के तो दर्शन ही कहां? सदाचार से परस्वत्वापहरण, असन्तोष, अधिकार एवं भ्रष्टाचार का निवारण होता है। तथा सन्तोष, सात्विक जीवन परोपकार मय बन जाता है। अतः सदाचार से पुरुष, समाज, देश एवं संसार का कल्याण होता है तथा ईश्वर की प्राप्ति भी इसी से होती है।

-: अनर्थ, स्वार्थ और परमार्थ :-

(ले० पं० श्रीरामजी शर्मा, आचार्य, सम्पादक अखण्ड ज्योति)

हम देखते हैं कि दुनियां में स्वार्थ सर्व प्रधान है। हर प्राणी सबसे पहले अपने स्वार्थ को प्रधानता देता है, कोई व्यक्ति उस काम को करने के लिये तैयार नहीं हो सकता, जिसमें उसे कुछ लाभ न हो। छोटे से लेकर बड़े तक जो भी काम हम करते हैं पहले उसमें लाभ हानि का विचार कर लेते हैं। तदुपरांत उसे करते हैं, मूर्ख से मूर्ख भी यह समझ कर किसी काम में हाथ नहीं डालेगा कि इसमें मुझे हानि होगी। सच तो यह है कि स्वार्थ की ऐसी बहूमूल्य कसौटी परमात्मा ने हमें दी है जिस पर कस कर हम जान लेते हैं कि कौन काम खरा है, कौन खोटा है? किसे करना चाहिये, किसे न करना चाहिये। स्वार्थ जीवन की सर्वोपरि आवश्यकता है, इसलिये उसका सदैव ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यकीय है।

पाठकों, को यहां सन्देह उत्पन्न हो सकता है, यदि स्वार्थ इतनी ही उत्तम वस्तु है तो उसे बुरा क्यों कहा जाता है, स्वार्थी से घृणा क्यों की जाती है, स्वार्थ परायण को धिक्कारा क्यों जाता है? हमें जानना चाहिये कि लोक और वेद में जिस स्वार्थ की निन्दा की गई है उसका नाम यथार्थ में 'अनर्थ' होना चाहिये। पूर्व आचार्यों ने स्वार्थ को परमार्थ के नाम से पुकारा है। यह परमार्थ ही सच्चा स्वार्थ है, अनर्थ को स्वार्थ कहना भूल है, क्योंकि वास्तविक अर्थों में परमार्थ से ही स्वार्थ की पूर्ति होती है। अनर्थ को अपनाना तो आत्मघातक है, इसे किसी दृष्टि से स्वार्थ नहीं कहा जा सकता है।

स्वार्थ के दो भेद किये जा सकते हैं। एक अनर्थ दूसरा परमार्थ, एक किसान खेत को बड़े परिश्रम से जोतता है, रुपया खर्च करके गेहूं लाता है और उस गेहूं को मिट्टी में मिला देता है। इसके बाद महीनों उस खेत को सींचता रहता है और रखवाली करता है। करीब एक वर्ष तक उसे निरन्तर उस खेत में कुछ लगाना पड़ता है, कभी हल खरीदना पड़ा, कभी फावड़ा, कभी बैल लिये, कभी चरस लिया, निराई, निकाई आदि में परिश्रम लगा और निरन्तर चिन्ता करनी पड़ी, उसका ध्यान रखना पड़ा सो अलग। यह किसान परमार्थी है। वह जानता है कि इस समय जो त्याग कर रहा हूं उसका बदला कई गुना होकर मुझे मिलेगा। सचमुच उसकी मेहनत अकारथ नहीं जाती, खेत में एक दाने के बदले हजार दाने पैदा होते हैं। किसान प्रसन्न होता है और अपनी परमार्थ बुद्धि की प्रशंसा करता है। एक दूसरा किसान परमार्थ पसन्द नहीं करता, वह सोचता है कि कल किसने देखा है। आज का फल आज न मिले तो परिश्रम क्यों किया जाय वह अपने गेहूं को खेत में डालने से झिझकता है, कल पर उसका विश्वास नहीं, आज के गेहूं की रोटी आज ही बना कर खा लेता है। खेत खाली पड़ा रहता है, फसल नहीं उगती, कटौनी के समय जब परमार्थी किसान के कोठे अन्न से भर रहे, यह बैठा २ सिर धुनता है। वह अपने बीज को बोने से ही पहले खा चुका, अब उसे कुछ भी नहीं मिलने वाला है। आप समझे होंगे कल की बात सोचकर आज का काम करना है और अनर्थ का मतलब कल की भलाई बुराई का विचार छोड़कर आज के लिये आज का काम करना है।

वर्तमान के लिये भविष्य को भुला देने की रीति अनर्थ मूलक है। एक चटोरा व्यक्ति वर्तमान समय के स्वाद में

लिप्त होकर जरूरत से ज्यादा खा जाता है कुछ समय बाद पेट में दर्द शुरु होता है, डाक्टर आता है, जितना लोभ किया था उससे अधिक खर्च हो जाता है। एक कामी पुरुष किसी तरुणी पर मुग्ध होकर अमर्यादित भोग करता है, कुछ ही समय उपरान्त, वीर्य रोगों से ग्रसित हो जाता है। इसके विपरीत एक व्यक्ति जिह्वा पर संयम रखता है। कल की बात सोच कर आज के चटोरेपन को दूर हटा देता है। उसका मर्यादित भोजन स्वस्थ रखने और दीर्घ जीवन जीने के लिये सहायता करता है। इसी प्रकार एक ब्रह्मचारी गृहस्थ नियत मर्यादा में रति संयोग करता है, वह निरोग रहता है, बलवान सन्तान प्राप्त करता है और पुरुषत्व को सुरक्षित रखता है। पहले दो असंयमी व्यक्ति दुखी होंगे क्योंकि वे आज के लोभ में कल की बात भुला देते हैं। इसके विपरीत पिछले दो व्यक्ति आनन्द करते हैं, क्योंकि वे कल के लिये आज का काम करते हैं।

"हमें तो अपने मतलब से मतलब" की नीति को अपनाने वाले लोगों को स्वार्थी कहकर घृणा की दृष्टि से देखा जाता है, वास्तव में वे स्वार्थी नहीं अनर्थी हैं, क्योंकि वे वास्तविक स्वार्थ को भूल गये हैं और सत्यानाशी अनर्थ को अपनाये हुए हैं। जो व्यक्ति पड़ोस में हैजा फैल जाने पर उसे रोकने का प्रयत्न नहीं करता, जो व्यक्ति समाज में दुष्टता उत्पन्न होने पर उसे रोकने के लिये नहीं उठता, जो व्यक्ति गांव में लगी हुई आग को उसे बुझाने की कोशिश नहीं करता, जो व्यक्ति असहायों की सहायता नहीं करता, वह केवल अनर्थ करता है। क्योंकि मुहल्ले का हैजा उसके घर में घुस कर बेटे की जान ले लेगा। फैली हुई दुष्टता उसकी खुद की छाती पर चढ़कर एक दिन खून पीने के लिये तैयार हो जायेगी। गांव में लगी हुई आग कुछ घंटों बाद अपने छप्पर में आ पहुंचेगी। असहायों का रोष एक दिन राक्षस रूप धर कर अपनी डाढ़ों से हमारी शांति को पीसने लगेगा। इस प्रकार "अपने मतलब से मतलब" रखने की लाला शाही यथार्थ में स्वार्थ की नहीं, अनर्थ की नीति है। यह अनर्थ एक दिन उन्हें ले बैठता है। सिर्फ आटे की गोली को ही देखने वाली मछली अपनी जान से भी हाथ धो बैठती है।

पाप, दुष्कर्म, लालच, भोग आदि में तुरन्त ही कुछ आकर्षण और लाभ दिखाई पड़ता है, इसलिये कबूतर की तरह दाने प्राप्त करने के लिये उनकी ओर दौड़ पड़ते हैं और जाल में फंसकर दुसह दुःख सहते और रोते चिल्लाते रहते हैं, किन्तु धैर्यवान पुरुष शुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है। और किसान की तरह आज कष्ट सहकर कल के लिये फसल तैयार करता है। वास्तव में पूरा पक्का स्वार्थी वह व्यक्ति है जो हर काम को भविष्य के परिणाम के अनुसार तौलता है और धैर्य एवं गंभीरता के साथ उत्तमोत्तम कार्य करता हुआ अपने लोक और परलोक को उज्जवल बनाता है, इसे परमार्थी कहा जाता है। अविवेकी और मूर्ख वह है जो क्षणिक सुख की मृग तृष्णा में भटकता हुआ इस लोक में निन्दा और परलोक में यातना प्राप्त करता है। यह स्वार्थ नहीं अनर्थ है। हममें से हरेक को यह बात भली भांति हृदयंगम कर लेनी चाहिये कि सच्चा स्वार्थ परमार्थ में है। अनर्थ का तात्पर्य तो आत्म-हत्या ही हो सकता है। कुत्ता सूखी हड्डी को चबाता है, उसकी रगड़ से अपने मसूड़ों में जो खून निकलता है उसको पीकर समझता है कि मुझे इस हड्डी में से रक्त प्राप्त हो रहा है। अनर्थ की नीति को अपनाने वाले अपने मुँह में से खुद खून निकाल कर पीते हैं और उसमें प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। अपने रक्त पान का यह अनर्थ भी भला कोई स्वार्थ है? हमारा कर्त्तव्य है कि अनर्थ और परमार्थ का भेद पहचानते हुए सच्चे स्वार्थ को अपनावें।

॥ श्रीहरिः ॥

"नाम-माहात्म्य" के नियम

उद्देश्य—श्री भगवन्नाम के माहात्म्य का वर्णन करके श्री भगवन्नाम का प्रचार करना जिससे सांसारिक जीवों का कल्याण हो

नियमः—

१—"नाम-माहात्म्य" में पूर्व आचार्य श्री महानुभावों, महात्माओं, अनुभव-सिद्धसन्तों के उपदेश, उपदेशप्रद-वाणियाँ, श्रीभगवन्नाम महिमा संबंधी लेख एवं भक्ति चरित्र ही प्रकाशित होते हैं।

२—लेखों के बढ़ाने, घटाने, प्रकाशित करने या न करने का पूर्ण अधिकार सम्पादक को है। लेखों में प्रकाशित मत का उत्तरदायी संपादक नहीं होगा।

३—"नाम-माहात्म्य" का वर्ष जनवरी २१ से आरम्भ होता है। ग्राहक किसी माह में बन सकते हैं। किंतु उन्हें जनवरी के अंक से निकले सभी अंक दिये जावेंगे।

४—जिनके पास जो संख्या न पहुँचे वे अपने डाकखाने से पूछें, वहाँ से मिलने वाले उत्तर को हमें भेजने पर दूसरी प्रति बिना मूल्य भेजी जायगी।

५—"नाम-माहात्म्य" का वार्षिक मूल्य डाक व्यय सहित केवल २=) दो रुपये तीन आना है।

६—वार्षिक मूल्य मनीआर्डर से भेजना चाहिये। वी० पी० से मंगवाने पर ।) अधिक रजिस्ट्री खर्च के लगते हैं।

७—समस्त पत्र व्यवहार व्यवस्थापक "नाम-माहात्म्य" कार्यालय मु० पो० वृन्दावन [मथुरा] के पते से करनी चाहिये।

"नाम-माहात्म्य" के ग्राहक महानुभावों से प्रार्थना

(१) प्रतिमास प्रथम सप्ताह में "नाम-माहात्म्य" के अंक कार्यालय द्वारा २-३ बार जाँच कर भेजे जाते हैं फिर भी किसी गड़बड़ी के कारण अंक न मिले हों उसी माह में अपने पोस्टआफिस से लिखित शिकायत करनी चाहियें और जो उत्तर मिलें उसे हमारे पास भेजने पर ही दूसरा अंक भेजा जासकेगा।

(२) प्रत्येक पत्र व्यवहार में अपना ग्राहक नम्बर लिखने की कृपा करें एवं उत्तर के लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजने चाहियें पत्र व्यवहार एवं वार्षिक चंदा निम्न पते पर स्पष्ट अक्षरों में लिख कर भेजियेगा

व्यवस्थापक :- "नाम-माहात्म्य" कार्यालय, भजनाश्रम
मु०—पोस्ट वृन्दावन (मथुरा)

बाबू रामलालजी गोयल के प्रबन्ध से आदर्श प्रिंटिंग प्रेस केसरगंज, अजमेर में मुद्रित व गौरगोपाल मानसिंह का संपादक व प्रकाशक द्वारा भगवान भजनाश्रम, वृन्दावन [मथुरा] से प्रकाशित

प्रेमी पाठकों एवं ग्राहकों से निवेदन

(१) "नाम-माहात्म्य" के ग्यारहवें वर्ष का यह बारहवां अंक है इस अंक के साथ इस वर्ष का मूल्य समाप्त हो जाता है। आगामी अंक बारहवें वर्ष का प्रमथ अंक होगा। आगामी वर्ष अधिक उपादेय लेख देने की चेष्टा रहेगी। कागज का मूल्य अधिक हो जाने पर भी वार्षिक मूल्य २≡) ही रक्खा गया है। अतः सभी सज्जनों को इसे अपनाना चाहिये और वार्षिक चन्दा के २≡) शीघ्र मनीआर्डर द्वारा भेजने की कृपा करें।

(२) जिन प्रेमी सज्जनों ने "नाम-माहात्म्य" के ग्राहक बनाये हैं और बना रहे हैं उन सबके हम बड़े कृतज्ञ हैं। इस बार हम सभी प्रेमी सज्जनों से प्रार्थना करते हैं कि एक एक दो दो नवीन ग्राहक बनाने की अवश्य चेष्टा कीजीयेगा आपकी इस चेष्टा से भगवन्नाम प्रचार में बहुत अधिक वृद्धि होगी और ग्राहक संख्या बढ़ जाने पर और भी अधिक पठनीय सुन्दर सामग्री देने में हम सफल हो सकेंगे। आशा है इस ओर सभी प्रेमीजन कृपा करेंगे।

(३) मनीआर्डर फार्म अपने पोस्टाफिस से लेने की कृपा करें एवं मनी-आर्डर फार्म पर अपना पूरा नाम, पूरा ठिकाना, मोहल्ला, गांव, पोस्टाफिस, जिला साफ साफ देवनागरी अक्षरों में लिखने चाहिये।

(४) किसी कारण वश इस वर्ष ग्राहक न रहना हो तो एक कार्ड द्वारा सूचित करने का अनुग्रह करें। आपके तीन पैसे के खर्च से "नाम-मोहात्म्य" कार्यालय आठ आने के नुकसान से बच जायेगा। जिन ग्राहकों का चंदा मनी-आर्डर से नहीं आयेगा या मनाही कार्ड नहीं आयेगा उन्हें आगामी अंक वी० पी० द्वारा भेजा जायेगा। वी० पी० मंगाने में छः आने अधिक लगते है इसलिये चन्दा मनीआर्डर द्वारा भेजने में ही सुविधा रहेगी।

(४) पुराने ग्राहकों को अपना नम्बर एवं नये ग्राहकों को नया "शब्द" मनीआर्डर कूपन में अवश्य लिख देना चाहिये।

आशा है इस बार सभी सज्जन "नाम-माहात्म्य" को अपनाने की कृपा अवश्य करेंगे एवं अपना चंदा शीघ्र २≡) मनीआर्डर द्वारा भेजने की कृपा करेंगे।

गीता सन्देश

वर्ष : १० अंक : ७

गीता सन्देश

सर्वोपनिषदो गावो, दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता, दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

योगिराज, गीताव्यास, **पूज्य श्री स्वामी वेदव्यास जी महाराज** की अध्यक्षता में—'उत्तर-प्रदेश' संस्कृत अध्यापक संघ' के विद्वान सदस्यों की एक आवश्यक बैठक ऋषिकुल-विद्यापीठ हरिद्वार में ता० २४ अप्रैल सन् १९६६ को हुई। महाराज श्री सबसे आगे की पंक्ति के मध्य में मालायें पहनें विराजमान हैं। उनके एक ओर योगिराज नानकचन्द जी व दूसरी ओर एकदम बांई ओर कोने में बैठक के संयोजक श्री प० चन्द्रशेखर जी शास्त्री खड़े हैं।

महाराज श्री को जगद्‌गुरु की उपाधि से विभूषित किया गया और मान-पत्र दिया गया।
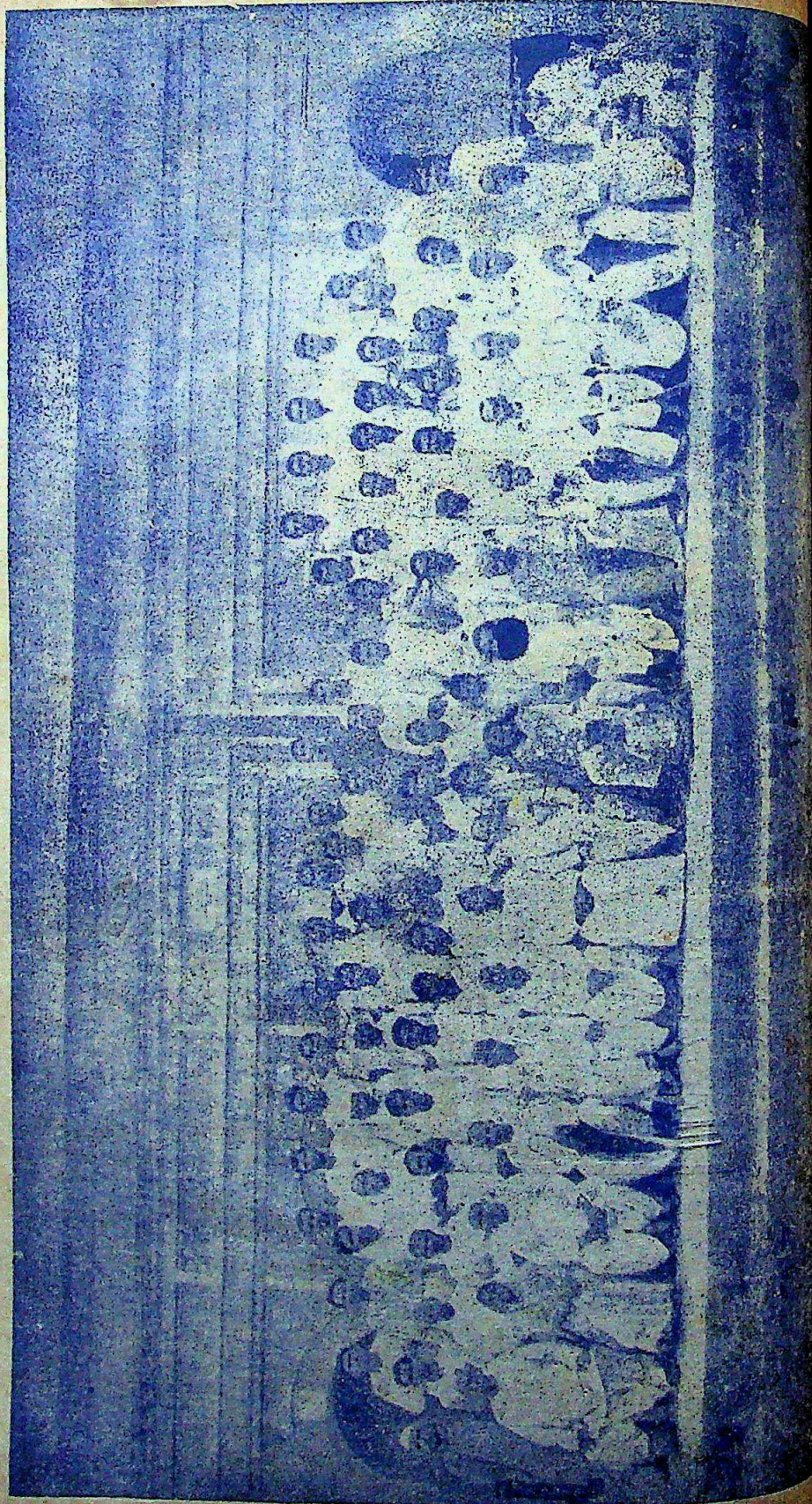
श्री गीता माता व श्री रामायण जी की धार्मिक शिक्षा के
प्रचार-प्रसार से आपका, आपके राष्ट्र का और समस्त विश्व का कल्याण होगा।
घर-घर में यह पावन सन्देश पहुंचाइए। अपना हार्दिक योगदान दीजिए।
उत्तीर्ण छात्रों को योग्यतानुसार पुरस्कार भी दिए जाते हैं।

——सम्पादक

श्री गीता-रामायण की आगामी परीक्षाएँ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस ये दो ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनको प्रायः सभी श्रेणी के लोग विशेष आदर की दृष्टि से देखते हैं। इसलिए समिति ने इन ग्रन्थों के द्वारा धार्मिक शिक्षा का प्रसार करने के लिएं परीक्षाओं की व्यवस्था की है। उत्तीर्ण छात्रों को योग्यतानुसार पुरस्कार भी दिया जाता है।

परीक्षाओं के लिए स्थान-स्थान पर लगभग ४०० केन्द्र भी स्थापित हैं तथा और भी नियमानुसार स्थापित किये जा सकते हैं। आगामी गीता परीक्षाएँ दिनांक २० व २१ नवम्बर, १९६६ को एवं श्रीरामायण की परीक्षाएँ दिनांक ८ व ९ जनवरी, १९६७ को होने वाली हैं।

केन्द्र व्यवस्थापकों से निवेदन है कि सभी परीक्षाओं के लिए आवेदन-पत्र एवं नवीन केन्द्रों के लिए प्रार्थना-पत्र दिनांक ३० अगस्त, १९६६ तक भेज देने की कृपा करें। विशेष जानकारी के लिये पत्र लिखकर नियमावली मंगा सकते हैं।

व्यवस्थापक,
श्री गीता-रामायण परीक्षा समिति;
गीताभवन, पत्रालय—स्वर्गाश्रम,
(ाया हृषीकेश) जि० देहरादून, उ०प्र०

गीता प्रेस गोरखपुर की

१९६५ में गीता की **प्रथमा परीक्षा** में हमारे **गीता-ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम** का ब्रह्मचारी **'श्री विवेकमित्र'** समस्त भारत के गीता परीक्षार्थियों में **दूसरे नम्बर** पर प्रथम श्रेणी में सफल। तथा विशेष पुरस्कार प्राप्त किया।

गीता-ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम का प्रथमा परीक्षा परिणाम शतप्रतिशत सफल

दो ब्रह्मचारी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण।

इस अंक में पढ़िए—

गीता सन्देश

गीता सुगीता कर्तव्या, किमन्यैः शास्त्र-विस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य, मुखपद्माद्विनिःसृता ॥ —भगवान 'व्यास'

वर्ष : १० } गीता-आश्रम, हृषीकेश आषाढ सं० २०२३—जौलाई, १९६६ ई० { अंक : ७

घूंघट का पट खोल रे.........

घूँघट का पट खोल रे, तोहें पीव मिलेंगे ।
घट-घट में वह साईं रमता, कटुक बचन मत बोल रे ।
धन जोबन को गरब न कीजै, झूठा पँचरंग चोल रे ॥
सुन्न महल में दियना बारि ले, आसन सों मत डोल रे ।
जोग जुगुत सों रङ्ग महल में, पीय पायो अनमोल रे ।
कहैं कबीर आनन्द भयो है, बाजत अनहद ढोल रे ॥
—सन्त कबीर

सन्त-वाणी

मीठा लगने वाला सच बोले, कड़वा लगने वाला नहीं। पर मीठा लगने वाला झूठ न बोले---यही सनातन धर्म है।

—मनु महाराज

❋ ❋ ❋

हमने भोग नहीं भोगे, भोगों ने हमें भोग लिया है।

—भर्तृहरि

❋ ❋ ❋

दुनिया में जितने कामी और लोभी लोग हैं वे कुटिल कौवे की तरह सबसे डरते हैं।

—वाल्मीकि रामायण

❋ ❋ ❋

विषम चिन्तन से आसक्ति, आसक्ति से कामना, कामना से क्रोध, क्रोध से मोह, मोह से स्मृति-भ्रम, स्मृति-भ्रम से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से अधोगति पैदा होती है।

—वेदव्यास (महाभारत)

❋ ❋ ❋

मस्तिष्क नश्वर है, सम्पत्ति अचिरस्थायी है, जीवन अत्यन्त लघु है, और यौन क्षणभंगुर है। पृथ्वी की सारी वस्तुएं नाशवान हैं, केवल विमल यश ही अविनश्वर और चिरस्थायी है।

—हितोपदेश

❋ ❋ ❋

दान से धन घटता नहीं, बढ़ता है। अंगूरों की शाखाएं काटने से और ज्यादा अंगूर आते हैं।

—शेख शादी
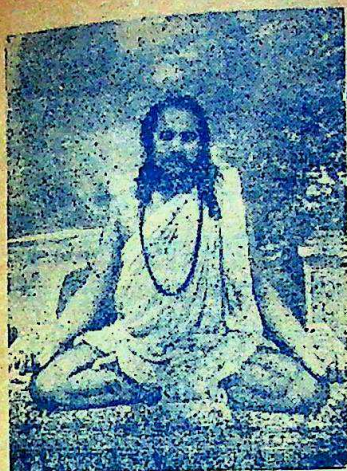
कपूरथला के विशाल जनसमूह में पूज्य महाराज श्री के प्रवचन का सार

श्री सेवामित्र ब्रह्मचारी

सत्संग संसार में मानव कल्याण के लिए एक ऐसा सरल और सर्वोत्तम साधन है कि बड़े-बड़े महापुरुषों ने इसकी महिमा गाई है। सताम् संगः अर्थात् सज्जनों की संगति। इस सत्संगति में सर्वथा सत् की महिमा का कथन और श्रवण रहता है, इसी कारण जन साधारण आत्म-कल्याण के लिए हमेशा सत्संग करते हैं।

परन्तु इसके साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि सत्संग में जाने से, बैठने से कुछ सुन लेने से ही कल्याण नहीं हो जाता, हम बैठें सत्संग में और ध्यान घर के काम धन्धों में लगा हो, मन देवता संसार की सैर कर रहे हों, तो सत्संग से कल्याण कैसा? इसलिए आप सत्संग में जाने के साथ-साथ मन को भी वहां की सत् चर्चा में लगाओ।

आप लोग प्रतिदिन गीता माता की कथा सुनते हैं क्या कभी आप ने विचार किया कि गीता शब्द का उल्टा होता है 'तागी'। जिस तागी का अर्थ तागा डालने वाला माली। मेरे भगवान कृष्ण भी एक माली थे, उन्हों ने इस गीता रूपी माला के तागे में १८ किस्म के रंगबिरंगे फूल पिरोए। अर्थात् १८ अध्यायों में अलग अलग योग या साधन बताए। आप श्रीमद्भागवत पढ़ोगे, तो केवल भक्ति की ही महिमा मिलेगी। उपनिषद देखोगे, तो वहां ज्ञान और वेदों में कर्मकाण्ड के ही गीत मिलेंगे। पर इस गीता की ओर जरा विचार पूर्वक देखें यह सबसे छोटा ग्रन्थ और विषय सबसे उत्कृष्ट। इसमें कर्मयोगी को कर्मयोग, भक्त को सर्वोच्च भक्तियोग, और ज्ञानी को ज्ञान की पराकाष्ठा बताई गई है। तभी तो मुक्तकण्ठ से गीता महिमा में लिखा गया है कि—

गीता सुगीता कर्तव्या,
किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य,
मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

आइए? आज गीता के पहले अध्याय का पहला ही श्लोक लीजिए, श्लोक बोलने वाला धृतराष्ट्र अन्धा है। पर, संजय के तीन आंखें। उसे गुरु कृपा से दिव्यदृष्टि प्राप्त थी। गीता का वह पहला श्लोक क्या था, सुनो—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय॥

अब आप धर्मक्षेत्रे से 'धर्म' अलग निकाल लेवें, और कुरुक्षेत्रे से कुरु शब्द अलग निकाल लेवें, तो क्या बन गया, "क्षेत्रे क्षेत्रे धर्म कुरु" अर्थ हुआ कि जहां भी तुम जाते हो धर्म की रक्षा करो। धर्म करो। या 'क्षेत्रे क्षेत्रे' जिस जिस शरीर में जब २ जन्म मिले- इदं शरीरं क्षेत्रम्। तब २ धर्म का पालन करो। इसके साथ ही अब आप गीता के अन्तिम मन्त्र का अन्तिम शब्द 'मम' को पहले अध्याय के इस 'धर्म' शब्द के साथ मिलाइये, तो कहना होगा, कि 'धर्म मम' धर्म ही मेरा है। अतः धर्म के मार्ग पर चलो। तो तुम्हारा

कल्याण होगा। अब तुम्हें धर्म की रक्षा के लिए कर्म क्या करना है, वह गीता के पांचवें अध्याय में मन्त्र नं० २३ सुनो—

शक्नोतीहैव यः सोढुं
प्राक्शरीर विमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्‌भवं वेगं,
स युक्तः स सुखी नरः॥

आपने यदि अपने जीवन में काम क्रोध की लहरों को वश में कर लिया है, तो आपने सच्चा सुख प्राप्त कर लिया और आप पूर्णयोगी हैं। परन्तु मानव को कामनाओं पर विजय प्राप्त करना बहुत ही दुष्कर है। मुझे स्मरण हो आया। भारत के महान योगी सन्त बाबा गुरुनानक देव जी के पास कपूरथला का राजा एक लाख रुपये की थैली भेंट में लेकर पहुंचा, गुरु नानकदेव जी ने कहा, कि मैं किसी गरीब से पैसा नहीं लेता। राजा के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। झट बोला महाराज गुरुदेव! क्या आपने मुझे पहिचाना नहीं, मैं कपूरथला का राजा हूँ कोई गरीब तो नहीं, इसलिए कृपा करके यह मेरी तुच्छ भेंट स्वीकार करिए। बाबा नानक हंस कर बोले, "बेटा बता तेरे पास धन कितना है?" राजाबोला-'१ करोड़ रुपया नकद है।' गुरु जी ने कहा 'तो क्या वह बढ़ कर दो करोड़ रुपया हो जावे। क्या ऐसी इच्छा तेरी नहीं है' राजा ने कहा, महाराज यह इच्छा तो हर समय ही रहती है। गुरु नानकदेव जी ने कहा, कि फिर तू गरीब नहीं तो और क्या है? जिसकी इच्छा, तृष्णा अभी विशाल है संसार में वही सबसे अधिक गरीब है, भगवान शंकराचार्य जी महाराज ने भी कहा है कि—

को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णः।

अब यह मानना होगा कि मानव को अपनी कामनाओं पर विजय प्राप्त कर के केवल अपना नहीं सारे संसार के कल्याण का भाव रखना होगा। यही सत्संग का सबसे बड़ा लाभ है। इसी प्रकार के जीवन में आप लोग आज भी अपने धर्म की रक्षा कर सकते हैं, यह मानव शरीर ही धर्म की रक्षा के लिए मिला है। इस मानव शरीर के अन्दर वास्तव में कौरवों पाण्डवों का युद्ध हर समय चल रहा है, 'मामकाः' यह मेरा है, यह ममत्व की दुर्भावना मन की सैकड़ों बुरी वृत्तियां कौरव हैं, और इधर मानव की कम से कम ५ सद्‌वृत्तियां ही पांच पाण्डव हैं, यह सौ और पांच की लड़ाई मानव के जीवन में हर समय चल रही है, बस भगवान कृष्ण के मुखारविन्द से निकले इस गीताज्ञानामृत से बुरी वृत्तियों पर काबू पाना और सद्‌वृत्तियों को जिताए रखना ही मानव का सच्चा धर्म है। इसी में उसका आत्म-कल्याण है। गीता में पग-पग पर इसी बात की चर्चा है। आप किसी वेदान्ती से मिलोगे, तो कहेगा, कि संसार सभी नाशवान है। किसी से प्रेम मत करो। और किसी भगवान के प्यारे भक्त से मिल कर देखें तो वह कहेगा कि संसार में सभी से प्रेम करना सीखो, सब संसारमेरे अपने प्रियतम का है। परन्तु मेरी गीता यथावसर दोनों ही साधनों को श्रेष्ठ मानती है दोनों में से कोई सा एक जीवन में अपनाओ। परा भक्ति ज्ञान निष्ठा का ही अर्थ है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन, गीता में सभी कुछ बता कर भगवान ने अन्त में अर्जुन से पूछा कि—

> मनुष्य का अनुमान कभी भी उसकी त्रुटियों से नहीं लगाना चाहिए; त्रुटियां तो मानवता की सामान्य दुर्बलताएँ है, महान सद्‌गुण ही मनुष्य के अपने होते हैं।
>
> —स्वामी विवेकानन्द

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञान संमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय॥

गीता १८-७२

भगवान ने पूछा कि क्या तुमने कुछ सुना? वह भी क्या एकाग्र चित्त होकर सुना? तुम्हें अपने अज्ञानान्धकार के कारण जो व्यर्थ का मोह पैदा हो गया था, क्या वह कुछ भी नष्ट हुआ? अर्जुन ने कहा कि महाराज—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा,
त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः,
करिष्ये वचनं तव ॥
गीता १८-७३

मेरा सम्पूर्ण मोह नष्ट हो गया, मुझे अब अपनी आत्म स्वरूप की स्मृति हो गई । अब मैं सर्वथा आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। मुझे अपने धर्म का ज्ञान हो गया। अब मैं क्षात्र धर्मोचित निष्काम कर्म करता हुआ अपने कर्तव्य कर्म का पालन करूँगा।

यह है मेरी गीता का ज्ञान, जिसने अर्जुन को मोह-गर्त में गिरने से बचाया और अपने धर्म की रक्षा का सच्चा पाठ पढ़ाया, तभी तो गीता ने कहा है कि—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः,
परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः,
परधर्मो भयावह ॥
गीता ३-३५

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

जिला पौड़ी गढ़वाल के डिप्टीकमिश्नर माननीय श्री गोस्वामी बसन्तकुमार जी गीता-आश्रम, हृषीकेश में

—अमर भारत सा० दिल्ली

त्यागमूर्ति गोस्वामी जी की देवभूमि की नई देन, डिप्टीकमिश्नर श्री बसन्तकुमार गोस्वामी जी की अनुकरणीय भावना

पौड़ी—गढ़वाल में प्रशंसनीय व्यवस्था

पौड़ी गढ़वाल के डिप्टीकमिश्नर पण्डित बसन्तकुमार जी गोस्वामी १४ अप्रैल को स्वर्गाश्रम के दौरे पर आये थे। लक्ष्मणझूले के थाने का निरीक्षण करने के बाद आप स्वामी वेदव्यास जी महाराज के गीता-आश्रम में पधारे। वेदव्यास जी, आश्रम के व्यवस्थापक श्री न्यायमित्र तथा आश्रम के अन्य कार्यकर्ताओं ने गोस्वामी जी का स्वागत किया।

आश्रम का निरीक्षण करने के उपरान्त आपने आश्रम के प्रेस का उदघाटन किया। आश्रम के ब्रह्मचारियों द्वारा प्रदर्शित योगासन देख कर आपने उनकी प्रशंसा और आश्रम-व्यवस्था की सराहना की। ब्रह्मचारियों से गीता एवं रामायण का पाठ सुनकर तथा उनके द्वारा रचित नाटकीय सम्बादों के प्रदर्शन देखकर आप प्रसन्न हुए।

गीता का सन्देश

समदुःखसुखं धीरम्—२-१५

सुख और दुःख में समता और धैर्य रखो।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा—२-४८

सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला हो।

श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो—३-३१

श्रद्धा से युक्त और दोष बुद्धि से रहित हो।

कामसंकल्पवर्जिताः—४-१९

कामना और संकल्प से रहित हो।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य—५-२०

प्रिय की प्राप्ति में हर्षित न हो।

युक्त आसीत मत्परः—६-१४

सावधान होकर मेरे परायण हुआ स्थित हो।

भजन्ते मां दृढ़व्रताः—७-२८

दृढ़ निश्चय वाले मेरे को भजते हैं।

योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्—८-२८

योगी सनातन परमपद को प्राप्त होता है।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी—९-१८

हे अर्जुन! प्राप्त होने योग्य तथा भरण पोषण करने वाला सबका स्वामी मैं ही हूँ।

अहं सर्वस्य प्रभवो—१०-८

मैं वासुदेव हो सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण हूँ।

मत्कर्मपरमो भव—१२-१०

केवल मेरे लिए ही कर्म करने के परायण हो।

मनोनिग्रह

[महाराज श्री के द्वारा कपूरथला में विशाल जनसमूह के समक्ष दिए प्रवचन का सार]

* श्री शान्तिमित्र ब्रह्मचारी *

लोक परलोक का कोई भी काम हो मन के साथ ही सिद्धि है, वेद, शास्त्र, पुराण, उपनिषद वह कौन सा धर्मग्रन्थ है, वह कौन सा सन्त, महापुरुष, सिद्ध तपस्वी है, जिसने मन देवता की शक्ति न मानी हो। गीता के १८ अध्यायों में से छटवां अध्याय "आत्म-संयम-योग" नाम से प्रसिद्ध है, जिसका सीधा अर्थ होता है कि मन को वश में करने वाला योग, मन ही मनुष्यों के बन्धन तथा मोक्ष का कारण है।

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।'

अतः भगवान से मिलने के लिए पहले अपना मन वश में करो, और उसे प्रभु में जोड़ो। मानव मन जन्म जन्म से माया में लगा है, इस लिए सबसे पहिले उसी मन को वश में करना चाहिए। अर्जुन ने भी भगवान कृष्ण से बहुत कुछ सुन कर यही प्रश्न किया कि—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥६-३४॥

भगवान ! यह मन बड़ा ही चंचल है, बलवान है, जिधर सच्चा और अनन्त सुख है उस तरफ नहीं जाता झट विषयों की ओर भागता है। जैसे हवा को रोकना कठिन है, वैसे ही मन को वश में करना भी दुष्कर है। कोई उपाय बताइए, जिससे मन पर नियन्त्रण किया जा सके। भगवान योगीराज कृष्ण ने तत्काल उत्तर दिया कि—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ६ ३५॥

हे पार्थ ! मन चंचल अवश्य है। इस पर काबू पाना कठिन भी है। तथापि अभ्यास द्वारा और वैराग्य द्वारा इस मन को वश में किया जा सकता है, मन को वश में करने के लिए दो साधन है— पहला अभ्यास और दूसरा वैराग्य। प्रश्न हुआ कि अभ्यास क्या वस्तु है किसका अभ्यास किया जाए, गीता ने १२ वें अध्याय के ९ वें श्लोक में इसी का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि—

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥ १२-९॥

भगवान ने यहां अभ्यास योग का कितना सुन्दर स्पष्टीकरण किया है कि मुझ में मानसिक स्थिरता के लिए तथा मुझे प्राप्त करने के लिए अभ्यासयोग का आश्रय लो, अर्थात भगवान के नाम और गुणों का श्रवण, कीर्तन, मनन तथा श्वास के द्वारा जाप, और भगवत्-प्राप्ति विषयक शास्त्रों का पठन-पाठन आदि साधनों का भगवत्-प्राप्ति के लिए बारम्बार तन्मयता से अपनाना ही अभ्यास है। इस प्रकार अभ्यास योग को जीवन में अपनाना, समझना

मनोनिग्रह के लिए सुगम साधन है। क्या मानव कभी विचार करता है कि उसका श्वास उसके जीवन में कितना महत्व रखता है? तमाम जीवन का खेल ही श्वासों पर टिका हुआ है। देखिए, खाली पेट मानव एक मिनट में १५ श्वास लेता है, भोजनोपरान्त १८ श्वास और सोते समय २० श्वासें आती हैं। आपको मालूम है कि जितना जल्दी आप श्वास लेंगे, उतना ही जल्दी जीवन समाप्त हो जाएगा? इसी बात को लेकर तो हमारे सन्त महात्माओं ने योगाभ्यास में "प्राणायाम" को मानवमात्र के लिए परमावश्यक साधन बतलाया है। इसी प्राणायाम के आश्रय से हमारे सन्त-मुनिजन हजारों वर्ष की चिरायु प्राप्त करते रहे हैं। आप भी प्राणायाम का आश्रय लेकर एक मिनट में एक ही श्वास की गति बनाइए, देखिए कितनी आयु बढ़ती है। चिरायु बन कर विश्व-कल्याणार्थ पुण्य कार्य करिए। आज हमारी दशा यह है कि अमेरिका में तो ७० वर्ष की आयु तक मनुष्य का विवाह होता है और हमारे भारत में ६० वर्ष से पहिले ही बुढ़ापा भोग कर मनुष्य की मृत्यु भी हो जाती है। अतः मनोनिग्रह के साथ सच्चे सुख और शान्ति के लिए साधना और संयम का जीवन बनाइए। इसी लि भगवान ने कहा, कि मन को वश में करने के लिए अभ्यास और वैराग्य को जीवन में अपनाओ। इससे मन स्थिर हो जाएगा।

इन दोनों 'साधनों' में से "अभ्यास" तो विधिपक्ष है। अर्थात् एक ही साधन को रोज रोज करना होगा, और "वैराग्य" निषेध पक्ष है अर्थात् एक एक पदार्थ को आसक्ति को रोज रोज छोड़ना। आगे क्या करना होगा वह गीता अध्याय १३ में श्लोक ७ से ११ तक पढ़िए, १८ बातें बतलाई हैं:-सुनिए, एक श्लोक देखिए—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥१३-८॥

केवल इतना ही नहीं, भगवान ने १० वें अध्याय के मन्त्र नं० १० में ही कहा कि—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०-१०॥

कितना स्पष्ट है कि 'सतत युक्तानां' लगातार मेरे ध्यान में मग्न और "प्रीति पूर्वकम् भजतां" श्रद्धाभाव से भजने वाले मेरे भक्त को स्वयं मेरे द्वारा प्रदत्त-ज्ञानयोग से मेरी प्राप्ति हो जाती है। आवश्यकता है निरन्तर अभ्यास योग की। भगवान ने मानव को ४ तत्व दिये हैं-शरीर, इन्द्रियां, मन और बुद्धि, इन चारों में से आप लोग मन और बुद्धि ये दो चीजें तो भगवान को दे डालें। और शेष दो संसार को दे दें। बेशक फिर संसार में रह कर लोकनिर्वाह के कर्म भी करते जायें। गीता माता ने तो मानव मात्र के कल्याणार्थ सबसे बड़ी एक ही बात रक्खी है—कि निष्काम कर्मयोगी बन कर अपने लोक परलोक दोनों ही बनाते जाओ। संसार में रह कर भी केवल इतना भाव बनाए रखो कि संसार मेरा नहीं। गीता ने कहा कि जब तुम यह मानने लगोगे, कि मैं कुछ नहीं, मेरा कुछ नहीं तब तुम्हे किसी प्रकार का लोभ नहीं होगा। ये काम और क्रोध दोनों कामना के ही बच्चे हैं। इसी कामना से लोभ और क्रोध दोनों पैदा होते हैं जिससे मानव जीवन का सर्वनाश हो जाता है। इनसे सर्वथा छूटने के लिए बस एक ही उपाय है कि नित्य निष्काम कर्म तथा भगवन्नाम जाप से कीर्तन श्रवणादि में अपने मन देवता को लगाये रक्खो। शुद्ध अन्तः करण से प्रभु का ध्यान करो, और निष्काम भाव से सभी कर्म करो।

इधर तपस्या से अहंकार हो सकता है। त्यागी को भी 'मैं' का अहंभाव दबा सकता है। अतः सबसे पहले अपने अहंभाव को समाप्त करिए। इसका उपाय है वैराग्य भाव, जहां संसार के प्रति वैराग्य हुआ, कि अहंकार भी साथ ही समाप्त होने लगेगा फिर निष्काम भावना से निष्काम भाव से सत्कर्म

(शेषांश पृष्ठ १२ पर)

गुरु-महिमा

※ श्री वशिष्ठ 'दास' एम.ए., एम.ओ.एल. ※

भारत के सन्त सम्प्रदायों (दादू, कबीर, वैष्णव तथा सिक्ख) में गुरु का स्थान सर्वोपरि माना गया है। जहां गुरु शब्द गौरव तथा गरिमा का द्योतक है वहाँ पर 'गु' शब्द अन्धकार का वाचक और 'रू' शब्द नाश का द्योतक है और जो अन्धकार का नाश करे—

'गु' शब्दस्त्वन्धकारः स्यात्,
'रु' शब्दस्तन्निवारकः।
अन्धकार निरोधत्वात्,
गुरु - रित्यभिधीयते॥

सद्गुरु कुबोध का नाश करके वेद और शास्त्रों के ज्ञान द्वारा शिष्य के हृत्पुरुष को जागृत करता है कि कर्तव्यविमूढ़ व्यक्ति को इहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदय तथा शाश्वत शान्ति की प्राप्ति का मार्ग बताता है। कुमार्ग से हटाकर सुगति प्रदान करता है, पाप और पुण्य की पहिचान कराना है। सच है कि सच्चे, सिद्ध, शान्त और दान्त गुणों में सम्पन्न गुरू अपने शिष्यों की जीवन नौका के कर्णधार होते हैं।

विदलयति कुबोधं, बोधयत्यागमार्थं,
जलनिधि-भवपोतं नास्ति कश्चित् विना-तम्।
अवगमयति च कृत्याकृत्य भेदः गुरुर्यो,
कुगति सुगति मार्गों पाप पुण्ये व्यनक्ति॥

जो कार्य इस ब्रह्माण्ड की रचना, पालन स्थिति, और संहार में तीन देवता ब्रह्मा, विष्णु और महेश का माना गया है—वही कार्य अकेले गुरु का अपने शिष्य के मस्तिष्क के साथ माना गया है—ज्ञान देना, ज्ञान को पक्का करना तथा माया मोह रूपी अज्ञानान्धकार का नाश करना। इसीलिए गुरू को तीनों देवों की पदवी दी गई है—

'गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णुः, गुरु साक्षान्महेश्वरः।
गुरुरेव परंब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः॥

श्री महाराज दशरथ श्री गुरुचरणरज को मस्तक पर धारण करने के लाभ दर्शाते हैं—

जे गुरुचरण रेणु सिर धरहिं—
ते जनु सकल विभव बस करहिं।
मोहि सम यह अनुभव नहिं दूजै—

सन्त शिरोमणि श्री तुलसीदास जी महाराज रामचरितमानस में ऐसा निर्देश करते हैं—

उघरहिं विमल विलोचन हियके।
मिटहिं दोष दुःख भव रजनीके॥
श्री गुरुपद नखमनि गनि जोती।
सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥

यदि शिष्य श्रद्धा, भक्ति, स्नेह सहित अपने सद्गुरु की शरण में—(जैसे अर्जुन ने आनन्दकन्द परमानन्द श्री कृष्णचन्द्र जी महाराज की शरण ली थी) पड़ जाता है और विनीतभाव से उनकी प्रार्थना, स्तुति और उपासना करता है—तो भव-सागर से पार होकर परमपद को पा लेता है—'कथं तरेयं भवसिन्धुमेतम्' करुणाभाव से आत्म-व्यथा प्रगट करने से ही शिष्य के प्रति सद्गुरू का पावन कोमल हृदय द्रवित हो जाता है और वे कृपा दृष्टि से उसके संकट निवारण कर देते हैं।

प्राचीन काल में गुरु-शिष्य-परम्परा, भारतीय संस्कृति का अनुपम आदर्श रहा है—

मुनि वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य, गौतम, कणाद, व्यास, समर्थ गुरु रामदास, रामकृष्ण परमहंस, दादू, कबीर, नानक, तुलसीदास तथा निम्बार्क, माध्व, वल्लभ सम्प्रदाय के आचार्यों तथा भगवान शंकराचार्य जैसे तत्ववेत्ता गुरुओं की कीर्ति जगत् में अमर हो गई है।

पारस लोहे को कंचन (सोना) बना देता है परन्तु गुरू शिष्य को अपने समान बना देता है, दोनों में कितना अन्तर है ?

आजकल संसार के रंगमंच पर कई लोभी लालची, कपटी, दुर्जन, पतित, पामर जन केवल गुरुओं का बाना पहिन कर भोली भाली जनता को अन्धकार के गर्त में ढकेल रहे हैं उनसे सावधान रहना चाहिए।

सद्गुरू तो उस अंजन के समान है जो आंखों पर से मोतियाविन्दु दूर करके ज्योति प्रदान करता है गुरुजन अज्ञानान्धकार का नाश करके, दिव्य ज्योति प्रदान करते हैं।

'अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

[पृष्ठ १० का शेषांश]

करते जाइए। बस एक दिन आप मुक्त होकर रहेंगे। पुण्यकर्म भी कहीं २ बन्धन के कारण होते है, जैसे दानादि से स्वर्ग प्राप्ति की अभिलाषा, परन्तु मेरी गीता ने यहां भी स्पष्ट कह दिया है कि—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
—५-१०

जो व्यक्ति 'यः संङ्ग त्यक्त्वा कर्माणि ब्रह्मणि आधाय करोति'' आसक्ति को त्याग कर ईश्वरार्पण बुद्धि से सत्कर्म करता है वह कमलपत्र के समान कभी भी पाप पुण्यकर्म के बन्धन में कभी नहीं बंध सकता। यह है गीता का सच्चा आध्यात्मिक प्रसाद। जिसे पा कर कैसा भी मानव हो, जीवन्मुक्त हो निकलता है। सभी कर्म प्रभु के ऊपर छोड़ देवें, और मनोदशा यह बना लेवें, कि मेरा प्रभु जो कुछ भी करता है अच्छा ही करता है। फिर क्या ? हर्षशोक से रहित मानव एक दिन अवश्य अपने उस प्रियतम से जा मिलेगा। सबसे बड़ी यही मन की साधना है। यदि मानव इसमें कहीं सफल हो गया, तो फिर संसार को कोई भी शक्ति उसे अशान्त नहीं कर सकती। अतः लोक परलोक का साधना में मन को अपने वश में किए रहो, तो सफलता कहीं दूर नहीं हो सकती। यह साधना जीवन रहते, शरीर रहते सफल कर लेनी है। जन्म इसीलिये समझना चाहिये।

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था,
वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपार सच्चित सुख सागरेऽस्मिन्,
लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

सबै घड़ी शुभ घड़ी है, सबै बार गुरुवार।
'नानक' भद्रा तब लगै, जब रूठै करतार॥

** सबसे बड़ी गलती **

दक्षिण भारत के चरखा दंगल के समय की गांधी जी के जीवन की यह घटना है। दंगल देखते बड़ी रात हो गई इसलिए थक कर लौटने के पश्चात चारपाई पर लेटते ही नींद लग गयो। जब रात के दो बजे नींद खुली तो याद ग्रायो कि सोने के पूर्व प्रार्थना करना भूल गये। तो फिर वे सारी रात नहीं सोये। मन पर काफी ग्राघात पहुँचा। कंपित शरीर होकर सारा वदन पसीने से लथपथ हो गया। सबेरे पूछने पर सब बताते हुए गांधी जी कहने लगे, "देखो जिसकी कृपा से मैं जीता हूँ, उस भगवान को ही भूल गया हूँ, इससे बढ़कर ग्रौर क्या बड़ी गलती हो सकती है ?"

मरना तो एक बार ही है

जूलियस सीजर के विरुद्ध उसके शत्रु जब षड्यन्त्र करने लगे तो उसके शुभ-चिन्तकों तथा मित्रों ने सलाह दी,—"ग्राप ग्रपने ग्रंग रक्षक एवं शस्त्र के बिना खाली हाथ घूमने न निकला करें।"

सीजर ने उत्तर दिया—"मरना सभी को पड़ता है, कोई ग्रमर होकर तो संसार में ग्राता नहीं। ग्रौर फिर मरना तो एक बार ही है तो मृत्यु से भयभीत रहकर पलपल मृत्यु की पीड़ा क्यों भोगते रहें ?"

* निष्पक्षता *

न्यायाधीश एवं दानाध्यक्ष का काम राम शास्त्री प्रभुणे पेशवाई में कर रहे थे। दक्षिणा बांटते हुए एक समय की बात है कि शास्त्री जी के सगे भाई दक्षिणा लेने पहुंचे पास में ही नाना फड़नवीस बैठे थे। नाना ने कहा,—'मैं समझता हूं, ग्राप ग्रपने बन्धु को बीस रुपया दक्षिणा दें।" भाई को दो रुपये देते हुए नाना को प्रत्युत्तर मिला, 'मेरे भाई कोई विशेष विद्वान तो हैं नहीं, साधारण है। ग्रतः ग्रन्य ब्राह्मणों की तरह उन्हें भी दो रुपये ही देना उचित है। नाना ! भाई के नाते जो कुछ देना है उसे मैं स्वयं दूंगा। 'दानाध्यक्ष' राम शास्त्री के यहां भाई-भतीजे के प्रति किसी प्रकार के पक्षपात की गुंजाईश नहीं है।" नाना फड़नवीस चुप हो गये।

जीवन में गुरु की आवश्यकता

❋ योगिराज श्री नानकचन्द जी महाराज ❋

संसार की रचना बड़ी विचित्र है। कुछ समझ में आती है और कुछ को समझने का प्रयास करके भी, नासमझी ही हाथ लगती है। पर एक बात तो निश्चित ही है कि यह संसार दुःखमय है। क्योंकि यहां की हर वस्तु, व्यक्ति, अवस्था और परिस्थिति परिवर्तनशील है। उनमें स्थायी पूर्ण सुख की प्राप्ति की बात सोचना एक भ्रम और धोखे के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। मनुष्य सांसारिक सुख-भोगों को ही सत्य मानकर जब व्यवहार करने लग जाता है तो उसकी चेतना से जड़ की ओर प्रवृत्ति हो जाती है। अनित्य वस्तु को नित्य वस्तु मान बैठता है। जो 'है नहीं' उसमें 'है' का भ्रम और जो 'है' उसकी उपेक्षा उसका जीवन बन जाता है। कामना पूर्ति और कामना अपूर्ति से प्राप्त होने वाले सुख-दुःख के चक्कर में मानव बुरी तरह फँस जाता है। यह द्वन्द्वात्मक स्थिति उसके सीमित अहम्-भाव को बनाये रखती है। परिणाम यह होता है कि मानव जीवन के सर्वोपरि लक्ष्य जिज्ञासा के द्वारा नित्य जीवन की प्राप्ति पर अनित्य जीवन की कामनाओं का काला पर्दा छा जाता है। मनुष्य का स्वाभाविक मानवता के उच्चतम आदर्शों से अभावयुक्त अस्वाभाविकता के वातावरण में रहकर येनकेन प्रकारेण जीवन नैया को खेता रहता है। जब उसकी स्थिति काफी जटिल और असह्य हो जाती है तब उसे किसी ऐसे मार्ग दर्शक की आवश्यकता का अनुभव होने लगता है जो उसे मनुष्य जीवन के लक्ष्य की ओर, असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर तथा विषय चिन्तन से भगवत् चिन्तन की ओर ले जा सके। ऐसे कुशल मार्ग-दर्शक महापुरुष को ही भारतीय धर्म-शास्त्रों में गुरु या आध्यात्मिक गुरु के नाम से सम्बोधित किया गया है।

गुरु कैसा बनाना चाहिये, भागवत का श्लोक कहता है—

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥

भा० स्कं० ११ अ० ३ श्लोक २१

अर्थात् उत्तम कल्याण मार्ग के जानने की इच्छा वाले पुरुष को चाहिए, कि शब्द ब्रह्म और परब्रह्म में निष्णात परम शान्ति दाता गुरु की शरण में जाय।

ऐसे गुरु के द्वारा ही शिष्य को अपेक्षित सफलता प्राप्त हो सकती है। उसका कल्याण हो सकता है। जब तक ठीक गुरु न मिल जाय, तब तक धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी चाहिए। ऐसा विश्वास मन में बनाये रखना चाहिये कि भगवान बड़े ही दयालु हैं। मैं संसार से विमुख होकर उनके सम्मुख हो गया हूँ। वह अवश्य कृपा करेंगे और गुरु के रूप में हमारे सामने आवेंगे। गुरु को भगवान के समान ही मानना चाहिये ऐसा शास्त्रों का कथन है—

यस्य साक्षाद् भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ।
मनुष्य इति दुर्बुद्धिस्तस्य सर्वं निरर्थकम् ॥

—भा० स्कं० ७, अ० १५, श्लोक २६

अर्थात् ज्ञानरूपी प्रकाश को देने वाले साक्षात् भगवान के समान गुरु को जो व्यक्ति मनुष्य समझता है उसका सब किया कराया व्यर्थ है।

साध्य से साधन का महत्व अधिक होता है। बिना साधन जाने साध्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। साधन को बताने वाला गुरु होता है। इसीलिए गुरु की महिमा मुक्त कंठ से वर्णन की गई है। साथ ही शिष्य का भी शिष्यत्व इसी में है, कि वह गुरु द्वारा निर्देश किये हुए मार्ग से ही चले। उधर गुरु का यह कर्तव्य है कि वह एक आदर्श जीवन बिताये और अपने अनुभवों से शिष्य को लाभान्वित करता रहे। मनुस्मृति में गुरु का कर्तव्य इस प्रकार बताया गया है—

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा।
शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः॥

—मनु० अ० ४ श्लोक १७५

अर्थात् गुरु का कर्तव्य है कि सत्य, धर्म, सदाचार और पवित्र कार्यों में सदा लगा रहे तथा शिष्यों को धर्म की शिक्षा दे एवं स्वयं अपनी वाणी, हाथ और उदर को वश में रखे।

गुरु किसी चरित्रवान एवं अधिकारी शिष्य को पाकर फिर उसमें कुछ भी छिपा कर नहीं रखते। रामायण कहती है—

गूढ़ो तत्व न साधु दुरावैं,
आरत अधिकारी जब पावैं।

गीता में भगवान ने अर्जुन को समझाया था—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

—गीता ४-३४

अर्थात् गुरुओं को बारम्बार प्रणाम कर, प्रसन्न कर और खूब सेवा कर उनसे तत्वज्ञान सीखो, तभी तत्वज्ञानी गुरु ज्ञान का उपदेश करेंगे।

एक प्रश्न यह भी उठता है, कि जब तक गुरु न मिले, तब तक साधक को क्या करना चाहिए? साधक को चाहिए कि वह तब तक शास्त्रों का अध्ययन और सत्संग किया करे। ऐसा करने से उसके जीवन में प्राप्त विवेक का आदर होने लगेगा। शनैः-शनैः उसका आध्यात्मिक विकास भी होगा। यह भी सम्भव है, कि बिना गुरु के केवल अपने विवेक के द्वारा वह जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल हो जावे। यह कोई अनहोनी बात नहीं। विवेक-बल के साथ ही साथ यदि विश्वास-बल होगा, तो सफलता असन्दिग्ध है। किन्तु मानव-जीवन में यदि कहीं सत्पथ प्रदर्शक सद्गुरु भगवत्-कृपा से प्राप्त हो जाए तो सरलतापूर्वक अविलम्ब ही मानव जीवन्मुक्त हो निकले। यह यथार्थ सत्य है।

* दान-धर्म *

उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम्।
तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसाम्॥

—चाणक्यनीति अ० ७ श्लोक १८

अर्जित (पैदा) किये गये धन का त्याग कर देना ही उसकी रक्षा है। जैसे तालाब में जमा हुए पानी का नहर, नाला या बंबे के द्वारा खेतों की सिंचाई करना ही उसकी रक्षा है।

❀ उपनिषदों के रत्न ❀

चित्त ही संसार है—

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् । यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत् सनातनम् ॥
चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् । प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमक्षयमश्नुते ॥
समासक्तं यदा चित्तं जन्तोर्विषय गोचरम् । यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात् ॥

—मैत्रेयो० ५-७

अर्थ—चित्त ही संसार है; अतः यत्नपूर्वक उसको शुद्ध करना चाहिए। जिसका जैसा चित्त होता है, वैसा ही बन जाता है। यह सनातन रहस्य है। चित्त के प्रशान्त हो जाने पर शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं; और प्रशान्त मन वाला पुरुष जब आत्मा में स्थिति लाभ करता है; तब उसे अक्षय आनन्द की प्राप्ति होती है। मनुष्य का चित्त जितना इन्द्रियों के विषय में समासक्त होता है, उतना यदि परब्रह्म में हो जाय तो बन्धन से कौन मुक्त न हो जाय।

तत्व विचार—

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्वमुत्तमम् । सत्वादधि महानात्मा महतोव्यक्तमुत्तमम् ॥
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापको लिङ्ग एव च । यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं न गच्छति ॥

—कठोपनिषद ३-६-७

अर्थ—इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है। मन से बुद्धि उत्तम है। मन से उसका स्वामी जीवात्मा ऊँचा है। जीवात्मा से अव्यक्त शक्ति उत्तम है। परन्तु अव्यक्त से भी वह व्यापक और सर्वथा आकार रहित परमपुरुष श्रेष्ठ है, जिसको जानकर जीवात्मा मुक्त हो जाता है एवं अमृतस्वरूप आनन्दमय ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

अमृतत्व प्राप्ति का साधन—

यथा निर्वाणकालेतु दीपोदग्ध्वा लयं व्रजेत् । तथा सर्वाणिकर्माणि योगी दग्ध्वा लयं व्रजेत् ॥
अमृतत्वं समाप्नोति यदा कामात्स मुच्यते । सर्वैषणाविनिर्मुक्तश्छित्वा तं तु न बध्यते ॥

—क्षुरिकोपनिषद

अर्थ—जैसे दीपक बुझने के समय सारे तेल को जलाकर बुझ जाता है, वैसे ही योगी समस्त कर्मों को जलाकर ब्रह्म में लीन हो जाता है। साधक जब समस्त कामनाओं से छूट जाता है तब अमृतत्व को प्राप्त होता है। यों संसार बन्धन को काट डालने के बाद वह बंधता नहीं।

गतांक से आगे--

भावना में भगवान

* श्री सोमप्रकाश जी शाण्डिल्य *

अब और जरा आगे बढ़िए, आप विचार करें कि जिन महापुरुषों ने किसी समय पर आकर परिस्थितिवश तीर्थव्रत पूजा पाठ आदि निरर्थक बतलाए। उनका कभी यह अभिप्राय नहीं रहा कि इन सत्कर्मों से भगवान की प्राप्ति नहीं होगी, यह सब ढोंग हैं, इन्हें छोड़ देना चाहिए बल्कि इनके ही साथ मूर्तिपूजक भक्त मण्डल धर्माचार्यों ने, सभी ऋषि-मुनियों ने भी इसी बात पर एकमत होकर जोर दिया है, कि प्रभु प्राप्ति के सभी शास्त्रीय मार्गों में हृदय की सद्भावना का होना अनिवार्य है। इसके बिना न केवल मूर्ति पूजा, जप पाठ, तीर्थव्रत ही निष्पक्ष, बल्कि ज्ञानवानों के संसार में हवन, वेद पाठ, सन्ध्या, ज्ञान-विज्ञान सभी कुछ निरर्थक ढोंग, लोक प्रदर्शन और अपने आपको भी धोखा देना है। भावना के बिना यह प्रियता की दुनिया तो दूर रही इस ससार में भी मानव इसी एकमात्र सदभावना के बिना शैतान है।

यह भावना का सरस व दुष्कर साधन लोक परलोक का निर्माण करने वाला है, तथा विद्या, धन, बल, बुद्धि, कल्पना सब निरर्थक हो जाते हैं। यह जितना कठिन है, उतना ही सरल भी है। इस मार्ग की सरलता और सुविधा यहां तक भारत के सन्तों ने कह दी है, कि—

जाति पांति पूछे नहिं कोई।
हरि को भजै सो हरि का होई॥

रैदास, धन्ना, दादू, मीरा, स्त्री, किसी की विद्या, जात, धर्म, ज्ञान नहीं पूछे गए, केवल इसी एक भक्ति भावना के नाम पर मेरे श्याम को इनके हाथों बिकना भी पड़ा, लेकिन प्रश्न दिल की लगी भावना की आग का है—

जा तन लागी, सोइ तन जाने,
और न जाने कोय।

इसकी चरम सीमा है, लोक लाज छोड़ बनों की खाक छानना। जरा इस भावना के संसार की सरलता देखिए, एक क्षण में ही संसार बदल जाता है। तुलसीदास की धर्मपत्नी रत्नावलि ने कहा, कि—

अस्थि चर्ममय देह मम, तामें जैसी प्रीत।
तैसो हो श्रीराम मह, होतन तब भवभीत॥

एक पत्नी-प्यार को घोर मोह का संसार इसी भावना के बदलते ही शुद्ध सात्विक राम-भक्ति के रूप में भक्ति भावना का संसार बन गया, लेकिन इस की कठिनाइयां भी जरा देख लें।

तलवार की धार पर चलना होता है। अन्दर ही अन्दर जलता है, पर कहीं धुंआ तक नजर नहीं आता और कहना होता है—

सन्तन ढिग बैठ-बैठ लोकलाज खोई!

राजा की नगरी ही नहीं, सिसक-सिसक कर संसार भी छोड़ना पड़ जाता है। लेकिन इस कठिनाई पर आप तनिक भी घबरा न जाएं, आप को कुछ नहीं करना होगा। पहिले तो वह आप के प्रियतम के प्रेम का वह नशा ही ऐसा होगा, कि जहर के प्याले आपके लिए अमृत बन जायेंगे।

विषधर सर्प स्पर्श प्रियतम बन निकलेगा क्योंकि आपकी मनोदशा तो यह होगी, कि—

सियाराममय सब जग जानी ।
करहुं प्रणाम जोरि जुग पानी ॥

आपको केवलमात्र इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा, कि इधर उधर भटकना, सुनना सुनाना, सब कुछ छोड़कर संसार को सबसे अधिक सुखप्रद, लोकहित कर सद्भावना निर्माण का यह गुरु-मन्त्र आप मन के तार के साथ जोड़कर जाप करने लगें। और संसार को अपने उसी प्रियतम का संसार मान ऐसी भावना बनाने का प्रयास करें कि संसार का प्रत्येक प्राणी मेरा भाई, बहिन, माता-पिता बन्धु का पवित्र व निश्चल नाता लिए हैं, बस फिर क्या है, जैसे आप अपने परिवार में दोषपूर्ण व्यवहार होने पर भी उस व्यक्ति से ममत्व में कभी द्वेष-बुद्धि नहीं बनाते, दुर्भावना नहीं रखते हर समय आनन्दमय रहते हैं। इसी प्रकार संसार के प्राणीमात्र के साथ आपकी केवल यही पारिवारिक सद्भावना बन जाने के बाद यह लोक संसार आनन्दमय दीखने लगेगा, फिर आप अच्छे भारतीय बन कर कह उठेंगे, कि—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिदुखभाग भवेत ।

इस प्रकार जब आप केवल जबान से ही नहीं, जीवन में हृदय की भावनाओं में भारतीय संस्कृति की सच्ची राष्ट्रीयता अपना लेंगे, फिर एक दिन आप देखेंगे, कि इसी लोक तपस्या के वरदान में आपको स्वयं ही वह अपना प्यारा प्रियतम कण कण में दीखने लगेगा । आप कह उठेंगे कि— 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।' इसे ही यों कहिए—

जिधर देखता हूँ, उधर तू ही तू है ।

इस भावना को जरा मां गीता के मन्त्रों में सुनिए—

यो मां पश्यति सर्वत्र, सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि, स च मे न प्रणश्यति ॥

बस फिर क्या रहेगा । तू कह उठेगा कि—

माई री मैं तो लियो गोविन्दो मोल ।

फिर तो मन माने नाच नचा, हर समय प्रियतम तेरे कहने में रहेगा, यह मैं अपनी बात नहीं कह रहा, एक विदेशी विधर्मी मुसमान पठान रसखान की घोषणा सुनकर तो आप विश्वास कर ही लेंगे—

नारद से शुक व्यास रहें,
पचिहारे तउ पुनि पार न पावें ।
ताहि अहीर की छोहरियां,
छछिया भरि छाछ पै नाच नचावें ॥

अब छोड़ें, इस विषय विस्तार से क्या लाभ, सार वही एक है, कि आत्म कल्याण एवं विश्व-कल्याण के लिए लोक परलोक हित में एकमात्र सदभावना निर्माण का मार्ग अपना लें । इस लोक-परलोक की बनाने वाली सदभावना के सामने तुझे संसार के यह धातु अथवा पत्थर की दौलत तो क्या प्राणों की दौलत भी बलिदान में देनी पड़ जाए तो हृदय को पत्थर होने से बचा, यह तेरा हृदय मानव के लिए ही न कराहता हो, बल्कि सच मान, जिस दिन तेरे हृदय में पशु-पक्षी के लिए तड़प पैदा हो उठेगी, जान लेना, कि अब तू अपने प्रियतम के द्वार पर जा पहुँचा है । अब थोड़ी ही दर्दभरी पुकार लगाने की आवश्यकता होगी, कि तू प्रियमिलन की मधुबेला में कह उठेगा कि—

नयनन की करि कोठरी,
तुलसी पलंग बिछाय ।
पलकन की चिक डारि कै,
पिय को लिया रिझाय ।

सुखी जीवन

❀ गोस्वामी गुलजारीलाल ❀

चाह गई चिन्ता मिटी मनुवा बेपरवाह ।
जिनको कछू न चाहिए सो जग शाहनसाह ॥

सच्चा सुख धन में नहीं

कौन नहीं चाहता शाहंशाह बनना, धनवान बनना, सुखी बनना, परन्तु सुखी बनने का साधन केवलमात्र धन एकत्रित करना ही नहीं वरन् धन से दूर भागने से ही आप सच्चे सुखी और सच्चे धनवान बन सकते हैं। आप कहेंगे यह कैसे ? आजकल के समय में बिना पैसे के तो कोई बात ही नहीं पूछता। आपका कहना भी ठीक है। परन्तु केवल जीवन-निर्वाह के लिए धन उपार्जन करना कोई बुरी बात नहीं। धन के लिए दिन-रात मारा-मारा फिरना ही अपने आपको दुःखी बनाना है। धन को इकट्ठा करने के लिए व्यर्थ की चिन्ताओं में पलते रहना ही दुःख का कारण है।

सुखी जीवन के लिए संकल्प विकल्पों का त्याग

यदि आप सुखी जीवन व्यतीत करना चाहते हैं तो आपको व्यर्थ की चिन्ताओं को छोड़ना होगा। व्यर्थ के हवाई किले बनाने छोड़ने होंगे। आप कहेंगे कि जब तक भविष्य के लिए योजना ही नहीं बनाई जाएगी तो कैसे काम चलेगा। ठीक है योजना बनाएं, परन्तु उन योजनाओं को पूरा करने के लिए पहले से ही हवाई किले न बनाएँ। याद रखें जितना आप अधिक सोचेंगे उतने ही दुःखी होंगे। मान लो आप कोई परीक्षा दें, परीक्षा अभी दे नहीं पाए कि आप सोचने लगे अच्छी परीक्षा होगी, अच्छे नम्बर आयेंगे। बाद अमुक ट्रेनिंग कोर्स करेंगे और तत्पश्चात् इतने समय तक अच्छी नौकरी भी लग जाएगी और खूब आनन्द से जीवन व्यतीत होगा। दुर्भाग्यवश आप परीक्षा में २-३ बार यत्न करने पर भी उत्तीर्ण नहीं हो सके सभी स्कीमें दिल में ही रह गईं। जब आप अपने हवाई किले के बारे में सोचेंगे तो और दुःखी होंगे भगवान ने श्री गीता में भी कहा है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति विभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

—गीता २-६२-६३

याद रक्खें मन चाही वस्तु का चिन्तन करने से उसमें आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से उस वस्तु की कामना होती है और कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मूढ़भाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ़भाव से स्मरण शक्ति भ्रमित हो जाती है और स्मृति के भ्रमित हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञान शक्ति का नाश हो जाता है और बुद्धि के नाश होने से पुरुष अपने श्रेय साधन से गिर जाता है। इस प्रकार के अपने बनाए हुए दुःखों से छूटने के लिए भगवान ने श्री गीता में कहा है कि 'हे अर्जुन ! तेरा कर्म करने मात्र में ही अधिकार होवे फल में कभी नहीं और कर्मों के फल की वासना भी मत रख।' अतः सिद्ध हुआ कि हमें फल की अपेक्षा कर्म करने में अधिक ध्यान देना है। आप कर्म करें फल अवश्य मिलेगा। व्यर्थ में अनेक प्रकार के मनसूबे बांधना, जमीन आसमान को एक करने की चेष्टा करना, अपने आपको दुःखी बनाना है। न जाने मृत्यु का निर्दय हाथ कब

आकर हमारे मन के महलों को गिरा दे और हमारी सभी योजनाएँ यों ही पड़ी रह जाएँ।

सुखी जीवन के लिए आत्म निरीक्षण

अपने मन को शान्त करने का दूसरा उपाय अपने हृदय को सदा टटोलना है, कहीं उसमें काम, क्रोध, वैर, ईर्ष्या, घृणा इत्यादि आकर पक्का डेरा न जमा लें। इन दोषों को दूर करने के लिए आपको दूसरों के दोषों की बजाय अपने दोष देखने होंगे। कहीं ऐसा न हो कि—

दोष पराये देखि करि, चले हसंत हसंत।
अपने याद न आवहि, जिनका आदि न अंत।

अपने दोषों को देखते रहना और उन्हें प्रकाश कर देना ही दोषों से छूटने का एकमात्र सरल उपाय है। अपने विरुद्ध कोई बात सुनते ही तुरन्त दुःखी मत होवें। विरोध का कारण ढूंढ़ने और उसे मिटाने का यत्न करें। सम्भवतः आपमें कोई ऐसा दोष हो जो आपको न दीख पड़े। अतः ऐसी स्थिति मे शान्ति और धैर्य से काम लें। यदि आप किसी की इच्छा के विरुद्ध कुछ बोलना या कोई कार्य करने में अपना अधिकार मानते हैं तो उसको भी ऐसा अधिकार प्राप्य है। क्या हुआ आज आपके पास कुछ सत्ता है पर यह स्थिति आपकी सदा रहने वाली नहीं। इसलिए सभी से, विशेषतः अपने छोटों से ऐसा व्यवहार करें कि वे जीवन भर आपके गुणों को याद रखें। यदि आपको कोई मिलने आये, तो आप अपने व्यवहार से उसके हृदय में अमृत भर दें। याद रहे कोई आप से विष न ले जाए। भगवान का धन्यवाद करें जिसने आपको उच्च-पद, उच्च शिक्षा, अच्छी सन्तान, सुन्दर शरीर दिया है। इनका सदुपयोग करें। यह बार-बार मिलने वाली नहीं हैं कबीर जी ने कितना सुन्दर कहा है—

कबीरा नौबत आपनी दिन दस लेहु बजाय।
यह पुर पट्टन यह गली बहुरि न देखौ आय॥

धन, मकान, उच्च पद, सुन्दर शरीर आदि का मान न करें। यह सभी चीजें पलभर में नष्ट हो जाने वाली हैं। एक दिन अवश्य मर जाना है इस बात को भूलें मत। मृत्यु के भयानक दृश्य को सदा याद रक्खें।

गुण-दोष सभी में होते हैं दूसरों के केवल दोष ही देखने से आपकी वृत्ति धीरे धीरे दूषित हो जायगी और आपको अच्छे कामों में भी दोष ही दीखेंगे। इस प्रकार आप स्वयं जलेंगे और दूसरों को भी जलायेंगे। इसके विपरीत यदि आप दूसरों में गुण देखेंगे तो आपकी वृत्ति गुणमयी होगी। आप स्वयं प्रसन्न होंगे और दूसरों को प्रसन्न करेंगे, मन शान्त रहेगा।

अतः आप अपनी इच्छाओं को कम करें और दूसरों में दोष देखने की बजाए गुण देखने का यत्न करें, इसी में आप सच्चे सुख का अनुभव करेंगे।

किं विद्यया किं तपसा किं त्यागेन श्रुतेन वा।
किं विविक्तेन मौनेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम ॥

—श्रीमद्भागवत

स्त्री ने जिसका मन चुरा लिया, उसकी विद्या व्यर्थ है। उसे तपस्या, और शास्त्राभ्यास से भी कोई लाभ नहीं। और इसमें सन्देह नहीं कि उसका एकान्त सेवन और मौन भी निष्फल है।

हितकारी गीता

श्री विमलेश वाजपेयी

'गीता पिता है' जो पढ़ाता पोषता दे ज्ञान,
'गीता माता है' सरस जीवन बनाती है।
'गीता वह सखा है' परलोक तक निभाता साथ,
'गीता विद्या है' ब्रह्मविद्या सिखाती है॥
'गीता अपनी है' भ्रम स्वप्न से जगाती हमें,
'गीता प्रकाश-दिव्य' देव पथ दिखाती है।
'गीता वह गुरु है' विमलेश मोह-ग्रन्थि छोरि,
शुद्ध बुद्ध शीतल मुक्त मानव बनाती है॥१॥

कैसे विमलेश करें गीता की बड़ाई हम,
गीता से बचता उभय लोक का फजीता है।
जीता! जो गीता को सुगीता करि शान्ति पाय,
बिना गीता जीता! अरे व्यर्थ नर जीता है॥
जोता है वही जो लिये प्राणों में गीता फिरे,
हारे कौन! अर्जुन सा कायर जब जीता है।
मीता है न गीता सा विचारि चहुं ओर देखौ,
गोता का मीता ब्रह्मानन्द-रस पीता है॥२॥

गीता की भव्य-भावनाओं तक पहुंचे जोई,
सोई सुख शान्ति के खजाने बहु पा गये।
मिट गये जग के खटापटी अड़ंगे अड़े,
दीनता के दिन तो कन्दरान में समा गये॥
आ गये दिवस अनोखे राधा श्याम दरश—
कण-कण में जागे, और प्राणों में छा गये।
कवि विमलेश कर सकते संकेत किन्तु,
धन्य वे मानव शरण गीता की आ गये॥३॥

गीता का गाया पथ ही है प्रिय तुम्हारा पथ,
गीता से निषेध-पथ चलकर भ्रष्ट होना है।
चला..., चलता, चलेगा तजि गीता मार्ग,
हुआ कष्ट, होता कष्ट, आगे कष्ट होना है॥
...अलौकिक रसायन विमलेश एक;
मूर्खता-विष को करे दिव्य-ज्ञान सोना है।
...ह-जनित व्याधिन मिटाइबे को गीता मित्र,
अजब है, तमाशा है, जादू है, टोना है॥४॥

जय गुरुदेव

❋ श्री आनन्द शंकर पाठक ❋

आध्यात्मिक साधना में सद्गुरू शरणागति सर्व प्रथम है। सद्गुरू के पथ-प्रदर्शन के बिना साधन का यथार्थ रहस्य विदित होना असम्भव है। केवल शब्द शास्त्रों के पाण्डित्य से अथवा घट-पटादि तर्क-वितर्क से ईश्वरीय परम-तत्व समझ में आना अत्यन्त कठिन है। अनुभवी सद्गुरू के पथ-प्रदर्शन से साधन पथ के अन्तराय और उनसे बचने के उपाय साधक को भलीभांति समझ में आकर वह अनायास ही अपने लक्ष्य तक पहुंच सकता है। इसीलिए वेदवाणी से लेकर आधुनिक सन्तों की वाणी तक सभी में एक स्वर से सद्गुरू की शरण में उपस्थित होकर अपने अधिकार के अनुसार उनसे उपदेश प्राप्त करके तदनुकूल आचरण करने का आदेश दिया है—

गुकारस्त्वंधकारोस्ति,
रू शब्दस्तन्निरोधकः।

अज्ञानजन्य अन्धकार का नाश हो जाने के लिए गुरु-शरणागति के सिवाय कोई साधन नहीं है। जिस प्रकार सूर्योदय होने से अन्धकार का नाश अपने आप हो जाता है उसी प्रकार सद्गुरू बोध-रवि का उदय होते ही अज्ञान, मोह, विषय जनित भोग-कामना अपने आप नष्ट हो जाती है। यदि तुम मृत्यु से मुंह मोड़ना चाहते हो तो जन्म-बन्धन तोड़ने का प्रयत्न करो, तुम्हारा जन्म ही नहीं होगा तो मृत्यु कहां से आवेगी। जिज्ञासू गुरू सेवा में आत्म समर्पण करके—

शिष्यस्तेहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।

इस प्रकार की भावना से प्रभावित होते हैं उसी समय—

भिद्यते हृदय ग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्व संशयाः।

सन्देह रहित होकर प्रकाशमय वातावरण में अपने आप ही पहुँच जायगा। वे पुरुष धन्य हैं, बहुत सौभाग्यवान हैं जिन्होंने सद्गुरू को प्राप्त करके अपना जीवन उनके सेवाभाव में व आज्ञा-पालन में उत्सर्ग किया है।

गुरू कर्णधार हुए बिना साधन तरणी का विषय समुद्र की नभोव्यापिनी उत्ताल तरंगों से बचकर उस पार पहुँचना नितान्त असम्भव है। प्रत्येक साधक को साधनावस्था के प्रारम्भ में सद्गुरू का शोध करना चाहिए और जब तक सद्गुरू की प्राप्ति न हो तब तक आर्तभाव से ईश्वर की प्रार्थना करना चाहिए कि जिसमें ईश्वरानुग्रह से सद्गुरू की प्राप्ति हो जाय। वास्तविक सन्त-महात्मा भगवत् कृपा से ही प्राप्त होते हैं इसमें सन्देह नहीं कि, साधक के मन में सद्गुरू प्राप्ति की तीव्र इच्छा जागृत हो जाय तो स्वयं परमात्मा सद्गुरू रूप से प्रगट होकर साधक को साधन पथ प्रदर्शित करके कृतार्थ कर सकते हैं। सद्गुरू का अन्वेषण तीव्र [illegible] इच्छा व मुमुक्षा के साथ करने से अवश्य हो जाता है [illegible] तर्क-वितर्क का आश्रय लेकर केवल कौतूहल के [illegible] या मान-सम्मान, प्रतिष्ठा बड़ाई के अभिप्र[illegible] जो गुरूसेवा का दम्भ किया जाता है ऐसे द[illegible] के समक्ष सद्गुरू अपना यथार्थ रहस्य प्रगट करते। वह तो साधक का अधिकार एवं र[illegible] रहस्य

बीज अंकुरित होने योग्य मनोभूमि का परीक्षण प्रथम ही कर लेते हैं। इसी लिए भगवान ने गीता में कहा है—

इदं ते ना तपस्काय ना भक्ताय कदाचन।
न चा शुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्य सूयति॥

प्रथमत: सांसारिक भोगों में विरक्ति व आहार-विहार का संयमित अभ्यास करते हुए मनोभूमि निर्मल करनी पड़ेगी तदनन्तर श्रद्धा व विश्वास के साथ सद्गुरू को सेवा समर्पण करने से साधक तत्वाववोध का अधिकारी हो जाता है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिन: स्तत्व दर्शिन:॥

पारमार्थिक पथ कितना ही दुर्गम क्यों न हो सद्गुरू की कृपा मात्र से वह अतीव सुलभ हो जाता है।

सदगुरू ही ते पाइये,
राम मिलन को घाट।
सहजें ही खुल जात है,
सुन्दर हृदय कपाट॥

राजा महाराजा तथा सम्राट राज राजेश्वर भी प्रसन्न हो जांय तो वे सांसारिक नाशवान पदार्थों के अतिरिक्त आपको कुछ नहीं दे सकते और वह सांसारिक सम्पत्ति दु:ख का ही कारण बन जाती है, सांसारिक सम्पत्ति से कदापि शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। शान्ति प्राप्त करने की साधन-निधि, शान्ति मन्दिर का सुलभ सोपान तो सद्गुरू शरणागति से ही ज्ञात हो सकता है। शान्ति के खजाने की चाबी तो गुरुदेव के पास ही मिल सकती है। सद्गुरू की कृपा से जो परमधन प्राप्त होता है-वह इहलोक में शान्ति का सहायक होकर परलोक में मुक्ति-धाम का प्रदर्शक हो जाता है। सद्गुरू की सेवा करो, सद्गुरू की कृपा प्रसाद प्राप्त करने का सौभाग्य जिसको हुआ उस के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

तीरथ नहाये एक फल,
सन्त मिले फल चारि।
सदगुरू मिले अनेक फल,
कहत कबीर बिचारि॥

प्रत्येक जीव के अन्त:करण में अनेक प्रकार की दिव्य शक्तियां गुप्त रूप में छिपी पड़ी हैं उनकी जागृति एवं विकास सद्गुरू के प्रदर्शित साधन द्वारा ही हो सकता है।

गुरू बिन भवनिधि तरै न कोई।
जो विरंचि शंकर सम होई॥

सद्गुरू के प्रति प्रेमभाव तभी जागृत होता है जब जीवन में सद्गुरू एवं सदाचार की प्रधानता होती है। अतएव प्रथमत: दैवी सम्पत्ति प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये।

'दैवी सम्पद्विमोक्षाय'

उत्कट इच्छा से स्वयं भगवान ही गुरूदेव के रूप में अवतीर्ण होकर भक्त का पथ प्रदर्शन करेंगे, इसमें सन्देह नहीं।

दीन दयाल सुनी जबते तबते हिय में कछु ऐसी बसी है।
तेरो कहाय के जाऊँ कहां तेरे हित की पट खेंच कसी है॥
तेरा ही एक भरोसो "मलूक" को तेरो समान न दूजो जसी है।
ए हो मुरारि पुकारि कहौं अब मेरो हंसी नाहिं तेरो हंसी है॥

—सन्त मलूकदास

तुलसी-सूक्ति

सन्त-प्रवर गोस्वामी तुलसीदास

सम्पत्ति विपत्ति कहां रहती हैं ?

जहां सुमति तहं सम्पति नाना ।
जहां कुमति तहं विपति निदाना ।।

जहां अच्छी मति (अच्छे विचार) होती हैं वहीं सम्पत्ति निवास करती है और जहां कुमति (बुरे विचार) होती है वहां बरबस ही विपत्ति का निवास रहता है ।

जीव कब जागता है ?

मोह-निशा सब सोवन हारा ।
देखहिं स्वप्न अनेक प्रकारा ।।
जानिय तबहिं जीव जग जागा ।
जब सब विषय विलास विरागा ।।

इस मोह रूपी रात्रि में सब लोग सोने वाले ही हैं और नाना प्रकार के स्वप्न देखते हैं। उसी समय समझें कि जीव जाग गया जब उसका मन नाना प्रकार के विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) से हट जावे ।

किसका कुल धन्य है ?

सो कुल धन्य उमा सुन,
जगत पूज्य सुपुनीत ।
श्री रघुवीर परायण,
जेहि कुल उपज विनीत ।।

भगवान शंकर कहते हैं—उमा सुनो ! वही कुल धन्य है, वही संसार में पूज्य है, वही पवित्र है, जिस कुल में भगवान श्री राघवेन्द्र में अनन्य शरणागति रखने वाला विनम्र व्यक्ति जन्म ले ।

सर्वज्ञ-पण्डित कौन है ?

सोइ सर्वज्ञ गुणी सोइ ज्ञाता ।
सोइ महि मण्डन पण्डित दाता ।।
धर्म परायण सोई कुल त्राता ।
राम-चरण जाकर मन राता ।।

वही सर्वज्ञ है, वही गुणी है, वही ज्ञानी है, वही पृथ्वी का भूषण है, वही धर्म परायण है, वही कुल को तारने वाला है जिसका मन भगवान राम के श्री चरणों में लगा हो ।

भगवान को कौन परम प्रिय है ?

भक्तिवन्त अति नीचउ प्राणी ।
मोहि परम प्रिय यह मम वाणी ।।

भगवान राम कहते हैं—यह मेरी घोषणा है कि भक्ति से युक्त प्राणी चाहे वह नीच ही क्यों न हो मुझे परम प्रिय है ।
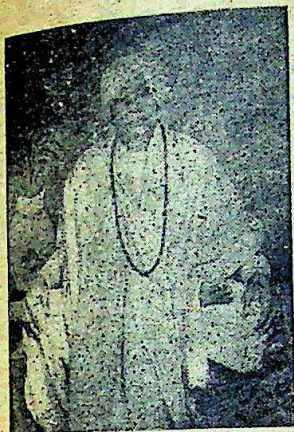
भगवद्गीता की महानता

* श्री स्वामी केशवानन्द जी महाराज *
[स० ध० मन्दिर ईस्ट पटेल नगर, नई दिल्ली]

श्रीमद्भगवद्गीता श्री कृष्ण महाराज की पावन वाणी है इस अपूर्व ग्रन्थ में आनन्दकन्द श्री कृष्ण भगवान ने सारे धर्म ग्रन्थों का सार रख दिया है। गीता का उपदेश किसी एकान्त स्थान अथवा गिरिकन्दरा में नहीं हुआ, अपितु रण-भूमि के मध्य स्थल में क्षत्रिय वीर अर्जुन को निमित्त करके इसका उपदेश हुआ है। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य जीवन युद्धमय है और विभिन्न प्रकार के युद्ध में से जीवन पार करना पड़ता है। अन्त तक ये जीवन युद्ध ही मनुष्य को परमगति की प्राप्ति करा देता है।

'तस्मात् सर्वेषु कालेषु, मामनुस्मर युध्य च।'

गीता ८-७।

श्रीमद्भगवद्गीता में कर्तव्य कर्म को युद्ध का रूप दिया गया है। कर्तव्यमय जीवन में सुख तथा दुःख दोनों ही आते हैं, वीर साधक दोनों का ही स्वागत करता है। और समर्पण बुद्धि से अपने कर्तव्य को प्रभू में समर्पण करते हुए जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष को भी प्राप्त कर लेता है। गीता की यह एक स्पष्ट घोषणा है और गीता की यह एक विशेषता भी है जिसका संकेत उपनिषदों में है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि (ईशा नं० २) वेदान्त शास्त्रों में कर्म को बन्धन का कारण कहा है परन्तु भगवद् गीता में उसी कर्म को मुक्ति का परम साधन बतलाया गया है। स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः (गीता १८-४५) जैसा वेदों में भगवत प्राप्ति के तीन मुख्य साधन कहे हैं ठीक उसी प्रकार गीता में भी कर्म, भक्ति और ज्ञान रूपी तीन मुख्य साधन बतलाये गये हैं। यद्यपि विभिन्न स्थलों में कर्म, भक्ति और ज्ञान को प्रसंगानुसार विशेषता दी गई परन्तु इन तीनों की समानता (मेल) ही गीता की बड़ी भारी महानता है। गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम को त्रिवेणी कहा जाता है।

कर्म, भक्ति और ज्ञान रूपी गंगा यमुना सरस्वती के संगम रूपी इस पवित्र गीता त्रिवेणी में स्नान करके घोर पापी भी जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त कर लेगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। गीता मानव-मात्र के लिए मुक्ति का मार्ग प्रदर्शन करती है।

**गीता सुगीता कर्तव्यां किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥**

ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः

**तन पवित्र सेवा कियें, धन पवित्र कर दान।
मन पवित्र तब होयगा, बोलो श्री भगवान॥**

अनन्त सुख की ओर

❁ डा० श्री सूर्यदेवसिंह ❁

आज का संतप्त मानव जिधर आंखें उठाकर देखता है निराशा ही निराशा मुँह बाये खड़ी है। कोई सुखी नहीं कोई प्रफुल्ल नहीं। भाई भाई का गला घोटकर अपनी स्वार्थ पूर्ति कर रहा है। हम दिन-रात परिश्रम कर रहे हैं और अर्थोपार्जन द्वारा सुख चाहते हैं किन्तु यह बालू से तेल निकालने का प्रयत्न कर रहे हैं; वैज्ञानिक नये-नये आविष्कार कर रहे हैं फिर भी समस्याएँ जटिल ही होती जा रही हैं मानव समाज सभी वर्ग इसी खोज में दिन-रात रत हैं पर बेचैनी दिनों दिन बढ़ती जा रही है। आज मृग तृष्णा के धोखे में हम चांद पर जाकर सुख की खोज करने में लगे हैं। कहीं बिश्व युद्ध का भय है; तो इधर दिन-रात समझौते चल रहे हैं पर तो भी एक राष्ट्र दूसरे का गला घोटने के लिए तैयार है। हमारे मस्तिष्क में विश्व बन्धुत्व आज कथनमात्र के लिए ही रह गया है। ज्यों-ज्यों हम अपने में सभ्य होते जा रहे हैं; हमारी अवनति ही होने लगी है। अतः मानव समाज पुकार रहा है 'हमें सच्चे सुख की प्राप्ति कैसे हो?' आज यह समस्या एक व्यक्ति की नहीं; एक समाज की नहीं; बल्कि भारत के ४० करोड़ अर्जुन के सामने खड़ी है *'कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्'* का प्रश्न लेकर।

पर क्या इस समस्या का कभी अन्त भी होगा? क्या यह दैवी प्रकोप है? जो हमारे हटाये नहीं हटता अथवा हमने स्वयं ला खड़ा किया है? और स्वनिर्मित इस दुख के जाले में उलझ रहे हैं। कहीं हम भूल तो नहीं कर रहे हैं! हमसे कहीं गलती तो नहीं हो रही है। हां हमें तो ऐसा ही लगता है पाश्चात्य देश वाले चाहे इस दुख का कारण अभी नहीं पहचान पाये हों। मगर हमें तो करोड़ों वर्ष पहले अपने पूर्वजों के द्वारा इस समस्या का समाधान मिल चुका है। हमारे कहने का मतलब यह नहीं; कि भौतिक आविष्कार न हों। पर यह बात ठीक है कि हम केवल भौतिक आविष्कार से ही सुख की प्राप्ति नहीं कर सकते। प्रकाश पूर्व से फैलता है तो आज हम पश्चिम से उसकी आशा कर बैठे हैं जो बेकार ही नहीं; असम्भव है। पाश्चात्यानुकरण के फेर में आकर अगर हमने अपने पूर्वजों द्वारा दी गई विरासत संभालने में ज्यादा देर की; तो सम्भव है हम गर्त के उस भाग में गिर जायें जहां तिमिर के सिवा हमें कुछ हाथ ही न लगे।

तो आइये! अब हम अपने पूर्वजों की अमूल्य निधि को जो हमें विरासत के रूप में मिली है; अध्ययन करें। जिस कारण यह देश जगद्गुरु कहलाया एवं उस अनन्त सुख को पाने में स्वयं समर्थ ही नहीं हुआ; बल्कि दुनियां को भी उस सुख का प्रसाद चखने के लिए दिया। पर हाय! आज हम उन्हीं की सन्तान होकर उनका अनुकरण करने में शर्म कर रहे हैं।

अब हम पता लगायें, कि आज का मानव क्यों दुखी है? तो हमारे पूर्वजों का कहना है या उनका यह आविष्कार है कि एक व्यक्ति; समाज

आ मानव समुदाय जब दुखी होता है तो इसका मतलब है कि उसके अन्तर में काम, क्रोध, लोभ, मोह और मद इनमें से एक या एक से अधिक अथवा सम्पूर्ण उसके अन्तर में उथल-पुथल मचा रहे हैं जिस कारण वह दुखी है। अर्जुन के पूछने पर भगवान ने कहा है कि मानव के दुखों का मूल *काम एष क्रोध एष* आदि ही हैं। ये मानव समाज के महान वैरी हैं ये मनुष्य को खाने वाले हैं अन्यत्र भी—

काम क्रोधौ महा शत्रू देहिनां सहजावुभौ।

अतः उपरोक्त दुर्गुणों को त्यागकर उस अनन्त सुख के देश का नागरिक बनने के लिए पूर्वजों के बताये मार्ग पर चलना होगा। सम्भव है; हमें वहां पहुंचने में ज्यादा समय लगे; पर हम पहुंचेंगे अवश्य ऐसा भगवान ने भी कहा है। और जब हम पहुंचेंगे तो हमारे अन्तर में स्वयं ही *'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'ब्रह्मैं वेदं सर्वम्', 'वासुदेव सर्वमिति'; 'सर्व मिदमहं च वासुदेव'*; तथा *'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय'* की अमर ज्योति का प्रकाश हो उठेगा।

यह सब केवल भाषण देने या कागज के पन्ने रंगने से सम्भव नहीं होगा। हमें इसके लिए अग्नि परीक्षा देनी पड़ेगी। गीता जी में भगवान ने भी कहा है कि हे अर्जुन! जिस कार्य के करने में पहले दुख होता है और अन्त में सुख वही सात्विक सुख है। भारत के भावी कर्णधार उपरोक्त गुणों को अपनाने में सक्षम हों; इसके लिए आधुनिक कालेजों की नहीं; बल्कि गुरुकुलों की स्थापना करनी होगी। जहां आचार्य *गीताव्यास श्री १००८ स्वामी वेदव्यास जी महाराज* जैसे उद्भट विद्वान सन्तों के तत्वावधान में 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः' की व्यवहारिक शिक्षा दी जाय। यह सब केवल विद्वानों से ही नहीं होगा जब तक इसमें सन्तजन हाथ न बटायें। कहा भी गया है—*'आचार्यवान पुरुषो वेद'* एवं *'दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणा बिना'* यह सब केवल बातों से ही नहीं होगा; सम्पन्न व्यक्तियों एवं सरकार को भी पूरी सहायता देनी होगी। तब कोई कारण नहीं; जो भारत केवल अपने ही नहीं बल्कि एक दिन फिर सारे जगत को उस अक्षय सुख की प्राप्ति कराने में समर्थ होगा। जब हमारे अन्तर में उपरोक्त मन्त्रों का प्रादुर्भाव होगा तो भगवान *'तस्याहं सुलभः'* इस प्रतिज्ञा के अनुसार हमें अपना लेगा। और जब अपना लेगा तो *मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखा लयम शाश्वतम्। नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमांगताः। न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते* और तब हमें *तत्र को मोहः कः शोक एकत्व-मनुपश्यतः* के अनन्त सुख की प्राप्ति होगी।

राष्ट्रभाषा हिन्दी की अखिल भारतीय लोकप्रिय संस्था——

हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग

के प्रधान सचिव की गीता-सन्देश के लिए,

● शुभ-कामना ●

गीता-सन्देश के लिए शुभ कामना भेजते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता है। गीता के सन्देश के प्रचार में ही आज के परितप्त जगत का कल्याण हो सकता है। मुझे विश्वास है कि आपके सम्पादकत्व में सन्देश समस्त संसार में पहुंचेगा। आपका,

मोहनलाल भट्ट, सचिव

हमारी शरीर रचना आध्यात्मिक दृष्टि से

❀ श्री गोबर्धननाथ कक्कड़ ❀

मनुष्य को सतत आनन्द के लिए, जो उसके जीवन का परम लक्ष्य है, अनवरत साधना करनी पड़ती है। साधना का लक्ष्य है—आत्मपूर्णता। आत्मपूर्णता ही सतत आनन्द की प्राप्ति है। सतत आनन्द की प्राप्ति होने पर आत्मसाक्षात्कार होता है, अपने निज-स्वरूप का दर्शन होता है। हम क्या हैं? यह हम जान जाते हैं। निज-स्वरूप की प्राप्ति के साथ ही आत्म स्थिति स्थिर हो जाती है। आत्मस्थिति के स्थिर होते ही हम संसार और उसके द्वन्द्वों से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं। सुख-दुःख, काम-क्रोध, विषय-वासनाओं का सारा जाल तिरोहित हो जाता है और हम दिव्य जागरण की स्थिति में विचरने लगते हैं। हमारे हर कार्य दिव्य होने लगते हैं और हम अपनी दिव्यता से संसार को भी दिव्य बना देते हैं। अब हम अपने लिए न तो कुछ करते हैं, न कुछ करना शेष रहता है। हम आकाशवत निःस्पृह रहकर भी सबमें व्याप्त रहते हैं, सब हममें व्याप्त रहता है।

इस सतत आनन्द की प्राप्ति और जीवन्मुक्त अवस्था में आने के लिए कठोर साधना करनी पड़ती है। बिना किए कल्याण भी नहीं। करना ही होगा—आज नहीं तो कल।

इस साधना में प्रविष्ट होने के लिए हमें सर्वप्रथम अपनी शारीरिक रचना-व्यवस्था को समझना होगा क्योंकि हमारा शरीर ही सब प्रकार की साधनाओं के लिए माध्यम है या यूँ कहिये आधार है। 'शरीर माद्यं खलु धर्म साधनम्।' शरीर के बिना कोई भी साधना सम्भव नहीं है।

हमारा शरीर प्रकृति की सबसे सुन्दर किन्तु रहस्यमय कला है। जीवन के प्रारम्भ से ही इस विषय में अनेकानेक समाधान प्रस्तुत होते रहने पर भी आज तक यह रहस्य ही रहा है। इस सम्बन्ध में अभी तक जो कुछ निश्चित तथ्य जाने गए हैं, उनके आधार पर हम अपनी शरीर-रचना को निम्नलिखित ६ कोषों में बांट सकते हैं। (१) अन्नमय कोष (२) प्राणमय कोष (३) ज्ञानमय कोष (४) मनोमय कोष (५) विज्ञानमय कोष (६) ज्योतिमय कोष।

अन्नमय कोष (स्थूल शरीर)

अन्नमय कोष में पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और शरीर के अन्य अवयव आते हैं। शारीरिक स्वस्थता के लिए इन सभी अवयवों का स्वस्थ रहना नितान्त आवश्यक है। चूंकि स्थूल शरीर ही सब प्रकार की साधनाओं का साधन स्थल है, इसलिए इसे सदैव नीरोग रहना चाहिए। शरीर की स्वस्थता सात्विक और नियमित आहार-विहार पर निर्भर है। साथ में मन की एकाग्रता और प्रसन्नता भी आवश्यक है। इसका स्वास्थ्य पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। स्वस्थ शरीर निश्चय ही श्रेष्ठ साधनों को सम्पादित करने में सफल होता है।

प्राणमय कोष (प्राण)

प्राण ही जीवन है। वह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है। प्राण के ठीक रहने से न केवल शरीर ठीक रहता है वरन् मन और बुद्धि का भी विकास होता है। इन्द्रियों का संयम और मन की एकाग्रता बहुत कुछ प्राण की स्थिरता पर ही निर्भर करती है।

श्वास द्वारा जो वायु अन्दर जाती है, उसे 'प्राण' कहते हैं। यह वायु जितनी शुद्ध होगी, प्राण उतना ही पुष्ट होगा। श्वास द्वारा शरीर के अन्दर प्रविष्ट होकर प्राण शरीर की समस्त क्रियाओं को संचालित करता है। इसे 'व्यान' कहते हैं। प्रश्वास द्वारा बाहर निकलने पर उसे 'अपान' कहते हैं। श्वास द्वारा अन्दर गया हुआ प्राण जब व्यान बनकर शरीर के अन्दर प्रवाहित होता है तो उससे अन्दर के आठों चक्र विकसित और प्रभावित होते हैं। आठ चक्र हैं—(१) ब्रह्म चक्र (२) आज्ञाचक्र (३) जीवन चक्र (४) विशुद्ध चक्र (५) अनाहत चक्र (६) मणिपुर चक्र (७) स्वाधिष्ठान चक्र (८) मूलाधार चक्र।

ये आठों चक्र मस्तिष्क से लेकर गुदा तक स्थित हैं और समस्त शारीरिक और मानसिक क्रियाओं को नियंत्रित करते हैं। इनके सुप्रवाहित रहने से शरीर स्वस्थ रहता है, मन निर्मल हो जाता है, धातु दोष दूर होकर वासनायें समाप्त हो जाती हैं, शक्ति का संचार होता है, संयम, दृढ़ता आदि गुणों का विकास होता है, बुद्धि शुद्ध होकर आत्मसाक्षात्कार की स्थिति बनने लगती है। प्राण, व्यान और अपान के साथ साथ इन आठों चक्रों के ठीक ठीक प्रवाहित होने से परम शान्ति और आनन्द की प्राप्ति होती है।

इन ग्यारहों को ठीक ढंग से प्रवाहित रखने के लिए प्राणायाम करना चाहिए। प्राणायाम कई प्रकार से होते हैं। प्राणायाम न केवल प्राण को सुदीर्घ बनाता है, अपितु वीर्य की रक्षा कर शरीर को भी पुष्ट करता है। प्राणायाम की क्रिया किसी योग्य व्यक्ति से समझ कर प्रारम्भ करनी चाहिए। फिर धीरे धीरे अभ्यास कर प्राण को सुदीर्घ बनाना चाहिए। ऐसा करने से मन स्वयमेव एकाग्र होने लगेगा, ध्यान और प्राण दोनों स्थिर होने लगेंगे और पूर्णानन्द की अनुभूति होने लगेगी।

ज्ञानमय कोष (मस्तिष्क)

शरीर रचना में मस्तिष्क का सर्वाधिक महत्व है। मनुष्य अपने मस्तिष्क के कारण ही सब प्राणियों में श्रेष्ठ है। प्रकृति ने मानव-मस्तिष्क के निर्माण में अपनी सारी कला लगादी है। मस्तिष्क ही समस्त शारीरिक क्रियाओं का संचालन करता है। मस्तिष्क का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मनुष्य अपने मस्तिष्क की सहायता से जीवन को श्रेष्ठतम, सुन्दरतम बना सकता है। आज की समस्त सुख-सुविधायें व आश्चर्य जनक निर्माण मानव-मस्तिष्क की ही उपज हैं। मस्तिष्क एक प्रकार का टेप रिकार्डर है। हम जो कुछ भी देखते सुनते हैं, सब उसमें तत्क्षण उसी प्रकार अंकित हो जाता है। यही कारण है कि जब हम पुरानी घटनाओं को याद करने का प्रयास करते हैं, मस्तिष्क में उस घटना का अंकन उभर आता है और हमें वह घटना याद आ जाती है। इस प्रकार विचार करने पर ज्ञात होता है कि श्रेष्ठ जीवन-निर्माण के लिए मस्तिष्क का सुविकास और सुनिर्माण आवश्यक है।

मस्तिष्क के सुनिर्माण के लिए आवश्यक है कि हम अपनी इन्द्रियों पर संयम करने का अभ्यास करें। इन्द्रियों के द्वारा हम देख, सुन, सूंघ व स्पर्श कर जो कुछ अनुभव प्राप्त करते हैं, उसका वैसा ही अंकन मस्तिष्क में होता है। मस्तिष्क में जैसा अंकन होता है, वैसे ही विचार बनते हैं। विचारों के अनुरुप ही आचरण होता है। इसलिए मस्तिष्क के विकास के लिए इन्द्रियों का संयम आवश्यक है। इन्द्रियों के संयम के साथ ही चिन्तन, एकाग्रता और दृढ़ता का भी अभ्यास होना चाहिये। क्रोध से बचने का अभ्यास करना चाहिए। क्रोध, मस्तिष्क में उत्तेजना उत्पन्न कर एकाग्रता और चिन्तन में विघ्न डालता है। सदैव शान्त और प्रसन्नचित रहने से मस्तिष्क भी वैसा ही शान्त रहेगा। उसमें पुष्ट और प्रबुद्ध विचारों का जन्म होगा। ऐसा होने से आत्मसाक्षात्कार की सम्भावना परिपक्व होने लगेगी। (क्रमशः)

गीता-प्रचार-समाचार—

महाराज श्री के पावन कर-कमलों द्वारा स० ध० सभा अम्बाला में मूर्ति-प्रतिष्ठा

२ मई अम्बाला कैण्ट स० ध० सभा के विशाल मन्दिर में इस वर्ष भगवान श्री कृष्ण जी महाराज की प्रतिमा स्थापित की गई। इस मन्दिर में पहले से ही पचदेव मन्दिर, गीता भवन, श्री सत्यनारायण मन्दिर आदि कई मन्दिर और विशाल सभा-भवन बने हुए हैं। इस वर्ष यह नया विकास कार्य किया गया। सभा के संचालक राजर्षि श्री बाबु गेन्दाराम जी बी० ए० जो कि अम्बाला स० ध० सभा के गांधी कहे जाते हैं उन्होंने महाराज श्री को बड़े ही आग्रह पूर्वक इस महोत्सव में मूर्ति स्थापना के लिए आमन्त्रित किया। यद्यपि महाराज श्री ने अम्बाला सभा को उसके एक सप्ताह पूर्व सभा के वार्षिकोत्सव में पूरा एक सप्ताह देकर गीता महा सम्मेलन की अध्यक्षता की थी, तथापि जनता और सभा के आग्रह वश वे मूर्तिप्रतिष्ठा में भी पधारे। और अपने पवित्र कर कमलों से सहस्त्रों की भीड़ में भगवान कृष्ण की मूर्ति मन्दिर में स्थापित की। इस समारोह में श्री १०८ स्वामी गोविन्दानन्द कृष्णानन्द जी महाराज महामण्डलेश्वर तथा श्री योगीराज नानकचन्द जी आदि अनेक सन्त महात्माओं ने भाग लिया। अम्बाला स० ध० सभा के प्रवक्ता श्री ब्रह्मदत्त जी तथा श्री पं० ठाकुरदास जी गोस्वामी, श्री बाबू नन्दकिशोर जी, श्री बाबू जयकिशन जी, श्री बाबू आनन्द जी, श्री बिहारीलाल जी शर्मा, श्री पं० जगन्नाथ जी शर्मा, मोहन वदर्स, श्री ला० राधेश्याम जी बजाज, श्री जयदेव जी शर्मा, आदि ने सन्त सेवा प्रचार कार्य में विशेष सराहनीय भाग लिया।

संकीर्तन-मण्डल 'कपूरथला' के महोत्सव में 'महाराज श्री' के गीता प्रवचनों में अपार जनसमूह

कपूरथला में श्री कृष्ण मन्दिर नगर का सबसे बड़ा मन्दिर है। कम से कम दो लाख रुपये की लागत से यह मन्दिर तैयार हुआ होगा, कपूरथला संकीर्तन मण्डल के संचालक "श्री तिलकराज जी ... ने अद्भुत पुरुषार्थ करके जनता की ... शक्ति को केन्द्रित करके यह मन्दिर बनवाया है। प्रति वर्ष कपूरथला सं० मण्डल की ओर से वार्षिक संकीर्तन सम्मेलन मनाया जाता है। इस वर्ष भी बड़े पैमाने पर यह सम्मेलन सम्पन्न हुआ। महाराज श्री ... प्रातः सायं नित्य प्रति तीन दिन तक होते

रहे, भीड़ का कोई पार नहीं था। सम्मेलन में श्री १०८ स्वामी गोविन्दानन्द जी महामण्डलेश्वर, श्री १०८ स्वामी पूर्णानन्द जी महामण्डलेश्वर, शास्त्रार्थ महारथी श्री पं० माधवाचार्य जी, योगीराज श्री नानकचन्द जी आदि दूर २ के विद्वान सन्त महात्माओं ने भाग लियां। तथा उच्चकोटि के सदुपदेशों से जनता को कृतार्थ किया। श्री महाराज जी जौलाई मास में कपूरथला स० ध० सभा के विशेष आग्रहवश पुनः कपूरथला पधार रहे हैं।

अमृतसर में, पंजाब के दानवीर धर्ममूर्ति श्री सांईदास जी (स्व०) बिजली पहलवान के विशाल मन्दिर में, महाराज श्री द्वारा गीतामृत-वर्षा

पंजाब के पिछले दौरे में महाराज श्री कपूरथला से अम्बाला कैण्ट और अम्बाला से अमृतसर पधारे। अमृतसर की जनता को महाराज श्री ने कुल एक सप्ताह देकर शिमला जाना था पर एक सप्ताह के स्थान पर उन्हें वहां बढ़ाते २ छः सप्ताह लगाने पड़े। सबसे प्रथम दुर्ग्याणा मन्दिर और चौरस्ती अटारी और उसके बाद श्री बिजली पहलवान के मन्दिर में हजारों की भीड़ में प्रवचन प्रारम्भ हुए। इस बार अमृतसर में जनता की भीड़ का कोई पारावार नहीं था चौरस्ती अटारी जो कि अमृतसर का केन्द्रीय स्थान है वहां रात की कथा, ६ से ११ तक होती थी, जहां नित्य प्रति लगभग २५ हजार की भीड़ रहती थी। वहां कथा का दृश्य विचित्र था। डूंगा शिवालय के मन्त्री श्री टीकादेवी जी के पुरुषार्थ और प्रयास से यह कथा लगातार १ महीने तक चली, नगर की जनता ने लगभग २५ से ३० हजार तक की संख्या में उपस्थित होकर सत्संग से लाभ उठाया।

श्री सांईदास जी बिजली पहलवान के मन्दिर में, जो कि लगभग २०-२५ लाख रुपये की कीमत से एक नवीन विशाल मन्दिर तैयार हुआ है, यहां भी महाराज श्री ने लगभग १ महीने नित्य प्रातः काल ५।। से ७ बजे तक गीता प्रवचन किए। मन्दिर का विशाल प्रांगण इस ब्राह्ममुहूर्त की कथा में सारा भरा होता था। स्वर्गीय धर्ममूर्ति तथा महान दानी पुरुष श्री सांईदास जी पहलवान की पतिपरायणा पतिव्रता धर्मपत्नी श्री च्हाई जी ने महाराज श्री की कथा का उत्तम से उत्तम प्रबन्ध किया। और बड़े उत्साह और भाव-भक्ति से यह कथा करवाई। श्री च्हाई जी ने महाराज श्री के निवास भोजन तथा अन्य सब प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति की।

मन्दिर के प्रांगण में जनता की अपार भीड़ उमड़ पड़ी। मन्दिर के सबसे सुन्दर स्थल में उन्हें ठहराया गया। कई सेवक महाराज श्री की सेवा में लगा दिए गए। यह सत्संग भी आशा से अधिक सफल रहा। इसकी सफलता का श्रेय महाराज श्री के अनन्य भक्त श्री राम जी दास टण्डन तथा श्री च्हाई जी को ही है। इस मंदिर ने अमृतसर नगर की धार्मिक जनता को प्रतिष्ठा सौ गुणो ऊंची बढ़ा दी है। नगर में इससे बड़ा इस समय कोई मन्दिर नहीं है।

अंमृतसर नगर में इस प्रकार महाराज श्री को डेढ़ महीने का समय देकर अपना शिमला गीता सम्मेलन का कार्यक्रम स्थगित करना पड़ा। १९ जौलाई १९६६ के दिन, जिस दिन महाराज श्री ने सायंकाल हावड़ा मेल से ऋषिकेश गीता आश्रम के लिए प्रस्थान किया, स्टेशन पर असंख्य भक्तों की भीड़ थी। लगभग १ सहस्र व्यक्ति उन्हें नगर से स्टेशन तक पहुंचाने आए। महाराज श्री ने अपने अमृतसर कार्यक्रम में दर्जनों स्थानों पर जा जा कर सत्संग किए।

—: गीता-सन्देश के उद्देश्य तथा नियम :—

उद्देश्य—विशुद्ध-आध्यात्मिक, सांस्कृतिक लेखों द्वारा जनता को सत्पथ दिखाने का प्रयत्न करना, गीता-सन्देश का उद्देश्य है।

—: नियम :—

१. गीता-सन्देश का नवीन वर्ष एक जनवरी से प्रारम्भ होकर ३१ दिसम्बर को समाप्त होता है।
२. पत्र प्रतिमास पहली तारीख को प्रकाशित होता है।
३. ग्राहक एक वर्ष से कम के लिए नहीं बनाए जाते। वर्ष के बीच में ग्राहक बनने पर उस वर्ष के पिछले प्राप्तांक लेने पड़ते हैं। ग्राहक प्रायः अग्रिम मूल्य प्राप्त होने पर ही बनाए जाते हैं।
४. विशेषांक सहित वार्षिक मूल्य देश में ४-०० रुपये, विदेश के लिए ६-०० रुपये है।
५. अङ्क निश्चित मास के द्वितीय सप्ताह तक यदि ग्राहक की सेवा में न पहुंचे, तो कार्यालय को सूचना देनी चाहिए। अपने पोस्ट आफिस से इस सम्बन्ध में प्राप्त, लिखित उत्तर साथ भेजना होगा।
६. ३५ पैसे के डाक-टिकट मिलने पर पत्र की एक प्रति नमूने के लिए भेजी जा सकती है।
७. कम से कम पत्र के चार सदस्य बनाने वाले महानुभावों को एक वर्ष तक पत्र निःशुल्क भेजा जाएगा।
८. समालोचनार्थ पुस्तक की दो प्रतियाँ सम्पादक के नाम भेजनी चाहिए।
९. आध्यात्मिक तथा नैतिक स्तर को उन्नत करने वाले लेख, कहानी एवं कविताएँ ही पत्र में स्थान पा सकेंगी।
१०. लेखों को घटाने बढ़ाने, छापने अथवा न छापने का पूर्ण अधिकार सम्पादक को है।
११. लेख में प्रकाशित मत के लिए लेखक ही उत्तरदायी होगा।

पत्र-व्यवहार एवं समालोचनार्थ ग्रन्थादि भेजने का एकमात्र पता—

— व्यवस्थापक —

गीता-सन्देश कार्यालय, पो० स्वर्गाश्रम, वाया हृषीकेश (उ०प्र०)

प्र० संरक्षक—सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, अनन्त श्री विभूषित, महाराज श्री स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज

— संस्थापक-संरक्षक-संचालक —

हिमालय के महान तपस्वी सन्त, योगिराज, गीताव्यास,

श्री १००८ स्वामी वेदव्यास जी महाराज सरस्वती

सहयोगी-संचालक—जगद्गुरु शंकराचार्य श्री स्वामी सत्यमित्रानन्दगिरि जी महाराज

—सर्वाध्यक्ष—

परम प्रतापी, प्रजावत्सल, दानवीर-शिरोमणि महाराजा श्री वीरभद्रसिंह जी महाराज, भावनगर।

गीता-सन्देश कार्यालय, पो० स्वर्गाश्रम, हृषीकेश के लिए गीता मुद्रणालय, स्वर्गाश्रम, में श्री स्वामी वेदव्यास जी द्वारा मुद्रित, तथा प्रकाशित।

गीता-सन्देश के सहयोगी-संरक्षक-सन्त

ध्यानयोग विद्यापीठ, शंकराचार्यनगर, हृषीकेश के संस्थापक, पूज्यपाद,

श्री महेशयोगी जी महाराज

त्यागमूर्त्ति, परम विरक्त, ध्यानयोग पारायण श्री महेश योगी जी महाराज का प्रचार देश-विदेश में सर्वत्र ही श्री स्वामी विवेकानन्द जी महाराज की तरह फैल रहा है। वे कोरे-कोरे उपदेशक ही नहीं हैं, एक सफल और सिद्ध ध्यानयोगी सन्त हैं। यह विश्व प्रसिद्ध जगद्गुरु शंकराचार्य जी महाराज श्री स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज सरस्वती के सुयोग्य एवं प्रिय शिष्य हैं। श्री १००८ स्वा० ब्रह्मानन्द जी सरस्वती परम्परागत जगद्गुरु श्री शंकराचार्य जी महाराज की गद्दी के उत्तराधिकारी ही नहीं थे, अपितु भारतीय सन्तों में सर्वोच्च योगियों में उन की गणना थी। श्री स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज के शिष्यों में सबसे अधिक प्रिय शिष्य श्री महेश योगी जी ही रहे हैं। आजकल ध्यानयोग विद्यापीठ या शंकराचार्य नगर बसा कर आप संसार में एक बहुत बड़ा अध्यात्म-विद्या का केन्द्र स्थापित करने में लगे हुए हैं। देश-विदेश के कितने ही साधक लोग ध्यान विद्यापीठ में ध्यानयोग की साधना सीख रहे हैं।

लक्ष्मणझूला क्षेत्र के लोक प्रसिद्ध महन्त श्री फलाहारी बाबा के उत्तराधिकारी महन्त

श्री रामउदारदास जी महाराज

❁

श्री महन्त रामउदारदास जी महाराज परम तपस्वी, विरक्त श्रेष्ठ श्री 'फलाहारी बाबा' जी महाराज के शिष्य हैं। श्री फलाहारी बाबा ने लक्ष्मणझूला बसाया था। यह बहुत उच्चकोटि के सन्त थे। श्री महन्त रामउदारदास जी भी बचपन से ही विरक्त हैं। इन्होंने लक्ष्मणझूला में एक ही स्थान पर लगातार सारी आयु तपोमय जीवन व्यतीत किया। इस समय आपकी आयु ७० वर्ष से भी अधिक है। महन्त श्री रामउदारदास जी महाराज ने अपने श्री गुरुदेव फलाहारी बाबा जी महाराज के पुण्यकार्यों को कई गुणा आगे बढ़ाया और लक्ष्मणझूला तीर्थ में एक सौ से अधिक कमरे, मन्दिर, विद्यालय अन्नक्षेत्र आदि स्थापित कर क्षेत्र में जाग्रति की। महन्त जी महाराज बड़े ही उदार, कर्मठ तथा निष्काम कर्मयोगी सन्त हैं।

महाराज श्री परम पूज्य गुरुदेव श्री १००८ स्वामी वेदव्यास जी महाराज के साथ गीता-आश्रम ऋषिकुल-ब्रह्मचर्याश्रम का ब्रह्मचारी श्री 'शान्तिमित्र' अभी हाल में ही (जून १९६६ में) श्री बी०के० गर्ल्स हाई स्कूल अमृतसर में योगासन-प्रदर्शन कर रहा है।

इलाहाबाद में प्रयाग कुम्भमहापर्व १९६६ के सुपर्व पर अ०भा० गीता प्रचार शिविर लक्ष्मणझूला हृषीकेश के प्रचार-शिविर के विशाल भण्डारे में विद्वान सन्त महात्माओं से भोजन के लिए विनम्र प्रार्थना करते हुए महाराज श्री स्वामी वेदव्यास जी हृषीकेश।
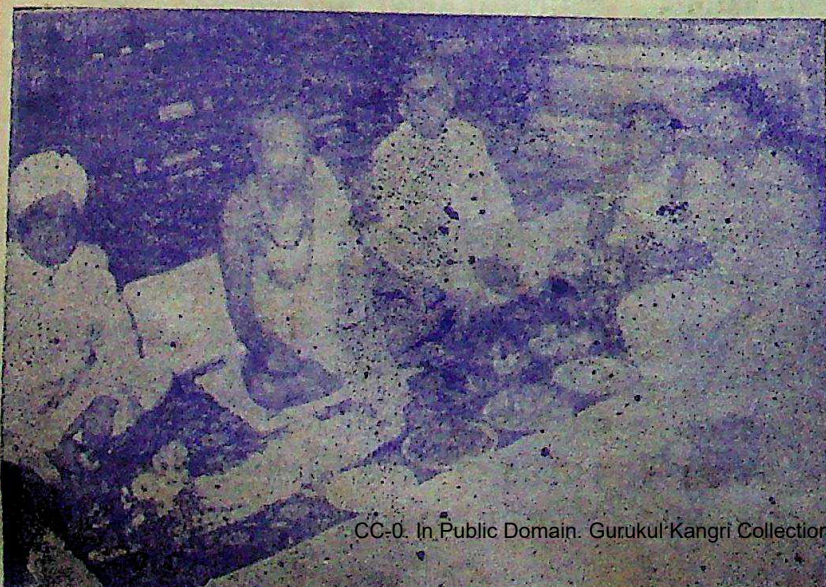
पूज्यपाद 'महाराज श्री' अमृतसर बी०के० गर्ल्स कालेज में छात्राओं को गीता-प्रवचन के पश्चात माननीय प्रिंसिपल बी० के० ई० एण्ड आई० गर्ल्स हाई स्कूल तथा कालेज के अध्यक्ष श्री रामनाथ जी कपूर के साथ जलपान के समय उनको कालेज में गीता के पाठ तथा स्वाध्याय को अनिवार्य रूप से लागू कराने

गीता सन्देश

मत्कर्मकृन्मत्परमो, मद्भक्तः, संगवर्जितः
निर्वैरः सर्वभूतेषु, यः स मामेति पाण्डव ॥ —गी० ११-५५
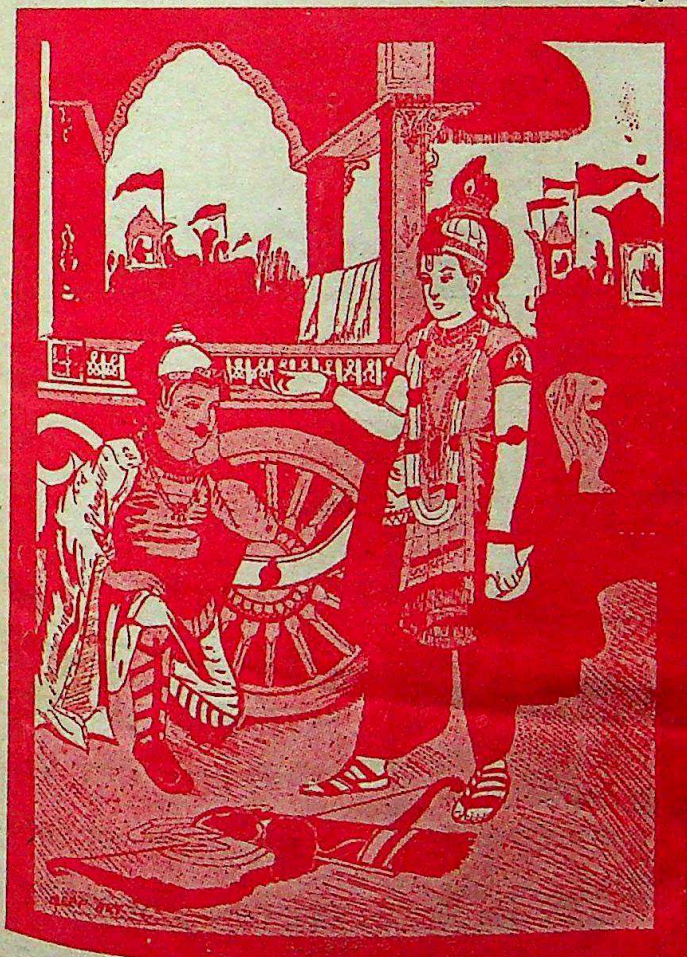
"हे पांडव ! जो पुरुष समस्त कर्तव्य कर्म मेरी प्रसन्नता के हेतु करने वाला, मेरे ही परायण और मेरा ही भक्त है, तथा पूर्ण निरासक्त और प्राणिमात्र से वैरभाव का त्यागी है। वह (शरीर त्याग करने के बाद) मेरे को ही प्राप्त करता है।

पता—'गीता-सन्देश' कार्यालय, पो०–स्वर्गाश्रम, हृषीकेश, (उ० प्र०)। फोन : १२९

लारेन्स रोड, अमृतसर के विशाल बिजली पहलवान के मंदिर में गीता-प्रवचनों की समाप्ति पर अन्तिम दिवस हजारों श्रोताओं की भीड़ को महाराज श्री अपने हाथ से प्रसाद बांट रहे हैं।

*
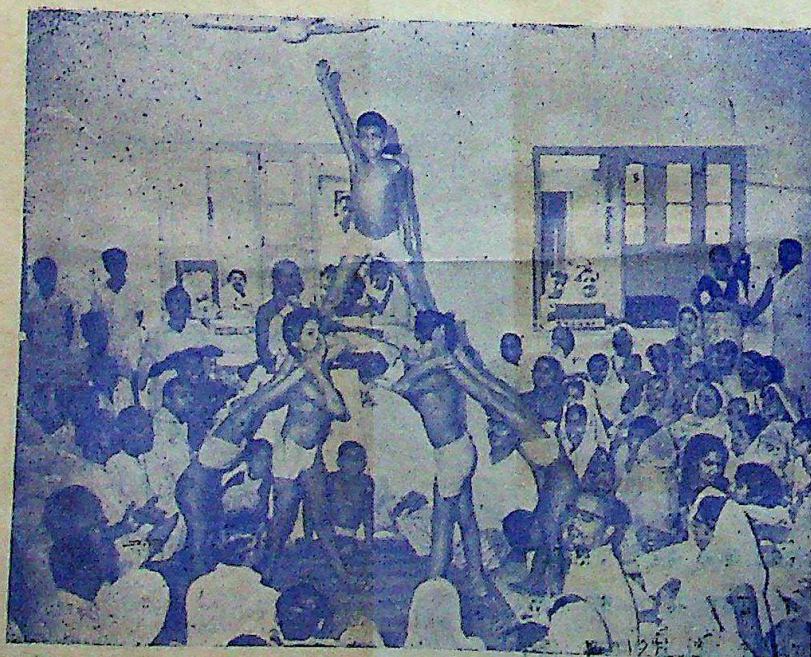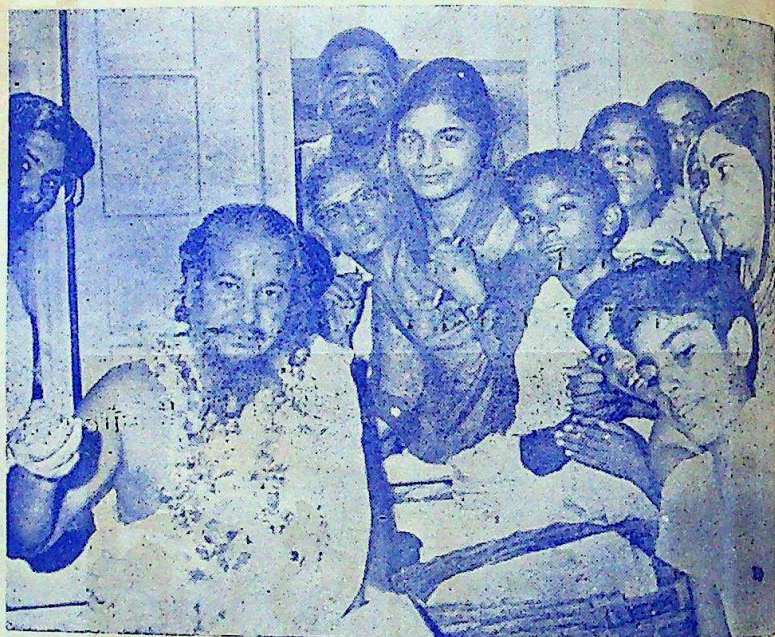
बिजली पहलवान के सुप्रसिद्ध मंदिर, अमृतसर में गीता-गुरुकुल, ब्रह्मचर्याश्रम लक्ष्मणझूला के ब्रह्मचारियों द्वारा अनेक प्रकार के आसनों एवं व्यायाम के प्रदर्शन हुये। प्रस्तुत चित्र में शिखर निर्माण नं० २६ का प्रदर्शन करते हुये।

*

अ० भा० हरिजन--सेवक--संघ के अध्यक्ष, स्वर्गाश्रम ट्रस्ट के महामन्त्री,

श्री वियोगीहरि जी, गीता-आश्रम हृषीकेश में-

गीता-गुरुकुल--ब्रह्मचर्याश्रम के लिए हार्दिक शुभकामनाएँ

२४-६-६६को अखिल भारतीय हरिजन सेवक संघ के अध्यक्ष मान्य श्री वियोगीहरि जी गीता-आश्रम हृषीकेश में पधारे। आश्रम के संस्थापक पूज्यपाद श्री १००८ **स्वामी वेदव्यास जी महाराज** की कुटीर में आश्रम वासियों ने आपका हार्दिक स्वागत व अतिथि-सत्कार किया। आश्रम की विशेष प्रगति एवं गतिविधियों को देखकर आपने महान हर्ष प्रकट किया।

महाराज श्री के साथ ऐकान्तिक-आध्यात्मिक-चर्चा--

आपने लगभग आधा घण्टा एकान्त में महाराज श्री के साथ आध्यात्मिक चर्चा एवं विचार विनिमय किया। इसके बाद आपने महाराज श्री के साथ गीता-गुरुकुल-ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारियों के संगीतमय पद, गीता के श्लोक, प्रार्थना, योगासनों के कार्यक्रम, शिक्षाप्रद नाट्य-सम्वादों में भाग लिया।

सपरिवार श्री वियोगीहरि जी ने आश्रम के इन महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक सेवा कार्यों पर हार्दिक प्रसन्नता प्रकट की। और अपने संक्षिप्त भाषण में आश्रम के प्रति अपनी हार्दिक शुभकामनाएँ प्रकट करते हुए महाराज श्री के तप-त्यागमय तथा धर्मसुरक्षा कार्यों की प्रशंसा की। और 'पुनरागमनाय' की सद्भावनाओं में विदा ली।

गीता-गुरुकुल का निरीक्षण

"मैंने गीता-आश्रम द्वारा संचालित विद्यालय आज देखा। प्रार्थना तथा आसनों का कार्यक्रम भी देखा। ब्रह्मचारी स्वस्थ एवं प्रसन्न पाए। देखकर आनन्द हुआ। दैनिक कार्यक्रम भी सुना। स्वामी वेदव्यास जी का यह प्रयत्न प्रशंसनीय है। विद्यालय उन्नति करे, यह मेरी कामना है।"

वियोगीहरि

२४-६-६६

अध्यक्ष—अ०भा० हरिजन सेवक सङ्घ

इस अंक में पढ़िए—

सम्पादक-मण्डल

अवैतनिक { प्रधान सम्पादक—श्री सोमप्रकाश शाण्डिल्य,
सम्पादक—श्री बैजनाथ कपूर; पं० चन्द्रशेखर शास्त्री,
श्री न्यायमित्र शर्मा, विशारद।

गीता-सन्देश कार्यालय, पो० स्वर्गाश्रम, ऋषीकेश (फोन नं० : १११) के लिए गीता-मुद्रणालय स्वर्गाश्रम, में श्री स्वामी वेदव्यास जी द्वारा मुद्रित, तथा प्रकाशित।

गीता सन्देश

गीता सुगीता कर्तव्या, किमन्यैः शास्त्र-विस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य, मुखपद्माद्विनिःसृता ॥ —भगवान 'व्यास'

वर्ष : १० } गीता-आश्रम, हृषीकेश श्रावण सं० २०२३—अगस्त, १९६६ ई० { अंक : ८

प्रभु जी ! मेरे अवगुण चित न धरो ।

समदर्शी प्रभु नाम तिहारो, चाहो तो पार करो ॥
इक नदिया इक नाल कहावत, मैलो नीर भरो ।
जब मिलकर दोउ एक वरण भये, सुरसरि नाम परो ॥
इक लोहा पूजा में राखत, इक गृह बधिक परो ।
गुण अवगुण पारस नहिं जानत, कंचन करत खरो ॥
यह माया भ्रम जाल निवारो, सूर श्याम झगरो ।
अबकी बेर प्रभु मोंहिं उबारो, नहिं प्रण जात टरो ॥

—सूरदास

सन्त-वाणी

प्रेम के दो लक्षण हैं, पहला बाहरी संसार को भूल जाना, दूसरा अपने आप को भूल जाना ।

—स्वामी रामकृष्ण परमहंस

पुराने धर्म में उसे नास्तिक कहते थे, जो ईश्वर को नहीं मानता था किन्तु नया धर्म उसे नास्तिक मानता है, जिसे स्वयं पर विश्वास नहीं ।

—स्वामी विवेकानन्द

जब मनुष्य मन को जीत लेता है, तब इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है, क्योंकि मन ही इन्द्रियों को चलाने वाला है ।

—स्वामी दयानन्द

वृक्ष अपने काटने वाले को भी छाया देता है ।

—चैतन्य महाप्रभु

मांग और वह तुझे अवश्य दिया जाएगा। खोज और तू वह अवश्य पाएगा। खटखटा तेरे लिए दरवाजा अवश्य खुलेगा।

—हज़रत ईसा

उदार मन वाले विभिन्न धर्मों में सत्य देखते हैं, संकीर्ण मन वाले केवल फर्क देखते हैं ।

—कन्फ्यूशियस

धन से सद्गुण उत्पन्न नहीं होते, अपितु सद्गुणों से ही सद्गुण एवं अन्यान्य इच्छित वस्तुएं प्राप्त होती हैं ।

—कन्फ्यूशियस

❀ गीता के अमर-उपदेश ❀

नासतो विद्यते भावो –२-१६

असत् का अस्तित्व नही है।

अविनाशि तु तद्विद्धि –२-१७

अविनाशी आत्मा को जान।

मुक्त-संगः समाचर –३-९

आसक्ति को त्याग कर कर्म कर।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते –३-२३

मेरे आचरण का अनुकरण करो।

त्यक्त्वा कर्मफलासंगम् –४-२०

कर्म के फल और आसक्ति को त्याग।

संशयात्मा विनश्यति –४-४०

संशययुक्त पुरुष परमार्थ-पथ से भ्रष्ट हो जाता है।

नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् –५-२०

अप्रिय की प्राप्ति में उद्वेगवान् न हो।

सम लोष्टाश्मकाञ्चनः –६-८

योगी के लिए सोना, मिट्टी, पत्थर समान हैं।

योगक्षेमं वहाम्यहम् –९-२२

भक्त का योग (अप्राप्त की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त की रक्षा) मैं स्वयं वहन करता हूँ।

मेरी हृषीकेश तथा स्वर्गाश्रम यात्रा

आचार्य-महामण्डलेश्वर, व्याकरणाचार्य, निरंजन-पीठाधीश्वर

श्री १००८ स्वामी प्रकाशानन्द जी महाराज

जगदगुरु-आश्रम, कनखल, हरिद्वार

❀

गत ता० १२ जुलाई को अचानक मैं हृषीकेश स्वर्गाश्रम गया और हिमालय की उपत्यका पर बसे हुए स्वर्गाश्रम लक्ष्मणझूला की पवित्र भूमि की रमणीयता को देखकर मन अत्यन्त आनन्दित हुआ। सहसा मुख से निकल पड़ा "सकल कलुष भंगा मातरम् नौमि गंगाम्" समस्त पाप सन्ताप को मिटाने वाली माता गंगा को नमस्कार है, जिसके पावन तट पर रह कर तपःपूत, शास्त्र-मूर्ति महापुरुषों ने अपने जीवन को आदर्श बनाने के लिए आश्रमों की परम्परा प्रारम्भ की है। आश्रमों की महत्ता प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध है। भारतीय संस्कृति का स्रोत इन्हीं आश्रमों से प्रस्फुटित होकर विश्व को अध्यात्म-मार्ग पर लाकर शान्ति दे सका है। इसीलिए वे भारत को 'विश्व-गुरु' कहते हैं।

मानव की सुरक्षा तथा परम कल्याण के हेतु इन महापुरुषों ने अनेक सन्देश दिये हैं, तथा अनेकानेक ब्रह्मचर्याश्रमों की स्थापना करके समाज को पुष्ट बनाया है।

हृषीकेश-लक्ष्मणझूला तथा स्वर्गाश्रम में यद्यपि अनेक आश्रम हैं, तो भी 'गीता-आश्रम' एक विशेष महत्ता रखता है। उसमें प्रायः मैं दो घंटे रहा। इतने समय प्राचीन वैदिक साहित्य से लेकर आज तक के साहित्य के पृष्ठों तक मेरी विचार-धारा चलती रही। यह आश्रम देश के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। जिस प्रकार उत्तराखण्ड जाह्नवी का मूल स्रोत है उसी प्रकार यह आश्रम भी अध्यात्म-विद्या का मूल-स्रोत बनेगा, ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है। आश्रम के संस्थापक श्री योगिराज, गीताव्यास, स्वामी वेदव्यास जी महाराज (स्वामी वेदव्यासानन्द जी) से मिल कर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई साधारण वेश-भूषा—सदा प्रसन्न बदन—

योगिराज, गीताव्यास, श्री १००८ स्वामी वेदव्यास जी महाराज

'सुर-तटिनी-तरु-मूल-निवासः,
शैय्या-भूतलमजिनं-वासः ।'

तथा

'करतल-भिक्षा तरु-तल-वासः,
कस्य सुखं न करोति विरागः ॥'

के अनुसार वे वैराग्य की साक्षात् मूर्ति हैं। मुझे उनसे बहुत आशा है। वे हमारे समाज के अगुआ बनें। स्वामी जी महाराज द्वारा संचालित गीता-सन्देश, गीता-मुद्रणालय, गीता-ब्रह्मचर्याश्रम, गीता-औषधालय, गीता-वानप्रस्थ-आश्रम, गीता-पुस्तकालय, गीता-गोशाला आदि-आदि विभागों, को देखकर मैं आशान्वित होकर लौटा हूं।

आशा है कि भगवान विश्वनाथ तथा भगवती गंगा इन तपोनिधि महात्माओं की तपश्चर्या का उत्तम फल अवश्य देंगे।

भगवान वेदव्यास ने भागवत में तीन बातें विशेष रूप से लिखी हैं—(१) आडम्बर-शून्य धर्म (२)मोक्ष (३) अन्तःकरण का निरोध। ये तीन ही साधन मुख्य हैं, इनके लिए अनेक साधनों का अवलम्बन किया जाता रहा है और किया जा रहा है। महर्षि जी के ही नामराशि श्री स्वामी वेदव्यासानन्द जी (उपनाम श्री वेदव्यास जी) उपरोक्त महर्षि जी की भावनाओं को कार्यान्वित करेंगे।

आज 'गीता-सन्देश' में एक विशेष बात पढ़ी कि श्री स्वामी वेदव्यास जी को उत्तर-प्रदेश संस्कृत अध्यापक-मण्डल की ओर से 'जगद्गुरु' के पद से विभूषित किया गया है। ऐसे महापुरुष यदि 'जगद्-गुरु' न होंगे तो और कौन होगा ? मैं उपाधि-दाताओं को कोटिशः धन्यवाद देता हूं। 'जगद्गुरु' में जो गुण होना चाहिए—शास्त्रज्ञान, तपश्चर्या, उदारता, ब्राह्मण्य, संयम आदि आप में सभी पूर्ण रूप से सभी सुलभ हैं। आप वास्तव में इन गुणों से परिपूर्ण हैं। अस्तु, 'जगद्गुरु' की उपाधि यथा-स्थान है। इस प्रकार कल की मेरी यह सुखद यात्रा बड़ी शान्तिदायक रही।

शुभम् भूयात् सर्वस्य।

जिसमें आत्मविश्वास नहीं, उसमें अन्य चीजों के प्रति विश्वास कैसे उत्पन्न हो सकता है।

—स्वामी विवेकानन्द

* * *

'दुनिया क्या कहेगी ?' 'मुझ पर कोई हँसेगा क्या ?' ऐसे दुर्बल विचारों को न आने देकर अपने को योग्य लगे वैसा काम हमेशा करना चाहिए। यही सारे जीवन का रहस्य है।

—स्वामी विवेकानन्द

गीता का एक मंत्र

योगिराज, गीताव्यास, श्री १००८ स्वामी वेदव्यास जी महाराज

❀

[अमृतसर (पंजाब) के सबसे प्रसिद्ध मन्दिर दुर्ग्याना मन्दिर में पिछले ग्रीष्म-कालीन ४० दिवसीय गीता-प्रवचनों में महाराजश्री ने नीचे लिखे मंत्र की एक सप्ताह भर शास्त्रीय, आध्यात्मिक व्याख्या की। हम उस व्याख्या का कुछ अंश नीचे गीता-प्रेमियों के लाभार्थ प्रकाशित कर रहे हैं।]

—सम्पादक

मत्कर्मकृन्मत्परमो, मद्भक्तः, सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु, यः स मामेति पाण्डव ॥

गीता ११-५५

'गीता के ग्यारहवें अध्याय का यह अन्तिम मंत्र है। इस मंत्र का नम्बर इस अध्याय में ५५ है। ५५ की संख्या ५ को दो बार लिखने से पूर्ण होती है इसका अर्थ हुआ ५ और ५ या ५ ही ५ ऐसा क्यों? यह ५ दो बार इसलिए है कि इस मंत्र में परमात्मा की प्राप्ति के ५ साधन बताये गये हैं और मंत्र का अन्तिम शब्द 'पाण्डव' है अर्थात् हे पाण्डु के ५ पुत्रों में सबसे अधिक वीर पुत्र अर्जुन! ये पांच साधन करके आत्म-कल्याण प्राप्त करो। कौन-कौन से ५ साधन—

१—मत्कर्मकृत २—मत्परमः ३—मद्भक्तः ४—सङ्गवर्जितः ५—सर्वभूतेषु निर्वैरः ।

ये पांच साधन ग्यारहवें अध्याय के अन्त में इस मंत्र में बताए गये हैं। तभी तो ११×५ इस अध्याय में कुल ५५ मंत्र हैं। ११ का अर्थ है एक और केवल एक अर्थात् 'एक-मेवाद्वितीयम्' वह एक है और केवल एक है और उसके समान दूसरा नहीं है। इस वेद-मंत्र के अनुसार भगवान् ने अर्जुन को इस अध्याय में अपना विराट् स्वरूप दिखाया और जब अर्जुन नें पूछा कि प्रभो! आपके इस रूप के दर्शन का उपाय क्या है किस पवित्र साधन द्वारा आपके इस विराट् स्वरूप का भक्त आपके दर्शन पा सकता है तो भगवान ने *'भक्त्या त्वनन्या शक्या'* अर्थात् मेरा दर्शन अनन्य भक्ति द्वारा ही हो सकता है तो अर्जुन को जिज्ञास

हुई कि महाराज अनन्य भक्ति का स्वरूप क्या है ? बस, इसी जिज्ञासा की पूर्ति के लिए या अनन्य भक्ति के स्वरूप की व्याख्या करने के लिए इस मंत्र की रचना हुई।

इस मंत्र में ५ का कितना अच्छा सामंजस्य है। मंत्र का अन्तिम शब्द पाण्डव ५ की संख्या बताता है, मंत्र के अन्दर भी पांच ही साधन बताए गए हैं, मंत्र की संख्या भी ५५ है।

१–'मत्कर्मकृत्' यह पहला साधन हैं। तू मेरे लिए कर्म कर अर्थात् जितने भी कर्म तू करता है वे सब मेरे लिए कर। यह बहुत सरल साधन है। वेदान्त में कहा गया है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' और मुझ ब्रह्म से ही इस सारे संसार की रचना हुई है। जीव को अज्ञान के कारण अपने स्वरूप की विस्मृति हो गई है। यदि अपने स्वरूप की स्मृति हो जाय तो जन्म-मरण से छूट जाय। 'मैं ब्रह्म हूँ' यह बात कुछ देर में समझ में आने की है। भगवान ने इसीलिए यहां 'मत्कर्मकृत्' का सरल साधन बताया। तू मेरे लिए कर्म कर, जब तक तुझे ज्ञान की प्राप्ति नहीं है तब तक मेरे लिए कर्म कर अर्थात् अहंकार और आसक्ति के त्याग के लिए जितना भी कर्म है वह सब मेरे लिए कर। 'मेरे लिए' कहने से अपने लिए का निराकरण हो जाता है और यही निराकरण करने के लिए 'मत्कर्मकृत्' का साधन है। और इस साधन के करते-करते 'मत्परमः' का द्वितीय साधन स्वतः सिद्ध हो जाता है। मैं जितना कर्म करता हूँ सब प्रभु की प्रसन्नता के लिए करता हूँ यह भावना अहर्निश बने रहने से अन्त में 'मत्परमः' की सिद्धि अपने आप हो जावेगी।

२–'मत्परमः' यह दूसरा साधन है या उससे ऊँचा दर्जा है। 'मत्कर्मकृत्' के बाद 'मत्परमः' में ही प्रथम साधन की समाप्ति है अर्थात् मत्परमः का अर्थ है मेरे को ही (अर्थात् परमात्मा को ही) परम आश्रय परमगति, परम श्रेष्ठ, परम बलवान, परम पवित्र, परम शान्तिदायक तथा परम सूक्ष्म तथा परम महान मानना। परम् की यह मान्यता जीव को सदा अपरम् बनाए रखती है। इसमें द्वैत तो अवश्य भासता है किन्तु द्वैत से ही अद्वैत की प्राप्ति होती है। द्वैत तो आत्मज्ञान की प्राप्ति के पूर्वकाल में रहता ही है। अद्वैत की प्राप्ति होने पर मत्कर्म तथा मत्परमः की आवश्यकता ही नहीं रहती। वह तो स्वतः सिद्ध हो जाता है। मत्परमः के साधन से साधक को एक ओर अपनी त्रुटिओं की ओर उनको दूर करने की प्रेरणा मिलती है दूसरी ओर परमात्मा को सर्वशक्तिमान मानकर सदा उससे भय बना रहता है और—

भय बिनु होय न प्रीति ।

तुलसीदास के इस कथन के अनुसार परमात्मा का भय भी उससे प्रेम बढ़ाने में सहायक होता है। *मत्परमः* के साधन से एक तीसरा लाभ और है कि साधक अपने समस्त कर्मों, साधनों तथा यत्नों एवं पुरुषार्थ को सर्वशक्तिमान की प्रसन्नता के लिए तथा उसी की प्राप्ति के लिए करता है और इस प्रकार परमात्मा में दिनोंदिन अनन्यभाव बढ़ाता जाता है।

३—*मद्भक्तः*—इस मंत्र का तीसरा साधन है। इसका अर्थ है मेरा ही भक्त बन, अर्थात् माया का भक्त मत बन। माया में ग्रसित मानव परमात्मा से अहर्निश दूर है, प्रत्येक क्षण दूर है। भगवान का भक्त बनना सरल नहीं है, भगवान का भक्त वही हो सकता है जिसे भगवान पर पूरा विश्वास हो और माया के पदार्थों स्त्री, पुत्र, धन और अपने शरीर तक के किसी प्रकार के सुखों की याद न हो। वही भगवान का सच्चा भक्त कहा जा सकता है। मद्भक्तः का साधन *मत्परमः* से भी आगे है। जो *मत्परमः* है वही *मद्भक्तः* बन सकता है। *मद्भक्तः* का एक और भी उत्तम अर्थ है। संस्कृत में *भज् सेवायां* एक धातु है उसी से भक्त शब्द की निष्पत्ति होती है। अर्थात् *भज्* शब्द से भक्त बना है। और *भज्* धातु का अर्थ भजन करना या माला जपना नहीं होता बल्कि *सेवायां* अर्थ होता है। *सेवायां* का अर्थ है सेवा करना। माला जपना तो एक इन्द्रिय का कार्य है और सेवा में सब इन्द्रियां लगती हैं। माला जपना कोई कठिन नहीं, बैठे-बैठे एक स्थान पर हाथ और जबान हिलाना, किन्तु सेवा करने में एक तो सभी इन्द्रियों को लगाना पड़ता है और दूसरे जिसकी सेवा की जाती है उसमें भगवद्भाव स्थापित करके अर्थात् भगवान का रूप मानकर उसमें भगवान के सदृश्य सर्वगुणमय भाव बनाकर उसमें पूर्ण श्रद्धा स्थापित करके तब उसकी सेवा करनी पड़ती है। फिर यह ध्यान भी रखना पड़ता है कि यह मेरी प्रत्येक क्रिया में प्रसन्न हो इसी का नाम सेवा है। जो सेवा करता है वही भक्त है। संसार में प्रत्येक प्राणी की सेवा अपने बाल-बच्चों की सेवा भी भगवान के बच्चे मानकर करनी होती है। अस्तु 'भक्त' शब्द का संस्कृत भाषा में अर्थ होता है सेवा करने वाला। '*मद्भक्तः*' का यही शुद्ध अर्थ है कि प्रत्येक प्राणी में, वस्तु में, पदार्थ में तथा समस्त पांच तत्वों में सदा सर्वदा प्रत्येक क्षण भगवान को देखना। *मत्परमः* के साधन की सिद्धि इसी *मद्भक्तः* में ही है। **मद्भक्तः** बहुत ऊँचे दर्जे का साधन है। इसमें भगवान के चरणों में पूर्ण अनन्यता

हो जाती है और यही अनन्यता बढ़ते-बढ़ते अन्त में अद्वैत् को उत्पत्ति करती है। और अद्वैतभाव ही जीव को परम शान्ति तथा जन्म-मरण से मुक्त बना देता है। अस्तु इस मंत्र में **मद् भक्तः** का साधन बहुत उच्चकोटि का है। **मत्कर्म** से **मत्परमः** और **मत्परमः** से ही **मदभक्तः** की प्राप्ति होती है और इसके बाद नम्बर आता है **सङ्गवर्जितः** का।

४-संगवर्जितः—संगवर्जितः का अर्थ है संग से वर्जित अर्थात् आसक्ति से रहित। अध्यात्म-मार्ग में संगदोष साधक के लिए एक बहुत बड़ी रुकावट है। यह संग अर्थात् आसक्ति पदार्थों के संगदोष से ही उत्पन्न होती है। मनुष्य जिस-जिसके संग अधिक रहता है उसी उसीके साथ अपने शरीर सुख के लिए उसका लगाव हो जाता है। कभो-कभी शरीर का सुख या शरीर के सुख का उद्देश्य गौण रहता है **आत्म-तुष्टि** प्रधान रहती हैं जैसे धन, पुत्र, स्त्री, मकान तथा जमीन जायदाद की आसक्ति अपने निज के शरीर के सुख के निमित्त होती है। किन्तु मद्य, मांस, ताश, जुआ आदि व्यभिचारों की आसक्ति मन के सुख के लिए होती है शरीर के सुख के लिए नहीं। ये दोनों ही प्रकार की आसक्तियां मनुष्य को भगवान से अलग करती हैं। समस्त प्रकार की आसक्ति बन्धन का कारण हैं। आसक्ति फिर चाहे वह सत्संग की भी हो चाहे माला जपने की आसक्ति हो, चाहे गंगा स्नान की आसक्ति हो, चाहे नित्य भजन स्वाध्याय की आसक्ति हो, चाहे मन्दिर में नित्य जाने की हो ये सब सात्विकी आसक्तियां भी बन्धन का कारण हैं और इनका परिणाम भी जन्म-मरण का कारण होता है जैसा कि गीता के १४ वें अध्याय के १४ मंत्र में स्पष्ट बताया गया—

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु,
प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकान-
मलान्प्रतिपद्यते ॥

अर्थात् हे अर्जुन! सत्वगुण की आसक्ति वाला सत्वगुण की अत्यन्त वृद्धि हो जाने पर उसी में आसक्त होकर जब शरीर को त्याग करता है तो इस सत्वगुण की आसक्ति वाला शरीर त्याग करने के बाद मोक्ष को प्राप्त न करके केवल स्वर्गादिक लोकों की प्राप्ति ही कर पाता है और स्वर्गादिक लोक गीता के ही ८ वें अध्याय के १६ वें मंत्र के अनुसार अनित्य हैं यथा—

आब्रह्म भुवनाल्लोकाः,
पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय,
पुनर्जन्म न विद्यते ॥

अर्थात् हे अर्जुन ! स्वर्गलोक की तो बात क्या ब्रह्मलोक तक जो उच्च-लोक हैं वहां भी मरने के बाद यदि जीवात्मा पहुंच जावे तो भी उसे पुनरावर्ती बनना होता है। अर्थात् पुण्यों के क्षीण होने पर पुनः मृत्यु लोक में आना पड़ता है अस्तु इस मंत्र का **संगवर्जितः** यह चौथा साधन अत्यन्त उच्चकोटि का साधन है। **संगवर्जितः** वही बन सकता है जो पूर्ण **मदभ्क्तः** हो गया हो। जब साधक की परमात्मा में अत्यन्त आसक्ति हो जाती है और जब वह उसमें तन्मय तथा तद्बुद्धि हो जाता है और पांचवें अध्याय के १७ नम्बर के अनुसार—

तद्बुद्धयस्तदात्मान-
स्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं,
ज्ञाननिर्धूत कल्मषाः॥

हो जाता है तभी उसी मंत्र की **गच्छन्ति पुनरावृत्तिम्** की परम सिद्धि को प्राप्त करता है। अस्तु **संगवर्जितः** का साधन बड़ी गम्भीरता से विचार करने योग्य है। संसार भर के पदार्थ पुत्र-धन-स्त्री-माता-पिता-भाई-बन्धु इत्यादि केवल इतने ही से आसक्ति-त्याग नहीं करना है किन्तु आप पेन्सिल, कागज, पुस्तक वस्तु छाता, चश्मा, लंगोटी इत्यादि तृणमात्र भी अपना कुछ नहीं है। पुत्र तो कभी कभी कटु शब्द बोलता है, तो उतनी देर के लिए बुरा भी लगता है और इतना भी भासित होता है कि यह भी मेरा नहीं है किन्तु अपनी नित्य प्रयोग में आने वाली वस्तु छाता, चश्मा, पुस्तक, लोटा, लंगोटी तथा माला ये पदार्थ तो अपने को कभी कटु नहीं बोलते और हर क्षण निकट रहते हैं, अस्तु पुत्र कलत्र से भी अधिक निकटता उनको प्राप्त है और स्थूल बुद्धि का मनुष्य इनको सदा हर क्षण अपने शरीर के सुख का साधन मानता है और बरबस हरक्षण इनके साथ आसक्तिपूर्वक 'मेरा' का प्रयोग करता है अस्तु इन सबकी आसक्ति का त्याग करना ही **संगवर्जितः** का सच्चा अर्थ है। आसक्ति का अधिकरण अन्तःकरण है अर्थात् आसक्ति अन्तःकरण में रहती है और भगवान की अनन्य-शरणागति का स्थान भी अन्तःकरण ही है अर्थात् भगवद्भक्ति और माया की आसक्ति दोनों का निवास स्थान एक ही है अस्तु अन्तःकरण में जिस समय भगवद्-भक्ति होगी उस समय माया की आसक्ति नहीं होगी और साधक उस समय **संग-वर्जितः** कहा जावेगा किन्तु जिस समय प्रभु की भक्ति नहीं होगी उसी समय वह **संग-अवर्जितः** हो जावेगा अन्तःकरण अत्यन्त सूक्ष्म है और मन, बुद्धि, चित्त अहंकार, समुच्चय का नाम ही अन्तःकरण है। यह अन्तःकरण चतुष्टय जब हर समय

प्रभु की शरणागति ग्रहण कर लेता है फिर उसमें 'मैं' प्रभु का हूँ और 'प्रभु ही मेरा है' यह भाव भरपूर भर जाता है ऐसे अन्तः-करण में दूसरा विरोधी तत्व कभी प्रवेश पा ही नहीं सकता और वह सदा-सदा के लिऐ **संगवर्जितः** हो जाता है। साधक का मन यदि एक क्षण भर के लिए भी संसार के किसी भी प्राणी, वस्तु या पदार्थ में जाता है, तो उस क्षण में वह *संग-वर्जितः* नहीं कहा जा सकता। अस्तु इसलिए *संगवर्जितः* के इस मंत्र में बहुत ऊँचा साधन माना गया है। और उसको चौथे नम्बर पर रखा गया है।

५-निर्बैरः सर्वभूतेषु—अर्थात् **सर्वभूतेषु निर्बैरः** समस्त प्राणियों में निर्बैर रहना अर्थात् बैर भाव न रखना, 'निर्गतः वैरः यस्मात् स निर्बैरः' यह है अर्थ निर्बैर का—निर्गत हो जावे समस्त प्रकार का बैर जिसके अन्तःकरण से। निर्गत का अर्थ होता है **'निःशेषेणगत निर्गतः'** अर्थात् निःशेष रूप से, पूर्ण रूप से गत हो जावे, चला जावे, या निकल जावे उसी का नाम निर्गत है। यह सर्वोत्कृष्ट साधन है। *सर्व-भूतेषु* इसके साथ जुड़ा हुआ है। *सर्वभूतेषु* का अर्थ है समस्त प्राणियों में अर्थात् बैर प्राणियों से ही होता है निर्जीव जड़ रव छाता, चश्मा, पुस्तक आदि से नहीं होता। *'सर्वभूतेषु'* में समस्त प्रकार के प्राणियों की ओर संकेत है। किसी भी क्षण किसी भी प्राणी से किसी भी स्थिति में और किसी भी प्रसंग के उपस्थित होने पर, अनिष्ट से अनिष्ट क्रिया अपने विरुद्ध करने वाले के प्रति भी उससे बैर न करना यही निर्बैरः की अन्तिम सिद्धि है। अज्ञानी पुरुष सांसारिक भोग-पदार्थों की प्राप्ति के लिऐ भगवान की भक्ति करता है, किन्तु ज्ञानी पुरुष भगवान की ओर से समस्त भोगों के छिन जाने पर भी, अपितु कठोर से कठोर शारीरिक कष्ट मिलने पर भी अपनी श्रद्धा प्रह्लाद, ध्रुव और मीरा की तरह भगवान में बढ़ाता ही जाता है। वह इन्हीं कष्टों को भगवान का सबसे बड़ा वरदान मानता है और अज्ञानी पुरुष इन्हीं कष्टों को प्राप्ति पर नास्तिक बन बैठता है। पूर्ण ज्ञानी पुरुष ही पूर्ण 'निर्बैरः' हो सकता है। *सर्वभूतेषु निर्बैरः* यह इस मंत्र के पाँचों साधनों में सर्वोत्कृष्ट साधन है। यह तो *'ऐषा ब्राह्मीस्थिति'* वाला साधन है। इस साधन की सिद्धि तभी सम्भव है जब मनुष्य *'यो मां पश्यति सर्वत्र'* की साधना से सम्पन्न हो जावे। जिस प्रकार प्रह्लाद, ध्रुव, मीरा और सूरदास के संसारी समस्त भोग-पदार्थ सदा के लिए उनसे छूट गये और दिन-रात विपरीत परिस्थितियों में सारा जीवन रहकर भी उनका प्रभु प्रेम दिन-रात बढ़ता ही गया, उसी प्रकार अदृष्ट यातनाओं

की तरह दृष्ट यातनाएँ प्राप्त होने पर भी जब मन उन यातनाओं को देने वाले के प्रति किंचित् बैर न माने तभी *सर्वभूतेषु निर्बैरः* की सिद्धि हो सकती है। किसी के प्रति हमारा बैर होता ही क्यों है? इसीलिए न कि उसने मेरी कोई हानि की है, अपमान किया है, मेरा तिरस्कार किया है, मुझे बुरा-भला कहा है, मेरी निन्दा की है, चुगली की है, मेरे प्रति अश्रद्धा करता है या मुझे तुच्छ समझता है या मेरे किसी इच्छित वस्तु, पदार्थ या प्राणी पर अधिकार करना चाहता है तभी उससे हमारे अन्तःकरण में बैर भाव स्थापित होता है। ऐसी स्थिति उपस्थित होने पर साधक के अन्तःकरण में उस समय, उतनी देर के लिए आत्मभाव का निराकरण ही बैरभाव को जन्म देता है। किसी प्राणी से हमारा आत्म-भाव अनात्म-भाव आने से ही समाप्त होता है। जब तक पूर्ण आत्मभाव रहेगा तब तक अनात्मभाव आएगा ही नहीं और आत्मभाव की पूर्णता तब तक हो ही नहीं सकती, जब तक कि द्वैतभाव रहेगा। जब तक किसी भी अनात्म पदार्थ से आसक्ति होगी, तब तक आत्मभाव नहीं हो सकता। अस्तु सदा सब में आत्म-भाव रखने से ही **निर्बैरः सर्वभूतेषु** की सिद्धि होगी। **सर्वभूतेषु** में केवल हमारे शत्रुगण ही नहीं आते। सिंह, व्याघ्र, बिच्छू और सर्प भी आते हैं जिनको देखते ही साधक को घृणा और स्वाभाविक द्वेष उत्पन्न होता है। मानव जाति ने इनको अपना जन्मजात शत्रु मान रखा है। **निर्बैरः सर्वभूतेषु** इस साधन की समाप्ति सःमामेति में है, अर्थात् समस्त प्राणियों में समभाव की सम्यक् सिद्धि हो जाने पर निर्बैरः साधन सफल होता है और समस्त प्राणियों के समभाव की सिद्धि होने पर सर्वत्र आत्मभाव की स्थिरता हो जाती है। आत्मभाव की स्थिरता ही ब्राह्मी स्थिति है और ब्राह्मी स्थिति वाला ही 'सःमामेति' की गति को प्राप्त करता है। इस प्रकार **निर्बैरः सर्वभूतेषु** समस्त साधनों की सिद्धि से भरा हुआ साधन है, इससे श्रेष्ठ कोई साधन नहीं। निर्बैरः का अर्थ केवल मन, बचन और कर्म से ही बैर का त्याग नहीं होता। इसका सूक्ष्म अर्थ अन्तःकरण के उन सूक्ष्म विकारों और लहरों तक जाता है, जो अनात्म तत्वों के चिन्तनमात्र से ही स्फुरित होते हैं।

अस्तु **निर्बैरः सर्वभूतेषु** साधन समस्त साधनों की अन्तिम सिद्धि को देने वाला है। और इसीलिए इस मंत्र में इस साधन को पांचों साधनों के अन्त में बताया गया है और इस साधन को बताने के बाद भगवान ने 'सःमामेति' के परम लक्ष्य की प्राप्ति बताई है। क्योंकि इससे आगे कोई साधन है ही नहीं। इस प्रकार भगवान ने इस मंत्र में ये पांच साधन बताकर यह ५५ नम्बर का अन्तिम मंत्र समाप्त किया।

यह मंत्र वास्तव में व्याख्यात्मक मंत्र है, उपसंहारात्मक नहीं। उपसंहारात्मक मंत्र इस अध्याय का इससे भी पहिले वाला ५४ नम्बर का मंत्र है जिसमें भगवान ने बताया कि—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य,
अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन,
प्रवेष्टुं च परंतप॥

अर्जुन का प्रश्न इन पांचों साधनों के पूछने का नहीं था और भगवान का भी उत्तर इस प्रकार के ५ साधन बताने के निमित्त नहीं था। अर्जुन का तो सीधा सा प्रश्न था—

हे प्रभो! आपका इस प्रकार का विराट् स्वरूप का दर्शन किस भाग्यवान् को कैसे मिल सकता है। यही प्रश्न अर्जुन के मन में था। अन्तर्यामी नारायण भगवान कृष्ण ने इस प्रश्न को समझकर ही—

नाहं वेदैर्न तपसा,
न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं,
दृष्टवानसि मां यथा॥

—गीता ११-५३

का मंत्र उच्चारण किया अर्थात् न मैं वेदों से, न तपस्या से और न यज्ञों से और न दान से ही इस प्रकार का दर्शन देता हूँ। यह दर्शन का निषेध पक्ष है और तुरन्त ही विधि पक्ष भी देखिये यथा—

'भक्त्या त्वनन्यया'

यही मंत्र इस अध्याय का उपसंहारात्मक अन्तिम मंत्र कहना चाहिए क्योंकि भगवान ने इसी मंत्र में अपने दर्शन का मर्म समझाया है जिसका अर्थ अन्य किसी अवसर पर किया जावेगा ५५ नम्बर का मंत्र तो 'भक्त्यात्वनन्यया' के स्वरूप का विस्तृत वर्णन या व्याख्यामात्र है।

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

* सज्जन का स्वभाव *

नारिकेलसमाकारा दृश्यन्तेऽपि च सज्जनाः।
अन्ये बदरिकाकारा बहिरेव मनोहराः॥

—हितोपदेश

सज्जन लोग बाहर से भले ही नारियल के समान बुरे लगें, पर उनका हृदय बड़ा कोमल होता है और दुर्जन लोग बेर के समान ऊपर से ही अच्छे होते हैं, अन्दर से नहीं।

भगवान का आदेश

गीता पढ़ो, गीता पढ़ो, गीता पढ़ो, गीता पढ़ो ।
गीता पढ़ो, गीता पढ़ो, गीता पढ़ो, गीता पढ़ो ॥

भगवान वेदव्यास का आदेश है, आह्वान है ।
गूंजे पुनः इस विश्व में यह दिव्य गीता ज्ञान है ॥
गीता पढ़ो यदि मृत्यु से अमरत्व पाना चाहते ।
गीता पढ़ो यदि सहज जीवन तत्व पाना चाहते ॥
गीता पढ़ो, गीता पढ़ो० ॥

गीता पढ़ो तुम मोह मद से मुक्त होने के लिए ।
गीता पढ़ो निज धर्म में ही युक्त होने के लिए ॥
गीता पढ़ो यदि कर्म में सत्कर्म पाना है तुम्हें ।
गीता पढ़ो यदि ज्ञान का कुछ मर्म पाना है तुम्हें ॥
गीता पढ़ो, गीता पढ़ो० ॥

गीता पढ़ो यदि भक्ति-रस का पान करना चाहते ।
गीता पढ़ो दैवी गुणों को ग्रहण करना चाहते ॥
गीता पढ़ो इस जन्म में ही दिव्य जीवन के लिए ।
गीता पढ़ो सिय-राम मय इस विश्व वंदन के लिए ॥
गीता पढ़ो, गीता पढ़ो० ॥

गीता पढ़ो प्रति दिवस मन-वच-कर्म-संयम के लिए ।
गीता पढ़ो तुम श्रीविजय ध्रुव नीति संगम के लिए ॥
गीता पढ़ो गीता-रहित यह शेष जीवन-क्लेश है ।
गीता पढ़ो सुख-शान्ति हो भगवान का आदेश है ॥
गीता पढ़ो, गीता पढ़ो० ॥

("गीता-विश्व धर्म का अमर शास्त्र" से उद्धृत)

– संकलनकर्ता –
श्री बैजनाथ जी कपूर

गतांक से आगे—

हमारी शरीर रचना—आध्यात्मिक दृष्टि से

❀ श्री गोबर्धननाथ कक्कड़ ❀

मनोमय कोष (मन)

मन का कार्य है—संकल्प विकल्प। दिन भर नाना प्रकार के संकल्पों-विकल्पों को करने वाला हमारा मन ही है। सुप्तावस्था व समाधि की अवस्था को छोड़कर शेष सब अवस्थाओं में मन का कार्य चलता रहता है। मन अत्यन्त चंचल है, वायु से भी अधिक तीव्रगामी है। गीता में भगवान से ऐसे चंचल मन को बश में करने का उपाय पूछा है—

'चंचलं हि मनः कृष्ण,
प्रमाथि बलवद्दृढ़म्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये,
वायोरिव सुदुष्करम्॥'

उत्तर में भगवान नें कहा है—

'असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥'

निःसन्देह अभ्यास करते-करते मन वश में हो जायेगा। अब हमें साधना की दृष्टि से इस मन को शिव-संकल्प के कार्यों में लगाना है। मन के संकल्पों के आधार पर ही मस्तिष्क किसी ज्ञान को ग्रहण करता है और वैसा करने की स्वीकृति देता है। इसलिए संकल्प शुभ हों, शिव हों, प्रत्येक क्षण इस विषय में चैतन्य रहना होगा। मन को निर्मल रखिये, अपने दैनिक व्यवहारों को शुद्ध और शुभ बनाइये। मन के संकल्प शिव होनें लगेंगे और वह आपके इशारों पर नाचनें लगेगा।

विज्ञानमय कोष (चित्त)

शरीर में जो चेतनता है, चित्त उसका केन्द्रीभूत स्थान है। चित्त, मन और मस्तिष्क से सम्बन्धित है। इसलिए चित्त की स्थिरता से मन और मस्तिष्क के परिष्कृत होने में बड़ी सहायता मिलती है। चित्त की वृत्तियों का संयम साधना का आवश्यक अंग है। प्रत्येक क्षण विचार करो, अन्तःप्रेरणा प्राप्त करो कि क्या शुभ है, क्या अशुभ है? सम्पूर्ण तथ्यों को गहनता से समझकर तब उस पर विचार करो। ऐसा करने से विवेक जाग्रत होगा। विवेक जाग्रत होने से चित्त-वृत्तियों का स्वयमेव निरोध होनें लगेगा और आत्म-साक्षात्कार की स्थिति आने लगेगी।

ज्योतिर्मय कोष (आत्मा)

शरीर में जो गति है, प्राण है, चेतना है, संकल्प है; वह सब आत्मा का ही है। शरीर में अवस्थित वह ज्योतिर्मय आत्मा हृदयाकाश के उस दिव्यलोक में निवास करता है, जिसे ज्योतिर्मय कोष कहते हैं। उस ज्योतिर्मय आत्मा के ही कारण इन्द्रिय, मस्तिष्क, मन, प्राण और चित्त अपने-अपने काम करते हैं। शरीर की जाग्रत, स्वप्न और सुप्त इन तीनों अवस्थाओं में आत्मा प्रकाशता है। इसी आत्म-दर्शन के लिए आवश्यकता है सतत जागरण की।

'या निशा सर्वभूतानाम् तस्यां जागर्ति संयमी'

और वह है तीनों अवस्थाओं से परे तुर्यावस्था जहां समस्त वाह्य और आन्तरिक कार्य करते हुए भी साधक सतत आत्मलीन रहता है; अपने स्वरूप में स्थित रहता है। उसकी जाग्रत, स्वप्न और सुप्त तीनों अवस्थायें समाप्त हो जाती हैं और वह सतत जागरण में आत्मभूत होकर बिना किसी आसक्ति के कार्य करता है।

अहिंसा तथा हिंसावाद

* वशिष्ठ 'दास' एम. ए., एम. ओ. एल. *

*

विश्व में प्रचलित—समस्त समुदायों के संचालकों तथा महापुरुषों ने—विश्व में शान्ति स्थापनार्थ *'मां हिंस्यात् सर्वभूतानि'* तथा *'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च'* श्रुति तथा भगवती गीता के महावाक्यों का ही समर्थन और अनुमोदन किया है। परन्तु यह अतीव विलक्षण—ऐतिहासिक तथ्य है कि सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज तक सभी युगों में अस्त्रों और शस्त्रों की झंकार सुनाई देती आ रही है। शान्ति की स्थापना के लिए भीषण अस्त्रों-शस्त्रों, दारुण आयुधों और विषैली गैसों का प्रयोग प्राचीन योद्धाओं और अवतारी शक्तियों ने किया है—देवासुर-संग्राम, श्रीराम-रावण युद्ध, पाण्डवों और कौरवों का महासंग्राम तथा आधुनिक विश्व-महायुद्ध किस बात का निदर्शन करते हैं। क्या मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम जी और अर्जुन को शस्त्र सम्पात करने की प्रेरणा देने वाले लीला पुरुषोत्तम आनन्दकन्द परमानन्द श्री कृष्णचन्द्र जी महाराज हिंसा के सिद्धान्त के प्रचारक थे ?

चित्रकूट पर्वत पर *"अस्थि समूह देखि रघुराया"* ऋषियों की हड्डियों के संघात को देखकर श्रीराम जी की प्रतिज्ञा—

निशिचर हीन करउं महि,
भुज उठाय प्रण कीन्ह।
सकल मुनिन के आश्रमनि,
जाय जाय सुख दीन॥

ऋषियों और मुनियों को सुख-शान्ति प्रदान करने के लिए—दानवों, असुरों तथा राक्षसों के संहार की भीष्म प्रतिज्ञा महाप्रभु श्रीराम जी ने करके क्या हिंसाव्रत को अपनाया है ? गाण्डीव धनुष को छोड़कर गुरुओं और सम्बन्धियों की हत्या से मुंह मोड़ने में उद्यत अर्जुन को शस्त्रबद्ध करने के हेतु श्रीमद्भगवद्गीता के उज्ज्वल ज्ञान का प्रतिपादन हुआ ?

मौर्यवंश-भूषण चन्द्रगुप्त, सम्राट् समुद्रगुप्त, महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी, श्री गुरु गोविन्दसिंह जी महाराज क्या हिंसावादी थे ? इन सबने शस्त्रों को धारण करके इस वसुन्धरा को रक्त रञ्जित किया—ऐसा प्रश्न अहिंसावाद के मानने वालों के सामने उपस्थित होता है और वे बहिर्दृष्टि से इन महापुरुषों के सत्कार्यों की समालोचना करने का दुःसाहस करते हैं।

प्रिय पाठकवृन्द ! शस्त्रों के धारण करने या व्यवहार में लाने से हिंसा होती है और शस्त्रों का प्रयोग छोड़ देने से अहिंसा होती है ऐसी धारणा भ्रममूलक है। पुण्य और पाप शरीर की क्रिया पर ही केवल आश्रित नहीं होता, उस क्रिया-कलाप के पीछे किसी भी व्यक्ति के मन की क्या भावना है, उस पर गम्भीरता और विवेक से विचार करना परमावश्यक होता है इसलिए ऋषियों ने यह संकेत किया—

'न तु शरीर कृते कर्म मनसैव कृते तु यत्।
तेनैवा लिङ्गिता कान्ता तेनैवालिङ्गिता सुता॥

एक गृहस्थी अपनी धर्मपत्नी को आलिंगन करता है और उसी शरीर से अपनी कन्या को भी आलिंगन करता है। परन्तु दोनों आलिंगनों में मानसिक भावों में आकाश और पाताल का अन्तर होता है।

एक शल्य चिकित्सा करने वाला अनुभवी डाक्टर नश्तर से दुःखी बीमार के व्रण तथा घाव की चीर-फाड़ करता है बीमार आर्त क्रन्दन करता है परन्तु कुशल चिकित्सक की सभी प्रशंसा करते हैं तथा उसे प्रसन्नचित्त होकर पर्याप्त शुल्क और पुरस्कार भी देते हैं। गन्दा खून बह जाने पर बीमार स्वस्थ हो जाता है आयु पर्यन्त उस चिकित्सक के गुणगान करता है तथा उसे दया का भण्डार मानता है। चिकित्सक के मन की भावनाएँ उस बीमार को भी नीरोग बनाकर सुख और शान्ति पहुंचाने की होती है परन्तु दूसरी ओर एक दुर्जन वृत्ति का पुरुष किसी को सताने या दुःख देने या अन्धा करने के लिए किसी की आंखों में छोटी सी सुई चुभो देने पर भी पाप का भागी बन जाता है इसमें भी उस की दूषित मनोवृत्ति ही कारण है।

अध्यापकवर्ग कभी-कभी अपने पुत्रवत् शिष्यों को ताड़न भी करते हैं उनके जीवन के पथ को कुमार्ग से छुड़ाकर सन्मार्ग में प्रवृत्त करने के लिए।

सोने को चमकाने के लिए अग्नि की भट्ठी में तपाना पड़ता है। इसी प्रकार दुर्जनों, दानवों, राक्षसों, आततायियों की भीषण लोक-विध्वंसक दुष्प्रवृत्तियों को रोककर विश्व में शान्तिप्रसार करने के लिए वीर पुरुषों को हथियार धारण करने पड़े हैं—केवल अहिंसा की स्थापना के लिए और साधुओं-सन्तों और सत्पुरुषों के परित्राण के लिए।

न्याय-धर्म की स्थापना के हेतु समाज की रक्षार्थ अन्याय परायण दस्युओं चोरों लम्पटों और धर्म विरुद्ध कार्य करने वाले आततायियों के वध में, स्मृतियों में कोई दोष नहीं माना गया।

'नाततायी वधे दोषः कश्चित् भवितुमर्हति'

आततायी छः प्रकार के होते हैं—

'अग्निदो, गरदश्चैव, शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्र दारापहर्ता च षडैते आततायिनः॥

किसी मकान को अग्नि से जलाने वाला, धोखे से विष का प्रयोग करने वाला, छुपाकर शस्त्रों से आक्रमण करने वाला, धन-संपत्ति को हरण करने वाला, भूमि छीनने वाला, बहुओं और स्त्रियों का अपहरण करने वाला,—ये छः प्रकार के आततायी (जालिम) गिने गए हैं। जगत में शांति तथा न्याय की संस्थापना के लिए इनको मौत के घाट उतारने में कोई दोष नहीं—ऐसा शास्त्र सम्मत है। सैनिकगण, पुलिस के अधिकारी तथा राजा या शासकवर्ग यदि ऐसे कुकर्मी आततायियों को दण्ड नहीं देते तो अपयश और नरक के गामी होते हैं।

इन आततायियों में; यदि मान के योग्य, अवध्यजन गुरु, बालक, बूढ़ा अनेक वेदों में पारंगत ब्राह्मण भी यदि सम्मिलित हो जाय, तो बिना सोचे विचारे उसका बध कर देवे। अहिंसा-वाद में न्याय, धर्म और शान्ति की स्थापना और विश्व-कल्याण की मानसिक उदात्त भावनाएँ ही प्रधान स्थान रखती हैं न कि अस्त्र-शस्त्र ग्रहण या परित्याग।

मर्यादा की स्थापना तथा सत्पुरुषों की रक्षार्थ हो शूरवीर सदा आयुधों का प्रयोग करते हैं और अहिंसावाद के सिद्धान्त का निदर्शन करते रहे हैं—ठीक है—

सुन्दर सोई सूरमा लोट-पोट हो जाय।
ओट कछु राखे नहीं चोट हृदय पर खाय॥

॥ इति शम् ॥

जून अंक से आगे--

ध्यान-योग एक मानसिक प्रक्रिया

योगिराज श्री नानकचन्द जी महाराज

❀

गीता-सन्देश के पिछले अंक में जिन पाठकों ने मेरे विचारों को धैर्ययुक्त मन से पढ़ा होगा उन्हें यह बात समझ में आ गई होगी, कि ध्यान-योग से प्राप्त होने वाली महान सफलता 'आत्म-साक्षात्कार' के प्रत्यक्ष अनुभव का लाभ सम्पादन करने के लिए शारीरिक स्वास्थ्य का ठीक होना परमावश्यक बात है। गीता का श्लोक है—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥
—गीता ६-१६

अर्थात् 'हे अर्जुन ! निःसन्देह न अति खाने वाले, न सर्वथा न खाने वाले, न अति सोने के स्वभाव वाले और न ही (अति) जागने वाले का योग (सिद्ध) होता है।' मतलब की बात यह है कि अधिक खाने और न खाने वाले तथा अधिक सोने और कम सोने वाले दोनों का शारीरिक स्वास्थ्य ठीक नहीं रह सकता। इससे शरीर में आलस्य, रोग और व्याकुलता बनी रहेगी। ऐसा शरीर ध्यान-योग के लिए कदापि योग्य नहीं हो सकता है। शतपथ ब्राह्मण में भी ऐसा लिखा है—

'यदुह वा आत्मसंमितमन्नं,
तदवति तन्न हिनस्ति ।
यद् भूमो हिनस्ति तद्यत्कनीयो,
न तदवति इति ॥'

जो जिसको अपने प्रमाण का अन्न है; अर्थात् जो अपने बल के प्रमाण से अथवा युक्तिपूर्वक नियत भोजन करता है, वह अन्न शरीर की रक्षा करता और रोगादि की उत्पत्ति द्वारा उसे नाश नहीं करता, अर्थात् ऐसे नियत भोजन से शारीरिक रक्षा और नीरोगता होती है, हानि नहीं, और जो प्रमाण से अधिक अन्न है, अर्थात् जो अन्दाजे से ज्यादा खाया जाता है, वह रोग को उत्पन्न करके आयु को क्षीण करता, शीघ्र नाश करता है, और जो प्रमाण से थोड़ा है अर्थात् अन्दाजे से भी कम खाया जाता है, वह भी रक्षा नहीं करता है, अर्थात् उस बहुत थोड़े आहार से भी ठीक रक्षा नहीं होती है। इस श्रुति के अनुसार भी शरीर की सुरक्षा आवश्यक प्रतीत होती है।

इसी सन्दर्भ में एक और प्रसंग रामायण से प्रस्तुत करना चाहता हूँ। जब हनुमान जी को नागपाश में बांध कर मेघनाथ ने रावण के सामने उपस्थित किया, तो रावण ने बहुत से प्रश्न पूछे थे। उनमें से एक प्रश्न यह भी था--

मारे निशिचर केहि अपराधा ।
कहु सठ तोहि न प्रान कर बाधा ॥
(सुन्दरकाण्ड)

हनुमान जी ने इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया था—

सब के देह परम प्रिय स्वामी ।
मारहिं मोहिं कुमारग गामी ॥
जिन्ह मोहि मारा ते मैं मारे ।
तेहि पर बांधेउँ तनय तुम्हारे ॥
(सुन्दरकाण्ड)

हे निशाचरों के स्वामी ! देह सबको परम प्रिय है, अर्थात् इसी देह के द्वारा ही तो मैं भगवान की निष्काम सेवा कर सकूँगा, साधन ही नष्ट हो जायगा तो साध्य की प्राप्ति भी असम्भव हो जायगी, कुमार्ग पर चलने वाले राक्षस जब मुझे मारने लगे, तो जिन्हों ने मुझे मारा, उनको मैंने भी मारा। अर्थात् तुझे और तेरे राक्षसों को शरीर रक्षा का महत्व ज्ञात नहीं है, यह

सम्भव हो सकता था कि कुमारग गामी राक्षस (शारीरिक और मानसिक रोग) मेरे शरीर को नष्ट कर देने के लिए तत्पर हों और मैं अपनी ओर से कोई प्रयत्न भी न करूँ जिससे कि मैं महान पाप का भागी बन जाता; उस पर भी तुम्हारे पुत्र ने मुझको बांध लिया, अर्थात् मेरे साथ अन्याय किया।

शरीर को सुरक्षा जरूरी है इस बात की काफी चर्चा हो चुकी है। अब विचार इस बात का करना है कि वे कौन से सरल और सुगम मार्ग हैं जिन पर चलकर शरीर को निरोगी और स्वस्थ रखा जा सकता है। इस बारे में कुछ लोगों का ऐसा मत है कि केवल ध्यान-योग ही स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए पर्याप्त साधन है। मैं उनके इस विचार का खण्डन करने का साहस नहीं कर सकता हूँ। मेरे जीवन के स्वयं ऐसे कई अनुभव है जिनमें मैंने ध्यान-योग की सहायता से रोगों पर विजय प्राप्त की थी। ध्यान-योग के अभ्यासी के पास आत्म-बल का एक ऐसा डंडा होता है कि वह रोगों को मार भगाने में सर्वथा समर्थ रहता है।

किन्तु उस शक्ति को किसी विशेष निमित्त के उपस्थिति हो जाने के समय प्रयोग में लाना ज्यादा उचित होता है। नित्य के जीवन में होने वाले उतार-चढ़ाव, सर्दी-गर्मी व अन्य प्रकार की अव्यवस्थाओं से शरीर को बचाने के लिए, कुछ दूसरे सरल मार्गों का सहारा लेना अधिक उपयोगी और लाभदायक सिद्ध होगा। इस बारे में सर्वप्रथम आसन और प्राणायाम की चर्चा करना चाहूंगा, जो मेरे अनुभव में शरीर रक्षा के लिए सर्वश्रेष्ठ साधन प्रमाणित हुए हैं।

आसन, प्राणायाम अष्टांग योग के अंग हैं। इनका योगिक क्रियाओं के नाम से भी सम्बोधन किया जाता है। साधारण लोगों में प्रायः ऐसी धारणा बन गई है कि योगिक क्रियायें व योग गृहस्थी के लिए अनुकूल नहीं है। इसे तो केवल विरक्त ही कर सकते हैं। इस भ्रान्ति को मिटाने की महती आवश्यकता है। विरक्त और गृहस्थ दोनों ही योग के समान अधिकारी हैं। आदि योगी भगवान शंकर गृहस्थ हैं। अर्जुन को 'तस्माद्योगी भवार्जुन' अर्थात् हे अर्जुन! तू योगी हो का उपदेश करने वाले योगेश्वर श्रीकृष्ण गृहस्थ थे। अर्जुन जिसे योगी बनने की सलाह दी जा रही वह भी गृहस्थ ही है। जनक, याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ, राम आदि गृहस्थ होते हुए ही योगयुक्त भी थे। भगवान शंकर की पत्नी सती ने पति का अपमान सहन करने में अपने को असमर्थ पाकर योग द्वारा अग्नि प्रकट कर उसी में अपने शरीर को भस्म कर डाला—

अस कहि जोग अगिनि तनु जारा।
(रामचरित मानस, बालकांड ६४-४)

स्त्री, पुरुष हर वर्ण, और हर जाति को योगाभ्यास (आसन, प्राणायाम) करने का अधिकार प्राप्त है। यह बात जरूर है कि आसन, प्राणायाम की क्रियायें हर व्यक्ति के लिए अनुकूल नहीं होती हैं। मनुष्य की आयु और प्रकृति (वात, पित्त व कफ प्रधान) के अनुसार ही इन क्रियाओं को करना लाभदायक होता है। इसके लिए किसी योग्य शिक्षक से सलाह ले लेनी चाहिए।

बहुत से लोग आसन को अन्य शारीरिक व्यायाम की श्रेणी में रखते हैं। यह भी एक भूल है। आसन से मनुष्य को मानसिक शांति प्राप्त होती है जबकि दूसरे व्यायाम राजसिक उत्साह प्रदान करते हैं। आसन शरीर की थकावट को दूर करता है और अन्य व्यायाम शरीर में थकावट पैदा करते हैं। एक और महत्वपूर्ण भेद यह है कि अन्य व्यायामों से हाथ पैर आदि की मांस-पेशियों की ही कसरत होती है जबकि आसन के द्वारा उदर की मांस-पेशियों का व्यायाम हो जाता है। शरीर में जितने प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं उन का सम्बन्ध किसी न किसी तरह उदर से अवश्य रहता है। उदर से ही विजातीय पदार्थ (Foreign Matter) तैयार होता है। शरीर के जिस भाग

पर इसका जमाव हो जाता है वही अंग रोगग्रस्त हो जाता है। नियम से केवल पन्द्रह मिनट प्रतिदिन आसन करने वाले व्यक्ति को पेट की बीमारी का शिकार नहीं होना पड़ता। क्योंकि आसन द्वारा नित्य पेट की कसरत हो जाती है इससे गन्दगी बड़ी आंत में जमा नहीं हो पाती। जिसका परिणाम यह होता है कि विजातीय पदार्थ तैयार नहीं हो पाता है। और जब रोग का मूल कारण ही समाप्त कर दिया गया तो कारण के बिना कार्य कैसे हो सकता है।

शरीर में ३६ मम स्थल हैं जो कंठ-कूप, स्कन्ध-पुच्छ, मेरुदंड और ब्रह्मरन्ध्र से सम्बन्धित हैं। इन्हीं मर्म स्थानों में गड़बड़ी पैदा हो जाने के कारण मोटे और तन्दुरुस्त दिखलाई देने वाले लोग भी मन्द रोगों के फन्दे में फंस जाते हैं। शिर और धड़ के मर्म स्थलों में 'हव्यवहा' नामक धन (पाजिटिव) विद्युत रहती है और हाथ-पैरों में 'कव्यवहा' नाम की ऋण (निगेटिव) विद्युत का बास है। मर्म स्थानों के पीड़ित होने से जब इनका आपस में सन्तुलन बिगड़ जाता है तो लकवा, अर्धांग, संधिवात जैसे रोग पैदा हो जाते हैं। मर्म-शोधन का सर्वश्रेष्ठ और चमत्कारिक प्रयोग अब तक विश्वभर में केवल एक ही है, वह है योग आसन का अभ्यास करना।

शरीर में रोग उत्पन्न करने का एक स्थान फेफड़ा भी है। फेफड़े में सात करोड़ छोटी-छोटी पोटलियां हैं जिन्हें सेल्स (Cells) कहते हैं। साधारण तौर पर जो श्वास हम हर क्षण लेते और बाहर निकालते रहते हैं उससे केवल दो करोड़ सेल्स (Cells) ही खुल पाते हैं। बाकी पांच करोड़ सेल्स बन्द पड़े रहते हैं जिनमें शरीर से खून के साथ लौटी हुई गन्दगी इकट्ठा होती रहती है। धीरे-धीरे यह पांचों करोड़ सेल्स गन्दगी से भर जाते हैं। अब नम्बर आता है बाकी बचे हुए दो करोड़ सेल्स का। जैसे-जैसे आयु बढ़ती जाती है उसी के साथ-साथ ये शेष सेल्स भी गन्दगी से भर जाते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि रक्त का भलीभांति बनना बन्द हो जाता है और रक्त के शुद्ध होने की क्रिया भी ठप हो जाती है। शरीर में अशुद्ध और शक्तिहीन रक्त हो चारों ओर दौड़ने लगता है। फलतः समस्त इन्द्रियां शनैः-शनैः दुर्बल होने लगती हैं। इस प्रकार मनुष्य मौत के बिल्कुल निकट पहुंच जाता है। भारतवर्ष में पांच में से एक व्यक्ति की मृत्यु फेफड़े के रोग, खांसी, दमा, निमोनिया, क्षयरोग आदि से होती है।

स्वस्थ शरीर में लगभग सात टन रक्त हृदय और फेफड़े के बीच घूमा करता है। यह तमाम रक्त फेफड़े के सात करोड़ सेल्स में शुद्ध होने के लिए आता है। इसको शुद्ध करने के लिए सेल्स को अनुमानतः चार हजार से पांच हजार घनफुट वायु की नित्य आवश्यकता पड़ती है। यदि इतनी स्वच्छ वायु फेफड़े को नित्य प्राप्त हो जाया करे तो मनुष्य वृद्धावस्था के कष्टों को झेलने से बच सकता है। प्रतिदिन नियम से प्राणायाम करना इस समस्या का एक उचित समाधान है। प्राणायाम करने वाले व्यक्ति के सातों करोड़ सेल्स खुले रहते हैं। उनमें गन्दगी नहीं जमा हो पाती है। साथ ही मनुष्य को लम्बी और गहरी सांस लेने और दौड़ने का भी अभ्यास डालना चाहिए। प्राणायाम के कई प्रकार है। उनमें कौन-सा आपके लिए उपयुक्त है इस बारे में किसी अनुभवी से सलाह लेनी चाहिए।

एक बात और निवेदन कर देना चाहूंगा। स्वास्थ्य की रक्षा में आहार और व्यवहार का भी बहुत बड़ा हाथ है। आहार देश और काल के अनुकूल होना चाहिये। भोजन ऐसा किया जाय जो कि शीघ्र पच जावे और आमाशय पर उसका विशेष भार न पड़ने पावे। मनुष्य का व्यवहार भी ऐसा होना चाहिए जिससे मर्यादा का उल्लंघन न होने पावे। गीता की यह शिक्षा है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

—गीता ६-१७

हितकारी-गीता

— श्री विमलेश जी वाजपेई —

[१]

भटके हुये भव-यात्रियों को, नित नेह से मार्ग बता रही गीता ।
अटके हुये सत-साधना के, पतवार हो पार लगा रही गीता ॥
हारे प्रपञ्च के पांसों से जो, निज मंत्र दे उनको जिता रही गीता ।
हो सर्वस्व विवेकियों की, भ्रम के भव भूत भगा रही गीता ॥

] २]

गीता सुगायन ज्ञान बढ़ै, हरि ध्यान में धीर धराती है गीता ।
निष्ठा जिनकी हरि पूजन में, तिन्हैं भक्ति-विभोर बनाती है गीता ॥
गीता की बुद्धि से पुण्य बढ़ै, भगवान से अंत मिलाती है गीता ।
मानव जीवन को 'विमलेश', विशेष महान बनाती है गीता ॥

[३]

शान्ति जिन्हें न मिली हो कभी, उठके विमलेश वो गीता से ले लें ।
संत पदों में विनम्रता से, यदि बैठ सकें तो सुभीता से ले लें ॥
पाया न वाञ्छित जो किसी से, सोई दुर्लभ दान पुनीता से ले लें ।
जो जकड़े कलि बेड़ियों में, क्षणमात्र में मुक्ति वे गीता से ले लें ॥

[४]

विघ्न-विनाशि, प्रकाशि-मती, सुख देन में मानो गनेश है गीता ।
दारिद दुःख निवारि के, श्याम की भक्ति को देन महेश है गीता ॥
देव सवै अनुकूलन हेत, अलौकिक-शक्ति-सुरेश है गीता ।
जीव-मतंग उधारन को, 'विमलेश' लखो कमलेश है गीता ॥

[५]

ज्ञान व कर्म उपासन की, है त्रिवेनी बनी हरि-धाम नसेनी ।
कौन-सी सृष्टि में दिव्य-विभूति, जो गायक को यह गीता न देनी ॥
घूमौ फिरौ भटको जग में, चतुराई गोराई ये काम न देनी ।
'विमलेश' यहां औ वहां चहौ शान्ति, तो गीता की नित्य नहाओ त्रिवेनी ॥

उपनिषदों के रत्न

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः ।
ता ँ स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।।

—ईशावास्योपनिषद्

वे असुर सम्बन्धी लोक आत्मा के अदर्शन रूप अज्ञान से आच्छादित हैं । जो कोई भी आत्मा का हनन करने वाले लोग हैं वे मरने के अनन्तर उन्हें प्राप्त होते हैं ।

❀ ❀ ❀

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।।

—ईशावास्योपनिषद्

वह आत्म-तत्व स्वरूप से विचलित न होने वाला, एक तथा मन से भी तीव्रगति वाला है । इसे इन्द्रियां प्राप्त नहीं कर सकीं । क्योंकि यह उन सबसे पहले (आगे) गया हुआ (विद्यमान) है । वह स्थिर होने पर भी अन्य सब गतिशीलों को अतिक्रमण कर जाता है । उसके रहते हुए ही (अर्थात् उसकी सत्ता में ही) वायु समस्त प्राणियों के प्रवृत्त रूप कर्मों का विभाग करता है ।

❀ ❀ ❀

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते, प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ।।

—कठोपनिषद्

श्रेय और प्रेय (परस्पर मिले हुए से होकर) मनुष्य के पास आते हैं । उन दोनों को बुद्धिमान् पुरुष भली प्रकार विचार कर अलग-अलग करता है । विवेकी पुरुष प्रेय के सामने श्रेय का ही वरण करता है; किन्तु मूढ़ योग-क्षेम के निमित्त से प्रेय का वरण करता है ।

❀ ❀ ❀

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ।।

—कठोपनिषद्

यह अणु से भी अणुतर और महान से भी महत्तर आत्मा जीव की गुहा में स्थित है । निष्काम पुरुष अपनी इन्द्रियों के प्रसाद से आत्मा की उस महिमा को देखता है और शोक रहित हो जाता है ।

श्री गीता-आश्रम में--

व्यास-पूर्णिमा-महोत्सव

सन्त-महात्माओं की तपोभूमि लक्ष्मणझूला की परिक्रमा
महाराजश्री भी अपने संत-मण्डल एवं भक्तों के साथ-साथ पद-यात्रा में सम्मिलित

१-७-६६ गीता-आश्रम--महाराजश्री १००८ स्वामी वेदव्यास जी महाराज के इस आश्रम में इस वर्ष लगातार मई-जून १९६६ दो मास तक गीता-सत्संग का भव्य कार्यक्रम चलता रहा। जिसमें श्रद्धेय श्री योगिराज **नानकचन्द जी** महाराज, प्रयाग के सदुपदेशों से सत्संगी भाई-बहिनों को अपूर्व लाभ प्राप्त हुआ। उधर महाराज श्री को इस बार इन दिनों पंजाब के विशेष दौड़े में अम्बाला, कपूरथला तथा अमृतसर में सनातन-धर्म-सभाओं तथा भावुक भक्तों के आग्रह विशेष पर दो मास भर पंजाब में गीता-प्रचार का बहुत आवश्यक पुण्यकार्य करना पड़ा। इन कार्यक्रमों से महाराजश्री २१ जून को आश्रम में वापिस लौटे। प्रातः सायं दोनों समय आश्रम पर महाराजश्री के गीता-प्रवचनों से विशिष्ट साधकों तथा असंख्य जनता ने इस वर्ष इस नित्य गीता-सत्संग से अपूर्व लाभ उठाया। इस वर्ष **गुरुपूर्णिमा-महोत्सव** में पहले वर्षों की अपेक्षा कई गुणा अधिक भक्त लोग व शिष्य-परिवार आश्रम पर आये। और बड़ी भावुकता से महोत्सव में भाग लेते हुए साधक परिवारों ने जीवन का वास्तविक लाभ प्राप्त किया।

१-७-६६ को सायंकाल ४ बजे महाराजश्री संतों, प्रिय भक्तों तथा शिष्य-परिवारों के साथ ही लक्ष्मणझूला के ऋषि-मुनियों, सन्त-महात्माओं के पवित्र आश्रमों की परिक्रमा तथा उनके पुनीत दर्शनों के लिए पद-यात्रा में मीलों तक चले। सभी भक्तों तथा गीता-गुरुकुल ब्रह्मचर्याश्रम के ब्रह्मचारियों के हाथों में लाल, पीले रंग के धर्मध्वज लहरा रहे थे। और असंख्य स्त्री-पुरुषों का यह समूह 'सनातन-धर्म की जय हो', गीता माता की जय हो, श्री सद्गुरुदेव जी महाराज की जय हो, के नारों से इस उत्तराखण्ड की तपोभूमि को गुंजार रहा था। इस पावन यात्रा में भक्तों ने चौरासी कुटी, शंकराचार्यनगर, कैलाशानन्दाश्रम, गीता-भवन, स्वर्गाश्रम तथा लक्ष्मणझूला आदि प्रायः सभी प्रमुख आश्रमों एवं मन्दिरों के दर्शन किए। सायं-काल लगभग ८ बजे सभी भक्त-मण्डली सहित महाराजश्री 'जय शिव शंकर' 'हर हर गंगे', की मधुर ध्वनि करते हुए वापस आश्रम पर पधारे। और कई घण्टे तक सत्संग के मंच पर भावुक भक्तजन हरिनाम संकीर्तन की ध्वनि लगाते रहे।

गीता-आश्रम में गुरु-पूर्णिमा-महोत्सव पर विशाल भण्डारा

गीता-आश्रम के गुरु-पूजा-महोत्सव में व्यवस्था कार्य के लिए इस वर्ष श्री न्यायमित्र जी शर्मा, श्री पं० जोगेन्द्रनारायण जी मिश्र लखनऊ, श्री पं० कुंवर जी लाल पचौरी जी महाराज मथुरा, श्री चन्द्रमित्र शुक्ल, श्री नरेन्द्र सेठी अमृतसर, श्री वेदप्रकाश जी नई दिल्ली तथा श्री गिरिधारी लाल जी अमृतसर तथा श्री ब्रह्मदत्त जी सूद अम्बाला कैन्ट के सुनाम स्तुत्य हैं। बहुत सुन्दर व्यवस्था रही। समागत विद्वान तथा भजनोपदेशक सन्त-महात्माओं की तथा अतिथि भक्त-शिष्य परिवारों की व्यवस्था का काम विशेष सराहनीय रहा। इस वर्ष लक्ष्मणझूला, स्वर्गाश्रम, परमार्थ-निकेतन तथा इस क्षेत्र के समस्त सन्त, महात्मा तथा गुफाओं, झाड़ियों एवं जंगलों में रहने वाले सभी तपस्वी, सन्त-महात्माओं को सादर आमन्त्रित कर विशाल भण्डारा दिया गया। इस वर्ष पंजाब महावीरदल के प्रधान मंत्री श्री प्रोफेसर वशिष्ठ जी तथा पंजाब के भजनीकों के आचार्य श्री प्रोफेसर वरयामसिंह जी भी गुरुपूर्णिमा पर्व पर पधारे। लखनऊ से आई संगीत पार्टी में श्री मिश्रा जी के साथ श्री सरदार हरविन्दरसिंह जी तथा श्री विश्वनाथ जी शर्मा के सुनाम विशेष उल्लेखनीय हैं। आप के संगीतमय पदों पर जनता मन्त्र-मुग्ध हो उठती थी और समय का बन्धन भी भूल जाती थी। इस सब विशिष्ट सफलता का श्रेय एकमात्र महाराजश्री के शुभाशीर्वाद पर आधारित है। गीता-सन्देश परिवार को इस पर्व पर भारी गर्व है।

गुरु-पूर्णिमा के पर्व का आंखों देखा विवरण

२-७-६६ को गुरु-पूर्णिमा के दिन प्रातः ८ बजे श्री गीता जी व श्री रामायण जी के अखण्ड पाठ का भोग पड़ा। गीता-गुरुकुल ब्रह्मचर्याश्रम के छात्रों ने इस अखण्ड पाठ में विशेष रूप से भाग लिया। और गीता के मन्त्रों का व मानस की चौपाई दोहों एवं छन्दों का बड़े ही सुमधुर उच्च-स्वर से शुद्ध पाठ किया। पीत वस्त्रधारी यह ब्रह्मचारीगण इस गीता-गुरुकुल ब्रह्मचर्याश्रम के अभी एक-एक दो-दो वर्ष से प्रविष्ट होनहार छात्र हैं, जो कल के राष्ट्र के भावी कर्णधार और सनातन धर्म के चोटी के विद्वान या धर्माचार्य कहे जा सकते हैं। महाराजश्री का भारत की प्राचीन गुरुकुल-पद्धति से आश्रम में दी जाने वाली शिक्षा का महत्वपूर्ण राष्ट्रीय कार्य आज के भारत में अपने ही ढंग का स्तुत्य प्रयास है। इस प्रकार के इन नन्हें-नन्हें ब्रह्मचारियों के आदर्श सादा जीवन और धार्मिक शिक्षण कार्य को देखकर इस बार महोत्सव में आने वाले धार्मिक विद्वान नेताओं तथा श्रेष्ठ परिवारों ने मुक्त कण्ठ से महाराजश्री के इस परमपुण्यकार्य की सराहना की। और अपना-अपना हार्दिक सहयोग देने की प्रतिज्ञाएं भी कीं।

नवीन प्रविष्ट ब्रह्मचारियों का यज्ञोपवीत-संस्कार तथा गायत्री-मंत्र-दीक्षा

इसी दिन प्रातःकाल श्री ब्रह्मचारी विवेकानन्द जी महाराज की संरक्षकता में नवीन प्रविष्ट बालकों के क्षौर कर्म तथा विधिवत् स्नान हुए। पीत-वस्त्रधारी इन नन्हें-मन्हें ब्रह्मचारी बालकों को यज्ञ-मण्डप में लाकर पलाश दण्ड दिए गए। चन्दन के तिलक से इनके विशाल ललाट चमक उठे।

ऋषिकुल-विद्यापीठ, हरिद्वार के उपाध्याय श्री पं० राधाकृष्णा जी शास्त्री के आचार्यत्व में यज्ञ-मण्डप में देवपूजन, नवग्रहपूजन तथा वेदमन्त्रों के पाठ बड़े उच्च स्वर में हुए। सभी नर-नारियों ने यथा समय यज्ञ-भगवान का पूजन किया। वेदपाठी ब्राह्मणों ने वैदिक-मन्त्रों की ध्वनि से इस यज्ञ में अपनी-अपनी श्रद्धानुसार आहुतियां दीं।

शास्त्रीय रीति से विधिवत, यज्ञोपवीत-संस्कार होने पर सभी ब्रह्मचारी बालकों को गायत्री-मन्त्र की गुरुदीक्षा दी गई। इन नवीन ब्रह्मचारी बालकों को गुरु आज्ञा हुई कि आज वे प्राचीन काल के गुरुकुलों के नियमानुसार गले में झोली डालकर आश्रम के महोत्सव पर आए सभी माताओं व पुरुषों से भिक्षा मांगकर लाएँ और श्री गुरुदेव महाराज के श्री चरणों में लाकर भेंट करें। यह सभी कार्य विधिवत् सम्पन्न हुआ।

इस विशाल आयोजन में जहां पंजाब के उच्च-कोटि के विद्वान सनातन धर्म के नेता प्रो० वशिष्ठ जी के शास्त्रीय व्याख्यानों पर जनता मुग्ध हो रही थी। वहाँ महाराजश्री के प्रिय शिष्य पंजाब प्रसिद्ध प्रो० वरयामसिंह चक्रधारी भजनो-पदेशक के सुमधुर भजन-संकीर्तनों पर और भी गद्-गद् हो उठी। प्रो० वरयामसिंह जी ने महाराजश्री गुरुदेव की राष्ट्रीय एवं धार्मिक-सेवाओं को मुक्त-कण्ठ से महिमा-बखान करते हुए गीता-आश्रम के विकास कार्यों में प्रत्येक व्यक्ति से अपना-अपना हार्दिक योगदान देने की अपील की तथा २४-४-६६ को ऋषिकुल-विद्यापीठ हरिद्वार में महाराजश्री को प्रदत्त 'जगद्गुरु' की सम्मानित उपाधि के चित्र को दिखाया। तो उस समय जनता के जय-जयकार के नारों से आकाश गूँज उठा। इसके बाद हरिद्वार ऋषिकुल-विद्यापीठ के प्रस्तोता श्री पं० चन्द्रशेखर जी शास्त्री ने अत्यन्त मार्मिक व प्रभावोत्पादक शब्दों में महाराजश्री के जीवन के सम्बन्ध में कुछ तप व त्यागमय घटनायें सुनाई। श्री ब्रह्मदत्त जी सूद, अम्बाला कैन्ट ने तथा श्री टीकावेदी अमृतसर निवासी ने अपनी भावभरी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की।

किसी उपाधि अथवा अभिनन्दन-पत्र का मुझ पर कोई प्रभाव विशेष नहीं—

मेरे सामने भारतीय संस्कृति का प्रचार-प्रसार तथा नगर-नगर में ऋषिकुल-गुरुकुलों की स्थापना का ही कार्य है।

गुरु-पूर्णिमा-महोत्सव पर

❀ महाराज श्री का शुभाशीर्वाद ❀

२-७-६६ गुरु-पूर्णिमा-महोत्सव पर पूज्यपाद महाराजश्री सद्गुरुदेव जी **श्री १००८ स्वामी वेदव्यास जी महाराज**, संस्थापक गीता-आश्रम, हृषीकेश ने अपने कुछ ही मिनट के शुभाशीर्वादात्मक उपदेश में जनता से कहा—कि श्री पं० चन्द्रशेखर शास्त्री जी विद्वान तथा शास्त्रों के पूर्ण पण्डित हैं, और प्रो० वरयामसिंह जी भी कुशलवक्ता तथा अनुभवी धार्मिक महोपदेशक हैं। मेरे लिए इन सब की जैसी श्रद्धाभावना है आप लोगों से उन्होंने उसे खूब बढ़ा-चढ़ा कर जैसा कुछ कहा है वह अपनी भावना से मेरी महिमा के कुछ भी गीत गा सकते हैं विद्वान लोग तो अपने वेद-मन्त्रों से पत्थर को भी देवता बनाकर पुजवा सकते हैं, मिट्टी के साधारण से कंकड़ को भी विघ्न-विनाशक गणाधिप बना कर

वह बड़े से बड़े राजा महाराजा से सिर झुकवा सकते हैं। विद्वानों की महिमा को कौन जाने ?

२४-४-६६ को ऋषिकुल-विद्यापीठ हरिद्वार के प्रस्तोता श्री चन्द्रशेखर जी शास्त्री ने अपने ऋषि-कुल-विद्यापीठ में जिसके वह स्वयं प्रस्तोता भी हैं उत्तर-प्रदेश के प्रमुख जिलों के सैकड़ों संस्कृत विद्वान प्रतिनिधियों का एक विशिष्ट सम्मेलन बुलाया। उसमें कई अभिनन्दन-पत्रों तथा जगद्गुरु की सम्मानित उपाधियों से मेरा मानवर्द्धन किया, इन्होंने मुझे हरिद्वार ऋषिकुल का भी 'कुलगुरु' बना रक्खा है। मैं तो इनकी श्रद्धा भावना और सेवा कार्यों का बड़ा सम्मान करता हूँ। किन्तु **मुझे इन सम्मानित उपाधियों से तथा अभिनन्दनों से कोई आकर्षण (लगाव) नहीं होता। और मुझ पर इनका कोई प्रभाव विशेष नहीं पड़ता।** मैं तो काम चाहता हूँ, नाम नहीं।

मैं मानता हूँ कि संसार में प्रतिष्ठा और आडम्बर की पूजा हो रही है, परन्तु मेरे जैसे साधु के लिए न कोई प्रतिष्ठा का प्रश्न है, न किसी आडम्बर का। देश के मेरे अपने श्रद्धालु प्रेमी भक्त-शिष्य अपनी श्रद्धा भावना से मुझे कैसा भी देखें, कुछ भी कहें, मेरा इससे क्या प्रयोजन ? पर मैं तो अपने परम श्रद्धेय भारत के धार्मिक नेता श्री जगद्गुरु आदि शंकराचार्य जी महाराज, श्री स्वामी रामकृष्ण परमहंस, श्री स्वामी रामतीर्थ तथा विवेकानन्द जी महाराज आदि के एक सुपावनतम जीवन को लेकर भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार के पुण्यकाय को सामने रखकर एक सैनिक की भांति धार्मिक जगत में कुछ सेवाकार्य करने का विचार लेकर उतरा हूँ। वह भी निस्वार्थ और निष्काम भाव से जनता-जनार्दन की सेवा का और धर्म रक्षा का पुण्यकार्य समझ राष्ट्रीय-नव-निर्माण के लिए कुछ कर्तव्य पालन करना अपना धर्म मानता हूँ। इन्हीं विचारों की पूर्ति के लिए सदैव कार्य किया है और आगे भी करना है। मैंने अपने जीवन में एक ही बात सीखी है, कि प्रभु पर अटल विश्वास और श्रद्धाभाव लिए जीवन के कार्यक्षेत्र में आगे बढ़ते चले जाना। संसार कितनी भी निन्दा करे, स्तुति करे, इससे हमारा कोई प्रयोजन नहीं। अपनी भावनाओं के शीशे में हमें कोई कैसा ही देखे। कई लोग हम से कहते हैं, महाराज जी ! आपकी कृपा विशेष से हमारा यह मनोरथ सिद्ध हो गया। मैं तो कह देता हूँ कि यह सब कुछ तुम्हारी अपनी ही श्रद्धामयी भावनाओं का तथा विश्वास का फल है क्योंकि भावना के सामने तो, 'पत्थर से प्रकटे यदुराई' फिर मैं तो आत्मा को अजर-अमर ईश्वरीय अँश मानने वाला हूँ। अतः मैं कुछ नहीं हूँ सब संसार अपनी-अपनी भावनाओं के शीशे में अच्छा या बुरा देखता हैं मानव को इस निन्दा-स्तुति पर हर्ष शोक नहीं होना चाहिए, यही सर्वोत्तम ज्ञान गीताज्ञान है।

भाग्य का दूसरा नाम विचार है। जैसा आप सोचते हैं, वैसे ही बन जाते हैं।

—**स्वामी रामतीर्थ**

' जिन्हें दोनों वक्त भूखे रहना पड़ता है उनसे मैं ईश्वर की चर्चा कैसे करूँ ? उनके सामने तो परमात्मा केवल दाल-रोटी ही के रूप में प्रकट हो सकते हैं।

—**महात्मा गांधी**

आत्म-तृप्ति कैसे हो !

ले०—ब्रह्मनिष्ठ परमहंस स्वामी जी श्री भोलेबाबा जी महाराज

❀

(१) शब्द

हजारों सुनी मैं कहानी सुबानी,
सुनी सैकड़ों ही कथायें पुरानी।
किसी की बुराई किसी की भलाई,
सुनी नित्य तो भी नहीं तृप्ति पाई॥

(२) स्पर्श

सदा मञ्च पे नर्म गद्दे बिछाये,
किया प्यार बच्चे गले से लगाये।
रहा धारता पुष्प माला सदाई,
नहीं स्पर्श से आज लों तृप्ति पाई॥

(३) रूप

अनेकों तमाशे लिए देख आंखों,
अनोखी अनोखी लखीं वस्तु लाखों।
लई सुन्दरी देख देवाङ्गना सी,
नहीं देखने की अभी चाह नाशी॥

(४) रस

अलोनी सलोनी खटाई मिठाई,
रसीली तथा चर्परी नित्य खाई।
नहीं स्वाद जिह्वा सके है बताई,
अभी लों नहीं जीभ खाते अघाई॥

(५) गन्ध

जुही मालती आदि सूँघा किया मैं,
मिला केवड़ा नीर पीता रहा मैं।
लगा वस्त्र में इत्र आनन्द लूटा,
नहीं सूँघने का अभी प्रेम छूटा॥

(६)

सुने से छुए से तथा देखने से,
नहीं तृप्ति हो चाखने सूँघने से।
नहीं भोग भोगे कभी तृप्ति पाई,
जिसे भोग लो दुःख दे नित्य सोई॥

(७)

सदा दुःख दें, तुच्छ हैं भोग पांचों,
रहें मारते भोग हैं रोग पांचों।
निजात्मा सुधा-सिन्धु संतृप्ति-कर्ता,
परा शान्ति दाता तिहूं ताप हर्ता॥

(८)

सभी का वही तत्त्व है, साथ ही है,
उसे दूर लेने न जाना कहीं है।
हटा बाह्य से वृत्ति अन्तर्मुखी हो,
वही होय संतृप्त सम्यक् सुखी हो॥

अखिल भारतीय संस्कृत--शिक्षक संघ की बैठक

भारत के समस्त ऋषिकुल--ब्रह्मचर्य--आश्रमों में सब से बड़े ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम-विद्यापीठ, (ऋषिकुल विश्वविद्यालय) हरिद्वार में श्री चन्द्रशेखर जी शास्त्री के संयोजकत्व में २४ अप्रैल सन् १९६६ को अखिल भारतीय संस्कृत-शिक्षक संघ की कार्यकारिणी समिति ने उत्तराखण्ड हिमालय के परम-तपस्वी, परम विद्वान, योगिराज, गीताव्यास,

पूज्य श्री स्वामी वेदव्यास जी महाराज श्री को 'जगद्गुरु',

की उपाधि से विभूषित करते हुए देश के प्रतिष्ठित संस्कृत भाषा के विद्वानों के समक्ष निम्न 'अभिनन्दन---पत्र' भेंट किया।

श्रीमतां पदवाक्य-प्रमाण पारावारीणानां, काणादीवैयासिकी शेषणावीगुम्फ-निष्णात-शेमुषीकाणां, प्रवैरप्यान्-धर्ममेद्य-समाधि-विमलवारि--धौतहार्द-कषायाणां, योगिराज, परमतपस्वि, गीताश्रम-संस्थापकानेक-गीता-सम्मेलन--

— संयोजकश्च —

जगदगुरु श्री वेदव्यास-महोदयानां, करकंजयोः समुपहियमाणम्

❀ अभिनन्दन-पत्रम् ❀

शान्तो, दान्तोऽथच महीरत्नमालैको हरिः ।
शास्त्र-व्राताभ्यसनविषणो लब्धबोधोऽतिधीरः ॥
मौनानीहानिलयमरसः साधुसेव्याङ्घ्रिपद्मः ।
वेदव्यासोऽखिलगुणखनिर्विश्वपूज्योविभाति ॥१॥

काणादीनां सुगहनगिरां, सारहृच्चारुभृङ्गः ।
गूढब्रह्मावसितमतीनाञ्च वैयासकीनाम् ॥
ब्रह्मास्वादाधिकतमरसास्वादसाहित्यवाचाम् ।
वेदव्यासो जयति सततं सर्वविद्यानिधानम् ॥२॥

वैदुष्यदाक्षिण्य – दयालुतादि—
सुरश्मि – जालोन्मणि – सद्गुणानाम् ॥
व्यासोविकासोनु – सुधर्म – लक्ष्म्याः ।
विज्ञान -- वारांनिधिः – पूर्णचन्द्रः ॥३॥

उदधिरयममीषां धर्मदीक्षामणीनाम् ।
अवनिरवन – शोभा – योगचर्याव्रतानाम् ॥
सकलविदित – वेदव्यास – पुण्याविधानो ।
जयतिसभुवि – वन्द्यः पूर्णलक्ष्मीनिधानम् ॥४॥

सततमसुलभानां मालिनी -- सज्जलानाम् ।
अघदलन -- विधानात्यन्ततो दीरितानाम् ॥
जयति जगति सैवोद्दीप्त पुण्यावली श्रीः ।
प्रथित -- पृथुल -- कीर्तिर्वेदव्यासस्तपस्वी ॥५॥

अन्तरर्ध्वान्तापनयन – पटुर्योनृणांबोधभानुः ।
स्वच्छच्छाया -- कलन -- विलसत्पक्षपक्षीमरालः ॥
मान्योधन्योऽपिमहितहितः क्लेशकाषीप्रकाशः ।
वेदव्यासो जयतिधरणी सौख्य - लक्ष्मीविलासः ॥६॥

विद्या ज्योत्स्ना धवलित तनुर्धाम--सौख्याभृतस्य ।
ध्यायज्ज्योतिः किमपिसततं सर्ववेद्यातिशायि ॥
शास्त्राम्भोधि -- प्रमथनसमुद्भूत -- पीयूषतृप्तः ।
संदिश्यानो सकल -- मनुजानां गुरुर्व्यासदेवः ॥७॥

समर्पकः—

अखिल भारतीय संस्कृत-शिक्षक संघः

प्रधानस्थानम्—मायापुरीधाम, हरिद्वारम्

प्रश्न—जीव का परम पुरुषार्थ क्या है ?
उत्तर—मुक्ति ही जीव का परम पुरुषार्थ है।

प्रश्न—भगवन मुक्ति का क्या स्वरूप है ?
उत्तर—समूल सर्व दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति ही मुक्ति है।

प्रश्न—दुःख कितने प्रकार के हैं ?
उत्तर—दुःख तीन प्रकार के हैं-१. आध्यात्मिक, २. आधिभौतिक, ३. आधिदैविक।

प्रश्न—परमानन्द-स्वरूप कौन है ?
उत्तर—परब्रह्म परमात्मा ही परमानन्द स्वरूप है।

प्रश्न—मुक्ति कितने प्रकार की होती है ?
उत्तर—सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति के भेद से मुक्ति दो प्रकार की होती है।

प्रश्न—सद्योमुक्ति कितने प्रकार की है ?
उत्तर—दो प्रकार की है, जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति।

प्रश्न—क्रममुक्ति का क्या स्वरूप है और वह कितने प्रकार की होती है ?
उत्तर—उत्तरायण मार्ग द्वारा परमात्मा के धाम विशेष में जाना ही क्रममुक्ति है। और वह १-सालोक्य, २-सामीप्य, ३-सारूप्य, ४-सायुज्य भेद से चार प्रकार की होती है।

प्रश्न—तत्वज्ञान कितने प्रकार का होता है ?
उत्तर—परोक्ष, अपरोक्ष भेद से तत्वज्ञान दो प्रकार का होता है।

प्रश्न—कर्म कितने प्रकार का होता है ?
उत्तर—विहित, निषिद्ध भेद से कर्म दो प्रकार का होता है।

प्रश्न—अन्तःकरण की शुद्धि का क्या उपाय है ?
उत्तर—निष्काम कर्मयोग।

प्रश्न—ईश्वर की प्रसन्नता का सुगम उपाय क्या है ?
उत्तर—भगवदनन्य भक्ति।

प्रश्न—भक्त कितने प्रकार के होते हैं ?
उत्तर—चार प्रकार के १-आर्त, २-जिज्ञासु, ३-अर्थार्थी ४-ज्ञानी।

प्रश्न—प्रभु भक्ति में मन क्यों नहीं लगता ?
उत्तर—अनन्य प्रेम की कमी के कारण, क्योंकि जिस वस्तु से अधिक प्रेम होता है वहां ही मन लगता है। यथा—पुत्र धनादि में।

प्रश्न—प्रभु चरणों में प्रेम कैसे हो ?
उत्तर—सत्संग द्वारा, हरिगुण श्रवण कीर्तनादि से।

प्रश्न—संसार में दुर्लभ वस्तुएँ कौन-सी हैं ?
उत्तर—संसार में मनुष्य-जन्म, सत्संग, सद्गुरु की प्राप्ति और ब्रह्म-विचार ये चार वस्तुएँ अत्यन्त दुर्लभ हैं।

प्रश्न—अपना शत्रु कौन है ?
उत्तर—दुराचारी मन।

प्रश्न—अपना परम मित्र कौन है ?
उत्तर—सदाचारी मन।

अमृतसर में श्री टीका वेदी के प्रयत्न से नगर के मध्य में चौरस्ती अटारी के डूंगा शिवालय में महाराज श्री (स्वामी वेदव्यास जी) ने रात के समय लगभग ४० दिन गीता-प्रवचन किये। इन प्रवचनों के प्रारम्भ में एक हजार से लेकर अन्त में नित्य पच्चीस हजार तक जनता ने भाग लिया। प्रवचनों के अन्तिम दिवस श्री सेठ दुनीचन्द जी (प्रेसीडेन्ट) महाराज श्री को माला पहनाते हुए तथा उनके बांई ओर श्री टीकावेदी (प्रवचनों के प्रबन्धक जी) प्रसन्न मुद्रा में खड़े हुए हैं। महाराजश्री के निकट उनके आश्रम के बालयोगी श्री शान्तिमित्र जी ब्रह्मचारी के नेतृत्व में आश्रम का ब्रह्मचारी मण्डल बैठा हुआ है।
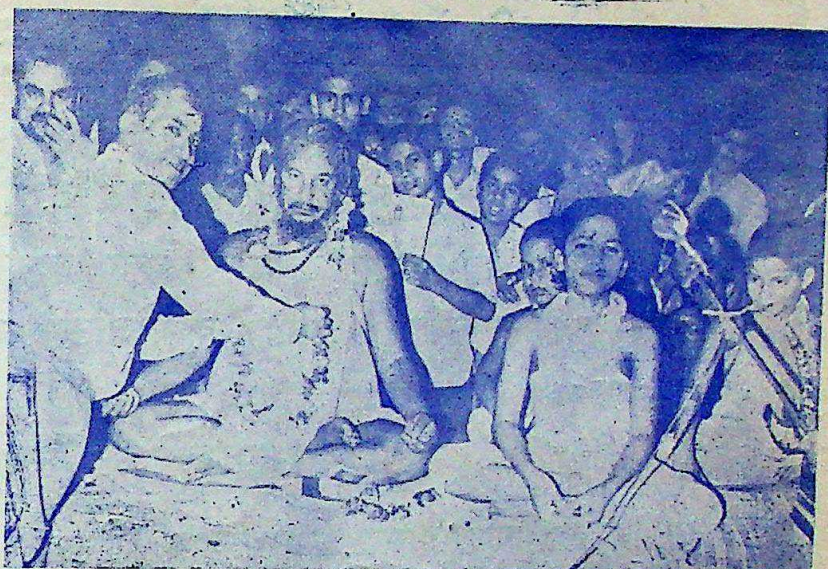
*
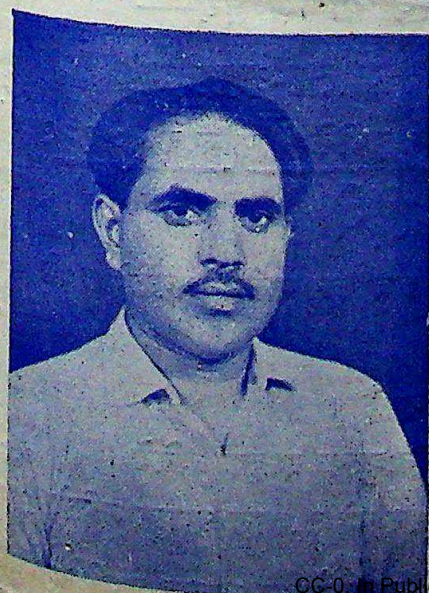
श्री नरेन्द्र सेठी, पुरानी हवेली चौक दरबार साहब, अमृतसर जिनके यहां साप्ताहिक वीरवार गीता-सत्संग की महाराज श्री ने स्थापना की थी। यह सत्संग लगातार नियमित रूप से अमृतसर में चल रहा है। श्री सेठी जी एक अत्यन्त उत्साही चरित्रशील, मृदुभाषी, शिष्ट, विनयी, ईश्वर भक्त, परम श्रद्धालु तथा महाराज श्री के अनन्य भक्तों में से हैं।

*

गीता सन्देश

6-9-66

सर्वोपनिषदो गावो, दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता, दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

वर्ष–१०
अङ्क–६

वार्षिक मूल्य
४) रु०

सभी उपनिषद् गौएँ हैं, स्वयं गोपाल कृष्ण दूध दुहने वाले ग्वाले हैं, अर्जुन गौ का बछड़ा है, तथा दुग्ध (उपनिषदों का सार) गीतारूपी अमृत है। अधिकारी बुद्धिमानजन इस अमृत का पान करें।

पता—'गीता-सन्देश' कार्यालय, गीता-आश्रम, पो०—स्वर्गाश्रम, ऋषिकेश। फोन : १२९

—: गीता-सन्देश के उद्देश्य तथा नियम :—

उद्देश्य—विशुद्ध-आध्यात्मिक, सांस्कृतिक लेखों द्वारा जनता को सत्पथ दिखाने का प्रयत्न करना, गीता-सन्देश का उद्देश्य है।

—: नियम :—

१. गीता-सन्देश का नवीन वर्ष एक जनवरी से प्रारम्भ होकर ३१ दिसम्बर को समाप्त होता है।
२. पत्र प्रतिमास पहली तारीख को प्रकाशित होता है।
३. ग्राहक एक वर्ष से कम के लिए नहीं बनाए जाते। वर्ष के बीच में ग्राहक बनने पर उस वर्ष के पिछले प्राप्तांक लेने पड़ते हैं। ग्राहक प्रायः अग्रिम मूल्य प्राप्त होने पर ही बनाए जाते हैं।
४. विशेषांक सहित वार्षिक मूल्य देश में ४-०० रुपये, विदेश के लिए ६-०० रुपये है।
५. अङ्क निश्चित मास के द्वितीय सप्ताह तक यदि ग्राहक की सेवा में न पहुंचे, तो कार्यालय को सूचना देनी चाहिए। अपने पोस्ट आफिस से इस सम्बन्ध में प्राप्त, लिखित उत्तर साथ भेजना होगा।
६. २५ पैसे के डाक-टिकट मिलने पर पत्र की एक प्रति नमूने के लिए भेजी जा सकती है।
७. कम से कम पत्र के चार सदस्य बनाने वाले महानुभावों को एक वर्ष तक पत्र निःशुल्क भेजा जाएगा।
८. समालोचनार्थ पुस्तक की दो प्रतियाँ सम्पादक के नाम भेजनी चाहिए।
९. आध्यात्मिक तथा नैतिक स्तर को उन्नत करने वाले लेख, कहानी एवं कविताएँ ही पत्र में स्थान पा सकेंगी।
१०. लेखों को घटाने बढ़ाने, छापने अथवा न छापने का पूर्ण अधिकार सम्पादक को है।
११. लेख में प्रकाशित मत के लिए लेखक ही उत्तरदायी होगा।

पत्र-व्यवहार एवं समालोचनार्थ ग्रन्थादि भेजने का एकमात्र पता—

— व्यवस्थापक —

गीता-सन्देश कार्यालय, पो० स्वर्गाश्रम, वाया हृषीकेश (उ०प्र०)

प्र० संरक्षक—सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, अनन्त श्री विभूषित, महाराज श्री स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज

— संस्थापक-संरक्षक-संचालक —

हिमालय के महान तपस्वी सन्त, योगिराज, गीताव्यास,

श्री १००८ स्वामी वेदव्यास जी महाराज सरस्वती

सहयोगी-संचालक—जगद्गुरु शंकराचार्य श्री स्वामी सत्यमित्रानन्दगिरि जी महाराज

—सर्वाध्यक्ष—

परम प्रतापी, प्रजावत्सल, दानवीर-शिरोमणि महाराजा श्री वीरभद्रसिंह जी महाराज, भावनगर।

गीता-सन्देश कार्यालय, पो० स्वर्गाश्रम, हृषीकेश (फोन नं० : १२६) के लिए गीता-मुद्रणालय स्वर्गाश्रम में श्री स्वामी वेदव्यास जी द्वारा मुद्रित, तथा प्रकाशित।

गीता - सन्देश चाहता है—

आप सभी के विचार

विश्व के चारित्रिक नव-जागरण के लिये तथा राष्ट्रीय-सदाचार के अभ्युत्थान के लिए, अपनी लौह लेखनी के लिखे प्रगतिशील आध्यात्मिक विचार गीता-सन्देश के द्वारा गेहे-गेहे जने-जने पहुँचावें ।

१--यदि आप वैदिक विद्वान हैं तो वेद, उपनिषद्, पुराण तथा संस्कृत साहित्य के लोकोत्तर चुने हुए वेद-मंत्र, सूक्तियां, कथायें एवं श्लोक व दृष्टान्तादि प्रकाशनार्थ आज ही भेजिए ।

२--यदि आप भारत के नेता या सन्त-महापुरुष हैं तो मानव-कल्याणकारी अपने आध्यात्मिक सदुपदेश, निजी जीवन के अनुभव तथा अपने गम्भीर विचार हमें भेजने की अवश्य अनुकम्पा करें ।

३--यदि आप कवि या साहित्यकार हैं तो अपनी चिन्तनपूर्ण, मौलिक सांस्कृतिक रचना, कविता, कहानी या गद्यकाव्य तथा लेखादि हमें शीघ्र भेजने का कष्ट करें ।

४—यदि आप भजनोपदेशक या कथाव्यास हैं, तो आप अपने भजन, कथायें, ऐतिहासिक चरित्र-चित्रण तथा समाज-सुधार सम्बन्धी विचार अभी छपने के लिए भेजिये ।

५—यदि आप नवीन लेखक या प्रगतिशील साहित्यकार हैं, तो आप भी संकोच न करें, अपने लोक-हितकर राष्ट्रीय किन्तु सर्व-कल्याणकारी विचार तत्काल भेज दें ।

कृपया अपने विचार आज ही **स्पष्ट और सरल भाषा** में इस लोक-प्रिय, सस्ते, तथा सर्वत्र—व्याप्त आध्यात्मिक-पत्र **गीता-सन्देश** में अवश्य भेजिए ।

इस अंक में पढ़िए

सम्पादक-मण्डल

गीता सुगीता कर्तव्या, किमन्यैः शास्त्र-विस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य, मुखपद्माद्विनिःसृता ॥ —भगवान 'व्यास'

वर्ष : १० } गीता-आश्रम, स्वर्गाश्रम, भाद्रपद सं० २०२३–सितम्बर, १९६६ ई० { अंक : ९

गाय कहूँ या तुझको माय ?

अयि आबाल-वृद्ध हम सब की जीवनभर की धाय !
तेरा मूत्र और गोबर भी पावें, सो तर जाय ।
घर ही नहीं खेत की भी तू सबकी एक सहाय ।
न्योछावर है उस पशुता पर यह नरता निरुपाय,
आ, हम दोनों आज पुकारें—कहां कन्हैया ? हाय !

(राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण जी गुप्त)

❋ वेदों के अनमोल-रत्न ❋

ओ३म् प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ अ० १९-६२-१ ॥

हे प्रभो ! मुझे देवों और विद्वानों में प्रिय बनाओ। राजाओं में प्रिय बनाओ। सब देखने वालों का मुझे प्रिय बनाओ। शूद्रों और वैश्यों में भी मुझे प्रिय बनाओ।

ओ३म् अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवति संमनाः
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥ अ० ३-३०-२ ॥

पुत्र पिता के व्रत का पालन करने वाला हो, तथा माता का आज्ञाकारी हो। पत्नी पति से शान्तियुक्त मधुरवाणी बोलने वाली हो।

ओ३म् इडा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः।
बर्हिः सीदन्त्वस्त्रिधः ॥ अ० १-१३-९ ॥

मातृभाषा, मातृसभ्यता, और मातृभूमि तीनों सुखकारिणी स्थिररूप देवियां हमारे हृदयासन पर विराजतीं रहें।

सिंहा इव नानदति प्रचेतसः।
पूर्णज्ञानी शेर की तरह गरजते हैं।

पावका नः सरस्वती।
ब्रह्मविद्या हमें पवित्र करे।

अयं मे हस्तो भगवान्।
यह मेरा हाथ ऐश्वर्य पैदा करता है।

भद्रं भद्रं क्रतुमस्मासु धेहि।
हम से अच्छे अच्छे कार्य कराओ।

मा नो द्विक्षत कश्चन्।
हम से कोई द्वेष न करे।

❋ सन्त-वाणी ❋

किसी देश की शक्ति छोटे विचारों के बड़े आदमियों से नहीं किन्तु बड़े विचारों के छोटे आदमियों से बढ़ती है ।

भय से और दण्ड से पाप कभी बन्द नहीं होते ।

शब्दों की अपेक्षा कर्म अधिक जोर से बोलते हैं ।

जीवित कौन है ? जो सत्य के लिए हर वक्त मरने को तैयार हो ।

सांसारिक बुद्धिमत्ता केवल अज्ञान का बहाना है ।

नियमों का निर्माण मनुष्य के लिए हुआ है, मनुष्य का निर्माण नियमों के लिए नहीं ।

यदि तुमने आसक्ति का राक्षस नष्ट कर दिया, तो इच्छुक वस्तुएँ तुम्हारी पूजा करने लगेंगी ।

—स्वामी रामतीर्थ

❋ ❋ ❋

अन्धानुकरण से आत्मविकास के बजाय आत्मसंकोच होता है ।

कर्मशाप अपने-आप नहीं कट जाता, काटोगे तब कटेगा ।

तन का जोगी और है मन का जोगी और है ।

दूसरे ने हमारा बुरा किया और हमको बुरा लगा, तो दोनों एक ही दर्जे के हैं ।

पुरुषार्थी वह है जो भाग्य की रेखाएं मिटा दे ।

—सन्त अरविन्द

❋ ❋ ❋

अन्याय सहने से अन्याय करना अच्छा है, कोई भी इस सिद्धांत को स्वीकार नहीं करेगा ।

—अरस्तु

❋ श्रीमद्-भगवद्-गीता पाठ ❋

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव, किमकुर्वत सञ्जय ॥१॥

धृतराष्ट्र सञ्जय से पूछता है, हे सञ्जय ! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा वाले इकट्ठे हुए मेरे और पाण्डुपुत्रों ने क्या किया ? ॥१॥

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

सञ्जय ने कहा, कि उस समय राजा दुर्योधन ने व्यूहरचनाकार में खड़ी पाण्डवों की सेना को देख कर अपने गुरु द्रोणाचार्य के पास जाकर यह बचन कहा ॥२॥

पश्यैतां पण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

हे आचार्य ! आप अपने बुद्धिमान शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार में खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रों की इस बड़ी भारी सेना को देखिए ॥३॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च' द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

इस सेना में बड़े २ धनुषों वाले भीम और अर्जुन के समान वीरयोधा सात्यकि और विराट तथा महारथी राजा द्रुपद हैं । ॥४॥

धृष्केतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित कुन्तीभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥

धृष्केतु और चेकितान तथा बलबान काशिराज, पुरुजित, कुन्तीभोज और मानवश्रेष्ट शैब्य आदि राजा हैं ॥५॥

(क्रमशः आगामी अंक में)

गीता-माहात्म्य
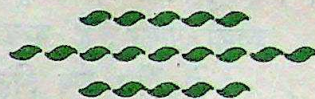
मलनिर्मोचनं पुंसां गंगा-स्नानं दिने दिने ।
सकृद् गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ॥

गंगा में प्रतिदिन स्नान करने से मनुष्यों का मैल दूर होता है, परन्तु गीतारूपिणी गंगा के जल में एक बार ही स्नान करने से मनुष्य का सम्पूर्ण पापों का मल नष्ट हो जाता है ।

सर्ववेदमयी गीता, सर्वधर्ममयो मनुः ।
सर्वतीर्थमयी गंगा, सर्वदेवमयो हरिः ॥

गीता सम्पूर्ण वेदों का रूप है, मनुस्मृति सब धर्मों का रूप है, भागीरथी गंगा सभी तीर्थों का रूप है, और भगवान विष्णु सब देवताओं का रूप हैं ।

पादस्याप्यर्धपादं वा श्लोकं श्लोकार्धमेव वा ।
नित्यं धारयते यस्तु, स मोक्षमधिगच्छति ॥

जो मनुष्य गीता का एक श्लोक, आधा श्लोक, एक ही चरण अथवा आधा चरण भी प्रतिदिन जीवन में धारण करता है, वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।

गीतायाः पठनं कृत्वा, माहात्म्यं नैव यः पठेत् ।
वृथा पाठफलं तस्य, श्रम एव ह्युदाहृतः ॥

जो व्यक्ति गीता का पाठ पढ़ते हुए भी माहात्म्य का पाठ नहीं करता, उसके गीता-पाठ का फल व्यर्थ तथा व्यर्थ का परिश्रममात्र ही है ।

शतपुस्तकदानं च गीतायाः प्रकरोति यः ।
स याति ब्रह्मसदनं, पुनरावृत्ति दुर्लभम् ॥

जो गीता की सौं पुस्तकों का विधिवत दान करता है, वह मनुष्य सीधा ब्रह्मधाम को प्राप्त करता है, लौटकर उसे संसारचक्र में नहीं फंसना पड़ता ।

गोपाल की गौवें

सुन्दर वैभव हैं और भूति है प्यारी।
सुर-वन्द्य सुरभिकी ये प्रसूति हैं प्यारी॥
इनको पाकर है धन्य विश्व वह सारा।
ये विश्व रूप विभु की विभूति हैं प्यारी॥

गौत्रों की महिमा कौन भला बतलाये?
जिनके गुण-गौरव वेदों ने भी गाये॥
जिनकी सेवा के हेतु अरे! इस जग में—
भगवान् स्वयं मानव बन कर थे आये॥

वैभव से भरतीं जग का कोना-कोना।
होना सम्भव करती हैं ये अनहोना॥
इनका गोबर-गोमूत्र प्राप्त कर पावन—
पैदा करती यह धरा धूल से सोना॥

सस्यों का सुन्दर दृश्य इन्हीं के कर में।
यज्ञों का पूत हविष्य इन्हीं के कर में॥
ये करती रहतीं सुधा-दान वसुधा को।
भूतल का भूत-भविष्य इन्हीं के कर में॥

ये पंच-गव्य से पाप शमन करती हैं।
ये पञ्चामृत से ताप शमन करती हैं॥
ये रोम-रोम से कर उपकार निरन्तर।
जीवन का सब अभिशाप शमन करती हैं॥

तुम गिरधारी नंदलाल! कहां हो आओ।
तुम क्रूर कंस के काल! कहां हो आओ॥
ओ द्रुपद सुता की लाज बचाने वाले!
तुम गौत्रों के गोपाल! कहां हो आओ॥

ये दूध दही से घी से लालन करतीं।
ये अन्नदान दे सबका पालन करतीं॥
तन-मन से कर सहयोग सर्वथा सब दिन—
जग-जीवन के रथ का संचालन करतीं॥

—रचयिता—
श्री रामनारायणदत्त जी

गौरक्षा का प्रश्न

योगिराज, गीताव्यास, श्री १००८ श्री स्वामी वेदव्यास जी महाराज

❋

आज भारत में देश के धार्मिक नेता साधु-सन्त-महात्मा गोहत्या-निरोधक कानून बनवाने के लिए अपनी जनतन्त्रात्मक भारत सरकार से सानुरोध निवेदन कर रहे हैं। विनम्र शान्तिपूर्ण आन्दोलन द्वारा ये महापुरुष धर्म-प्रधान भारत के राज-गुरू होने पर भी आज गोमाता के पीछे जेल के बन्दी बनाये जा रहे हैं।

इसका यह अभिप्राय नहीं, कि हमारी सरकार गोहत्या बन्द करना नहीं चाहती, प्रश्न केवल इतना-सा खड़ा हो गया है कि आज के इस वैज्ञानिक-युग में प्रत्येक प्रश्न का मूल्यांकन वैज्ञानिक एवं आर्थिक दृष्टिकोण से आंका जाने लगा है। इसमें केवल प्राचीन इतिहास की धर्म भावना को लेकर श्रद्धा विश्वास के नाम पर किसी बस्तु को महत्व नहीं दिया जाता। आज का भारतीय प्रजातन्त्र भारतीयता एवं संस्कृति जैसे मौलिक प्रश्नों पर भी बड़ी कठिनता से विचार कर पाता है। और हृदय से कुछ चाहते हुए भी क्रियात्मक रूप देने में हिचकिचाहट करने लगता है।

परन्तु हमारे सामने जहां तक भारत की गो-माता की सुरक्षा का प्रश्न है, उसमें निष्पक्ष यों कह देना न्यायसंगत ही होगा, कि—

यतो गावस्ततो वयम्—

जहां गौवें हैं, वहीं हम हैं। यदि गाय है तो हम भी जीवित हैं, दूसरे शब्दों में गोहत्या को राष्ट्रहत्या कहा जा सकता है, भारत के वेद ने गो-गौरव के लिए कितना ऊँचा कहा है—

ब्रह्मसूर्यसमं ज्योतिर्द्यौः समुद्रसमं सरः।
इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यते।

(यजुर्वेद २३-४८)

'जिस ब्रह्मविद्या द्वारा मनुष्य परमसुख को प्राप्त करता है, उसकी सूर्य से उपमा दी जा सकती है। उसी प्रकार द्युलोक की समुद्र से तथा विस्तीर्ण पृथ्वी की इन्द्र से उपमा दी जा सकती है, किन्तु प्राणीमात्र के अनन्त उपकारों को अकेली सम्पन्न करने वाली गौ की किसी से उपमा नहीं दी जा सकती। गौ निरुपमा है।'

संसार में गो निरुपमा है। केवल इतना ही नहीं, वास्तव में इस पृथ्वी माता को धारण करने वाली यह भारत की कामधेनु गोमाता है जैसे कि—

गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च, सतीभिः, सत्यवादिभिः।
अलुब्धैर्दानशीलैश्च सप्तभिर्धार्यते मही॥

गौ, ब्राह्मण, वेद, पतिव्रता स्त्री, सत्यवक्ता, निर्लोभी पुरुष, तथा दानशील धनिक इन सातों ने ही पृथ्वी को धारण किया हुआ है।

गो माता के इसी भारी महत्व को देखते हुए

महर्षि वसिष्ठ ने इक्ष्वाकुवंशज राजा सौदास को क्या उपदेश दिया, कि—

गा वै पश्याम्यहं नित्यं, गावः पश्यन्तु मां सदा।
गावोऽस्माकं वयं तासां, यतो गावस्ततो वयम्।

मैं सदा गौओं का दर्शन करूं, और गौएं मुझ पर कृपादृष्टि करें। गौएं मेरी हैं, और मैं गौओं का हूँ। जहां गौएं रहें, वहां मैं रहूँ।

ऐसे वाक्यरत्न गो माता के सम्बन्ध में ऋतम्भरा प्रज्ञा के महर्षियों ने दिव्य-ज्ञान द्वारा पूर्ण निरीक्षण करने के बाद ही लिखे हैं, यह परीक्षणों के अमिट-बाक्य आज के कोरे आर्थिक दृष्टिकोण वाले बीसवीं सदी के वैज्ञानिक साधारण भौतिकयन्त्रों के आधार पर परीक्षण करते हुए असत्य व निर्मूल नहीं कह सकते। यदि आर्थिक दृष्टिकोण पर आइये तो—गो माता के दूध, दही, घृत का मूल्य आयुर्वेद ने सबसे ऊँचा कहा है, जिसे संसार का कोई भी विद्वान मानने से इन्कार नहीं कर सकता।

'गोदधि' के विषय में—

स्निग्धं विपाके मधुरं दीपनं बलवर्द्धनम्।
वातापहं पवित्रञ्च दधिगव्यं रुचिप्रदम्॥
(सुश्रुत संहिता)

'गोदूध की दही, पाक होने पर मधुर, स्निग्ध, जठराग्नि को तीव्र करने वाली, बलवर्द्धक तथा वातनाशक हैं। गाय की दही पवित्र और रुचिकर है।'

गौ 'दुग्ध' के विषय में—

वृष्यं बृंहणमग्निदीपनकरं पूर्वान्हिकाले पयो,
मध्यान्हे तु बलावहं कफहरं पित्तापहं दीपनम्।
बाले वृद्धिकरं क्षयेऽक्षयकरं वृद्धेषु रेतोवहं,
रात्रौ पथ्यमनेकदोषशमनं क्षीरं सदा सेव्यते॥
(भावप्रकाश)

'गोदूध दोपहर से पहले वीर्य-वर्द्धक तथा अग्नि-दीपक है, दोपहर को बलकारक, कफ का नाशक, पित्त को हरने वाला और मन्दाग्नि को नष्ट करने वाला है। बचपन में सम्वर्द्धक और बुढ़ापे में क्षयरोग का नाशक तथा वीर्यवर्द्धक है। रात में सेवन करने से बहुत से रोगों को दूर करता है। गोदूध सदा ही सेवनीय है।'

गौ-घृत

विपाके मधुरं शीतं वातपित्त-विषापहम्।
चाक्षुष्यमग्र्यं बल्यञ्च गव्यं सर्पिगुणोत्तमम्॥

'गोघृत गुणों में सर्वश्रेष्ठ है, चूंकि यह शीतल और वातपित्तहर एवं विषनाशक है, नेत्रों की ज्योति को तथा शारीरिक शक्ति को बढ़ाने वाला है।'

महर्षियों ने इसके लिए तो बिलकुल स्पष्ट कह दिया कि—

'आयुर्वै घृतम्।'

भारत के धर्म-ग्रन्थों में जो गो-गौरव के गीत गाए गए हैं भारत की गंगा माता, पृथ्वी माता और गो माता तीनों में गो को पशु योनि होते हुए भी सर्वश्रेष्ठ माता का सम्मानपूर्ण पद प्रदान करते हुए गो महिमा पर यहां तक लिखा है कि—

गावस्तुष्टाः प्रयच्छन्ति वरानपि सुदुर्लभान्।
गावो लक्ष्म्याः सदा मूलं गोषु दत्तं न नश्यति।

'प्रसन्न हुई गौएं दुर्लभ से दुर्लभ वरदानों को देने वाली होती हैं। गौएं हमेशा लक्ष्मी का मूल स्थान हैं, अतः गौओं को दिया हुआ कभी व्यर्थ नहीं होता।'

सर्वदेवमये देवि, सर्वदेवैरलंकृते।
मातर्ममाभिलषितं सफलं कुरु नन्दिनि॥

'हे देवि! तुम सर्वदेवमयी हो, समस्त देवताओं द्वारा पूजित एवं अलंकृत हो। हे नन्दिनी माता! मेरी अभिलाषा को पूर्ण करो।'

भारत में गो के गौरव का कारण पहले उसका पूर्ण-रूपेण वैज्ञानिक आधारों पर क्रियात्मक रूप में

सफल परीक्षण रहा है; वह भी जीवन भर गहरे मनन और चिन्तन के पश्चात् कुछ कहा गया है। गोमाता के अंग-अंग में ही नहीं, रोम-रोम में देवताओं का निवास है, उसके तो गोबर और गोमूत्र में भारत की लक्ष्मी और सुदृढ़ बलपूर्ण स्वास्थ्य निवास करता है। यह कोरे धर्म-ग्रन्थों का घोष नहीं, अपितु मानव के अंग-प्रत्यंग के विशेषज्ञ भारत के आयुर्वेद के निर्माणकर्ता महर्षियों और आधुनिक वैज्ञानिकों की भी घोषणा है। देखिए—

गोमूत्र में भारत का स्वास्थ्य

गव्यं सुमधुरं किञ्चिद् दोषघ्नं कृमिकुष्ठमुत् ।
कण्डूघ्नं शमयेत् पीतं सम्यग्दोषोदरे हितम् ॥
(चरक संहिता)

'गो माता के मूत्र से कृमिरोग, कोढ़रोग, खुजली तथा प्लीहारोग दूर हो जाते हैं।'

गौमाता के 'गोबर' में भारत की लक्ष्मी का निवास

लक्ष्मीश्च गोमये नित्यं पवित्रा सर्वमङ्गला ।
गोमयालेपनं तस्मात् कर्तव्यं पाण्डुनन्दन ॥
(स्कन्द० अ० रे० ८३-१०८)

'गौ के गोबर में परम पवित्र सर्वमङ्गलमयी श्री लक्ष्मी जी नित्यनिवास करती हैं, इसलिए हे पाण्डुनन्दन सदा गोबर का लेपन करना चाहिए।'

भारत के विशेषज्ञ सन्त महर्षियों ने तभी तो अपने देश की सुख-समृद्धि एवं नीरोगी स्वास्थ्य के लिए प्रत्येक प्राणी को पञ्चगव्य और पञ्चामृत का सेवन अनिवार्य रक्खा था।

वेद ने गो माता का गौरवगान आर्थिकदृष्टि से करते हुए कहा है कि—

यज्ञपदीराक्षीरा स्वधाप्राणा महीलुका ।
वश्या पर्जन्यपत्नी देवान् अप्येति ब्रह्मणा ॥
(अथर्ववेद १०-१०-६)

गौ 'यज्ञपदी' अर्थात् गो यज्ञशाला जैसे पवित्र स्थान में रखने योग्य है। गौ 'इराक्षीरा' अर्थात् दुग्धामृत का सात्विक भोजन देने वाली है। गौ स्वधाप्राणा अर्थात् प्राणीमात्र को अपना अस्तित्व धारण किए रहने के लिए यथेष्ट सहायता देने वाली है। गौ 'महीलुका', अर्थात् पृथ्वी को उर्वरा बनाए रखने वाली है। गौ 'पर्जन्यपत्नी' अर्थात् बादलों की सहायता से उत्पन्न होने वाले तृणादि को खाकर हृष्ट-पुष्ट रहने वाली है। उक्त सब गुणों द्वारा गौ जनता का अपार उपकार कर, उन उपकारों के पुण्यबल से अपनी पशुयोनि द्वारा भी हमें देवलोक का अधिकारी बनाती है।

गौ माता स्वयं घास-फूस खाकर अपने दुग्धामृत से मानव मात्र को अमर देवप्रकृति का बलवान वीरयोद्धा राम और कृष्ण बनाने वाली ही नहीं है, अपितु अपने गोबर के खाद और अपने बछड़े बैल से देश में अन्न, धन का अतुल भंडार भरने वाली सच्ची माता है। महाभारत में इसी आर्थिक दृष्टिकोण से गोमहिमा पर लिखा गया—

धारयन्ति प्रजाश्चैव पयसा हविषा तथा ।
एतासां तनयाश्चापि कृषियोगमुपासते ॥
जनयन्ति च धान्यानि बीजानि विविधानि च ।
ततो यज्ञाः प्रवर्तन्ते हव्यं कव्यं च सर्वशः ॥
(महा० अनु० ८३।१८-१९)

गौएँ अपने दूध और घी से जनता का भरण-पोषण करती हैं तथा उनके बच्चे कृषकवर्ग की विशेष-रूप से सहायता करते हैं। उनकी सहायता से नाना प्रकार के सात्विक भोज्यान्न उत्पन्न किये जाते हैं। इन्हीं गौ-माता की सहायता से जनता के देव तथा पितृकर्म सम्पन्न होते हैं।

गो माता का अपार महत्व देखते हुए ही शास्त्रकारों ने कहा कि गौ कोई पशु नहीं है, जैसा कि—

'तिलं न धान्यं पशवो न गावः ।'

'तिल कोई धान्य नहीं, और गौ-माता कोई पशु नहीं है।'

इतना ही नहीं, हमारा शरीर पाञ्चभौतिक है, इस शरीर के लिए पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश इन पांच महाभूतों की शुद्धि अनिवार्य है। संसार का कोई भी तत्ववेत्ता विद्वान इस मत से इन्कार नहीं कर सकता। इन पंचभूतों की शुद्धि के लिए भारतीय यज्ञ-विधान की रचना की गई। जिसे मानवमात्र सरल ढङ्ग से निर्धन होने पर भी कर सकता है। भारत में यह यज्ञ कर्म-नित्य-कर्म है।

गीता में भी लिखा है कि—

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्न संभवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद् भवः॥

आप ही स्वयं विचार करें कि अन्न के आधार पर जीवित रहने वाला प्राणी अन्न ही चाहेगा। अन्न पैदा करने वाला भारत का किसान वर्षा चाहेगा। वर्षा के बादल भारतीय विज्ञान के आधार पर यज्ञों पर आश्रित हैं और यज्ञकर्म में प्रमुख भाग गोमाता के घृत का है। तभी तो भारत के धर्म-ग्रन्थों ने एक स्वर से कहा कि—

'गावः स्वत्ययनं महत्।'

गौ, मंगल का परम निधान है।

अस्तु भारत के जीवन में पग-पग पर गोमाता का महत्व है। जन्म की तो बात क्या? मृत्यु के समय भी गोदान के महत्व को भारत से कौन हटा सकता है? गो-धूली, पञ्चगव्य तथा पञ्चामृत सभी गौ के साथ जुड़े हुए हैं।

तभी तो नन्दिनी गौमाता के पावन दुग्धामृत के बल पर वसिष्ठ जी के ब्रह्मतेज के सामने महाराज विश्वामित्र को कहना पड़ा कि—

'धिग्बलं क्षात्रबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्।'

'क्षत्रिय बल, बल नहीं, ब्रह्मतेज ही वास्तव में बल है।'

वसिष्ठ जी की गौ की रक्षा के लिये महाराज दिलीप को अपने प्राणों तक की बाजी लगानी पड़ी। इक्ष्वाकुवंश के राजा रघु व दिलीप का गो-रक्षा के इतिहास में बड़ा गौरव है। भगवान राम के यहां असंख्य गौओं का पालन-पोषण होता था द्वापर के भगवान कृष्ण तो थे ही पहले, गोपाल कृष्ण और सब कुछ बाद में। समर्थ गुरु रामदास जी की आज्ञा से शिवाजी का जीवन ही गो-सेवा के लिए रहा। आज के हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी और सन्त बिनोवा भावे भी गो माता के महत्व को समझते हैं वर्तमान राष्ट्रीय सरकार कांग्रेस की है और कांग्रेस का चुनाव-चिह्न गोमाता का पुत्र ही तो है, माता नहीं, तो पुत्र कहां से आयेगा?

अस्तु गो धन की सुरक्षा का आज एक ऐसा महत्व-पूर्ण प्रश्न है कि भले ही वेदों के अर्थ पर मतभेद हो; राम और कृष्ण की मान्यताओं और पूजा-पद्धति पर मतभेद हो; गंगा, गायत्री, गीता, रामायण की मान्यता पर भी मतभेद हो; किन्तु गोमाता की सुरक्षा के सम्बन्ध में हिन्दु धर्म के किसी भी मत के पुजारी श्रद्धालुवर्ग में मतभेद नहीं है। विधर्मी मुसलमान और ईसाई तक भी गौ के लिए श्रद्धा-भाव लिए गौ-हत्या का विरोध करते देखे जा रहे हैं। इतनी महत्वपूर्ण गोमाता, जो कि भारत की साक्षात् लक्ष्मी है, आज के कुछ भौतिकयन्त्र और आँकड़ों पर केवल आर्थिक-दृष्टिकोण से उसे निरर्थक बतलाना और गौ-हत्या को बनाए रखना धर्मप्रधान भारतराष्ट्र में कभी सह्य नहीं होगा। क्या हम अपने परिवार के सम्मानित सदस्यों को बूढ़ा रोगी और अशक्त हो जाने पर आर्थिकदृष्टि के विचार से उनकी हत्या का कुविचार कभी सामने ला सकते हैं? जब कि गौमाता वृद्धा तथा असहाय होने पर भी अपने गोबर और गोमूत्र का पूर्णलाभ राष्ट्र को देती रहती है।

भारत में नगर-नगर में गोशालाएँ व गो-सदन स्थापित हैं। वह आधुनिक परिस्थितियों वश किसी भी दशा में गो-सेवा का कार्य कर रहे

(शेषांश पृष्ठ १६ कालम १ पर देखें)
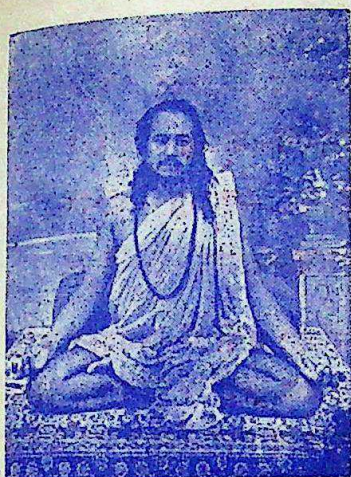
गीता में—
कृष्ण-जन्म-अष्टमी

योगिराज, गीताव्यास, श्री १००८ श्री स्वामी
वेदव्यास जी महाराज

❋

'कृष्ण-जन्माष्टमी' में तीन शब्द हैं—कृष्ण+जन्म+अष्टमी।

'कृष्ण-जन्माष्टमी' इस शब्द के कई अर्थ हैं—

१—पहला अर्थ है—'कृष्ण के जन्म की अष्टमी' अर्थात् ऐसी अष्टमी जिसमें कृष्ण का जन्म हुआ।

२—दूसरा अर्थ है—कृष्ण ही हैं सबके जन्मों की अष्टमी करने वाले अर्थात् जन्म-मरण छुड़ाने वाले।

३—कृष्ण का अर्थ है काला अर्थात् बुरा। बुरा जन्म या बुरे जन्मों की अष्टमी (समाप्ति)।

४—अष्टमी अर्थात् आठवीं वस्तु। गीता में सातवें अध्याय के चौथे मंत्र में लिखा है कि—

भूमिरापोऽनलो वायुः, खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे, भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

—गीता ७-४

इस मंत्र में भगवान ने प्रकृति के आठ रूप (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार) बताए। इसमें प्रकृति के आठवें रूप का नाम 'अहंकार' है। इस अहंकार के नष्ट होने से 'कृष्ण' जन्म, जो काला जन्म है उसका नाश हो जाता है। अर्थात् जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है।

५—कृष्ण-जन्माष्टमी का पांचवां एक और भी अर्थ है—कृष्ण का आठवां जन्म अर्थात् अवतार।

उपरोक्त समस्त अर्थों में हम इस लेख में अर्थ नम्बर दो अर्थात् 'कृष्ण' ही हैं समस्त जन्मों का अन्त करने वाले, इस अर्थ पर ही विचार करेंगे। ठीक भी है। 'कृष्ण' शब्द गीता में ११ बार और 'जन्म' शब्द १८ बार आया है। गीता में ११ और १८ की बड़ी प्रसिद्ध संख्याएं हैं। संख्या ११ के सम्बन्ध में देखिए-भगवानने अपना दर्शन किसी और अध्याय में नहीं दिया। दूसरे में नहीं—छठे में नहीं—१२वें में नहीं, १८वें में नहीं, और १५वें में भी नहीं। ये बड़े प्रसिद्ध अध्याय थे किन्तु दर्शन की बात इनमें नहीं आई। दर्शन दिया तो ११वें में ही। इसी प्रकार भगवान ने गीता में अपना प्रथम ज्ञानोपदेश, जो दूसरे अध्याय में प्रारम्भ किया वह भी ११ नम्बर के मंत्र से ही प्रारम्भ किया और अन्त वाला सबसे ऊंचा उपदेश —

सर्वधर्मान्परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो, मोक्षयिश्यामि मा शुचः।

—गीता १८-६६

अठारहवें अध्याय का यह ६६ नम्बर का मंत्र है।

अर्थात् ११-११ को ६ बार रखो (६६) ११ के ही समापवर्त्य में किया। गीता में मन को मिला कर इन्द्रियां भी ११ ही बताई गई हैं और ग्यारहवें अध्याय में जब भगवान ने दर्शन दिया तो अर्जुन बड़ा भयभीत हो गया। वह घुटनों के बल हाथ जोड़कर बैठ गया, आंखें मीच लीं और गिड़गिड़ा-कर प्रार्थना के मंत्र बोलने लग पड़ा, तो ११ मंत्रों

में ही उसने (११-३६ से ११-४६) तक की प्रार्थना की। यही नहीं भगवान कृष्ण, भगवान विष्णु के अवतार कहे जाते हैं। भगवान विष्णु का सबसे प्रिय दिन एकादशी है। सभी लोग भगवान विष्णु की प्रसन्नता हेतु एकादशी का व्रत रखते हैं। इसीलिए गीता में भी भगवान कृष्ण का नाम ११ बार ही आना चाहिए था।

अब लीजिये 'जन्म' शब्द १८ बार ही क्यों आया? हिन्दुओं की 'स्मृतियां' (धर्मशास्त्र) १८ हैं, इतिहास ग्रंथ 'पुराण' भी १८ हैं। उप-पुराण भी १८ हैं। महाभारत ग्रंथ के अध्याय (पर्व) १८ हैं। कुरुक्षेत्र में सेनाओं की संख्या भी १८ अक्षौहणी थी। गीता में भी अध्याय १८ ही हैं तथा १३ वें अध्याय में ज्ञान-प्राप्ति के साधन भी १८ हैं। इसलिए 'जन्म' शब्द को भी १८ वार ही लाया गया। अर्थात् भगवान कृष्ण हमारे गीता के एक-एक अध्याय से एक-एक जन्म को काट दें तो और १८ अध्यायों से हमारे १८ जन्म कट जावें और जन्म-मरण से जीवमुक्त हो जावे। तथा अष्टधा प्रकृति से छुटकारा मिले। इसी का नाम 'कृष्ण-जन्म-अष्टमी' है।

गीता में कृष्ण यह पवित्र नामोच्चारण अर्जुन के मुख से ८ बार कराया गया, ३ बार पहले अध्याय में, ३ बार छठे अध्याय में, १ बार ११ वें अध्याय में और १ बार ५ वें अध्याय में।

यह आठ बार ही अर्जुन के मुख से कृष्ण नाम उच्चारण क्यों हुआ? इसीलिए न कि अष्टधा प्रकृति को समाप्त करना था और प्रकृति की अन्तिम अष्टमी, विनाशकारी, जन्म-मरण देने वाली, बाधा जिसका कि नाम है 'अहंकार', उसको समाप्त करके आदर्श कृष्ण-जन्माष्टमी मनानी थी। अर्जुन ने गीता में जो ८ बार कृष्णनाम उच्चारण किया है वह प्रायः मंत्रों के प्रथम पदों में ही कृष्ण नाम आया है यथा देखिए—

दृष्ट्वेवं स्वजनं—कृष्ण	१-२८
न कांक्षे विजयं—कृष्ण	१-३२
अधर्माभिभवात्—कृष्ण	१-४१
संन्यासं कर्मणां—कृष्ण	५-१
चचलं हि मनः—कृष्ण	६-३४
एतन्मे संशयं—कृष्ण	६-३९

आठ में से इन छः मंत्रों में भगवान कृष्ण का नाम मंत्र के प्रारम्भिक पदों में ही लिया गया है। यह पवित्र कृष्ण नाम ६ बार लेकर अर्जुन के हृदय में कृष्णनाम के प्रति अनन्य श्रद्धा प्रगट होती है। गीता में शेष तीन बार कृष्ण का नाम संजय के द्वारा उच्चरित हुआ है यथा—

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य,
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं,
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥
—गीता ११-३५

व्यास प्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्।
—गीता १८-७५

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥
गीता १८-७८

ये तीनों मंत्र भी ११ वें और १८ वें अध्याय के हैं—और सबमें संजय के मुख से भगवान कृष्ण का नाम उच्चारण किया गया है। गीता के अन्तिम मंत्र में भी कृष्ण का नाम आया है, जो कि आना ही चाहिए था क्योंकि जहां कृष्ण हैं, वहीं 'श्री, विजय' और विभूतियां रहती हैं, और कृष्णनाम जन्म-मरण से छुड़ाने वाला भी है। इस प्रकार गीता में ८ बार अर्जुन ने और ३ बार संजय ने 'कृष्णनाम' लेकर

प्रभु के दोनों हो भक्तों नें भगवान का दर्शन किया और परमधाम प्राप्त किया।

अब आइए 'कृष्ण-जन्म-अष्टमी' के 'जन्म' शब्द पर—'जन्म' शब्द गीता में, अठारह बार आया है। गीता में तीन मंत्र ऐसे हैं जिनमें एक-एक मंत्र में दो-दो बार 'जन्म' शब्द का उच्चारण किया गया। ये दो-दो बार जन्म शब्द रखने से ग्रंथकार का यह तात्पर्य है कि साधक इसे अधिक स्मरण रख सके। या एक दूसरा अर्थ भी है कि दो-दो बार 'जन्म' शब्द रखकर तीनों मंत्रों में ६ बार जन्म शब्द हुआ। और वही ६ बार अर्जुन की ओर से 'कृष्णनाम' प्रथम पदों में उच्चारण किया गया है; अस्तु ६ बार कृष्णनाम से ६ बार 'जन्म' शब्द कट गया। ये तीनों मंत्र हैं देखिये—

अपरं भवतो **जन्म**, परं **जन्म** विवस्वतः।
कथमेत द्विजानीयां, त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥
—गीता ४-४

जन्मकर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः।
त्यक्त्वा देहं **पुनर्जन्म** नैति मामेति सोऽर्जुन।
—गीता ४-९

आसुरीं योनिमापन्ना,मूढा **जन्मनि जन्मनि**
मामप्राप्यैव कौन्तेय, ततो यान्त्यधमांगतिम्।
गीता १६-२०

देखिये उपरोक्त तीनों मंत्रों में 'जन्म' शब्द दो-दो बार आया है। अस्तु ये ३ मंत्र बड़े महत्व के हैं। इसके अतिरिक्त जिन अन्य मंत्रों में 'जन्म' शब्द आया है उनको नीचे देखिए—

१—ध्रुवं **जन्म** मृतस्य च —२-२७
२—**जन्म**-कर्म-फल-प्रदाम् —२-४३
३—**जन्म**-बन्धविनिर्मुक्ताः —२-५१
४—**जन्मानि** तव चार्जुन —४-५
५—लोकें **जन्म** यदीदृशम् —६-४२
६—मामुपेत्य**पुनर्जन्म** —८-१५
७—**पुनर्जन्म** न विद्यते —८-१६
८—बहूनां **जन्मनामन्ते** —७-१९
९—**जन्म** मृत्युजराव्याधि —१३-८
१०—**जन्म** मृत्युजरा दुःखैः —१४-२०

इन मंत्रों में जो 'जन्म' शब्द आया है इससे भगवान का अपने भक्तों को जन्म-मरण से छुड़ाने का ही उद्देश्य है इनमें भगवान ने अलग-अलग साधन बताए हैं जैसे—'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' इस मंत्र में सांख्ययोग की प्रधानता है। 'जन्म कर्म च में दिव्यम्' में विज्ञान-योग की प्रधानता है। इसी प्रकार 'मामुपेत्य पुनर्जन्म' और 'पुनर्जन्म न विद्यते' में भक्तियोग की प्रधानता है। 'जन्ममृत्यु जरा-व्याधि' में ज्ञानयोग की प्रधानता है और 'जन्म बंध विनिर्मुक्ताः' और 'जन्म-कर्म-फल-प्रदाम्' में निष्काम-कर्मयोग का साधन निहित है। इसी प्रकार अन्य-अन्य मंत्रों में नये-नये साधनों का और योगों का वर्णन है। इस प्रकार गीता में भगवान कृष्ण का नाम जन्म-मरण से छुड़ाने वाला और 'अष्टधा' प्रकृति से मोक्ष देने वाला बताया गया है। नाम का बहुत माहात्म्य है। कृष्णनाम से कितनों का हो उद्धार हुआ। गीता में अर्जुन और संजय जैसे परम भक्तों और ब्रह्मज्ञानियों ने भी जब कृष्णनाम लेना आवश्यक समझा तो हम कलियुग के पामर जीवों की क्या गिनती है? अस्तु कृष्ण-जन्माष्टमी का स्वागत है, यह कृष्ण-जन्म-अष्टमी भगवान कृष्ण के नामोच्चारण और श्रद्धा-भक्ति से भगवान के स्वरूप का ध्यान करने का दिन है। कृष्ण भगवान जन्म-जन्म के पापों को काटें और अष्टमी आठ प्रकार की 'अष्टधा' प्रकृति से छुड़ावे यही गीता में 'कृष्ण-जन्म-अष्टमी' का आध्यात्मिक अर्थ है।

भगवान ने अर्जुन से कहा कि—

गीता मे हृदयं पार्थ गीता मे सारमुत्तमम् ।
गीता मे ज्ञानमत्युग्रं गीता मे ज्ञानमव्ययम् ॥

हे पार्थ ! गीता मेरा हृदय ही है, गीता मेरा सर्वोत्तम तत्व है, गीता मेरा परमतेजस्वी और अविनाशी ज्ञान है।

गीता मे चोत्तमं स्थानं गीता मे परमं पदम् ।
गीता मे परमं गुह्यं गीता मे परमो गुरुः ॥

गीता ही मेरा सर्वश्रेष्ठ स्थान है, गीता मेरा परमधाम है, गीता मेरा गुप्त रहस्य है, मेरी यह गीता (श्रद्धालु जगत के लिए) परम गुरु है।

गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे परमं गृहम् ।
गीताज्ञानं समाश्रित्य त्रिलोकीं पालयाम्यहम् ॥

गीता मेरा आश्रय है, गीता ही मेरा श्रेष्ठ मन्दिर है, मैं तो गीता-ज्ञान के सहारे ही तीनों लोकों का पालन करता हूँ।

(पृष्ठ १२ का शेषांश)

हैं। हमें देखना होगा, कि गौ-माता के प्रश्न को लेकर आज भारत के कोने २ में सभी हिन्दु सम्प्रदाय व धार्मिक संस्थाएं कटिबद्ध हो उठ खड़े हुए हैं। विलम्ब होने पर ये कितना उग्ररूप धारण कर सकते हैं। सरकार के सामने एक भयानक नई समस्या बन कर खड़ी हो सकती है। इसकी उपेक्षा अब बड़ी भयावह बन सकती है, यह हमें विचारना ही होगा।

सोचना ही पड़ेगा, भारत सरकार के विचारशील नेताओं को, कि आज भारत में गौ रक्षक ही जेलों में बन्दी नहीं, अपितु गौ रक्षक राम और गोपाल कृष्ण के भारत के सच्चे भारतीय वसुदेव, गांधी, विनोवा सदृश संत जेलों में बन्द किये जा रहे हैं। साधु-समुदाय जग रहा है, सोया नहीं, यह सबको ज्ञान रहना चाहिये।

अतः भारत सरकार के हमारे सहृदय विचारशील नेता गौ-हत्या निरोध के लिए कड़ा कानून बनाकर गौधन की संवृद्धि से देश की बिगड़ी बनाने का तत्काल सुयश प्राप्त करें और अपनी लोकप्रियता बचाये रक्खें। इधर हम भी कुछ राज्याधीन न रहकर सच्चे गौ भक्त के नाते घर-घर में गोपालन का व्रत धारण करें। हम भी अपने जीवन में सच्चे अर्थों में क्रियात्मक रूप से गौभक्ति का आदर्श रक्खें।

सनातन-धर्म जगत में मनोनिग्रह

❊ श्री सोमप्रकाश जी शाण्डिल्य ❊

❊

भारत के महर्षियों की इस अमर घोषणा पर धर्म-प्रधान भारत का सुदृढ़ विश्वास है कि--

यदा यदा हि **धर्मस्य ग्लानिर्भवति** भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

इस मानवता के सच्चे संरक्षक धर्म के प्रचारार्थ और समय २ पर संरक्षणार्थ भारत में अनेकानेक महापुरुष हुए हैं जिन्होंने समयानुसार मानवीय कर्तव्यों को धर्म का स्वरूप देकर भारत का पथ प्रदर्शन किया है। भारतीय धर्म शास्त्रों में लोक-कर्तव्य तथा पारलौकिक कर्तव्य दोनों का विवेचन धर्म के नाम पर किया गया है। इस प्रकार भारतीय धर्म मानव के आन्तरिक व बाह्य रूप को स्वच्छ बनाए रखने के लिए काम करता आया है। हमारी इन्द्रियां बाह्य-विषय प्रधान होने के नाते बाहरी जगत से बहुत जल्द प्रभावित होती हैं, इसीलिए विचारशील भारतीय महापुरुषों ने बाहरी शुद्धि के लिए कर्मकाण्डादि पर विशेष बल दिया है, किन्तु हमारे इन बाहरी धार्मिक विधानों के साथ आन्तरिक धार्मिक विधानों पर भी अधिक बल दिया गया है, इन्हीं दोनों विधानों के आधार पर भारत में प्रायः दो मत प्रमुख रूप लिए चले आए हैं। पहिला **निर्गुण** दूसरा **सगुण**।

निर्गुण सगुण दोनों में मनोनिग्रह

निर्गुण निराकार के उपासकों में जहां ज्ञान, प्रेम, योग, जप, तप, साधना आदि साधन आन्तरिक शुद्धि एवं मनोनिग्रह के लिए अपनाए गए हैं, वहां सगुण साकार के पुजारी, राम-कृष्ण के अवतार के श्रद्धालु और मूर्ति के रूप में भगवान की साकार सुन्दरता पर रीझ कर मनोनिग्रह कर लोक व परलोक को बनाने में लगे रहे हैं। इस प्रकार साधनों के रूप में अन्तर होने पर भी लक्ष्य दोनों का एक ही है--वह है केवल मात्र 'मनोनिग्रह'। आग में, जल में, पर्वतों की गुफाओं में कहीं भी शरीर को कष्टसहिष्णु बना कर चंचल मन को वश में करना साधक का अन्तिम लक्ष्य है। जिस मन के लिए एक दिन अर्जुन को भी भगवान कृष्ण से अन्त में यही कहना पड़ा था कि--

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥
--गीता ६-३४

योगियों के योग का पहिला लक्षण यह कहा है कि **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**। जप करना, तपस्वी बनना, संसार से विरक्त होना सब कृत्य इसी मन महाराज के नियन्त्रण के लिए हैं। इसीलिए सभी योगी सन्तजनों ने स्पष्ट शब्दों में कहा है--**मन कांचे नाचे वृथा, सांचे रांचे राम। गीता में भी** भगवान ने स्पष्ट अपनी राय गीता भक्तों के लिए देते हुए इसी मन के निग्रह की बात कही है।

**असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥**
--गीता ६-३६

भक्ति व ज्ञान के प्रधानाचार्यों में भी **जगद्गुरू श्री शंकराचार्य जी महाराज ने स्पष्ट घोषणा की है—जितं जगत् केन, मनो हि येन।** इस प्रकार भारत के निर्गुण सगुण किसी भी मत का पुजारी यह मानने से कदापि इन्कार नहीं कर सकता कि **सभी साधनों की जड़ एकमात्र मनोनिग्रह है।** इसी मन ने अन्त में तपस्वियों के तप भंग किए हैं, इसी ने नारद से साधकों की साधना धूल में मिलाई है, इसी ने इन्द्रासन तक डावांडोल किए हैं, इसी ने राम और रावण के दो वर्ग बनाए हैं। यही हैं मानव को दानव और दानव को मानव बना डालने वाले मन महाराज, इन के वशीकरण बिना तपस्वियों का तप झूठा, साधकों की साधना निर्मूल, पुजारियों की पूजा ढोंग, उपासकों की उपासना निरर्थक। जापकों का जप आडम्बर, ज्ञानियों का ज्ञान मिथ्या और महात्माओं की महानता भी ठगविद्या। कहना क्या? सृष्टि का मूल-कारण ही यह मन महाराज हैं।

मनोनिग्रह के लिए गीता में अभ्यास और वैराग्य

अब देखना यह है कि मन महाराज के लिए किया क्या जाय? जिससे मनुष्य किसी प्रकार भी जन्म-मरणादि दुःखों से निवृत्ति और अलौकिक आनन्दमयी परितृप्ति प्राप्त कर स्वयं को दिव्यज्योतिर्मय बना सके। **गीता में भगवान कृष्ण ने इसका एक सुन्दर उपाय बतलाया है कि—**

असंशयं महाबाहो, मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते॥
—६-३५

आइये, अब जरा मनोविज्ञान के सहारे इस वैराग्य और अभ्यास को भी परख लिया जाए, **वैराग्य देखें।** प्रतिक्षण दीखने वाले संसार का अभाव, उसके स्थान र नित्य प्रियतम का दर्शन ही सच्चा वैराग्य है।

साधक और माया

किन्तु चलो? जन साधारण को छोड़िए, सांसारिक भोगों की जननी माया के दो रूप कंचन और इस कामिनी (नारी-सौन्दर्य) ने बड़े से बड़े साधकों के मन हजारों वर्षों की तपस्या और साधना के बाद भी एक क्षण में डावांडोल कर दिए हैं, फिर क्या यह वैराग्य बच्चों का इतना सस्ता खेल बन गया है कि जितना आज हम समझ बैठे हैं। गोसाईं तुलसीदास जी ने सम्भवतः तभी आज के वैराग्य का स्वरूप पहले ही अपने मानस मे लिख दिया था, कि **नारि मुई गृह सम्पति नासी, मूंड़ मुंड़ाय भये सन्यासी।** आज कितना भारी खेद का विषय है कि सच्चे महात्माओं का लोक-जीवन ही कुछ बहुरूपियों के कारण से कठिन हो गया है। अतः वैराग्यभाव सर्वसाधारण का विषय बनाना तो रहा अलग, सन्त कबीर जैसे सच्चे साधकों को भी भारतीय समाज को सचेत करने के लिए स्पष्ट लिखना पड़ा है कि—

चलो चलो सब कोई कहे, पहुंचे बिरला कोय।
एक कनक अरु कामिनी, दुर्गम घाटी दोय॥

इस प्रकार नियम-बद्ध जीवन, मानसिक कर्मों पर विचार, मन के कहने पर न चलना, सत्कर्मों में मन लगाना, परमात्मा का ध्यान, धर्मशास्त्र पढ़ना, जप, प्राणायाम, एकाग्रचित्त रखना आदि कितने ही मनोनिग्रह के शास्त्रलिखित साधन हैं। परन्तु साधक को देखना यह है कि वह किस श्रेणी का छात्र है, किस व्यवस्था और देशकाल की परिस्थिति में वह किस साधन से एक मात्र मनोनिग्रह कर आत्यन्तिक दुःखों से मुक्ति और अमृत-रसानन्द की अनुभूति कर अपने प्रियमिलन की लक्ष्यपूर्ति कर सकता है। विचारशील प्राणी को विचार करना होगा, कि मन स्वभावतः सौन्दर्योपासक है। इतिहास साक्षी है कि वर्षों की घोर-साधनाएँ भी एक क्षण में इस सौन्दर्य पर डगमगाती आई हैं, इसीलिए भगवान के मिलन के राग भी साहित्यकारों ने नारी के मिलन व विरह के गीतों में गाए हैं।

इधर कंचन पर आइए, तो आप देखेंगे कि सांसारिक-जीवन की सभी आवश्यकताएं प्रायः कंचन पर ही टिकी हैं। इसीलिए कहा है कि 'सर्वे गुणा

कांचनमाश्रयन्ति। इसीलिए धनवानों के दरवाजे पर खड़े सदा बलवान, विद्वान और गुणवान धन की महिमा गाते देख जाते हैं। तभी इस पैसे पर धर्म, ईमान तक बिकते आए हैं। इससे यह स्पष्ट हुआ कि सौन्दर्य देखना आंखों का काम है, जिन आंखों के साथ मन का गहरा सम्बन्ध है, तभी एक साधक अनुभवी कवि ने साफ कहा है कि—

मन जैसो महाराज नहीं, हग सो नहिं दीवान।
जाहि देखि रीझै नयन मन तेहि हाथ बिकान।

साधक के लिए सनातन-मनोनिग्रह

इसी नेत्र और मन के गहरे सम्बन्ध को देख हमारे महर्षियों ने गीता मां के वैराग्य और अभ्यास की क्रियाओं को सही रूप में पूर्ण करने के लिए सच्चे लोक हितकर सत्य सनातन-धर्म का रूप उसी श्रेणी के अनुकूल बनाया था, कि मानव का चंचल मन हमारी सुन्दर ईश्वरीय मूर्ति के रूप सौन्दर्य पर बिना किसी कठोर प्रयत्न के स्वयं ही स्थिर हो जाए। उस ईश्वरीयरूप में संलग्न मन से फिर जो ध्यान, जप, पूजा, पाठ सत्कर्मों का अभ्यास किया जाएगा, शनैः-शनैः वह एक दिन प्रभु के ही रूप सौन्दर्य में लीन मन की अवस्था में श्री शंकराचार्य व गौतमबुद्ध का सा वैरागी बन कर स्वयं का तथा विश्व का कल्याण कर सकेगा। जिस प्रकार के सच्चे वैराग्य से स्वामी राम, विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस जैसी देश की अमूल्य विभूतियों ने भारत को आज जगद्गुरू बना दिखाया है।

किन्तु हमें इस प्रकार के शास्त्रीय वैराग्य तथा अभ्यास के लिए भारत के धार्मिक-विश्व-विद्यालय इस सनातन-धर्म-जगत के सत्य-सिद्धान्तों पर विश्वास व श्रद्धा रखते हुए सत्य-व्रत का संकल्प लेना होगा, कि हम जन-साधारण के नाते क्रमशः कक्षावार धार्मिक पाठ पढ़ते हुए (प्रैक्टिकल) चिन्तन करते हुए एवं परीक्षा देते हुए एक दिन उसी दिव्य-ज्योति को आन्तरिक रूप में प्राप्त करके रहेंगे, जिसकी खोज में आज हम कोरे मृग-तृष्णा के हिरण बने ऊंची किन्तु निरर्थक मिथ्याडम्बरमयी छलांगों पर झूठा विश्वास करते हुए अन्त में निराश होकर पछताते रह जाते हैं। अतः आज के अशान्त और मिथ्याडम्बरमय धार्मिक व सामाजिक वातावरण से घबराये सच्चे भारतीय मानव को उस अलौकिक आनन्द की प्राप्ति के लिए तथा इहलौकिक जीवन में सुख-शान्ति के लिए सनातन-जगत के मनोनिग्रह के सिद्धान्त को अपना कर आत्म-कल्याण व विश्वकल्याण में भाग लेना होगा।

* सत्संगति *

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं,
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं,
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्॥

सत्संगति बुद्धि की जड़ता को दूर करती है, वाणी में सत्य को सींचती है, सम्मान प्रदान करती है, पाप को दूर करती है, चित्त को प्रसन्न करती है और सब दिशाओं में कीर्ति का प्रसार करती है। बताओ, सत्संगति पुरुष को कौन-कौन सा लाभ नहीं पहुँचाती?

(सुभाषित रत्नमाला से साभार)

हनुमतस्तवन

—रचयिता—
ज० द० जोशी
'श्रीरामचरणरज'

दुःखनाशका, सुखदायका, भक्तपालका स्वप्ननाशका ।
अंजनीसुता, जगज्जीवना, हे दयानिधे वायुनंदना ।।टेक।।

मानभंजका, मदनिवारका, अरिनिदारका, लंक-दाहका ।
साथ आपका रक्षिसाधना, हे कृपानिधे वायुनंदना ।।१।।

दैत्यमर्दका, वृत्तिनाशका, अंतरि सदा भक्तिप्रेरका ।
राम गायका, लक्ष वंदना, प्रेम सागरा, वायुनंदना ।।२।।

दूत राम का, दासरक्षका, साथ गरीबका, भवभंजका ।
धर्म-रक्षका, पिंगलोचना, हे दयानिधे वायुनंदना ।।३।।

जय 'दास' है शिशुहि आपका, दूर ना रहे, भूल जाएगा ।
राहपे चले, सदैव साथ दो, विश्ववंदना, वायुनंदना ।।४।।

देवता की सवारी

देवालय के द्वार खोल दो ।
मंगल शंख-ध्वनि निरंतर होने दो ।
देवता की सवारी आने को है ।
राज-पथ पर अपार जन-समूह उमड़ आया है ।
तालियों की गगन-भेदी गूंज और अभिवादन-वन्दन तेरे
आगमन की प्रतीक्षा में है ।
धूप-नैवेद्य भरी असंख्य थालियां थिरक रही हैं ।
गुंथे हुए पुष्प-हार स्वयं भेंट स्वरूप देव-चरणों में चढ़ने
के लिए आकुल-व्याकुल हैं ।
जाने कितनों पर तेरी दिव्य-दया-दृष्टि पड़ेगी और जीते
जी ही मुक्ति का वरदान प्राप्त होगा ।
जाने कितनों का भाग्योदय होगा ।

कवि—योगी हरीश करुण

गीता में सत्य का स्वरूप

लेखक—श्री नरेन्द्र भट्ट

सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के समन्वय के सुललित एवं माधुर्य-पूर्ण दर्शन करना हो तो आप गीता का स्वाध्याय कीजिए। आप गीता में सत्य के उस रूप का दर्शन प्राप्त करेंगे जो उपनिषदों के शब्दों में हिरण्यमय-पात्र से ढका हुआ है। जब भी मैं सत्य को समझने के लिए ग्रन्थों का अवलोकन करता हूँ तो मुझे सहसा यही स्मरण हो आता है कि—

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्र-विस्तरैः।

यहां तक तो ठीक है लेकिन—

या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

लिखकर तो सचमुच में व्यास मुनि की लेखनी की छाप युग-युगान्तर के लिए अमर हो गई।

मानव इस धरा पर जन्म लेता है। वह अपने आंगन में हँसता है, किलकता है। शैशवावस्था से बाल्यावस्था को प्राप्त करता है। फिर वह यौवनावस्था की देहरी पर पग धरता है। तरुणावस्था भी धीरे-धीरे क्षय हो जाती है और वह जरावस्था के पथ पर अग्रसर हो जाता है। मानव आमरण संयमित सुख भोगे लेकिन उसे यदि शरीर के मरण का भय त्रासित करता रहे तो वह कायरों की तरह अपनी मौत से सौ बार पहले ही मर चुका होता है। अनेक धर्म और दर्शन शरीर की मृत्यु को ही सम्पूर्ण मरण मानते हैं। लेकिन गीता के कर्मयोगी कृष्ण की वाणी है कि—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा—
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

गजब का सत्य है गीता के उपदेशक की वाणी में! शरीर को उन्होंने केवल एक जीर्ण वस्त्र माना है! नवशरीररूप दूसरा नया वस्त्र जब धारण कर लेता है, तब जीर्ण वस्त्र यानी मृत के प्रति कैसा मय! कैसा मोह! गीता के गायक के ये शब्द शरीर के प्रति असत्य आसक्ति की भावना को छिन्न-भिन्न कर देते हैं। आत्मा का नवीन शरीर धारण करना, उसकी अजरता, अमरता, तथा अभेद्यता गीता का अनुपम सत्य है।

कायरता मानव की एक कमजोरी है। क्योंकि मानव, मानव होता है देवता नहीं। फिर भी क्या कमजोरी या हार ही विजय की सीढ़ी नहीं बन सकती है? बन सकती है, लेकिन कब?—गीताकार ने इस प्रश्न का उत्तर इस सत्य में समाहित कर दिया है—

सुख दुःखे समे कृत्वा, लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व, नैवं पापमवाप्स्यसि॥

हमको सदैव धनञ्जय की तरह धर्मयुद्ध में ही नहीं, कर्मयुद्ध में भी कटिबद्ध रहना चाहिए। कर्मक्षेत्र में सदैव स्वर्णाक्षरों में अंकित यह सत्य—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्।'

हमारे जीवन की नाव को खेने में पतवार की भांति है। जिससे हम भय, क्रोध, सुख-दुख-प्रमाद प्रवंचना में डूबे हुए संसार को पार कर सकते हैं।

शायद आपने कन्हैया के बारे में यह पद तो पढ़ा ही होगा—

शेष, महेश, गनेश, दिनेश, सुरेशहु
जाहि निरन्तर ध्यावैं।

उसी परात्पर ब्रह्म जो कृष्ण के रूप में थे उन्हींको—

ताहि अहीर की छोहरियां,
छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं।

रसखान जी यह लिखकर अपनी लेखनी को अमर कर गये। लेकिन अकिंचन गोपियां ब्रह्म के अवतार कृष्ण को नृत्य किस आधार पर करवा सकीं? इस प्रश्न का उत्तर गीताकार की यह वाणी देती है, कि—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्

अर्थात् मैं सब भूतों में समभाव से व्यापक हूँ मेरे लिए न कोई प्रिय है और न कोई अप्रिय है। परन्तु जो मेरे भक्त मुझको प्रेम से भजते हैं, वे मेरे में और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ। तभी तो कर्मयोग के प्रणेता और प्रेम-योग के प्रेमी भक्त, ब्रह्म-कृष्ण के रूप में गोपियों के संग रास रचाते थे। क्योंकि गोपियां कृष्ण के प्रेम-रस में पगी हुई थीं। प्रेम, प्रेमी और प्रेमत्व की एक-रूपता, तन्मयता ही गीता का सत्य है। क्योंकि जब जगदीश स्वयं अपने भक्त के हृदय में प्रत्यक्ष हो जाते हैं। तब दूरी कहां? वह तो निःशेष हो जाती है—

शायद गीता के इसी सत्य के आधार पर कबीर दास जी कह उठे हैं—

लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥

सत्य का रूप विराट् होता है। वैसे साधारण अवस्था में सत्य का रूप सूक्ष्म होता है। लेकिन जब 'धनञ्जय' सत्य के विराट् स्वरूप को दिखाने का आग्रह करता है, तो श्री कृष्णचन्द्र का यही उत्तर होता है तुम मेरे स्वरूप को अपने इन प्राकृत नेत्रों द्वारा देखने में अक्षम हो। इसीलिए मैं तुम्हें दिव्य (अलौकिक) चक्षु देता हूँ, ताकि तुम मेरे प्रभाव और योगशक्ति को देख सको। इसके उपरान्त कृष्ण ने अर्जुन को अपने विराट् रूप के दर्शन दिये। उस विराट् सत्य का स्वरूप भी द्रष्टव्य है—

अनेक बाहूदर-वक्त्र-नेत्रं।
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्॥
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं।
पश्यामि विश्वेश्वर! विश्वरूप॥

अर्जुन ने जब सत्य के विराट् स्वरूप को अपने मूल रूप में सामने देखा, तो वह भयभीत हो उठा क्योंकि पूर्ण एवं शुद्ध सत्य कटु हुआ करता है। यह कटु सत्य जब अर्जुन ने सन्मुख पाया, तो वह भयभीत हो उठा, संजय के इन शब्दों में—

नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं।

कुछ आगे के एक श्लोक का यह पद भी द्रष्टव्य है—

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा।
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे॥
तदेव मे दर्शय देव रूपं।
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥

अर्जुन फिर कृष्ण के सत्य लेकिन मूल नहीं सौन्दर्य समन्वित सत्य के स्वरूप का दर्शन करने को आतुर हो उठा। कटु या नग्न सत्य अर्जुन ही नहीं जगत का कोई भी प्राणी सहन नहीं करता और न उसे देखना चाहता है। सब सत्य को माधुर्य पूर्ण देखना चाहते हैं। इसीलिए कुछ समय बाद भगवान ने पार्थ को अपना चतुर्भुज लोक-कल्याणकारी और सौन्दर्यपूर्ण स्वरूप दिखाने की प्रार्थना स्वीकार की। श्रुति भी गीता के कल्याण कारी और सौन्दर्य समन्वित सत्य के समर्थन में कहती है कि—

सत्यं ब्रूयात्, प्रियंब्रूयात्, नब्रूयात् सत्यमप्रियम्

निष्कर्ष रूप में हम सत्यं को शिवं और सुन्दरम् के साथ ही स्वीकार कर सकते हैं। लेकिन यह निष्कर्ष गीताकार ने अगणित युगों पहले ही पार्थ को प्रदान कर दिया था। सचमुच गीता सत्य के द्वारा शिवत्व और सौन्दर्य की आराधना की पथ-प्रदर्शक है।

गतांक से आगे—

ध्यान-योग एक मानसिक प्रक्रिया

❀ योगिराज श्री नानकचन्द जी महाराज ❀

गीता-सन्देश के पिछले अंकों में ध्यान-योग से सम्बन्धित जिन पांच बातों की चर्चा मैंने की थी, उसी की व्याख्या मैं इस लेख में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर देना चाहता हूँ।

भक्ति में नवधा भक्ति की चर्चा पढ़ने को तो आती है। १. संतों का सत्संग, २. भगवान के कथा प्रसङ्ग में प्रेम, ३. अभिमान रहित होकर गुरु के चरण-कमलों की सेवा, ४. कपट छोड़कर भगवान के गुण-समूहों का गान, ५. मंत्र का जाप और भगवान में दृढ़ विश्वास, ६. इन्द्रियों का निग्रह, शील (अच्छा स्वभाव व चरित्र), बहुत कार्यों से वैराग्य और निरन्तर संत-पुरुषों के धर्म में लगे रहना, ७. जगतभर को समभाव से भगवान में ओत-प्रोत देखना और संतों को मुझ (भगवान) से अधिक मानना, ८. सन्तोष और स्वप्न में भी पराये दोषों को न देखना, ९. सरलता, कपट-रहित बर्ताव, हृदय में भगवान का भरोसा और किसी भी अवस्था में हर्ष और दैन्य का न होना, यही नवधा-भक्ति है। इसी प्रकार वेदान्त में ज्ञान की सात स्थितियों की बात बताई गई है—१. शुभेच्छा, २. शुभ-विचारणा ३. तनुमानसा, ४. सत्वापत्ति, ५. असंसक्ति, ६. पदार्थभावनी, ७. तुरीयगा। भक्ति और ज्ञान की तरह ध्यान के भी पांच अंग हैं—१. स्थिति, २. संस्थिति, ३. विगति, ४. प्रगति, ५. संस्मिति। ध्यान-योग के साधक के लिए इन पांचों अंगों की जानकारी आवश्यक है।

प्रथम अंग है, स्थिति। स्थिति से अभिप्राय है साधक की साधन करते समय की स्थिति क्या होनी चाहिए? साधक किस स्थान पर, किस समय, किस आसन से, किस ओर मुँह करके अपने इष्टदेव का ध्यान करें। साधक को चाहिए कि वह साधना के लिए ऐसा स्थान चुने जो स्वच्छ और पवित्र हो, और वहां बैठने पर उसे किसी भी प्रकार का भय न रहे। इसके लिए मन्दिर व नदी के तट का सुझाव दिया जा सकता है। जिन साधकों के लिए मन्दिर व नदी के तट पर जाना सम्भव न हो सके या उन्हें ये स्थान सुलभ न हों तो घर में हो किसी एकान्त एवं स्वच्छ स्थान को ध्यान के लिए चुन लेना चाहिए। ध्यान-योग के लिए सर्वोत्तम समय सूर्य के उदय होने से दो घंटा चौबीस मिनट पहले और सूर्य के अस्त होने के दो घटे चौबीस मिनट बाद का उचित समझा गया है। जिन साधकों की शारीरिक शक्तियाँ क्षीण नहीं हुई हैं, वे किसी आसन से बैठकर तब ध्यान करें। बैठक के लिए तीन आसन हैं—१. सिद्धासन, २. पद्मासन और ३. स्वस्तिकासन। सिद्धासन में गृहस्थों के लिए अधिक देर तक बैठना उपयुक्त नहीं बताया गया है। इस आसन में वीर्य का स्तम्भन होता है। पद्मासन से बैठकर ध्यान करना सभी के लिए सुविधाजनक हो सकता है। यदि शरीर के भारीपन के कारण अथवा नसों में कड़ापन आ जाने से उस आसन से बैठना सम्भव न हो तो स्वस्तिकासन का प्रयोग किया जा सकता है। सिद्धासन,

पद्मासन और स्वस्तिकासन में बैठने की जानकारी किसी अनुभवी से प्राप्त कर लेनी चाहिए। प्रातः-काल सूर्योदय की ओर सायंकाल सूर्यास्त की ओर मुँह करके बैठना धार्मिक ग्रन्थों में बताया गया है।

ध्यान-योग का दूसरा अंग है 'संस्थिति'। 'संस्थिति' से मतलब है अपने लिए अपनी रुचि, कोमलता, सामर्थ्य, परिस्थिति के अनुकूल इष्टदेव का निर्धारण करना। साधक का अपना एक इष्ट होना चाहिए और वह उसी को सभी रूपों में सर्वत्र देखे। ऐसा बताया जाता है कि जब गोस्वामी तुलसीदास जी मथुरा गये तो भगवान श्री कृष्ण की मूर्ति को देख कर उन्होंने यही आग्रह किया था कि नाथ आप मेरे इष्ट भगवान राम का रूप ग्रहण करें ताकि मैं नत-मस्तक हो सकूं। इस संदर्भ में एक पद भी प्रचलित है—

कहा कहों छबि आप की, भले बने हो नाथ।
'तुलसी' मस्तक तब नवै, धनुष बाण लो हाथ।

ध्यान-योग का तीसरा अंग 'विगति' नाम से सम्बोधित किया गया है। विगति का अर्थ है अपने इष्ट-देव की विशेषताएँ, शक्तियां, सामर्थ्य, परम्पराएँ, गुणावलियों आदि की भली प्रकार जानकारी प्राप्त कर लेना।

ध्यान-योग का चौथा अंग 'प्रगति' है जिसमें साधक अपने इष्ट-देव को किसी भाव से भावित होकर अपना सम्बन्धी मान लेता है। इष्ट-देव से प्रेम की अवस्था का नाम ही भाव है। इष्ट-देव से सम्बन्ध स्थापित करने हेतु प्रायः चार प्रकार के भाव बतलाये जाते हैं। अपने इष्ट-देव को स्वामी और अपने को सेवक मान लेना 'दास्य-भाव' है। इष्ट-देव को सखा मान लेना सख्य-भाव है। इष्ट-देव को पुत्र मान लेना वात्सल्य-भाव है। इन तीनों भावों का समावेश कान्ता-भाव व माधुर्य-भाव में हो जाता है। अपने इष्ट-देव से माने हुए सम्बन्ध को शब्दों व चेष्टाओं के द्वारा उपस्थित करने का नाम ही 'प्रगति' है।

ध्यान-योग का पांचवां अंग है 'संस्मिति'। संस्मिति उस अवस्था विशेष का नाम है जहां पर पहुंचकर साधक और साध्य, उपासक और उपास्य, योगी और योग में किसी भी प्रकार का भेद शेष नहीं रह जाता है। अभेदता की यह स्थिति साधक के जीवन में द्वैत की अवस्था को अद्वैत में बदल देती है। साधक स्वयं इष्ट-देव हो जाता है या इष्ट-देव में पूर्णतया लीन हो जाता है। इस अवस्था विशेष की अनुभूति को ही 'संस्मिति' कहा गया है।

ध्यान-योग का प्रसंग वैसे तो पूर्ण हो गया है किन्तु एक बात की चर्चा और कर देना उचित समझता हूँ। 'त्राटक' भी ध्यान का ही एक अंग है। अथवा यूँ भी कहा जा सकता है कि 'त्राटक' का ही एक अंग 'ध्यान' है। त्राटक दो प्रकार का होता है—आन्तरिक त्राटक और बाह्य त्राटक। दोनों प्रकार के त्राटकों का उद्देश्य मन को एकाग्र करना है। मन की शक्तियाँ प्रधानतया नेत्रों द्वारा बाहर की ओर जाती रहती हैं उसी को त्राटक के द्वारा लक्ष्य की ओर केन्द्रीभूत किया जाता है। 'त्राटक' का अभ्यास किसी अनुभवी से परामर्श लिए बिना नहीं करना चाहिये, अन्यथा लाभ के स्थान पर हानि की अधिक सम्भावना है।

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

पानी से शरीर के अङ्ग शुद्ध होते हैं। सत्य से मन, विद्या व तप से आत्मा तथा ज्ञान से बुद्धि शुद्ध होती है।

निर्मल-मन जन सो मोहि पावा

श्री सुनहरीलाल शर्मा

आवरण प्रियतम से कैसा ? उसे भला नहीं लगता यह दुराव। अवगुंठन दूसरों की दृष्टि से तो बच सकता है पर तुम निरन्तर स्वयं जिसकी दृष्टि चाहते हो, जिसके कृपा कटाक्ष के लिए यह साधना है उससे घूँघट कैसा ? वह घूँघट की ओट में तुम्हारे स्वरूप को जानता है, पर वह कहता है—'घूँघट का पट खोल' मानस की वाणी में—

'निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

यह कपट का ही पट है जिसे हमने अपने मुख पर डाल रक्खा है। क्या इससे आकर्षण बढ़ जायेगा ? उसके लिए जो जानता पहचानता न हो। पर वह तो भली प्रकार पहचानता है इस मुख को। शूर्पणखा भी तो आई थी उन्हें पाने के लिए। पर उसे डर लग रहा था कि कहीं उन्हें मेरी कुरूपता का पता न चल जाय। अतः उसने अपने ऊपर रुचिरता का वस्त्र डाल लिया। और निकट जाकर आकृष्ट करना चाहा। पर क्या उन्हें वह रिझा सकी ? नहीं, प्रभु ने तो उसकी ओर दृष्टि भी नहीं डाली। हंसी आ गई उसकी इस नासमझी पर ! वे तो देखते हैं सीता जी की ओर—

क्योंकि वहां घूंघट का पट था ही नहीं। यहां शूर्पणखा कपटीजन का प्रतिनिधित्व करती जान रही है। वह भगवान को देखकर भी लौकिक काममयी दृष्टि से उनके पास चलती है भगवान में भी उसकी भोग्य दृष्टि है। भगवान के सौन्दर्य को देखते ही भोक्तापन का नाश हो जाता है। इसी से तो उन्हें—

लाजहिं तनु शोभा निरखि कोटि-कोटि सतकाम

काम इस दिव्य सौन्दर्य को देखकर इसी से लज्जित होता है। उसका सौन्दर्य भोक्तापन को जाग्रत कर देता है। परन्तु प्रभु को देख कर तो उस का नाश हो जाता है। इसी से मनु और विभीषण कहते हैं—

'नाथ देखि पद-कमल तुम्हारे।
अब पूरे सब काम हमारे॥
उर कछु प्रथम बासना रही।
प्रभु-पद-प्रीति सरित सो वही॥

यहां तो 'मनहूं के कान ते छुअत डरत है' की स्थिति हो जाती है। उनके चरणों पर अपने को अर्पित कर देने की इच्छा होती है। पर शूर्पणखा को ऐसा नहीं हुआ क्योंकि उसने उनका सौन्दर्य कपट पट की ओर से देखा था, वहां तो भगवान को जो सबके परम साध्य है, अपने काम सुख का साधन बना लेने की इच्छा थी। यही है विषयी जीव की स्थिति। वह चाहता तो है विषय, पर इसके आगे उसका अपराध और गुरुतर हो उठता है। उन्हें भी ठगने की चेष्टा करता है। पापमय कलुषित वासनाओं को भी किसी सुन्दर आवरण से ढककर अपने को भक्त रूप में प्रख्यात कर देता है—

कपट करौं अन्तर-यामिहु ते,
अघ, अवगुननि दुरावौं।

तब हम देखते हैं, प्रभु उसे भेज देते हैं लक्ष्मण

जी के पास। ये मानो जीवों के परमाचार्य सद्गुरु ही हैं। इसलिए उसे एक बार अपना ठीक स्वरूप समझ लेने के लिए सद्गुरु के निकट भेज देते हैं। परन्तु वह अपना कलुषित मन लेकर ही तो वहां गई थी। आचार्य ने प्रभु की समर्थता और जीव की असमर्थता जीव-ईश्वर के सम्बन्ध में संकेत किया। यथा—

सुन्दरि सुनु मैं उनकर दासा।
पराधीन नहिं तोर सुपासा॥
प्रभु समर्थ कौसलपुर राजा।
जो कछु करहिं उनहिं सब छाजा॥

पर उसकी समझ में संकेत आवे तब तो। वह तो वासना में अन्धी हो रही थी। अतः पुनः लौट कर प्रभु के पास गई। वे फिर उसे एक बार अवसर देते हैं सद्गुरु के पास लौटा कर—

प्रभु लछिमन पहिं बहुरि पठाई।

पर वह तो मोहिनी ठहरी कान रहित—

'दुष्ट हृदय दारुण जस अहिनी' (सांप के कान नहीं होते) अतः ज्ञान कथा उसे क्या समझ पड़े। पुनः तीसरी बार लौटकर तो वह धैर्य खो बैठी। और चली उनका नाश करने, जिनसे प्रभु को प्राप्त किया जाता है—वे हैं उनकी प्राण प्रिया भक्ति-स्वरूपा पट-रानी श्री किशोरी जी! और अन्त में प्रभु को दण्ड दिलवाना पड़ता है। और वे आचार्य के द्वारा निष्कासित करा देते हैं श्रुति और नाक विहीन करके। मानो उसे बताया गया कि उसका यह कार्य श्रुति वेद विरुद्ध तथा नाक (स्वर्ग) का नाशक है। यह पामर प्राणी की यथार्थ स्थिति का चित्रण है।

उन्हें यदि पाना है तो शबरी की तरह अपने को व्यक्त कर देना पड़ेगा उनके समक्ष—

अधम से अधम अधम अति नारी।
तिन्ह महँ मैं मति मँद अघारी॥

और इसका फल होता है—

तजि जोग पावक देह हरिपद,
लीन भइ जहँ नहि फिरे।

जीव त्रुटियों का पुंज है। उससे स्वभावतः कपट बन पड़ता है। परन्तु प्रभु उसे अवसर देते हैं कि एक बार आवरण हटाकर अपने को ठीक-ठीक व्यक्त कर दे। फिर भय क्या जब वे स्वयं कहते हैं—

जो नर होइ चराचर द्रोही।
आवै सभय सरन तकि मोही॥
तजि मद मोह कपट छल नाना।
करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥
कोटि विप्र बध लागहिं जाहू।
आए सरन तजउँ नहिं ताहू॥

श्री हनुमान जी और राघवेन्द्र राम का प्रथम मिलन बड़ा ही भावपूर्ण है। और वहां श्री हनुमान जी अपनी त्रुटि के मिस से एक सुन्दर शिक्षा देते हैं।

श्री सुग्रीव की आज्ञा से वे प्रभु की परीक्षा लेने चले और बन गये ब्राह्मण! पर प्रभु के पास पहुँचकर नाटक निभा न सके। और पहुंचते ही प्रणाम कर बैठे—

विप्ररूप धरि कपि तहँ गयऊ।
माथ नाइ अस बूझत भयऊ॥

पर हां—यह तो स्वाभाविक था, प्रभु के तेज के समक्ष, पर ध्यान देने के योग्य तो यहां एक और ही बात है। इतने प्राणप्रिय भक्त के प्रणाम का राघवेन्द्र रामभद्र कोई उत्तर नहीं देते। यह था उनके परम-मृदु स्वभाव के सर्वथा विपरीत, उनका स्वभाव तो है—

अति कृपालु सुकृतज्ञ दयानिधि।
सकुचत सकृत प्रणाम किये ते॥

इतना ही नहीं, आगे चलकर श्री पवननन्दन अपने स्वामी को पहचान कर चरणों पर गिर जाते हैं

प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना ।
सो सुख उमा जाइ नहिं बरना ॥

पर यह क्या ? भगवान यथापूर्व शान्त खड़े हैं । जो भक्त को क्षण भर भी अपने चरणों में पड़ा न रहने देकर हृदय से लगा लेते हैं, वे ऐसी निष्ठुरता धारण कर लेते हैं क्यों ? तो भक्त से क्या कोई त्रुटि हो रही है ? हां, वे कुछ क्षणों के पश्चात् ही अपनी भूल को जान लेते हैं । यही है भक्त का लक्षण ! अरे मैं यह क्या कर रहा हूं । बानर होकर प्रभु के सामने ब्राह्मणत्व का कपट । यह आवरण ! सम्भवतः इसी से प्रभु न पहचानने का नाट्य कर रहे हैं । इस विचार के साथ ही वे पुनः भगवान के चरणों मे पड़ना चाहते हैं । पर यह क्या ? इस बार तो कुछ दूसरा ही दृश्य था—

तब रघुपति उठाइ उर लावा ।
निज लोचन जल सींचि जुड़ावा ॥

हनुमान जी को हृदय से लगा अश्रुवारि से उनका सिंचन करने लगते हैं स्वामी । यह कैसी मृदुता और क्यों ? क्या कुछ अन्तर पड़ गया । हां, इस बार का प्रणाम ब्राह्मण रूप से नहीं, कार्य रूप से था—

असि कहि परेउ चरन अकुलाई ।
निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई ॥
तब रघुपति उठाइ उर लावा ।
निज लोचन जल सींचि जुड़ावा ॥

ब्राह्मणत्व का पट हटा वे अपने कार्य 'कपि चंचल सबही विधि हीना' आ गये थे । आवरण रहते मिलन-सुख कहां ? प्रेमियों की दृष्टि में हार का व्यवधान भी असत्य है फिर रसिक शिरोमणि कपट पट का आवरण रहते कैसे मिलें ?

इसलिये कबीर ने कहा—

घूंघट का पट खोल रे, तोहि राम मिलेंगे ।

अतः अपने मन को निर्मल बनाओ तभी राम मिलेंगे ।

तेरा भगवान तेरे अपने हृदय-मन्दिर में विराजमान है, आज ही दर्शन करें

काहे रे बन खोजन जाई ।

सर्व निवासी सदा अलेपा, तोही संग समाई ॥
पुहुप मध्य ज्यों बास बसत है, मुकुर मांहि ज्यों छांई ।
तैसे ही हरि बसत निरन्तर, घट ही खोजो भाई ॥
बाहिर भीतर एकै जानो, यह गुरु-ज्ञान बताई ।
कह 'नानक' बिनु आपा चीन्हें, मिटै न भरम की काई ॥

हो तेरा अवतार

श्री स्वामी लोकानन्द जी सरस्वती

आज तेरा हो जन्म जनार्दन, बुला रहा कंगाल ।
आज नहीं तो कब आना है? यह तेरा संभाल ॥

चिदाकाश में भरी घटा है, कैद पड़ा निज हंस ।
दबा रहा है शत बंधन से, मोहान्वित मन कंस ॥

अंधकार का पक्ष यही है, देव देवकी प्राण ।
अंधकूप में पड़ा हुआ है, परिपालय सुत्राण ॥

अंधकार का हरण नहीं क्या, दीप शिखा का काम ।
वृष्णि कृष्ण तू हटा कालिमा, शाम किरण श्रीधाम ।

कंस लालसा से बच जावे, हंस रहे नित प्यार ।
मनोधर्म की ग्लानि मिटाने, हो तेरा अवतार ॥

॥ गौ के पुजारी भगवान राम ॥

श्रीराम जी बन जाने लगे, तब अपनी सब चीजें बांटने लगे, यहां तक कि अपना पलंग और गद्दा भी गुरु पुत्र को दे डाला। इतने में ही एक गरीब दुबला-पतला ब्राह्मण आकर राम से याचना करने लगा। राम जी ने कहा ब्रह्मन् ! आपतो पिछड़ गए, मैं तो सब बांट चुका। ब्राह्मण उदास हुआ। तब रघुनन्दन को एक विनोद सूझा बोले—हां हां मैंने अपनी गौएँ अभी नहीं बांटी। तुम इस लाठी को लेकर जोर से मारो, जहां यह डंडा गिरेगा, वहां तक की सब गौएं तुम्हारी हुईं। ब्राह्मण ने पैर से चोटी तक का जोर लगाकर डंडा फेंका। डंडा सरयूजी के उस पार जा गिरा। राम जी जोर से हँस पड़े और बोले—मैं समझता था इन सूखी हड्डियों में बल न होगा। आपने तो लाखों पर हाथ मारा। वे सब गौएं उन्हें दे दी गयीं। *(कल्याण से साभार)*

मन की अचंचलता-साधना का आधार

※ श्री गोर्वधननाथ कक्कड़ ※

※

साधना के क्षेत्र में मन का सर्वाधिक महत्व है, क्योंकि वही उसकी नींव है, मूल-भित्ति है। मन को सुनियोजित ढंग से विकसित कर उसकी स्थिरता ही साधना की आधारशिला बनती है। यदि मन चंचल है तो साधना का महल धराशायी हो जायेगा। इसलिए इस क्षेत्र में आने पर पहली आवश्यकता है कि मन अचंचल हो। भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है कि अस्थिर मन द्वारा योग प्राप्त होना कठिन है—

'असंयतात्मना योगो, दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता, शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

मन के निर्मल और स्थिर होने पर ही उसमें दिव्य-सत्ता का प्रतिबिम्ब पड़ने लगता है और हमारी सत्य-चेतना का निर्माण आरम्भ हो जाता है। इसके साथ ही मनोमय राज्य में चिर-शान्ति प्रतिष्ठित होकर दिव्य-आनन्द का आस्वाद मिलने लगता है किन्तु यह सब निर्भर है मन की स्थायी स्थिरता पर।

मन की अचंचलता से तात्पर्य उसकी शून्यता नहीं है अपितु अपनी सत्य-सत्ता के समक्ष एकीभाव से है। मन का कार्य है—संकल्प-विकल्प। दिन भर नाना प्रकार के संकल्प-विकल्पों को करने वाला हमारा मन ही है। इन नाना प्रकार के संकल्प-विकल्पों के होते रहने के कारण मन उद्वेलित सागर-सा तरंगित रहता है। ऐसी स्थिति में दिव्य सत्ता का अवतरण असम्भव है।

स्मरण रखें हम भौतिक जीवन से आध्यात्मिक जगत में जाने के लिए परिवर्तन के द्वार पर खड़े हैं, जहां से हम अपने को परिवर्तित करके ही दिव्य जगत में प्रवेश कर सकते हैं। यह मन की स्थिरता ही उस परिवर्तन का आधार है। मन जितना ही निम्न हलचलों और आबुध विचारों से युक्त होगा यह परिवर्तन उतना ही शीघ्र सम्भव होगा। यही मानसिक समाधि की अवस्था है। यह अवस्था ऐसी होनी चाहिए कि अत्यन्त भीषण बाह्य-घटनाओं के समक्ष भी मानसिक स्थिरता में रंचमात्र बाधा न पड़े। ऐसा होते ही यह निश्चित समझना चाहिए कि अब परिवर्तन प्रारम्भ हो गया है और अब सत्य-सत्ता के दर्शन में विलम्ब नहीं है। यह साधना का सर्वोत्तम प्रारम्भ है।

मन जब बहिर्मुखी होकर नाना प्रकार के मिथ्या संकल्पों से मिथ्या सृष्टि का निर्माण कर लेता है और फिर इसी मिथ्या सृष्टि में अपनी इन्द्रियों के विषयों में संलग्न होकर राग-द्वेष के वशीभूत हुआ क्षणभर के लिए भी स्थिर नहीं हो पाता। विषयों से उसकी उपरामता ही उसे स्थिर करने में समर्थ है। विषयों में राग-द्वेष ही मन की चंचलता का कारण है। जब विषयों के प्रति इस राग-द्वेष को ही नष्ट कर दिया गया तो मनोनिग्रह स्वयमेव ही हो जायेगा। किन्तु यदि यत्नपूर्वक विषयों से उपरामता न प्राप्त कर उससे उत्पन्न होने वाले राग-द्वेषों को नष्ट न कर डाला गया और एकमात्र कुछ समय के लिए मन स्थिर करने का अभ्यास किया गया तो वह टिकाऊ न होगा क्योंकि अभ्यास समाप्त होते ही मन अपने स्वभाव-

वश विषयों के राग-द्वेष में उलझ कर, फिर चंचल हो उठेगा। इस प्रकार से बिना विवेक जागृत हुए हठपूर्वक अभ्यास द्वारा मन को स्थिर करने से तात्पर्य मात्र कुछ समय के लिए उसकी गति रोक देना भर है, जो न तो स्थायी है और न विवेक-युक्त हो।

अब प्रश्न यह है कि इस 'वायोरिव सुदुष्करम्' वाले तीव्रगामी मन को वश में करने का सहज व व्यावहारिक उपाय क्या है? सर्वप्रथम तो सम्यक ज्ञान और एकमात्र भगवत्प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा अहर्निश साधक के मन में जाग्रत होनी चाहिए। मन को जब उसके चिन्तन का आधार मिल गया तो वह अन्यत्र भ्रमित न होकर अहर्निश उसी में डूबा रहेगा। भौतिक राग-द्वेषों से नित्य-प्रति निवृत्ति के अभ्यास से मन में स्थायी शान्ति का प्रादुर्भाव होगा। इसके साथ ही अपने दैनिक कार्यों और व्यवहारों में अत्यन्त सूक्ष्म निरीक्षण कर मन के संकल्पों को शिव-आधार देना होगा। ऐसा होने से मन की हलचलें शान्त हो जायेंगी और शनैः-शनैः मन स्वतः एकाग्र होने लगेगा। एक बार मन की स्थिरता प्राप्त हो जाने के बाद वह निम्न विचारों और संकल्पों से शून्य हो जायेगा तब उसे सत्य और पवित्र संकल्पों से पूर्ण करने की आवश्यकता होगी। इस बात से सदैव बचना होगा कि फिर निम्न प्रकार के संकल्प और अबुद्ध विचार उसमें प्रवेश न पा सकें। जब तक ऐसी दृढ़ स्थिरता न आ जाय, मन को अपनी आन्तरिक विशुद्ध चेतना के समक्ष दृढ़ता से समर्पण करना होगा। भले ही इस में अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पड़े तो भी दृढ़तापूर्वक डटे रहना चाहिए। यदि एक बार भी इसकी प्राप्ति हो गई तो समझ लो बहुत बड़ी सफलता मिल गई। सम्पूर्ण आध्यात्मिक साधना का यही आधार है। इसलिए इसे स्थायी-निधि की भांति अत्यन्त सुरक्षित रखना होगा। इसी के सहारे विशुद्ध चेतना और दिव्य आनन्द का अवतरण होता है।

इसके लिए अहर्निश प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए कि वह इस मानसिक स्थिरता को सहज रूप में स्थायी बनाने के लिए हमें शक्ति प्रदान करे। इसके लिए अपना सब समय भगवत्-चिन्तन में लगाओ। इसका तात्पर्य यह नहीं कि संसार के सारे काम ही छूट जायेंगे वरन् उन कामों में मिथ्या सत्य का विश्वास समाप्त हो जायेगा। मन अपनी विशुद्ध-चेतना का आधार पा जायेगा और वह बाह्य-जगत के सारे कार्य करता हुआ भी अपनी आन्तरिक चेतना में लीन रहेगा। बाह्य घटनाओं का उसकी विशुद्ध चेतना पर कुछ भी प्रभाव न पड़ेगा, क्योंकि फिर उसे इस सत्य का भान हो जायेगा कि इन सारी घटनाओं का अवतरण बाहरी है और उनका उसकी विशुद्ध चेतना से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके लिए भगवन्नाम का जप भी एक सफल अनुभूत प्रयोग है। निरन्तर संसार के सारे कार्य करते हुए भी नाम जपते रहो। प्रारंभ में थोड़ा अभ्यास करना होगा फिर शनैः-शनैः यह सहज स्थिति में होने लगेगा और हम संसार में रहते हुए भी संसार से विरक्त रहेंगे, आनन्द से परिपूर्ण होकर जीवन मस्ती से भर जायेगा। भगवान ने कहा भी है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पित मनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

गावो ममाग्रतो नित्यं गावः पृष्ठत एव च ।
गावश्च सर्वगात्रेषु गवां मध्ये वसाम्यहम् ॥ —पद्मपुराण

मेरे आगे गौएँ रहें। पीछे गौएँ रहें। सम्पूर्ण शरीर गौओं से व्याप्त हो। मैं सदा गौओं में ही रहूं।

महाराजश्री के उपदेश का प्रभाव

विचारों का संसार ही बदल गया—

श्री सूद जी अम्बाला कैण्ट के एक प्रतिष्ठित-नागरिक तथा पंजाब की सबसे बड़ी सनातन-धर्म सभा के एक सम्मानित सदस्य हैं।

इस बार **गुरु-पूजा-महोत्सव पर श्री** ब्रह्मदत्त जी सूद **ने अपने हृदयोद्गार प्रकट करते हुए** बताया कि—**महाराजश्री** के गीतामय-सदुपदेश से उनके अपने जीवन में एक नया ही मोड़ आ गया है।

श्री सूद जी **ने कहा,** कि महाराजश्री के प्रति मेरी अटल श्रद्धा का सबसे प्रमुख कारण महाराज का अपने जीवन में विद्वान, तपस्वी, सन्त होने के साथ-साथ कर्मठ होना है, आज उनकी विद्या तपस्या, साधना कहना न होगा, जीवन की तमाम शक्ति केवल दूसरों की भलाई तथा लोकहित में लगती है। आप भारत के निष्काम कर्मयोग का सुसन्देश देने वाली गीता माता का प्रचार बड़ी तेजी से भारत के कोने-कोने में ही नहीं, विश्व तक भी पहुँचाने का व्रत लिए हैं, **महाराजश्री** के इस **गीता-गुरुकुल-ब्रह्मचर्याश्रम** के इन नन्हें-नन्हें पीतवस्त्रधारी बाल-ब्रह्मचारियों के जीवन को पुराने भारत के ऋषि आश्रमों की शिक्षा पद्धति में ढलता देखकर मेरा हृदय गद्-गद् हो रहा है, यह आज के भारत के लिए सबसे बड़े गौरव का रचनात्मक **पुण्य-कार्य** है। हिमालय की गुफाओं में बैठे बड़े-बड़े सिद्ध-योगियों से मैं **महाराजश्री** के लोक-कल्याण के **इस** क्रियात्मक-जीवन को कहीं अधिक श्रद्धा से देखता हूँ।

श्री सूद जी **ने इसी वर्ष अम्बाला में महाराजश्री का पहला गीता-प्रवचन सुना, चूंकि श्री सूद जी आर्य-समाज के सक्रिय सदस्य रहे हैं,** अतः उन्होंने जनता में भाषण के समय ही **महाराजश्री** से एक प्रश्न किया, कि क्या केवलमात्र श्रद्धाभाव से किए गए गीता-पाठ से भी जीवन का कल्याण हो सकता है? **महाराजश्री** ने इसके उत्तर में जो श्रद्धा-भक्ति का रहस्य समझाया, सूद जी ने कहा कि उस समय से मेरे विचारों का संसार ही बदल गया मैंने समझा, कि वास्तव में आध्यात्मिक संसार में सबसे मूल्यवान कोई है तो मानव-हृदय की श्रद्धा है।

श्री सूद जी ने **महाराजश्री** के तप-त्यागमय सुसंस्कृत साधु-विचारों से प्रभावित होकर न केवलमात्र अम्बाला में **'चाय'** का पीना ही छोड़ा, अपितु गुरु-पूजा के इस सुअवसर पर **महाराजश्री** के आध्यात्मिक जीवन से प्रभावित होकर जनता-जनार्दन के बीच ही **'सिगरेट पीना'** जैसा दुर्व्यसन भी छोड़ देने की प्रतिज्ञा की।

श्री सूद जी का तो अटल विश्वास के साथ यह कथन है कि **महाराजश्री** सद्गुरुदेव **जी** की असीम कृपा से शनैः-शनैः मैं अपनी सभी निर्बल-ताओं का परित्याग कर जीवन में कुछ प्राप्त कर के रहूँगा। गीता-सन्देश-परिवार श्री सूद जी को अपना हार्दिक धन्यवाद देता हुआ उनकी विचारों की सफलता के लिए प्रभु से प्रार्थना करता है।

❋ ❋ ❋

श्री टीकावेदी अमृतसर नगर के धार्मिक समाज के प्रतिष्ठित नेता और उत्साही कार्यकर्ता तथा डूंगा शिवालय योजना के रचयिता हैं।

गुरु-पूजा-महोत्सव पर इस बार केवल कुछ ही घंटों के लिए **महाराजश्री की गुरु-पूजा** के लिए आने वाले अमृतसर के परमधार्मिक सन्त-सेवी-कर्मठनेता श्री टीकावेदी जी ने गीता-आश्रम में उपस्थित जनता में कहा, कि—

यद्यपि मैं जैनमत के साधु-महात्माओं में श्रद्धा-भक्तिभाव रखने वाला हूँ किन्तु **इस बार**

मैंने चौरस्ती अटारी अमृतसर में जो **महाराजश्री** का गीता-प्रवचन सुना, तो एकदम मेरा हृदय **महाराजश्री** के श्री चरणों में श्रद्धाभाव लिए उमड़ पड़ा, मेरी श्रद्धा का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि आज मुझे सैकड़ों मील का सफर करके किसी धार्मिक जैन सम्मेलन में भाग लेना है, तथापि कुछ ही घंटों का समय लेकर भी मैं **महाराजश्री** के चरण-कमलों में गुरु-पूजा के दिन सादर पुष्पाञ्जलि समर्पित करने उपस्थित हुआ हूँ। एकमात्र **महाराजश्री के** ही गीता-प्रवचन का ऐसा गहरा **प्रभाव** मुझ पर पड़ा है कि मैं आज गीता-माता **का अनन्यभक्त** बन चुका हूँ।

इस बार जून १९६६ में अमृतसर चौरस्ती अटारी में लगातार एक मास तक जो **महाराजश्री** का गीता-सत्संग का विशाल कार्य-क्रम अपार जन-समूह के बीच चला। उसका बहुत अधिक श्रेय श्री वेदी जी को ही है।

यह और भी स्मरणीय गौरव की बात है कि आपने गुरु-पूजा-महोत्सव पर गीता-आश्रम में घोषणा की है, कि आगामी गुरु-पूजा से पहिले पहिले आश्रम में एक विशाल गीता-सत्संग-भवन अमृतसर **की ओर से** बन कर रहेगा। गीता-सन्देश **परिवार इसके लिए श्री वेदी जी** को हार्दिक **धन्यवाद देता है।**

श्री गीता-प्रचार-यात्रा समाचार—

महाराजश्री का पंजाब, दिल्ली और राजस्थान का दौड़ा

महाराजश्री अपना गीता-प्रचार का आगामी दौड़ा अम्बाला कैण्ट से शुरू करेंगे। सनातन-धर्म सभा अम्बाला छावनी पंजाब की सबसे बड़ी रचनात्मक-कार्य करने वाली सभा है, महाराजश्री के गीता-प्रवचन वहां अगस्त महीने के अन्तिम सप्ताह में हो रहे हैं। इसी बीच वह दो-तीन दिन के लिए पंजाब की राजधानी चण्डीगढ़ के सनातन-धर्म-सभा-मन्दिर में भी गीता-प्रवचन करेंगे।

तत्पश्चात् सितम्बर मास का पहला और दूसरा सप्ताह वह नई दिल्ली को देंगे। नई दिल्ली के बाद महाराजश्री फाजिल्का, फिरोजपुर तथा गंगानगर में गीता-प्रवचन करेंगे। गंगानगर में वह लगभग एक मास लगातार वहां के गीता-भवन में गीता-प्रचार के लिए समय देंगे।

इन कार्यक्रमों का सविस्तार वर्णन आगामी अंक में प्रकाशित होगा तथा उससे आगे के कार्यक्रम के लिए अगले **अंक की प्रतीक्षा कीजिये।**

सम्पादकीय

आज भारत के गीता भक्तों के सामने भी अपने गोपाल कृष्ण की गो की रक्षा का प्रश्न आ खड़ा हुआ है। गीता भक्तों की गीता तो पहिले ही गो दुग्धामृत है, यदि गो ही न रही, तो फिर गीतामृत ही कैसे और कहां से मिलेगा? गीता के उपदेष्टा योगिराज भगवान श्री कृष्ण को यह गीता ज्ञान गो-सेवा से ही प्राप्त हुआ। कौन नहीं जानता? कि भगवान कृष्ण का समस्त बाल्यकाल ही गोचारण में बीता। गोपालनन्दन, महाबाहुः, महाराजा, कर्मयोगी सब कुछ वे बाद में बने। सबसे पहले गोकुल के गो चराने वाले गोपाल रहे हैं। इस गो माता के दूध, दही तथा माखन के लिए तो वह 'माखन-चोर' भी बने। भगवान कृष्ण के जीवन को देखकर कहना होगा, कि गो गोपाल में है, तो गोपाल गो में छिपे हैं। तभी तो उन के गीता-ज्ञान को गौ दुग्धामृत की उपमा देते हुए लिखा गया कि—

सर्वोपनिषदो गावो, दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थोवत्सः सुधीर्भोक्ता, दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

हमें आज यथार्थ सत्य को लेकर अपनी भारत सरकार से और जनता-जनार्दन विशेषतः धार्मिक जगत दोनों से ही नम्र-निवेदन करना है, कि पहिले राष्ट्रीय सरकार को भारतीय संस्कृति की मानवहितकारी राष्ट्रीय मान्यताओं को पीछे नहीं छोड़ देना चाहिए। भारतीय-जन-जीवन का गो माता के साथ धर्म के नाम पर ही श्रद्धाभाव का इतना गहरा सम्बन्ध है, कि गो उसके जन्म-मरण के साथ सम्बद्ध है। अतः यह सुनिश्चित मान्यता है कि गोमाता जब भारत में मरने वाले मानव के लिए भी अपना जीवन-दान दे कर उसे बन्धन्मुक्त बना सकती है, तो आज भारत का जन-जीवन भी गोमाता को हत्या से बचाने के लिए अपने आपको न्योछावर कर सकता है।

आज जब भारत के परमपूज्य साधु-सन्त-सम्प्रदाय, धार्मिक संस्थाएं तथा विशिष्ट धर्माचार्य आदि गोमाता के लिए आमरण-अनशन-व्रत का सुविचार लिए जनता-जनार्दन के सम्मुख उतर आए हों, तब धार्मिक भारत की जनता ऐसे अवसर पर मौन साधे बैठी रहेगी, यह कदापि सम्भव नहीं है। अतः इस भयानक स्थिति में भारत सरकार को जनतन्त्र के नाते अविलम्ब ही मानवता के विचारों की सुरक्षा और सन्तोष के लिए आवश्यक पग उठाना चाहिए।

इधर वास्तविकता को साथ लिए जनता का भी यह कर्तव्य होता है, कि केवल गो-हत्या निरोधक कानूनमात्र बन जाने पर सन्तोष करके घर बैठ जाने का विचार नहीं कर लेना होगा, अपितु भारत के कोने-कोने के जन-जीवन में गो महिमा के प्रचार-प्रसार में पूर्ण शक्ति से काम करते हुए, गोमाता के अमृतमय घी, दूध वाला गोपाल कृष्ण का युग फिर से भारत में लाने का सुदृढ़व्रत लेना होगा। हमें यह क्रियात्मक दिखाना होगा, कि हमारा गो मैया के साथ शरीर प्राण एवं मन का सम्बन्ध है। तथा हम भारत के गोवंश को विश्व में सबसे ऊंचा उठाकर अपनी गोभक्ति का ठीक-ठीक परिचय देवें, तभी हमारा कहना सत्य होगा कि—

गावो ममाग्रतो नित्यं गावः पृष्ठत एव च।
गावश्च सर्वगात्रेषु गवां मध्ये वसाम्यहम् ॥

रजिस्टर्ड नं० एल—४३९

गीता सन्देश

"सर्वधर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो, मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥"

"अर्जुन ! सब धर्म-कर्मों का सहारा छोड़ कर केवल एक मेरी शरण में आ जा । सोच मत कर; मैं तुझे समस्त पापों से मुक्त कर दूंगा ।" —गीता १८-६६

पता—"गीता-सन्देश", गीता-आश्रम, पो० स्वर्गाश्रम, हृषीकेश । फोन : १२६

गीता-सन्देश के सहयोगी संरक्षक सन्त

निरंजनी अखाड़ा के आचार्य महामण्डलेश्वर श्री १०८ पूज्यपाद स्वामी प्रकाशानन्द जी महाराज भारत के धार्मिक नेता महामण्डलेश्वरों में महत्वपूर्ण गौरव-प्राप्त धर्माचार्य हैं। आप देववाणी संस्कृत-साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित हैं। भारतीय संस्कृति एवं धर्म की सुरक्षा में तथा समाज सेवा के नैतिक पुण्य-कार्यों में हृदय से योगदान देने वाले महापुरुष हैं। श्री जगदगुरु आश्रम नाम से कनखल (हरिद्वार) में गंगा मैया के परम पावन तट पर रमणीक ऐकान्तिक शान्त वातावरण में आपका सन्तआश्रम है, जहां वयोवृद्ध तपस्वी सन्त-महात्मा जप-तप साधना में संलग्न रहते हैं, तथा एक ओर संस्कृत के विद्यार्थी ब्रह्मचारी लोग वेदविद्या का अध्ययन करते हैं।

श्री आचार्य महामण्डलेश्वर जी महाराज जहां वैदिक ज्ञान परम्परा में उच्चकोटि की विद्वत्ता प्राप्त किये हैं, वहां सहृदयता एवं मानवता में कवियों जैसा भावुक हृदय साथ लिए हैं। आज देश में 'गौहत्या-निरोध' के लिए गौरक्षक षड्दर्शन साधु-समाज के सन्त महात्माओं का जो भारी आन्दोलन चल रहा है, आप उसके अध्यक्ष हैं और उसमें न केवल रात-दिन की कार्य-व्यस्तता में जन-जागरण के लिये जुटे हैं, अपितु हर प्रकार से आप गौहत्याबन्दी के इस पुण्य कार्य में सभी प्रमुखदलों को समानभाव से तन-मन-धन से सहयोग प्रदान कर रहे हैं और सभीसन्त महात्माओं की संगठित शक्ति का नेतृत्व करते हुये, इस सांस्कृतिक राष्ट्रीय कार्य को इस बार पूर्ण सफल बनाने का भगीरथ प्रयास कर रहे हैं। गीता-सन्देश परिवार को अपने माननीय संरक्षक श्री आचार्य महामण्डलेश्वर जी महाराज के इन सभी पुण्यकार्यों पर भारी गर्व है।

सन्त-वाणी

जो मनुष्य मन से प्राणियों का अहित सोचता है, उसको इस लोक में वैसा ही फल मिलता है, इसमें संशय नहीं ।

—नारायण पण्डित (हितोपदेश)

* * *

धर्म का मूल विनय है, उसका परम रसफल मोक्ष है, विनय के द्वारा ही मनुष्य बड़ी जल्दी शास्त्रज्ञान, कीर्ति और अन्त में निःश्रेयस् मोक्ष भी प्राप्त करता है ।

—भगवान महावीर

* * *

योगीजन शिव को आत्मा में देखते हैं, मूर्ति में नहीं। जो आत्मा में रहने वाले शिव को छोड़कर बाहर के शिव को पूजते हैं वे हाथ में रखे हुए लड्डू को छोड़कर कोहनी को चाटते हैं ।

—भगवान शंकराचार्य

* * *

जो विवेक के नियमों को सीख लेता है लेकिन उनके अनुसार अमल नहीं करता, वह उस आदमी की तरह है जिसने अपने खेतों में मेहनत की, मगर बीज नहीं डाला ।

—शेख़ सादी

* * *

संसाररूपी इस वाटिका में फूलों के अतिरिक्त कुछ नहीं है। अपना भ्रम ही एक कांटा है ।

—स्वामी रामतीर्थ

* * *

इससे बड़ी और कोई घातक भूल नहीं हो सकती कि हम मंजिल को मकसूद समझ लें या किसी पड़ाव पर ही अधिक देर तक ठहरे रहें ।

—सन्त अरविन्द

इस अंक में पढ़िए

गीता-सन्देश कार्यालय, पो० स्वर्गाश्रम, ऋषिकेश (फोन नं० : [illegible]) के लिए गीता-मुद्रणालय स्वर्गाश्रम में श्री स्वामी वेदव्यास जी द्वारा मुद्रित, तथा प्रकाशित।

गीता-सन्देश

गीता सुगीता कर्तव्या, किमन्यैः शास्त्र-विस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य, मुखपद्माद्विनिःसृता ॥ —भगवान 'व्यास'

वर्ष : १० } गीता-आश्रम, स्वर्गाश्रम, आश्विन सं० २०२३—अक्टूबर, १९६६ ई० { अंक : १०

❋ काहे रे बन खोजन जाई ❋

सर्व निवासी सदा अलेपा, तोहिं संग समाई ॥
पुहुप मध्य ज्यों बास बसत है, मुकुर मांहि ज्यों छाई ।
तैसे ही हरि बसत निरन्तर, घट ही खोजो भाई ॥
बाहिर भीतर एकै जानो, यह गुरु ज्ञान बताई ।
कह 'नानक' बिनु आपा चीन्हें, मिटै न भरम की काई ॥

पितृभक्त बालक—

देवव्रत (भीष्मपितामह)

महाभारत के ब्रह्मचारी भीष्मपितामह को हर भारतीय जानता है, जो शरीर के रोम-रोम में बाणों से बिंधे होने पर भी युद्ध क्षेत्र में शर-शय्या पर पड़े रहे और मनमाने समय तक प्राण नहीं छोड़े। आप जानते हैं यह शक्ति उनमें कहां से आई? कि मौत पर काबू पा लिया। केवल पिता के आशीर्वादमात्र से ही। आइए, आपको उन के बचपन की कहानी सुनाएं।

भीष्मपितामह का नाम बचपन में पहले देवव्रत था, उनके पिता का नाम राजा शान्तनु था और माता का नाम गंगा। देवव्रत ने वेदों की पूर्ण शिक्षा महर्षि वशिष्ठ जी से प्राप्त की और राज-नीति की शिक्षा शुक्राचार्य तथा देवगुरु बृहस्पति से पाई। धनुर्वेद की विद्या भगवान परशुराम जी से सीखी।

महाराज शान्तनु ने एक दिन यमुनातट पर घूमते हुए सत्यवती नामक कन्या को देखा और उसके सुन्दर रूप पर रीझ उठे। उस कन्या का एक निषाद मल्लाह के यहां पालन-पोषण हो रहा था। राजा शान्तनु ने जब निषाद से उस कन्या को अपनी रानी बनाने के लिए मांगा, तो निषाद ने जवाब देते हुए कहा, कि राजन! यह कन्या एक ही शर्त पर आपको मिल सकती है; कि इससे उत्पन्न होने वाला पुत्र ही आपके राज्य का अधि-कारी होगा! यह शर्त महाराज शान्तनु ने स्वीकार नहीं की, चूंकि वह अपने सुयोग्य विनम्र आज्ञा-कारी सुपुत्र देवव्रत को ही अपने राज्य का उचित व सच्चा अधिकारी मानते थे।

राजा शान्तनु निराश घर लौटे। इधर देवव्रत ने किसी भी प्रकार अपने पिता जी के निराश होने का कारण मालूम किया और तत्काल उस निषाद के पास जाकर कहा, "देखो मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि मैं कभी राज्य नहीं करूंगा। तुम्हारी इस कन्या से उत्पन्न पुत्र ही मेरे पिता जी के राज्य का अधिकारी होगा"। निषाद ने इस पर भी जवाब दिया कि तुम पर मेरा विश्वास है, किन्तु तुम्हारा विवाह होने पर तुम्हारा लड़का ही उस राज्य को छीन लेगा। भारत के सुपुत्र देवव्रत ने कितनी भीष्मप्रतिज्ञा करते हुए कहा, 'मैं अपने पिताजी की इच्छापूर्ण करने के लिए कभी विवाह ही नहीं करूंगा, आजन्म ब्रह्मचारी रहूंगा, तब तो आपको मेरी सन्तान का भी कोई भय नहीं रहेगा'। देखिए! इसी भीष्मप्रतिज्ञा के कारण इस देवव्रत का नाम भारत में भीष्म पितामह के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

निषाद ने प्रसन्न होकर कन्या सत्यवती राजा शान्तनु को सौंप दी, देवव्रत के पिता राजा शान्तनु ने अपने सुपुत्र की इस पितृभक्ति से प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया, कि मेरे पुत्र को मृत्यु छू तक नहीं सकेगी। यही जब चाहेगा, तो प्राण अपनी इच्छा से छोड़ेगा। अन्त में वही हुआ, महाभारत युद्ध में पितृभक्त भीष्मपितामह ने घायल दशा में बाणों की शय्या पर लेटे हुए उत्तरायण सूर्य होने पर अपनी इच्छा से ही प्राण छोड़े। देखिए, भारत के पितृभक्त बालक अपने माता-पिता के आशीर्वाद से कितने वीर और मृत्यु तक पर विजयी होते थे। बालको! आप भी भारत के ऐसे ही पितृभक्त बालक बनिए।

श्रीमद्-भगवद्-गीता पाठ

[प्रथम अध्याय]

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

पराक्रमी युधामन्यु, बलवान उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु तथा द्रोपदी के पांचों पुत्र यह सभी महारथी हैं ॥६॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम् ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

हे ब्राह्मण श्रेष्ठ ! हमारी भी सेना में जो प्रधान हैं, उन्हें आप जान लीजिए, आपकी जानकारी के लिए मेरी सेना के जो सेनापति हैं. उनको कहता हूँ ॥७॥

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

आप और भीष्मपितामह तथा कर्ण संग्राम विजेता कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा भी हैं ॥८॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थेत्यक्तजीविताः ।
नाना शस्त्र प्रहरणाः सर्वे युद्ध विशारदाः ॥९॥

और भी बहुत से शूरवीर नाना प्रकार के शस्त्रास्त्रों से युक्त मेरे लिए जीवन को भी त्यागने वाले सब के सभी युद्ध में चतुर हैं ॥९॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

हमारी वह सेना भीष्मपितामह द्वारा सुरक्षित सब प्रकार से अजेय है और भीमसेन द्वारा रक्षित इनकी सेना जीतने में सुगम है ॥१०॥

(क्रमशः आगामी अङ्क में)

गीता-माहात्म्य

— रचयिता—श्री प्रतापनारायण जी कविरत्न —

[१]

सत्य कर्मयोगी होना ही, उनकी वाणी का है सार ।
गीता क्या है, हरि का मत है, कर्मयोग है यह साकार ।।
वन में जाकर जप-तप करना, कभी नहीं है पूरा योग ।
सच्चा योगी वही, नहीं जो, लिप्त हुआ भोगों को भोग ।।

[२]

दुनिया के कामों को करके, जो है सब कामों से दूर ।
कर्मवीरता में जो संतत, अनासक्ति रखता भरपूर ।।
ज्वालामुखी, हिमालय को भी, चीज एक ही मन में मान—
सभी काम जो करता रहता, तेरा-मेरा तज अज्ञान ।।

[३]

होकर जनक कई शिशुओं का, जो रहता है 'जनक' समान ।
बुरा-भला, सुख-दुःख, रात-दिन, हैं जिसके रज-कनक समान ।।
कामों में आसक्त नहीं वह, सबसे अलग, सभी के साथ ।
कर्मवीरता उनके कर में, फल देना ईश्वर के हाथ ।।

[४]

सजल पंक से पंकज निकला, पर वह नहीं पंक से सिक्त ।
जल में रहता, जलज कहाता, पर वह है जलमयता-रिक्त ।।
जलचर पक्षी क्रीडा करते, डूब-डूब जल बीच सदेह—
गीले कभी न वे होते हैं, सलिल-गेह से रखकर स्नेह ।।

[५]

चिकने घट बन, सत्य-मार्ग में, खेते जाओ अपनी नाव ।
दुनिया की बातें, जल-बूँदें, डाल सकेंगी नहीं प्रभाव ।।
रखकर निज कर्त्तव्य-धर्म में, अनासक्ति,बल,साहस,सत्त्व ।
काम करो निष्कामभाव से, यह गीता-तत्त्वों का तत्त्व ।।

* वेदों के अनमोल-रत्न *

ओ३म् नमः सायं नमः प्रातर्नमोरात्र्या नमो दिवा ।
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः ॥

—अथर्व० ११-२-१६

हम उस मंगलमय परमात्मा को प्रातः, सायं, रात्रि हर समय नमस्कार करते हैं। ईश्वर के उत्पत्तिकर्ता और संहारकर्ता दोनों रूपों को हम नमस्कार करते हैं।

* * * *

ओ३म् नमस्ते-अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे ।
नमस्ते भगवन् अस्तु यतः स्वः समीहसे ॥

—अथर्व० १-१३-१

* * * *

बिजली के समान तेज पूर्ण परमात्मा को नमस्कार हो। बादलों के समान गर्जना करने वाले परमात्मा को नमस्कार हो। हे परमात्मन् ! तुम्हें नमस्कार हो। क्योंकि तुम ही समस्त प्राणियों को सुख देने वाले हो।

* * * *

ओ३म् यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

—अथर्व० १०-८-१

जो परमात्मा भूत, वर्तमान और भविष्य का अधिष्ठाता है, और वह केवल सुख-स्वरूप है, उस महाब्रह्म को हम नमस्कार करते हैं।

मानस-कथा

नवधा-भक्ति

शबरी के प्रति भगवान राम —

नवधा भक्ति कहउँ तोहि पाहीं । सावधान सुनु धरु मन माहीं ॥
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा । दूसरि रति मम कथा प्रसंगा ॥

मैं तुझसे अब अपनी नवधा भक्ति कहता हूँ। तू सावधान होकर सुन और मन में धारण कर। पहली भक्ति है सन्तों का सत्संग। दूसरी भक्ति है मेरे कथाप्रसङ्ग में प्रेम।

गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान ।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान ॥

तीसरी भक्ति है अभिमानरहित होकर गुरु के चरणकमलों की सेवा। और चौथी भक्ति यह है कि कपट छोड़कर मेरे गुण-समूहों का गान करे।

मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा । पंचम भजन सो बेद प्रकासा ॥
छठ दम सील बिरति बहु करमा । निरत निरंतर सज्जन धरमा ॥

मेरे (राम) मन्त्र का जाप और मुझमें दृढ़ विश्वास—यह पांचवीं भक्ति है जो वेदों में प्रसिद्ध है। छठी भक्ति है इन्द्रियों का निग्रह, शील (अच्छा स्वभाव या चरित्र), बहुत कार्यों से वैराग्य और निरन्तर संत-पुरुषों के धर्म (आचरण) में लगे रहना।

सातवँ सम मोहि मय जग देखा । मोतें संत अधिक करि लेखा ॥
आठवँ जथालाभ संतोषा । सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा ॥

सातवीं भक्ति है जगत् भर को समभाव से मुझ में ओतप्रोत (राममय) देखना और संतों को मुझसे भी अधिक करके मानना। आठवीं भक्ति है जो कुछ मिल जाय उसी में सन्तोष करना और स्वप्न में भी पराये दोषों को न देखना।

नवम सरल सब सन छलहीना । मम भरोस हियँ हरष न दीना ॥
नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई । नारि पुरुष सचराचर कोई ॥

नवीं भक्ति है सरलता और सबके साथ कपट रहित बर्ताव करना, हृदय में मेरा भरोसा रखना और किसी भी अवस्था में हर्ष और दैन्य (विषाद) का न होना। इन नवों में से जिनके एक भी होती है, वह स्त्री-पुरुष, जड़-चेतन, कोई भी हो।

सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें । सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें ॥

हे भामिनि! मुझे वही अत्यन्त प्रिय है। फिर तुझ में तो सभी प्रकार की भक्ति दृढ़ है।

—अरण्य काण्ड

गीता का एक मन्त्र

योगिराज, गीताव्यास, श्री १००८ पूज्यपाद
श्री स्वामी वेदव्यास जी महाराज

❀

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं, यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति, मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

—गीता १४-१९

पदच्छेद

न अन्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टा अनुपश्यति गुणेभ्यः च परं वेत्ति मद् भावं सः अधिगच्छति।

अन्वय

द्रष्टा यदा गुणेभ्यः अन्यं कर्तारं न अनुपश्यति गुणेभ्यः परं च (माम्) वेत्ति सः द्रष्टा मद् भावं अधिगच्छति।

साधारण अर्थ

जो साधक साधना करते-करते अपना शरीर, इन्द्रियां, मन और बुद्धि तथा सारी सृष्टि के द्वारा किए हुए समस्त कार्यों का द्रष्टा (साक्षी) मात्र होकर संसार में रह रहा है अर्थात् किसी भी कर्म का अपने को कर्त्ता नहीं मानता अर्थात् जितने भी कर्म उसकी इन्द्रियों या दूसरे व्यक्तियों द्वारा हो रहे हैं उन सब कर्मों का कारण केवल तेईस तत्व अथवा सत्व, रज, तम इन तीन गुणों को ही मानता है और गुणों से अतिरिक्त संसार में किये जाने या होने वाले समस्त कार्यों का कर्त्ता और कोई भी नहीं है ऐसा निश्चय करने वाला सदा सर्वत्र ऐसा विचार अथवा ऐसा ज्ञान जिसे सदा तीनों कालों (भूत, भविष्य, वर्तमान) में बना रहता है और मुझ परमात्मा को यह सिद्धावस्था को प्राप्त द्रष्टा उपरोक्त तीन गुणों से जब अति परे प्रत्यक्षवत् देखता है तब वह साधक सिद्धावस्था को प्राप्त होकर उस समय मेरे ही स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ

इस मंत्र में 'मद् भाव' शब्द की विशेषता है और साधक की साधना का फल 'मद् भाव' की प्राप्ति उसके परम लक्ष्य के रूप में मानी

गई है। और इस 'मद्भाव' की प्राप्ति के लिए इस मंत्र में दो साधन बताये गये हैं पहला साधन यह है कि सारा संसार तीन गुणों का कार्य है द्रष्टा ऐसा देखे और सारी सृष्टि को और उसमें होने वाले कर्मों का कारण केवल गुणों को माने अर्थात् उसके इन्द्रियां उसके मन, उसकी बुद्धि या उसके शरीर के द्वारा जो भी कर्म हो रहा है वह सब इन तीनों गुणों की प्रेरणा या प्रभाव से ही हो रहा है ऐसा उसे स्पष्ट भासित होवे तथा इसी प्रकार से संसार में उसकी सर्वत्र, सभी कार्यों में यही दृष्टि स्थिर बनी रहे। यह पहला साधन प्रकृति (माया) के विषय में बताया गया अर्थात् नाशवान् माया के कार्यों के प्रति उसका दृष्टिकोण क्या हो यह पहला साधन बताया गया। और आगे अविनाशी परमात्मा के प्रति उसके दृष्टि-कोण के निरूपण-रूप में दूसरा साधन बताते हैं।

'गुणेभ्यश्च परं वेत्ति' गुणों से पर जो परमात्मा है उस परमात्मा को इस प्रकार से अनुभव करे कि वह इन तीन गुणों और उसके कार्य से एकदम अलग है और उसका सम्बन्ध तीन काल में कभी भी इस सृष्टि और उसके किसी भी कार्य से नहीं है। वह परमात्मा पूर्ण रूप से निर्विकार, अकर्त्ता एवं समस्त संकल्पों से रहित है। न उसने किसी को बनाया, न कुछ उससे बना, न उसका किसी से कुछ भी सम्बन्ध है, ऐसा अनुभव स्थिर-रूप से जिसको हो जावे वह पुरुष **'मद्भाव'** को प्राप्त हो जाता है।

उपरोक्त दोनों साधनों का आधार विचार है। ज्ञानमार्ग में **विचारः परमो-ज्ञानं** विचार ही परमज्ञान है ऐसा माना गया है। बिचार के बराबर कोई भी साधन नहीं। जप, तप, साधन, संध्या, और भजन विचार के बिना कोई भी अभीष्ट फल प्रदान नहीं कर सकते। इसीलिए तो इस मंत्र में **अनुपश्यति** क्रिया पद आया है। **अनुपश्यति** शब्द का अर्थ होता है 'विचार करके बार-बार देखना।' सो यह बार-बार देखना क्या है? इसका भाव है सदा देखना, सदा अनुभव करना। मन्त्र में **यदा** शब्द का सीधा अर्थ है 'जिस काल में'। साधना करने वाला साधक, साधना करते-करते जिस किसी काल में उपरोक्त अनुभव को प्राप्त हो जाता है उसी काल के लिए **यदा** शब्द का प्रयोग हुआ है। इस **यदा** शब्द का बड़ा महत्व है। साधक की अज्ञानमूलक समस्त वृत्तियों का जहां नाश होता हो तथा जहां से ज्ञानजनित कल्याणकारी दृष्टि का आविर्भाव होता हो वह काल कितना सुखद होता है, कितना हर्षोत्पादक है, इसी काल का नाम **यदा** है।

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं तीन

गुणों के अतिरिक्त और कोई भी कर्मों का कारण नहीं है। ये तीन गुण ही सृष्टि के समस्त कर्मों को कराने वाले हैं। मेरा शरीर, मेरी इन्द्रियां, मेरा मन और मेरी बुद्धि कर्मों के कर्त्ता नहीं हैं तथा संसार का कोई भी प्राणी और कोई भी व्यक्ति किसी भी कर्म का कर्ता नहीं है जो कुछ भी जहां भी जैसा भी कर्म हो रहा है सब तीनों गुणों के कारण हो रहा है। मेरे अन्तःकरण में जब सत्व-गुण आया तो मेरा मन, मेरी इन्द्रियां सब सत्वगुणी कर्म करने लगती हैं और जिस काल में अन्तःकरण में रजोगुण का प्रभाव आकर छा जाता है, उस काल में मेरे सारे कर्म रजोगुणी होने लगते हैं, इसी प्रकार जब तमोगुण का प्रभाव मेरे अन्तः-करण पर पड़ता है तो मेरी इन्द्रियां तमो-गुणी कर्मों में लग जाती हैं। इस प्रसंग का वर्णन गीता के चौदहवें अध्याय में विस्तार से किया गया है। इन तीनों गुणों का क्या प्रभाव है, ये कैसे उत्पन्न होते हैं और कैसे बढ़ते हैं और उनको अलग-अलग क्या फल है यह सब वर्णन गीता के इस अध्याय से अच्छा शायद ही किसी अन्य ग्रन्थ में मिले। अस्तु अव्यय जीवात्मा को माया जनित इन तीनों गुणों ने ही जन्म-मरण के चक्कर में डाला हुआ है।

सत्वं रजस्तम इति,
गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो,
देहे देहिनमव्ययम् ॥

—गीता १४-५

अर्थात् सत्व रज और तम ये तीनों गुण माया से पैदा हुए हैं और अव्यय जीवात्मा को शरीर में आसक्ति और देहाध्यास उत्पन्न कराके जन्म-मरण के बन्धन में डालते हैं।

सत्वं सुखे संजयति,
रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः,
प्रमादे संजयत्युत ॥

—गीता १४-९

अर्थात् सत्वगुण सुख की आसक्ति में बांधता है, रजोगुण कर्मों में आसक्त कराता है और तमोगुण ज्ञानवृत्ति को ढककर प्रमाद में लगाता है, इत्यादि। ये प्रसंग १४ वें अध्याय में विस्तार से आए हैं। अस्तु सारा संसार त्रिगुणात्मिका माया का खेल है। इस खेल को जो खेल ही समझता है अर्थात् तीन गुणों का कार्य समझता है वही दृष्टा ठीक दृष्टि वाला है। और जीव रूप में और मेरा परमात्मा इस माया और उसके गुणों से कोई सम्बन्ध नहीं रखते; ऐसा भाव सदा बनाए रखने वाला साधक ही 'मद्भाव' की सिद्धि को प्राप्त करता है। इस मंत्र में **कर्त्तारं** शब्द से स्पष्ट प्रगट है कि तीन गुण ही करता हैं

जीवात्मा या परमात्मा, सृष्टि और उसके कर्मों के कर्त्ता नहीं।

पहले भी तीसरे अध्याय के २७वें और २८वें मंत्र में यह बात स्पष्ट बताई गई है कि समस्त संसार के समस्त कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा ही हो रहे हैं। अहंकार से मोहित अज्ञानी पुरुष उन कर्मों का कर्त्ता अपने को अज्ञान से मान लेता है, किन्तु तत्वदर्शी पुरुष गुण और उनके कर्म इन दोनोंको भलीप्रकार समझता है और **गुणा गुणेषु वर्तन्ते** यह मानकर चलता हुआ किसी भी कर्म और उसके फल में कभी आसक्त नहीं होने पाता? गुण गुणों में वर्त रहे हैं इसका अर्थ यह है कि गुण पंच महाभूत, मन, बुद्धि, अहंकार, दस इन्द्रियां, पांच विषय इत्यादि जो २३ तत्व हैं यही गुण विभाग है और इनकी परस्पर की चेष्टायें जैसे आंख का काम देखना, कान का काम सुनना, मन का काम संकल्प-विकल्प करना, बुद्धि का काम निश्चय करना ये क्रियायें ही कर्म विभाग हैं अस्तु 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' का अर्थ हुआ २३ गुण अपने-अपने स्वाभाविक कर्म में रत हैं। मैं और मेरा परमात्मा जब इन तेइस गुणों से ही कोई सम्बन्ध नहीं रखते तो उनके कार्यों से मेरा सम्बन्ध कहां से आया। जब मैं आंख और कान आदि इन्द्रियों से न्यारा हूँ तो आंख और कान की क्रियाओं देखना और सुनना का कर्ता कैसे हो सकता हूँ अर्थात् देखने वाला मैं नहीं, सुनने वाला मैं नहीं। चलने वाला मैं नहीं, सोचने वाला मैं नहीं और निश्चय करने वाला भी मैं नहीं हूँ यह दृष्टि **गुणेभ्यः परं** कहलाती है और इस दृष्टि को प्राप्त करने वाला साधक ही **मद्भाव** की प्राप्ति करता है।

अब आइए, **मद्भाव** शब्द पर। इस **मद्भाव** शद का अर्थ है मत्+भाव अर्थात् मेरा भाव। **मद्भाव** की प्राप्ति ही साधक का लक्ष्य होना चाहिए। **मद्भाव** की प्राप्ति के बिना मनुष्य का जीवन व्यर्थ है। **मद्भाव** यह शब्द कहकर भगवान आत्मभाव की ओर संकेत कर रहे हैं। गीता में स्थान-स्थान पर भगवान ने **मत्** शब्द दुहराया है यथा—मत्कर्म, मत्परमः, मत्परः, मत्परायणः, मत्प्रसादात्, मत्संस्थाम्, मदर्थं, मदर्पणं, मदाश्रयः, मद्गतेन, मद्गतप्राणा, मद्ग्रहाय, मद्भक्ति मद्योगं, मद्भावाय, मद्याजी, मद्विपाश्रयः, मत्तः, मदं इत्यादि सब जगह मेरा मेरा कहकर संकेत किया है। यहां शंका होती है कि जो प्रभु संसार के समस्त जीवों की समस्त आसक्ति को छुड़ाने के लिए मेरा मेरा कहना सबसे छुड़ाते हैं वे स्वयं बार बार मेरी शरण में आ, मेरे भाव को प्राप्तकर, मेरा भक्त बन, मेरा भजन कर, मेरा बन जा, मेरा ही बनकर रह, ये बार-बार स्वयं श्रीमुख से मेरा-मेरा का उच्चारण क्यों करते हैं? यह अज्ञानियों की तर्क है। इसका उत्तर भी विचारवानों

की ही समझ में आ सकता है। भगवान कृष्ण साक्षात् नारायण गीता में अनेक स्थानों पर लिखते हैं कि मैं भक्तों के हृदय में निवास करता हूँ, कहीं लिखते हैं ज्ञान का दीपक लेकर मैं भक्तों के हृदय में प्रविष्ठ होकर अज्ञान अन्धकार को नष्ट करता हूँ अस्तु जो कृष्ण भगवान अपने जिस रूप से भक्तों के अन्तःकरण में घुसकर उस का जन्म-जन्म का अज्ञान काटते हैं उनके उसी स्वरूप को मेरा-मेरा लिखा गया है। वे आत्मभाव में स्थित होकर मेरा-मेरा कह रहे हैं अर्थात् मैं आत्मा हूँ और इसी आत्मा का भाव **मद्भाव** कह कर उसको प्राप्त करने के लिए साधक को प्रेरित कर रहे हैं। यह **मद्भाव** भगवान का निर्विकार, निराकार, अव्यय, अजन्मा, अनादि, अनन्त तथा सर्वव्यापक आत्मतत्व है और **मद्भाव** को प्राप्त होना निराकारत्व को प्राप्त होना अजरत्व और अमरत्व को प्राप्त होना तथा निर्विकारत्व को प्राप्त होना है। यही प्राप्ति और उपलब्धि साधक के जीवन का परम-लक्ष्य है। इसको प्राप्त होना ही आत्यन्तिक सुख परागति, परमभाव तथा परमात्मा की प्राप्ति कही गई है। गीता के पांच मंत्रों में यह **मद्भाव** शब्द आया है।

बहवो ज्ञानतपसा पूता,
मद्भावमागताः । ४-१०
यः प्रयाति स मद्भावं,
याति नास्त्यत्र संशयः । ८-५
मद्भाबा मानसा जाता,
येषां लोक इमाः प्रजाः । १०-६
मद्भक्त एतद्विज्ञाय,
मद्भावायोपपद्यते । १३-१८
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति,
मद्भावं सोऽधिगच्छति ।१४-१९

इन उपरोक्त मंत्रों में कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों ही प्रकार के मार्गों से अलग-अलग **मद्भाव** की प्राप्ति बताई गई है और अर्जुन को सम्बोधन करके उसे **मद्भाव** की प्राप्ति के लिए प्रेरित किया गया है **मद्भाव** यह शब्द पांच ही बार गीता में रखकर पाँच पाण्डवों को, पांच विषयों को जीतकर पंच परमेश्वर की प्राप्ति के लिए संकेत किया गया है।

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यह मन्त्र १४वें अध्याय का साररूप है और भगवान ने तीनों गुणों से परे 'मद्भाव' की प्राप्ति का इसमें अत्यन्त सुन्दर दोनों साधनों का निरूपण किया है।

युगावतारी संत—
तुलसीदास

तुलसी साहित्य और तुलसीकृत रामायण के अनन्य भक्त तथा विशेषज्ञ
श्री सेठ जयप्रकाश जी

भारतीय काव्य जगत में तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी के इतिहास में तुलसीदास का नाम संसार के सर्वतोत्कृष्ट कवियों में गिना जाता है। तुलसीदास का नाम हमें प्राचीनकाल के ऋषि-मुनियों की भांति ही स्मरण करना चाहिए। सन्त तुलसीदास का जीवन जन्म से लेकर अन्त तक एक महान त्यागमय, तपोनिष्ठ, अनासक्त तथा राम के निष्ठावान एक अनन्य भक्त का आदर्श जीवन है। प्राचीनकाल के विश्वामित्र और दधीचि ऋषि की भांति उन्होंने जंगलों में बैठकर तपस्या भले ही न की हो। गायत्री मंत्र, शिव मंत्र या विष्णु मंत्र के अनुष्ठान और मौन रहकर कठिन साधनाएँ चाहे कितनी ही कम की हों किन्तु जिस अन्तःकरण की शुद्धि के लिए ये सब साधन किये जाते हैं और मन और बुद्धि की पवित्रता के लिए एवम् पाप-वृत्तियों के शमन के लिए साधक जो साधनाएँ करता है तुलसीदास को यह अन्तःकरण की शुद्धि और उपनिषदों में वर्णित साधन चतुष्टय सम्पन्न जीवन सहज ही प्राप्त था। पूर्व जन्म के संस्कार बड़े प्रबल होते हैं। उनके ये संस्कार अत्यन्त प्रौढ़ थे। गीता के छठे अध्याय में जो योगभ्रष्ट की गति का वर्णन आया है कि ये योगभ्रष्ट साधक दूसरे जन्म में 'शुचीनां श्रीमतां गेहे, योगभ्रष्टोऽभिजायते'

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥

अर्थात् योगभ्रष्ट पुरुष पिछले जन्म की कठिन तपस्या के कारण दूसरे जन्म में अत्यन्त पवित्र एवं सम्पन्न गृहस्थियों के घर में जन्म पाता है किन्तु यदि पिछले जन्म के संस्कार अत्यन्त वैराग्यमय होते हैं तो उसका दूसरा जन्म **'धीमतां योगिनां कुले भवति'** अर्थात् बुद्धिमान् योगियों के कुल में होता है। सन्त तुलसीदास का जन्म भी इसी प्रकार का था और गीता के इसी छठे अध्याय में वर्णित अन्तिम मन्त्रों के अनुसार उन्होंने पूर्व शरीर का 'बुद्धि-संयोग' प्राप्त किया और महान संसिद्धि के लिए भक्तियोग का आधार लेकर जीवन लक्ष्य के लिए उद्योग किया तथा पूर्व जन्म के पूर्वाभ्यास के सहारे अपने इस नवीन जीवन में रामरूपी निराकार ब्रह्म की उपासना की और शब्द ब्रह्म (माया) का अतिवर्तन करके **'संशुद्ध किल्बिष'** (पूर्ण शुद्ध अन्तःकरण वाला) बनकर अनेक जन्म 'संसिद्धः' होकर परमगति को प्राप्त हुए।

सन्त तुलसीदास जी का अपना सारा जीवन गीता में वर्णित साधनाओं से ओतप्रोत था। गीता के दूसरे अध्याय के अन्त में—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।

—गीता २-७१

में इस अध्याय की साधनाओं का सार भरा है। तुलसीदास जी का जीवन इसी मंत्र के अनुसार

था तथा पन्द्रहवें अध्याय के पांचवें मंत्र में ब्रह्मज्ञानी के जो लक्षण लिखे हैं—

निर्मानमोहा जितसंगदोषा,
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःख संज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥

—गीता १५-५

उसके अनुसार वे कलियुग के समस्त सन्तों से ऊँचे निकल जाते हैं।

तुलसीदास ने अपना अहंकार और कर्तापन का भाव त्यागने के लिये अपनी लेखनी को माला बनाया। जिस तरह माला के गुरियों के द्वारा मंत्रों का जाप किया जाता है वैसे ही तुलसीदास ने अपनी लेखनी से अपने ही अन्तःकरण के यत्किंचित् ज्ञात-अज्ञात नाम-शेष पाप-वृत्तियों का शमन किया। उन्होंने जो कुछ लिखा सब 'स्वान्तः-सुखाय' लिखा। संसार भर के कवियों के काव्य में ऐसा उदाहरण कहीं नहीं मिलता कि कविता को अन्तःकरण की शुद्धि की साधना मानकर किसी कवि ने इस प्रकार से अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त किया हो। तभी तो सन्तों का लक्षण लिखते हुए तुलसीदास ने लिखा—

'निज परिताप द्रवइ नवनीता।
परदुख द्रवइ सो सन्त पुनीता ॥'
'सन्त असन्तन की असि करणी।
जिमि कुठार चंदन आचरणी ॥'

तुलसीदास के समय निराकार और साकार का बड़ा झगड़ा चल रहा था। आदर्श सन्त के नाते वे इस झगड़े में नहीं पड़े। उन्होंने निराकार ब्रह्म को अपने राम में देखा और राम की निराकार ब्रह्म के रूप में उपासना की। निराकार ब्रह्म के उपासक कभी-कभी व्यवहारकाल में मनुष्य तक में भी भगवान को नहीं देख पाते; जब कि तुलसीदास को अपने राम, विश्व के प्राणी-प्राणी और कण-कण में दीख पड़ते थे—

'सिया राममय सब जग जानी।
करौं प्रणाम जोरि जुग पानी ॥'

तुलसीदास जी कविता को प्रभु की साधना करने के लिए, प्रभु का दिया हुआ एक वरदान मानते थे। परमात्मा ने किसी को संसार में विद्या दी है, किसी को धन दिया, किसी को लौकिक अधिकार दिये तो किसी को स्त्री-पुत्रादि अन्यान्य वस्तुएं दीं। इसी प्रकार परमात्मा ने किसी पर अत्यन्त कृपा करके उसे सरस्वती माता की सेवा दी। ये सब परमात्मा के दिये हुए दान उसी परमात्मा की सेवा में लगाने के लिए दिये गये हैं। परमात्मा ने जिसको जो कुछ कृपा करके दिया है वह सब उसी परमात्मा की प्राप्ति के लिए साधनमात्र मानकर दिया है। ये पदार्थ बड़े पुण्यों के बाद मिलते हैं और इन पदार्थों से 'सिया राममय सब जग' जानकर उस जग की सेवारूपी महान साधना करनी चाहिए। कविता का गुण प्रभु की असीम कृपा का फल है। यह फल प्राप्त करके प्रभु की सेवा और साधना अच्छे से अच्छी बन सकती है। इसीलिए तुलसीदास आदि उच्चकोटि के सन्तों ने इस सरस्वती माता के वरदान को उसी परमात्मा की आराधना में समर्पित किया। गीता में लिखा है—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

—गीता ३-९

जो कर्म परमात्मा के लिए नहीं किये जाते वे सब बन्धन के कारण होते हैं तथा—

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।

—गीता ४-२३

परमात्मा की प्रसन्नता के लिए कर्तव्य समझ कर जो कर्म किये जाते हैं उन कर्मों का कोई फल न होने के कारण वे कर्म जन्म-मरण के कारण नहीं होते और इसीलिए—

'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्'
—गीता ४-३१

ऐसे कर्मों को करने वाला अर्थात् समस्त कर्म और उनके फल परमात्मा को अर्पण करने के बाद परमात्मा का दिया हुआ पुत्र, परिवार, धन, यश, अपयश, मान, अपमान सब अमृत तुल्य मानकर भोग करने वाला सदा सन्तुष्ट साधक सनातन ब्रह्म की प्राप्ति करता है। तुलसीदास भी इसी साधना के साधक थे—

कवि न होउं नहिं चतुर कहाऊं।
मति अनुरूप राम गुन गाऊं॥
रीझत राम सनेह निसोते।
को जग मन्द मलिन मति मोते॥

तुलसीदास ने अपने अहंकार और कर्तापने के अभिमान को त्यागने के लिए अपने ग्रन्थों में अपने को न जाने कितना धिक्कारा और अपनी लेखनी से अपना ही कितना तिरस्कार किया ऐसा साधन कभी किसी कवि का आज तक नहीं देखा गया—

विरद गरीब निवाज राम को।
मो सम कौन कुटिल खल कामी।
बंचक भगत, कवि न होउं॥ आदि
छली, मलीम, हीन सब ही अंग,
तुलसी सो छीम छाम को।
नाम नरेश प्रताप प्रबल जुग,
जुग-जुग चालत चाम को॥

यह साधना बड़ी कठिन है। जप, तप, त्याग, सब इस साधना के सामने सरल हैं। इसी साधना का फल है कि आज तुलसीदास भारत और संसार के कोटि-कोटि हृदयों में महान सन्त के रूप में मान्य होकर बैठ गए हैं और ज्यों-ज्यों समय बीतता जायेगा त्यों-त्यों उनका मान बढ़ता ही जायेगा।

सन्त तुलसीदास चाहते तो वे अपने पूर्ववर्ती कलियुग के महान सन्तों और युगावतारी आद्य-शंकराचार्य या रामानुजाचार्य या सन्तमत वाले कबीरदास, दादू अथवा अन्य सन्तों की भांति कोई नया पंथ या शक्तिशाली सम्प्रदाय सहज ही खड़ा कर सकते थे। उन्होंने ऐसा करके अपने व्यक्तित्व को ऊँचा करने का कोई काम सोचा तक नहीं, संकल्प ही नहीं था। एक ओर तो वे इतने निरीह, अनासक्त, गुणातीत, समदर्शी तथा तत्वज्ञानी सन्त थे तो दूसरी ओर वे एक महान समाज सुधारक और क्रान्तिकारी कवि भी थे। उन्होंने साधना करने वाले अहंकार से रहित, अनासक्त, तपस्वी, रामभक्त अधम जाति के एक कौवे का सम्मान अहंकारी पक्षिराज से कराया—

गयऊ गरुड़ जहँ बसइ भुसुंडा।
मति अकुंठ हरि भगति अखण्डा॥
करि तड़ाग मज्जन अरु पाना।
बटतर गयउ हृदय हरषाना॥
बार-बार बिनवौ प्रभु तोहीं॥

और दण्डकारण्य में अपने राम को तप, साधना तथा योगनिष्ठा के साधनों के नशे में चूर तथा कथित देहाध्यासी साधुओं की कुटीरों में न भेजकर सरल, निश्छल, परमभक्त शबरी नामक एक भीलनी की झोंपड़ी में जा बिठाया—

ताहि देइ गति राम उदारा।
सबरी के आश्रम पगु धारा॥
सबरी देखि राम गृह आए।
मुनि के वचन समुझि जिय भाये।
सबरी परी चरन लपटाई॥

इतना ही नहीं, अयोध्या से चलकर तुलसी के राम जब गंगातट पर आए और गंगा पार करने को केवट से नाव मांगने लगे तो उस समय तुलसी ने अपने इष्टदेव परम आराध्य राम को एक

(शेष पृष्ठ ३३ पर)

धर्मप्राण भारत से—

गौहत्या का काला कलंक

मिटाने के लिए अविलम्ब कटिबद्ध हो जाओ !

※ भक्त रामशरणदास जी ※

ऐ हिन्दुओं, ऋषि-मुनियों की संतानों जिस धर्मप्राण भारत में कभी पूज्या प्रातःस्मरणीया गौमाता की रक्षा के लिये अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक परात्पर ब्रह्म भगवान श्री राम कृष्ण के रूप में अवतार लेकर आते हैं और भारत के चक्रवर्ती सम्राट महाराजाधिराज दिलीप जिस पूज्या गोमाता की रक्षा के लिये अपने को खूँखार सिंह के सामने मांस के लोथड़े की तरह खाने के लिये फेंक देते हैं और जिस गौमाता की रक्षा के लिए प्रातःस्मरणीय हिन्दूसूर्य महाराणा प्रताप, छत्रपति शेर शिवाजी, श्री गुरुगोविन्दसिंह, वन्दावीर वैरागी आदि नाना प्रकार के कष्टों पर कष्ट उठा कर अपने को बलिदान कर देते हैं और जिस गौमाता की रक्षा के लिये लाखों धर्मवीर क्षत्रिय हँसते-हँसते अपने सिर कटाते हैं, महान दुःख का विषय है कि आज उसी पूज्या प्रातःस्मरणीया गायों को एक लाईन में बराबर-बराबर खड़ा करके और उनके ऊपर खौलता हुआ गरम-गरम पानी उँडेल करके फिर ऊपर से हंटरों की तड़ातड़ मार करके और उनकी बोटी-बोटी काट करके उनका गोमांस विदेशों को सप्लाई किया जा रहा है। इस गोमांस के बदले में डालर कमाये जा रहे हैं और फिर यह गोमांस बेचकर इससे की गई घोर पाप की कमाई से देश में सुख-शान्ति के स्वप्न देखे जा रहे हैं क्या यह मूर्खता की पराकाष्ठा नहीं है ? क्या यह हम ऋषि-मुनियों की सन्तानों के लिये इस प्रकार गायों के ऊपर घोर अत्याचारों को देखते रहना शोभा देता है ? क्या यह हमारे लिए डूब मरने की बात नहीं है ? क्या यह हमारी निर्लज्जता की पराकाष्ठा का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है ?

जिन पूज्या प्रातःस्मरणीया गायों को परात्पर ब्रह्म भगवान श्री रामकृष्ण नंगे पांवों जंगल-जंगल चराने जाते हों और जिन्हें विविध प्रकार से बड़े-बड़े लाड़ लड़ाते हों और जिनकी अपने हाथों से पूजा, आरती करते हों आज उन्हीं पूज्या गायों को तड़पा-तड़पा कर मार डालने पर भी पता नहीं यह घोर अत्याचार देखकर भी पृथ्वी फट क्यों नहीं जाती ? यह आकाश गिर क्यों नहीं पड़ता ? आज प्रलय क्यों नहीं हो जाती ? पूज्या गौ-माताओं के ऊपर घोर अत्याचार हो रहा है और फिर भी हम भगवान श्री रामकृष्ण के भक्त बनने वाले, भगवान श्री रामकृष्ण का नाम लेने वाले और दिन रात गोविन्द-गोविन्द गोपाल की रट लगाने वाले पाखंडी यह सब गायों के ऊपर घोर अत्याचार होता हुआ देख रहे हैं और फिर भी हमारा खून नहीं खौलता और तनिक भी हमारे कानों पर जूँ नहीं रेंगती और हमें तनिक भी जोश होश नहीं आता। क्या यह हमारे मुर्दा होने का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है ? हाय ! हाय !! आज हिन्दुओं की पूज्या प्रातःस्मरणीया गौ माताओं

का इतना बड़ा घोर अपमान हो और पूज्या गौ-माताओं के ऊपर इतना बड़ा घोर अत्याचार हो और फिर भी हम सहन करने के लिए तैयार हों और हम अपने को मानव कहें क्या यह मूर्खता की पराकाष्ठा नहीं है ? जो प्रत्यक्ष सामने लाखों गायों को मरते देख कर और पूज्या गौमाताओं के खून की नदियाँ बहते देखकर इसके प्रतिकार के लिए कुछ भी नहीं करता और बैठा-बैठा टुकर-टुकर देखता रहता है तो वह पूरा निर्लज्ज है और वह मानव नहीं कोरा दानव है। वह देवता नहीं कोरा राक्षस है और वह हिन्दू नहीं कोरा म्लेच्छ है। वह धर्मात्मा नहीं कोरा पाखंडी, पापात्मा है और उसे भूलकर भी अपने को हिन्दू कहने का और हिन्दू मानने का अधिकार नहीं है।

हिन्दुओं की सबसे बड़ी पूज्या माता गौमाता है और हिन्दुओं का जीवन-सर्वस्व गौमाता है। हिन्दुओं का एकमात्र सबसे बड़ा धर्म गौमाता की रक्षा करना है। हिन्दुओं की सबसे बड़ी परम हितैषी गौमाता है और हिन्दुओं के जीवन-मरण का प्रश्न पूज्या गौमाता है। पूज्या गौमाता नहीं तो फिर इस देश में कोई हिन्दू नहीं। पूज्या गौ-माता नहीं तो फिर इस देश में कोई हिन्दू नहीं। पूज्या गौमाता नहीं तो फिर यज्ञ हवन नहीं, वेद-पाठ नहीं, पूज्या गौमाता नहीं तो पूजा-पाठ, जप-तप, भजन-पूजन नहीं, पूज्या गौमाता नहीं तो फिर श्राद्ध, तर्पण, ब्राह्मण भोजन नहीं और गौ-माता नहीं तो हम भवसागर से पार नहीं। सब कुछ हमारा इस पूज्या गौमाता के ऊपर ही निर्भर है। गौमाता है तो हमारे पास सब कुछ है और यदि हमारे पास गौमाता नहीं तो हमारा कुछ भी नहीं, हमारा पूज्या गौमाता के ऊपर ही सब कुछ आश्रित है।

यह याद रक्खो कि पूज्या गौमाता की हत्या से बढ़कर कोई और दूसरा घोर पाप नहीं है, इधर गौमाता की रक्षा से बढ़कर कोई दूसरा महान पुण्य नहीं है और कोई दूसरा धर्म नहीं। प्रत्येक हिन्दू मात्र का एक परम कर्तव्य है कि वह सब काम छोड़कर सबसे पहले इस धर्मप्राण भारत से इस गौहत्या को अविलम्ब बन्द कराने का भरसक प्रयत्न करें और जब तक देश से यह गौहत्या का काला कलंक बिल्कुल दूर न हो जाय तब तक चैन से न बैठे। यदि आज गौहत्या बन्द हो गई और गौमाता की रक्षा हो गई तो हमने फिर बताओ क्या नहीं प्राप्त कर लिया ? गौहत्या दूर करने का प्रयत्न करते-करते और गौरक्षार्थ कष्ट सहते-सहते कदाचित् हमारी मृत्यु भी हो गई तो यह याद रक्खो कि हमारी गौमाता की कृपा से मोक्ष होने में तो तनिक भी सन्देह हो नहीं है। जो उत्तम गति बड़े-बड़े महान योगियों को भी और बड़े-बड़े दानियों को भी और बड़े-बड़े उच्चकोटि के ब्रह्मज्ञानियों को भी मिलनी दुर्लभ है, वह उत्तम गति गौरक्षार्थ प्राणोत्सर्ग कर देने मात्र से अनायास प्राप्त हो जाती है। सबसे बड़ा योग, यज्ञ, जप, धारणा, ध्यान, समाधि बस एकमात्र गौरक्षा करना ही है, इससे बढ़कर मुक्ति का सरल मार्ग और कोई दूसरा है ही नहीं। यह हमारी डंके की चोट सप्रमाण घोषणा है। इसलिए अपनी-अपनी जान की बाजी लगाकर और अपने को खतरे में डालकर और अपने सिर को हथेली पर लेकर गौरक्षार्थ रणाङ्गण में कूद पड़ो और गौहत्या का यह काला कलंक मिटाकर और रक्षा करके ही दम लो और जब तक इस धर्मप्राण भारत से यह गौहत्या का काला कलंक मिट न जाय पग पीछे न हटाओ इसी में सच्ची भलाई है और देश-जाति का परम कल्याण है।

भक्त-रत्न—

चक्रिक भील

❀ श्री रामचरण रज ❀

द्वापर युग की यह एक भक्त जीवनी है। एक वन में चक्रिक नामक भील रहता था। आचरण से सरल, उत्तम यह भील मीठा बोलने वाला, क्रोध पर काबू पाने वाला, दम्भहीन, माता-पिता की सेवा करने वाला था। शास्त्रों का श्रवण न करते हुए भी भगवद्भक्ति का आविर्भाव उसके हृदय में हो गया था। निरन्तर, तैलधारावत् "हरि, केशव वासुदेव" नामों का स्मरण किया करता था। उस वन में एक सुन्दर घनश्याम की सांवरी मनमोहक मूर्ति थी। भील वन में विचरते हुए कोई सुन्दर फल देखता तो पहले उसे शबरी की तरह मुँह में लेकर चखता, यदि बहुत मधुर और स्वादिष्ट होता तो मुँह से निकालकर भक्ति-पूर्वक उस मनमोहक मूर्ति को अर्पण करता। फल यदि मीठा न होता तो उसे स्वयं खा लेता। प्रतिदिन इस प्रकार स्वादिष्ट फल का हरि को श्रद्धा से भोग लगाया करता। यह था तो सरलता का आचरण किन्तु जूँठा फल भगवान् को भोग लगाना नहीं चाहिये यह उसको पता नहीं था। कुछ साल बीते इसी दिनचर्या में और फिर आई परीक्षा की बेला।

भील कुमार चक्रिक ने एक सुन्दर पका हुआ फल देखा, उसे तोड़कर स्वाद जानने के लिये जीभ पर रखा, फल बहुत ही स्वादिष्ट था किन्तु अचानक गले में उतर आया। इस अनपेक्षित घटना से चक्रिक को विषाद हुआ। उसने सोचा "सबसे अच्छी चीज ही मनमोहन को देनी चाहिये" पर "आज तो न जाने क्यों भगवान् को यह फल नहीं खिला सका।" गला दबाकर उसने तुरन्त मुँह में उँगली डालकर वमन किया फिर भी फल बाहर नहीं गया। अब चक्रिक अनन्यता की चरम सीमा पर पहुंच गया। अपने को पापी समझकर वह सरल हृदय चक्रिक करुणाधन सांवरी मूर्ति के पास तत्काल आया और कुल्हाड़ी से अपना गला एक तरफ से काटकर गले से फल निकालकर मूर्ति को अर्पण कर ही दिया और बेहोश गिर पड़ा।

गीता में श्री वासुदेव की प्रतीज्ञा है कि—"**न मे भक्तः प्रणश्यति**" और अब तो प्रसंग आया भक्त के नाश का। चक्रिक की शुद्धान्तःकरण प्रेम-भक्ति से सर्वस्थित शक्ति को आविर्भूत होना ही पड़ा। मनमोहन प्रसन्न होकर, चतुर्भुज रूप से साक्षात् प्रकट होकर उसके मस्तक पर हाथ रख कर अपनी "कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्" शक्ति से उसे पूर्ववत् बना दिया। तत्काल भक्त चक्रिक चतुर्भुज भगवान् को देखकर कहने लगे—

'जासु चरनरज धरत ध्यान मुनि जनम गंवाय'

'जेहि सुर सदा पुकारते'

'बिन पुकार कैसे तुम पधारे आज, प्रभुभर! जिस पूजा से प्रसन्न होकर आपने मुझ पर कृपा की है आपकी उस पूजा को छोड़कर संसार में जो लोग दूसरे की पूजा करते हैं वे महामूर्ख हैं। ऐसा लगता है भगवन्! मेरा चित्त आप में ही अचल रूप से लगा रहे।

'धन्य है भक्त की अनन्य भक्ति। क्या हम उतार सकेंगे इस अनन्यता के कुछ अंश को अपनी साधना में?

❀❀

मुझे पार मत करो !

— श्री स्वामी लोकानन्द जी सरस्वती —

संसार पूरा कहते असार पर हैं तुम्हारे यह जाल।
यह देख देख मैं बैठा मूक, है शानदार कमाल ॥
बस जिन्दगी है न बड़ो न मोटी, छोटीसो सिर्फ सौ साल।
आशा है पूरा देखेंगे सारा जीवूँ जरा, क्षमा करो ॥
हरे तुम मुझे पार मत करो ॥१॥

कुछ मोल लूँगा कुछ तोल लूँगा योहीं खड़ा हूं बनिया।
कितने ही मोले कितने ही तोले, पूरो पड़ी है दुनिया ॥
है गहरा सागर मैं लाया गागर, क्या लूँ न लूँ बांसुरिया।
आशा है पूरा ले लूँगा सारा, तेरा सभी दिया करो ॥
हरे तुम मुझे पार मत करो ॥२॥

इक रंग डिब्बा इक लम्बी जुब्बा हाथों में कुंच लाया।
मैं चित्रकार खींचे पटों में कितने ही चित्र छाया ॥
हर निमिष निमिष सारे आकाश रंगीला चित्र माया।
हर रोष तोष सब वेश भूष चित्रित करूँ जरा धरो ॥
हरे तुम मुझे पार मत करो ॥३॥

सुख हो या दुःख मैं हूं तो पक्का मेरी है यह परीक्षा।
जो होगा होगा जीते रहूंगा कर तेरी सब निरीक्षा ॥
दुनिया न देखे मैं स्वर्ग भी न चाहूं न दे दो मोक्षा।
तेरा जहां है मेरा वहीं है फिर जन्म ही दिया करो ॥
हरे तुम मुझे पार मत करो ॥४॥

मैं हूं तो दीन, दुनिया है हीन, चाहना है पार होना।
ऐसे ही सोचा सोचे हो देखा दुनिया है खूब दिवाना ॥
साथी हैं सारे है मेले तेरे यह छोड़ मैं न जाना।
तेरा ही नाम रट लेंगे श्याम इससे तो मत छुड़ा करो ॥
हरे तुम मुझे पार मत करो ॥५॥

नदि नद विशाल नभ भू पाताल तेरा है चाल सारा।
कृमि कीट प्राणी पशु कोटि चूर्ण है मुसल वर्षधारा ॥
तुम जो रचाये दुनिया सजाये कैसे कहूं असारा।
हे सर्वसार ये सब संभार देखूँ कहो मत मरो ॥
हरे तुम मुझे पार मत करो ॥६॥

गीता और गुरु-कृपा

श्री १०८ स्वामी केशवानन्द जी महाराज

विश्व की लायब्रेरी में गीता जैसा छोटे वपु में और कोई ग्रन्थ नहीं है और गीता जैसा तत्व-पूर्ण ग्रन्थ भी विश्व के पुस्तकालय में नहीं मिलता। आनन्दकन्द श्री कृष्ण महाराज ने मानो गागर में सागर भर दिया है।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपाल नन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।

गीता का यह उपदेश गुरु-शिष्य संवाद से ही प्रारम्भ होता है। अखिल ब्रह्माण्ड आनन्दकन्द भगवान श्री कृष्णचन्द्र महाराज गुरु रूप में अर्जुन के सम्बन्धी और रथ के सारथी थे परन्तु घोर संकट के समय युद्ध के मैदान में उसको मोह हुआ, कर्तव्याकर्तव्य विमोहित होकर रोता हुआ अर्जुन श्रीकृष्ण भगवान से कहता है—

कार्पण्यदोषोपहत स्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

—गीता २-७

हे गुरु! कर्तव्य विमोहित चित्त वाला मैं आपकी शरण में आया हूँ, आप मुझे शिक्षा से निश्चित साधन मार्ग बता दें, जिससे मैं परमगति को प्राप्त कर सकूँ। ऐसे शरणागत अर्जुन को प्रभु ने शरण में ले लिया और अहैतुकी कृपा करते हुए गीता का दिव्य सन्देश सुनाया।

बिना शरणागति गुरु-कृपा नहीं मिलती और गुरु-कृपा बिना आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। और आत्मज्ञान के बिना महामुक्ति दुर्लभ है। इस शाश्वत वैदिक ज्ञान को ध्यान में रखते हुए भगवान श्रीकृष्ण ने शिष्य अर्जुन को निमित्त करके विश्व मानव के कल्याण के लिए आदेश देते हुए कहा कि—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

—गीता ४-३४

हे अर्जुन! इस अध्यात्म तत्व को जानने के लिए तू तत्वदर्शी ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जा और सेवा, प्रणाम, परिप्रश्न आदि के द्वारा आत्मज्ञान को प्राप्त कर।

देवद्विजगुरुप्राज्ञ पूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

—गीता १७-१४

इस आत्मज्ञान की प्राप्ति होने पर मोहजनित शोक एवं मोह से तू सदा के लिए मुक्त हो जाएगा। अनेकता और विषमता ही दुःख का कारण है। ज्ञान प्राप्ति के साथ ही साथ अनन्त अनेकता में एकता का दर्शन होता है।

[शेष पृष्ठ २३ कालम १ पर]

मनुष्य में सत्संस्कार भी दबे रहते हैं !

प्रोफेसर रामचरण महेन्द्र, एम. ए., पी. एच. डी.

*

निर्दयी डाकू से दयावान् महात्मा ! —महर्षि बाल्मीकि
घोर कामुक से संयमी और वैरागी !! —गोस्वामी तुलसीदास
उद्दण्ड से शान्त और संतुलित !!! —महर्षि सुकरात

ये सब मनुष्य के जीवन की दो आखरी सीमाएँ हैं। आश्चर्य होता है कि एक निर्दयी डाकू बदल कर दयावान महात्मा कैसे हो सकता है? एक पापी कामुक व्यक्ति संयमी और वैरागी सन्त कैसे हो सकता है? एक शरारती और उद्दण्ड व्यक्ति परिवर्तित होकर शान्त गम्भीर और संतुलित कैसे बन सकता है?

पर सच मानिये, यह सब अद्भुत परिवर्तन हुए हैं और भविष्य में हो सकते हैं। मनुष्य बड़ा ही लचीला प्राणी है। जिधर को मुड़ना चाहे संकल्पबल से मुड़ सकता है। जो आज दुष्ट, हिंसक, हत्यारा, निकृष्ट है, वही कल बदलकर सज्जन, श्रेष्ठ और विद्वान बन सकता है। वास्तव में कोई मनुष्य बुरा नहीं है। बस उसमें सत्संस्कार दबे रहते हैं।

अंकुरित करने का हेतु चाहिए

मनुष्य ईश्वर का प्रिय पुत्र है। ऊपर से उसमें कुछ काल के लिए पाशविक दुष्प्रवृत्तियां तेज हो सकती हैं, किन्तु मनुष्य में रेगिस्तान में नखलिस्तान की हरी दूब और ठन्डी छाया की तरह शुभ सात्विक दैवी सत्संस्कार भी दबे रहते हैं। कदाचित् उनको अंकुरित करने का कोई हेतु आ जाय, तो मनुष्य की गिरी हुई परिस्थिति में बड़ा परिवर्तन हो जाता है।

ऐसे असंख्य उदाहरण भरे पड़े हैं, जिनमें दुष्ट और दुर्जन यकायक बदल कर बिल्कुल नये अच्छे पुरुष बन गये। उनके नये परिवर्तित रूप को देखकर प्रायः विश्वास भी नहीं होता कि यह अदुभुत रद्दोबदल उनमें यकायक कैसे, कहां से, किस प्रकार जाग्रत हो गई?

मनुष्य की अच्छाई और बुराई के स्तर हैं। कभी-कभी ऊपरी परत पर तो दुष्टता और खराबी जमी रहती है, जैसे नारियल के ऊपर सख्त लकड़ी का परत! पर जब यह परत हटता है, तो अन्दर से दूध जैसा निर्मल स्निग्ध और स्वादिष्ट खोपरा निकलता है। इसी प्रकार अनेक बार दुष्टता में सज्जनता और मूर्खता में विद्वत्ता छिपी रहती है।

चार्ल्स डारविन ने विज्ञान के क्षेत्र में अपने नए सिद्धान्तों द्वारा क्रान्ति मचा दी थी; पर उसके अध्यापक प्रायः कहा करते थे कि विद्यार्थी जीवन में उन जैसा आलसी, मूढ़ और देर में आने वाला दूसरा कोई विद्यार्थी नहीं था। उनके अध्यापक

उनके कक्षा से भागने की आदत से तंग आ गये थे।

सर आइजक न्यूटन ने गुरुतत्वाकर्षण का महत्वपूर्ण सिद्धान्त खोज निकाला था। उसमें तीक्ष्ण अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता है, पर न्यूटन में पहले इसी तत्व का अभाव था। न्यूटन का जन्म २५ दिसम्बर १६४२ को वूलसथार्प नामक एक गांव में हुआ था। बचपन में ही उसके पिता की मृत्यु हो गई थी। उसकी दादी ने उसे गांव के स्कूल में पढ़ने भेज दिया था। वहाँ पढ़ाई में उसका मन ही न लगता था। उसे मशीन के कामों में रुचि थी। उन्होंने अपने आप आरियाँ बनाई और अनेकों विचित्र चीजें बनाई। इन चीजों को बनाते बनाते उसकी रुचि गणित, भौतिक विज्ञान और खगोल विद्या में बढ़ी। अब वह दूसरों से उधार ले लेकर इन विषयों की किताबें पढ़ता था। रात्रि के समय वह सितारों को देखता था। जब न्यूटन चौदह साल का हुआ, तो उसे गरीबी के कारण स्कूल छोड़ना पड़ा था। पर अब तक उसकी रुचि जाग्रत हो चुकी थी। अब वह पढ़ना चाहता था। इसलिए एक या दो साल बाद उसकी मां ने उसे स्कूल वापिस भेज दिया। वहां से वह केम्ब्रिज विश्वविद्यालय गया। फिर तो उसकी रुचि श्रम, विद्वता ने उसे यश और सम्मान के उच्चतम शिखर पर पहुंचा दिया। कल का गरीब, गंवार देहाती बालक आज का प्रसिद्ध सम्मानित वैज्ञानिक बना। उसे पालियामेन्ट का सदस्य बनाया गया और 'नाइट' की उपाधि दी गई।

मनुष्य में अच्छे संस्कार दबे रहते हैं

आज का उद्दण्ड युवक कल का सफल नेता बन सकता है। आज का खिलाड़ी सेना का कुशल सेनाध्यक्ष बनकर देश की रक्षा में हाथ बँटा सकता है। जिस बालक को आप आवारा समझते हैं, संभव है वह कल एक अच्छा पुलिस का अफसर बन जाय। जिसे आज कानून चोरी के लिए अपराधी मानता है, कल वही एक निपुण कारीगर या संगीतज्ञ बन सकता है।

मनुष्य में कभी-कभी भले संस्कार अन्दर की परत में दबे रहते हैं। उसका शुरू का जीवन लापरवाही में व्यतीत हो जाता है पर अकसर यकायक उसके शुभ संस्कार जाग्रत होकर जीवन में नया मोड़ उपस्थित कर देते हैं।

संस्कारों की परत पर परत चढ़ी रहती है। उन्हें एक के बाद एक हटाते जाइये, तो अन्दर से उत्तम धातु (शील, गुण) निकल सकते हैं।

[पृष्ठ २१ का शेषांश]

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥

—गीता ४-३५

आत्मिक ज्ञान को भगवद्गीता में आश्चर्यवत कहा है, इस महानतत्व को बोलना, सुनना, देखना आश्चर्य ही आश्चर्य है।

आश्चर्यवत्पश्यति ।

—गीता २-२९

परन्तु एक अनन्य गुरु-भक्त के लिए अनन्य श्रद्धालु प्रेमी शिष्य के लिए दुर्लभ होने पर भी यह सब सुलभ हो जाता है।

श्रद्धावान् लभते ज्ञानम् ।

—गीता ४-३९

श्रद्धालु भक्त इस दुर्लभ तत्व को गुरु भगवान की कृपा से प्राप्त कर अनन्त दुःख और कष्टों से मुक्त होकर परम शान्ति को प्राप्त कर लेता है। शान्ति प्राप्ति ही जीवन का परम लक्ष्य है। बिना गुरु कृपा इस जीवन लक्ष्य तक पहुँचना असम्भव है अतः आत्म ज्ञान के लिए गुरु कृपा प्राप्त करना अनिवार्य है।

हमारा जीवन धर्ममय हो !

श्री वासुदेव गोयनका

हमारा भारत धर्म प्रधान भूमि, भगवान की पावन लीला भूमि है, इसके कण-कण में आत्म-शक्ति, ब्रह्मतेज, त्याग, प्रेम, धर्महित गीता की जयनाद अहर्निश अनहदनाद के समान सब के मानस मन्दिर में बजता रहता है। रात-दिन नाम प्रभाव की पावन गंगा में मगन रहने वाले आत्मा-नन्द में पूर्ण-काम हमारे संत महात्मागण इस धरा धाम में विचरण करते रहते हैं। अपने आपमें मगन भरपूर, मस्त रहते हुए दया पर-वश होकर यह महापुरुष मायापाश में अपने आपको भूले हुए हम जैसे अज्ञानियों को राह दिखाने के वास्ते पुण्य भूमि भारत में भ्रमण करते रहते हैं। भगवान अपने आप उनका "योग-क्षेमं वहाम्यहम्" (गीता) करते हैं, हमारी रामायण कहती है—"नाम प्रसाद सोच नहिं सपने" अब और कहिये, हमें क्या चाहिए ? आत्मपथ पर आगे बढ़ने के वास्ते भगवद् धर्म का आचरण, आत्माकार होने की चाह लगन यह सब ही हैं, भारतीय के नाते। हमारा आपका सबका मूलधन। आज हम जितने इन सबसे हटते गये, उतने ही पतन के गहरे गर्त में गिरते गये। पुण्य भूमि भारत के कण-कण में आत्मानन्द भरा है, हमें धर्ममय जीवन बनाकर अपने आपको धर्म-सापेक्ष बनाना चाहिए भगवान राम, श्री कृष्ण भगवान हमारे रखवाले हैं। "गीता-सन्देश" हमें रात-दिन जागरण का सन्देश घर-घर देकर जगाता है, उठो, जागो, धर्म के पथ पर चलो।

गीता-आश्रम के ब्रह्मविद्यादान के महायज्ञ में,

अम्बाला छावनी के 'श्री ब्रह्मदत्त जी सूद' का

❋ आदर्श दान ❋

इस बार गीता-आश्रम, हृषीकेश के गुरु-पूर्णिमा-महोत्सव में अम्बाला के सुप्रतिष्ठित धर्मवीर प्रवक्ता समाजसेवी श्री सूद जी सपत्नीक सम्मिलित हुए।

यहां पर गीता-ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम के छोटे-छोटे बाल-ब्रह्मचारियों को देखकर भावुक हृदय श्री सूद जी ने प्रभावित होकर भारतीय संस्कृति सुरक्षा एवं प्रचार-प्रसार के इस पुण्य-कार्य में अपनी ओर से एक ब्रह्मचारी के लिए मासिक सहायता के रूप में २५) रुपये प्रतिमास "आदर्श दान" भेजने का स्तुत्य कार्य किया है, जो दान श्री सूद जी निरन्तर भेज रहे हैं।

'गीता-सन्देश' परिवार, श्री सूद जी को इस ब्रह्मविद्यादान के महायज्ञ में "आदर्श दान" के लिए हार्दिक धन्यवाद देता है।

सगुण रूप की दुरूहता

❋ श्री स्वामीनाथ शर्मा ❋

जब गोस्वामी तुलसीदास 'रामचरित-मानस' लिखने बैठे, तब संभवतः उनके मन में सबसे प्रबल यही विचार उठा कि भगवान् राम की नर-लीला का वर्णन इस प्रकार करूँ कि वह उनके परब्रह्मत्व को कहीं भी आच्छादित न कर सके। 'मानस' के पाठक को पग-पग पर गोस्वामी जी की इस विचार-प्रबलता का प्रमाण मिलता है। 'मानस' में बार-बार राम के परब्रह्मत्व तथा परात्परत्व की ओर ध्यान दिलाया गया है। जहां कहीं भ्रम तथा असावधानी के निश्चयात्मिका बुद्धि पर अधिकार जमा लेने की आशंका हुई है, वहां मानसकार ने डंके की चोट पर ललकार लगायी है और राम के व्यक्तित्व को सन्देह तथा अविश्वास की सीमा में जाने से बचा लिया है।

गोस्वामी जी का यह दृढ़ विश्वास था कि **"निर्गुण रूप सुलभ अति, सगुण न जाने कोय"** और उनके इस विश्वास को भगवान् कृष्ण का समर्थन भी प्राप्त था। भगवान् कृष्ण ने अपने स्वरूप को समझाते हुए अर्जुन से कहा—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

—गीता ९-११

"सम्पूर्ण भूतों के महान् ईश्वररूप मेरे परम भाव को न जानने वाले मूढ़ लोग मनुष्य का शरीर धारण करने वाले मुझ परमात्मा को तुच्छ समझते हैं।" गोस्वामी जी का यह विश्वास अकारण न था। ब्रह्म के दो रूप हैं—निर्गुण और सगुण। निर्गुण रूप में तो कोई झगड़ा ही नहीं है। वह त्रिगुणातीत है और निराकार है। जो निराकार है, वह मानुषी इन्द्रियों का विषय हो ही नहीं सकता। वह मन और बुद्धि के परे है। वह जाना भी जा सकता है और नहीं भी। जो जान पाते हैं, उनके अनुभव में किसी संदेह के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता। वे तो **"जानत तुम्हहिं तुम्हइ ह्वै जाई"** की अवस्था पर पहुँच जाते हैं। जो नहीं जान पाते, वे अज्ञानांधकार में पड़े रहते हैं। अतः निर्गुण रूप में भ्रम के लिए कोई कारण उत्पन्न नहीं होता। रास्ता साफ रहता है। कुछ इस पार रहते हैं, कुछ उस पार। बीच में अटकने का संकट किसी को नहीं उठाना पड़ता।

परन्तु सगुण रूप की लीला इसके सर्वथा प्रतिकूल रहती है। यह दिखलाई पड़ता है, पर जाना नहीं जाता। यह स्पर्श किया जाता है, पर पकड़ में नहीं आता। साथ में होता है, पर उसका साथ नहीं होता। साक्षात्कार होता है, पर परिचय से वंचित रह जाना पड़ता है। मानव-समाज के कचरे में यह हीरा हेराया-सा रहता है; मिलकर भी नहीं मिलता। अर्जुन वर्षों श्रीकृष्ण के साथ रहे, पर जब तक उनके विराट् रूप का दर्शन नहीं किया, तब तक उन्हें श्रीकृष्ण की वास्तविकता का पता न लगा। और जब पता लगा तो महाशय की सिट्टी गुम हो गई और गिड़गिड़ाकर कहने लगे—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं,
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।

अजानता महिमानं तवेदं,
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि,
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं,
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥
—गीता ११-४१, ४२

"सखा ऐसे समझकर आपके इस प्रभाव को न जानते हुए मेरे द्वारा प्रेम से अथवा प्रमाद से भी 'हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे !' इस प्रकार जो कुछ कहा गया है; और हे अच्युत ! जो आप हँसी के लिए विहार, शय्या, आसन और भोजनादिकों में अकेले अथवा उन सखाओं के सामने भी अपमानित किये गये हैं—वह सब अपराध अचिन्त्य प्रभाव वाले आप से मैं क्षमा कराता हूं।"

शरीरधारी ब्रह्म की यह परिचयात्मक विचित्रता एक निगूढ़ पहेली बनी रहती है। यह एक ऐसी उलझन होती है; जो सुलझाने के प्रयत्न में उलझती-सी जाती है। इसका कारण है।

मनुष्य की शक्ति इतनी परिमित होती है कि वह साधारण मनुष्य को भी समझने में भूल किया करता है। अपने विचारों तथा धारणाओं का दूसरों पर आरोप करता है और अपने अहंकार को सार्वभौमत्व की उच्चता देने की आकांक्षा रखता है। जब अपने व्यक्तित्व के भार से ही वह दबा रहता है, जब उसकी दृष्टि स्वत्व की परिधि के बाहर जाकर अंधी बन जाती है; तब वह किसी अन्य व्यक्तित्व का समुचित आदर और तौल कैसे कर सकता है ? एक माया का ही पर्दा इतना गंभीर होता है कि कोई माई का लाल अपने प्रयत्नों से उसे अनावृत करने का दम नहीं भर सकता। यहां तो उस पर्दे पर भी एक और पर्दा पड़ जाता है।

यह तो सामान्य जनों की दशा है। जो पहुँचे हुए हैं, वे भी सगुण रूप को अपनी पहुँच से बाहर होता हुआ पाते हैं। उनके हृदय में भी भ्रम और संदेह घर कर लेता है; उनकी मति भी चक्कर में पड़ जाती है। मनुष्य की चित्तवृत्ति चंचल होती है। उसे सदैव स्थिर तथा एकरस रखना असम्भव होता है। अतः जब राम के मानुषी कार्यों को देखते हैं, तो स्थितप्रज्ञ भी पदच्युत हो जाते हैं। काकभुशुंडि से भक्त भी जब राम की बालसुलभ क्रीडाओं को देखकर मोह में पड़ गये, तो औरों की कौन चलाये ! राजा दशरथ के प्रासाद के प्रांगण में जब राम इनके साथ खेलने लगे, तब—

प्राकृत सिसु इव लीला,
देखि भयउ मोहिं मोह।
कवन चरित्र करत प्रभु,
चिदानन्द संदोह ॥

बस ! गजब हो गया ! इतना सोचना था कि माया गरगराकर चढ़ बैठी। निश्चयात्मक ज्ञान चुपके से खिसक गया और मोह ने डेरा डाल दिया। "रघुपति प्रेरित व्यापी माया।" और इनके भ्रम को पर लग गये। कुशल इतनी ही थी कि वह माया इनकी बुद्धि को ठिकाने लाने के लिए ही प्रेरित हुई थी, अतः—

सो माया न दुखद मोहिं काहीं।
आन जीव इव संसृति नाहीं ॥

केवल कुछ ब्रह्मांडों का भ्रमण करके ही छुट्टी मिल गई। जान बची लाखों पाये। भगवान् के भक्त जो ठहरे ! थोड़ी चेतावनी देना ही पर्याप्त था, कान ऐंठ देना ही काफी था।

जब हम वशिष्ठ जी को राम से यह कहते सुनते हैं कि—

देखि देखि आचरन तुम्हारा।
होत मोह मम हृदय अपारा ॥

तो हमें कोई आश्चर्य नहीं होता। इसमें

वशिष्ठ की अयोग्यता अथवा अज्ञानता का आभास नहीं मिलता; इसमें हमें सगुण ईश्वर की आश्चर्य पूर्ण लीलाओं की महत्ता और जटिलता का बड़ा स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होता है।

राम-विषयक सन्देह इतनी तीव्रता से बढ़ता है कि क्षणभर में महान् से महान् व्यक्तित्व को भी अभिभूत कर लेता है। सती को भी माया व्याप गयी थी। उन पर सन्देह का ऐसा रंग चढ़ा कि **'लाग न उर उपदेसु, जदपि कहेउ सिव बार बहु।'** बेचारे शिव समझाते-समझाते हार गये, पर पार्वती जी पर दूसरा रंग न चढ़ा और वे राम की परीक्षा लेने चल पड़ीं। बेचारी को क्या पता था कि इस परीक्षा के कारण स्वयं अग्नि-परीक्षा देनी होगी।

भक्तों और देवताओं का सगुण-विषयक ज्ञान, बुद्धि तथा विश्वास पर आधारित रहता है। माया के प्रभाव से इन दोनों में समय-समय पर त्रुटि की संभावना हो सकती है और विश्वास विचलित हो सकता है। स्वयं हनुमान जी राम से—

तव माया बस फिरौं भुलाना।
ताते प्रभुपद नहिं पहिचाना॥

कहकर इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं। जिन लोगों को कभी-कभी राम का साक्षात्कार होता है, उनकी भूल अपना अस्तित्व प्रगट करदे, तो कुछ अस्वाभाविकता न होगी। परन्तु नित्य प्रति का परिचय भी यदि अपनी आंखों पर पट्टी बांध ले, तो बात निश्चयतः बहुत पेंचीली हो जाती है। राम के विषय में गरुड़ का अनुभव इसी कोटि का है। मेघनाद द्वारा नागपाश में बांधे जाने पर जब राम असहाय हो गये तब नारद के भेजने पर गरुड़ तुरन्त ही आये और—

खगपति सब धरि खाएं, माया नाग बरूथ।
माया बिगत भये सब, हरषे बानर जूथ॥

अब गरुड़ के मन में राम के व्यक्तित्व के प्रति संशय तथा अपने ऊपर गर्व उत्पन्न हो गया। ये वही गरुड़ थे, जिन पर राम विष्णु के रूप में नित्य आसीन होते हैं, जो रात-दिन उनके पास रहते और उन्हें देखते हैं। पर यह सतत सान्निध्य भी गरुड़ का साथ देने से मुँह मोड़ गया। उनका मुँह बिचक गया और वे सोचने लगे—

व्यापक ब्रह्म बिरंज बागीसा।
माया मोह पार परमीसा॥
सो अवतार सुनेउँ जग माहीं।
देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं॥
भवबन्धन ते छूटहिं, नर जपि जाकर नाम।
खर्ब निसाचर बांधेउ, नागपाश सोइ राम॥

अन्त में काकभुशुंडी के पास जाने पर उनका उपदेश सुनकर ही गरुड़ का यह भ्रम दूर हुआ।

सगुण ब्रह्म की रूपगत—न कि चिन्तनगत अथवा साधनागत—अगमता और दुरूहता का प्रमाण देने के लिए इतने दृष्टान्त पर्याप्त हैं। सगुण कहने भर को ही सगुण रहता है; अपनी जटिलता और भ्रामकता में वह निर्गुण से भी दस हाथ आगे ही रहता है। बस, तिनके की ओट में पहाड़ छिपा रहता है।

❀ तृष्णा ❀

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं, दशनविहीनं जातं तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं, तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम्॥

शरीर के अंग गल गये हैं, सिर के बाल सफेद हो गये हैं, बूढ़ा दण्ड लेकर चलता है, तथापि आशा और तृष्णा को नहीं छोड़ता।

मानवता को अभय दान दो !

तीव्रता से बढ़ने वाले इन अस्त्रों को जरा थाम लो।
मानवता को अभय दान दो॥

[१]

मानव ने ही मानवता को स्वतः सिद्ध अधिकार कहा है।
फिर भी युग क्यों दानवता को चीख-चीख पुकार रहा॥
इस पथ का भी तनिक भान हो।
मानवता को अभय दान दो॥

[२]

जगत आज राकेटों द्वारा ऊपर शशि से जाना चाहता—
शीतल स्वच्छ आज तक शशि है वहां जगह फैलाना चाहता॥
बैठा मानव आज ज्ञान खो।
मानवता को अभय दान दो॥

[३]

अरे मनुज ! क्या अब तक तूने जहर हलाहल पीना सीखा।
भौतिकवादी इस युग में क्या विरह युक्त ही जीना सीखा॥
आत्म प्रेरक भली शान हो।
मानवता को अभय दान दो॥

[४]

नैतिकता के पुण्य रूप का आज यहां निर्माण चाहिये।
सही आन में प्रामाणिकता का जिज्ञासु नाम चाहिये॥
जन मानस में यही तान हो।
मानवता को अभय दान दो॥

श्री फूलचन्द 'मानव'

प्रार्थना

प्रभु, मेरे अहं-अन्धकार को अपने दिव्य ज्ञान की ज्योति से नष्ट कर।
मेरे नित्यप्रति के कार्य-कलापों और संकल्प-विकल्पों का तू ही प्रेरणा-स्रोत बन।
तन-मन से मुझे अपने साथ तू कर ले।
मेरे समस्त कर्मों को उज्ज्वल कर।
हृदय को कोमल बनाने के लिए मेरी कठोरता पर निरन्तर आघात कर।
विषय-विकार को दूर कर मेरे भीतरी कलमष को धो दे।
मन को विषैले और सर्वग्रासी मोह के जाल से मुक्त कर उसमें अपनी करुणा का कंपित प्रकाश भरदे।
मुझे बाहर-भीतर से शुद्ध कर।
मेरा लोक-परलोक सुधार।
बाह्य पदार्थों से हटाकर मेरी दृष्टि को अन्तर्मुख बना।
मृत्यु के सर्वत्र फैले पाश से मुझे अमरत्व की ओर ले चल।

कवि योगी हरीश करुण

हमारे धार्मिक पर्व—
(१) नवरात्र

भगवती दुर्गामाता की आराधना के नौ दिन नवरात्र कहे जाते हैं, चूंकि दुर्गाओं की संख्या शास्त्रों में नौ कही गई है। साथ ही 'नव' शब्द नवीन अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। इस प्रकार ऋतुमूलक वासन्ती संवत्सर चैत्रशुक्ला प्रतिपदा से और नक्षत्रमूलक शारदी संवत्सर आश्विनशुक्ला प्रतिपदा से आरम्भ होता है। इसीलिए दोनों नवसंवत्सरों के आदिम दिन होने से भी इन्हें 'नवरात्र' कहा जाता है, तभी नवसंवत्सरारम्भ में यह नवरात्र वर्ष में दो बार मनाए जाते हैं।

दूसरी ओर ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीन देवताओं की भांति महामाया शक्ति के भी तीन ही रूप भारत ने माने हैं, महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती। इधर भारत में ऋतुएँ छः मानी गई हैं। इस प्रकार मां जगदम्बा दुर्गा भगवती के तीनों स्वरूपों की छहों ऋतुओं में पूजा करने के लिए जो अठारह दिन का एक विधान है। उसे ही वर्ष में दो बार करके नवरात्र निश्चित किए हैं, ऐसा भी विद्वन्मत है।

वर्ष में नवरात्र के यह दोनों महीने चैत्र और आश्विन मास मानव समाज के लिए बहुत भारी महत्व के हैं। चूंकि चैत्र में सर्दी समाप्त और गर्मी का आरम्भ होता है। इसलिए मानव शरीर का जमा हुआ खून उबाल खाता है। जिस रक्त का हमारे शारीरिक स्वास्थ्य के साथ गहरा सम्बन्ध है। इधर आश्विन में गर्मी समाप्त और शीतकाल का आरम्भ होता है। इस समय भी मौसम के इस सन्धिकाल का हमारे स्वास्थ्य पर गहरा असर होता है। ऐसे दो मौसम के सन्धिकाल में महर्षियों ने हमारे स्वास्थ्य रक्षा के लिए भी नवरात्र का विधान बनाया है, कि हम इन दिनों व्रतोपवास रखकर ब्रह्मचर्य जीवन में स्वल्पाहारादि द्वारा आचार-विचार की पवित्रता से अपने स्वास्थ्य को बलवान बनाए रख दीर्घायु प्राप्त करें। और साथ ही आद्याशक्ति महामाया के पूजार्चन, स्तोत्रपाठ, यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठानों से भी अपना मनोबल ऊँचा कर पूर्ण तेजस्वी बनें।

भारतीय महर्षियों की दूरदर्शिता और तीव्र-बुद्धिबल का क्या कहा जाय? इन नवरात्रों में दुर्गापूजा के लिए छोटी-छोटी कन्याओं का पूजन कराते हुए उनमें पुरुषों की परमपावन मातृभावना बनाकर देश में इस भारत की नारी का कितना ऊँचा सम्मान बनाया है, नया युग आंखें खोलकर इस विज्ञान को देखे और समझे। इन नवरात्रों में छोटी-छोटी कन्याओं को मां के रूप में पूजने वाले भारतीय मानव जीवन में कितना ऊँचा चारित्रिकबल और सद्भावना भरने का महत्वपूर्ण विधान है। आज ऐसे भावनापूर्ण धार्मिक विधि विधानों की यथार्थ रूप में जानकारी की आवश्यकता है, फिर देखिए, भारत का चरित्रबल, मनोबल, तेज और साहस कितना ऊँचा होता है।

—शाण्डिल्य

विजयादशमी—

(२) दशहरा

आज से लाखों वर्ष पहले मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम ने लगातार नौ दिन तक भगवती आद्याशक्ति की आराधना कर पूर्णरूपेण शक्ति-संचय कर तेजस्वी रूप में राष्ट्रपीड़क अन्यायी, अत्याचारी रावण पर इस दिन चढ़ाई की थी, इसी स्मृति में आजतक यह विजयादशमी का पावन पर्व इस दिन मनाया जाता है। प्रतिवर्ष भारत की हिन्दु जाति को इस पर्व पर स्मरण कराया जाता है, कि मानव अपने जीवन में पग-पग पर भारत के इस वेदवाक्य को साथ रक्खे कि—

सत्यमेव जयते नानृतम् ।

धर्मशास्त्र में विजयादशमी

अश्विनस्य सिते पक्षे दशम्यां तारकोदये ।
स कालो विजयो ज्ञेयः सर्वकार्यार्थसिद्धये ॥

आश्विनमास शुक्ल पक्ष की दशमी को तारकोदय के समय 'विजय' नामक मुहूर्त होता है, जो सब कार्यों में सिद्धि का देने वाला है।

अतः इस दिन जानकार गृहस्थ परिवार प्रातःकाल ही उठकर कहीं नदी, तालाब आदि पर स्नान कर भगवती आद्याशक्ति दशहरा अर्थात् 'दशविध पापों के हरण करने वाली शक्ति' की पूजार्चना करते हैं; जिसका धर्म के नाम पर सीधा हमारी अन्तरात्मा के साथ सम्बन्ध है। इस शक्ति-पूजन से अपूर्व मनोबल प्राप्त होता है।

इधर हमारे शास्त्रों ने इस दिन 'शमी' नामक वृक्ष का भी पूजन बताया है; चूंकि इस वृक्ष में सुदृढ़ता और अग्नि का तेज विशेष निहित रहता है, तभी तो यज्ञाग्नि के लिए हमारे महर्षियों ने इसकी लकड़ी का ही विशेष विधान लिखा है, विद्वान इसे सम्यक् जानते हैं, इसी कारण इस दिन इस शमी पूजन से हमें पूर्ण तेजस्वी और सुदृढ़ संकल्पशील बनने का सद्भाव मिलता है।

विजयादशमी के इस पर्व पर हमें पूजनादि के समय गौदूध, गौदधि, मिष्टान्नादि पौष्टिक तथा सुस्वादु व्यंजनों से प्रसन्नता व स्वस्थता भी मिलती है, और सायंकाल मेले में सम्मिलित होकर इष्ट-मित्रों सम्बन्धियों से सम्मिलन का आनन्द और खेल-तमाशों से बच्चों को मनोविनोद भी मिलता है, साथ ही हमें मानवीय कर्तव्य की यह सुरक्षा मिलती है, कि तुम राम बनोगे, तो लोकपूजित होगे, और अन्यायी प्रजापीड़क यदि रावण से राजा भी बनोगे, तो अन्तिम एक दिन राक्षसी जीवन में तुम्हारा बुरी तरह संहार होकर रहेगा। कोई नाम-लेवा भी संसार में नहीं मिलेगा।

इस दिन लोग अपने रथों, बैलगाड़ियों, घोड़ों आदि पर सवार होकर गांव नगर की सीमा का लंघन भी करते हैं, कितना ऊँचा आदर्श भारतीय महर्षियों का है, कि मानव नानाविध पौष्टिक भोजन-मिष्टान्नादि खाकर बलवान तेजस्वीभाव हृदय में लिए इस नये पर्व के दिन पुरानी सीमा पार कर आज नवजीवन में प्रवेश कर चीन और पाकिस्तान में अपनी भूमि पर भी पुनः अपना अधिकार प्राप्त करने का साहस करे। एक शब्द में कहें, तो मानव को जीवन में प्रगतिशील बनने की आदर्श प्रेरणा है। इस प्रकार हमें भारतीय महत्वपूर्ण वैज्ञानिक पर्वों की जानकारी कर पूर्ण श्रद्धाभाव से सोत्साह सामाजिक रूप में यह महानपर्व मनाने ही चाहिएँ, क्योंकि यह सुपर्व भी किसी राष्ट्र का जीवन होते हैं।

—शाण्डिल्य

गीता-आश्रम लक्ष्मणझूला (हृषीकेश) में

सन्त-प्रवर श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी जी महाराज का

❀ हार्दिक-अभिनन्दन ❀

पूज्यपाद श्री सन्त प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी महाराज २४-६-६६ को प्रातः ७ बजे अपनी तीर्थ-यात्रा रेलगाड़ी से लगभग ७०० तीर्थयात्रियों सहित हृषीकेश पधारे।

इस अवसर पर गीता-आश्रम, लक्ष्मणझूला के व्यवस्थापक तथा अन्य सन्त-महात्मा ब्रह्मचारी-वर्ग ने स्टेशन पर पूज्यपाद श्री ब्रह्मचारी जी महाराज का पुष्पहारों से हार्दिक स्वागत किया, और आश्रम की श्यामा गौमाता का दुग्धामृत भी महाराज श्री को भेंट किया।

श्री ब्रह्मचारी जी महाराज लक्ष्मणझूला हृषीकेश के सन्त-महात्माओं के साथ गीता भवन, परमार्थ निकेतन, स्वर्गाश्रम के दर्शन करते हुए लक्ष्मणझूला के सुप्रसिद्ध सन्त-आश्रम गीता-आश्रम में पधारे। जिस गीता-आश्रम के संस्थापक व संचालक, **योगिराज, गीताव्यास, पूज्यपाद श्री स्वामी वेदव्यास जी महाराज हैं।**

गीता-ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम के सेवामित्र, विवेकमित्र ब्रह्मचारियों ने महाराजश्री को चन्दन का तिलक करते हुए पुष्पहार पहनाते हुए गीता-आश्रम की ओर से गीतामाता की पुस्तक तुलसी-दल सहित सादर समर्पित की।

श्री ब्रह्मचारी प्रभुदत्त जी महाराज ने इस विशाल आश्रम को देखकर भारी प्रसन्नता प्रगट की, और अपने शुभाशीर्वादात्मक संक्षिप्त भाषण में कहा कि—

हम लोगों का मानव-जीवन एक सुन्दर उपवन है, स्वास इस उपवन में चन्दन के वृक्ष हैं, हम लोग एक अज्ञानी माली की तरह से चन्दन के कोयले बना बनाकर मानव-जीवन को नष्ट कर रहे हैं, आज आवश्यकता है भारत के सन्त-महापुरुषों के जीवन में रह कर आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण के परम पुनीत कार्य करने की। आज भारत में सदाचार, मानवता तथा आध्यात्मिकता की सुरक्षा के पुण्यकार्य हमें करने चाहिए, जिनमें आज प्रमुखतः हमारे सामने एक महत्वपूर्ण कार्य-क्रम गौहत्यानिरोध का है। गोदुग्ध भारत के जन-जीवन में अमृत का महत्व रखता है, अतः देश की इस स्वतन्त्रता के समय में हमें अपनी प्राणपन की शक्ति लगाकर भी इस महान कार्य की पूर्ति अब करनी ही होगी।

भारत गौ सेवक समाज, ३ सदर थाना रोड, दिल्ली के महामन्त्री तथा गोधन मासिक-पत्र के सम्पादक श्री पं० विश्वम्भरप्रसाद जी शर्मा ने इस कार्यक्रम के संयोजक गीता-आश्रम के प्रति हार्दिक आभार प्रकट किया। ❀

पुष्कर मन्दिर के महन्त श्री पूज्यपाद वीर राघवाचार्य जी महाराज की अध्यक्षता में त्रिवेणी घाट पर जनसभा

सायंकाल ५ बजे श्री ब्रह्मचारी प्रभुदत्त जी महाराज के नेतृत्व में नगर संकीर्तन का जलूस हृषीकेश के प्रमुख बाजारों से होते हुए त्रिवेणीघाट पर जनसभा के रूप में परिवर्तित हो गया। इस जलूस में गीता-आश्रम के प्रतिनिधि सन्त-महात्मा तथा गीता-ऋषिकुल के बाल-ब्रह्मचारी सम्मिलित हुए। रात्रि की इस जनसभा में श्री १०८ पूज्यपाद स्वामी प्रकाशानन्द जी आचार्य महामण्डलेश्वर, हरिद्वार तथा अन्य कई प्रमुख विद्वान समाज-सेवियों ने गौहत्याबन्दी पर बल दिया। हृषीकेश क्षेत्र के लोक सम्मानित पुष्कर मन्दिर के श्री महन्त पूज्यपाद श्री वीर राघवाचार्य जी महाराज ने इस समारोह की अध्यक्षता की। ❀

गीता-प्रचार-समाचार--

सनातन धर्म सभा मन्दिर ईस्ट पटेलनगर, नई दिल्ली में

गोपाल-कृष्ण जन्माष्टमी महोत्सव

अम्बाला छावनी (पंजाब) की सनातन धर्म-सभा के दो दिन के व्यस्त कार्यक्रमों से निवृत्त होकर योगिराज, गीताव्यास, श्री १००८ **स्वामी वेदव्यास जी महाराज** जन्माष्टमी के उपलक्ष में नई दिल्ली की इस सभा के विशेष आमन्त्रण पर यहां पहुंचे।

सभा मन्दिर में नित्यप्रति प्रातःसायं महाराजश्री की परमपावन मनोहर गीता की कथा और गीता प्रवचनों का भव्य कार्यक्रम हुआ। इस सुअवसर पर मन्दिर में महाराजश्री के गीता प्रवचन सुनने के लिए जनता की भारी भीड़ उमड़ पड़ती थी। जन्माष्टमी के दिन नई दिल्ली के इस विशाल लाल मन्दिर की मनोहर झांकी विशेष दर्शनीय थी।

इस बार नई दिल्ली में अधिक समय देने पर भी महाराज जी को एक-एक दिन में कई प्रमुख सभाओं, विद्यालयों, सत्संग-मण्डलों व शिष्य-परिवारों के सत्संगों में गीता प्रवचन करने पड़े हैं, महाराजश्री ने दिल्ली में पधारते ही ५ सितम्बर को होने वाले गौहत्यानिरोध के विराट् प्रदर्शन की सफलता विशेष के लिए दिल्ली की धार्मिक जनता में गौ-महिमा के शास्त्रीय प्रवचनों द्वारा अपूर्व जाग्रति पैदा की। परिणाम स्वरूप संसद-भवन के सामने प्रदर्शन में भाग लेने वाली जनता के लिए पटेलनगर मन्दिर से लालकिले तक निःशुल्क बसें भी चलीं। और महाराजश्री की प्रेरणानुसार इस सभा ने गौ-सेवा कार्य में परमोदारहृदय से काम किया।

इसी अवसर पर सभा मन्दिर में गंडूमल ईश्वरकौर धर्मार्थ आयुर्वेदिक चिकित्सालय के वार्षिकोत्सव-समारोह का उद्घाटन करते हुए महाराजश्री ने देव-वाणी संस्कृत तथा आयुर्वेद की सुरक्षा व प्रचार-प्रसार के लिए जनता से अपील की।

६-९-६६ श्री हरि मन्दिर बाल पाठशाला किला पृथ्वीराज, शंकरनगर पहाड़गंज नई दिल्ली के अथक कार्यकर्ता धर्मवीर श्री खैरातीलाल कोषाध्यक्ष सभा के साग्रह आमन्त्रण पर महाराजश्री प्रातः ८-३० बजे मन्दिर में पधारे और इस छोटी सी तंग बस्ती में सनातन धर्म के यह रचनात्मक कार्यक्रम, सत्संग भवन (दैनिक) स० ध० कन्या महाविद्यालय जैसे सफल प्रभावशाली पुण्य-कार्य देखकर महाराजश्री बहुत प्रभावित हुए। शान्तिमित्र ब्रह्मचारी गीता-ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम के विशिष्ट योगासनों और जलनेति सूत्रनेति आदि कार्यक्रमों से यहां की जनता प्रभावित हुई।

२२ सितम्बर ६६ का नवभारत टाइम्स देखिए—

२१-९-६६ नई दिल्ली, मंगलवार (प्र) गंडूमल ईश्वरकौर धर्मार्थ आयुर्वेदिक चिकित्सा, पटेलनगर, के वार्षिकोत्सव में घोषणा की गई कि वहां शीघ्र ही एक संस्कृत विद्यालय की स्थापना की जायगी। इसके अलावा आयुर्वेद की शिक्षा देने का भी प्रबन्ध किया जायगा।

समारोह की अध्यक्षता वैद्य पं० दुर्गादास ने की और इसका उद्घाटन **स्वामी वेदव्यास जी** द्वारा किया गया।

स्वामी वेदव्यास जी ने इस क्षेत्र के नागरिकों से आयुर्वेद चिकित्सा से लाभ उठाने की अपील की। उन्होंने कहा कि सरकार और दिल्ली प्रशासन दिल्ली के विभिन्न क्षेत्रों में आयुर्वेदिक दवाखाने खोलें।

विभिन्न प्रमुख नगरों में,

महाराज श्री स्वामी वेदव्यास जी द्वारा स्थापित

❋ नवीन-साप्ताहिक-गीता-सत्संग ❋

नई दिल्ली---श्री आत्मप्रकाश जी २।८ सैण्ट्रल बैंक के ऊपर, ईस्ट पटेलनगर, नई दिल्ली (प्रत्येक एकादशी को गीता-सत्संग) ।

नई दिल्ली--श्री शकुन्तला शर्मा ५।२६ वैस्ट पटेलनगर, नई दिल्ली, (प्रत्येक मंगलवार को गीता-सत्संग) ।

अम्बाला--श्री जयदेव शर्मा, ५६१०।१ हलवाई बाजार, अम्बाला छावनी, (प्रत्येक गुरुवार को गीता-सत्संग) ।

अमृतसर---श्री नरेन्द्र सेठी, पुरानी हवेली चौक दरबार साहब, अमृतसर, (प्रत्येक गुरुवार को गीता-सत्संग) ।

गीता-प्रचार के इस महान पुण्य-कार्य में आप भी अपने परिवार व इष्ट-मित्रों सहित सम्मिलित होकर सुख-शान्तिमय जीवन बनाइए ।

महाराजश्री जब कभी इन नगरों में पधारते हैं, तो गीता-प्रचार सत्संग में भी प्रायः अवश्य उनके गीता-प्रवचन होते हैं, श्री महाराज जी के विशेष कार्यक्रम की जानकारी भी आप इन स्थानों से प्राप्त कर सकते हैं ।

[पृष्ठ १६ का शेषांश]

साधारण मल्लाह के सामने भी दीन भाव से लाकर खड़ा कर दिया--

मांगी नाव न केवट आना ।
... ...
कृपा सिंधु बोले मुसुकाई ।
सोई करु जेहिं तव नाव न जाई ।।

—अयोध्याकाण्ड

और इन्हीं अपने इष्ट राम के मुख से अपने पिता के मंत्री सुमन्त को पिता कहकर सम्बोधन कराया और सुमन्त के प्रति अपने इष्ट राम का सदा व्यवहार काल में पिता के समान ही उनको आदर दिलाया--

राम सुमंत्रहि आवत देखा ।
आदरु कीन्ह पिता सम लेखा ।।

—अयोध्याकाण्ड

इस प्रकार जाति-पांति को प्रभुभक्ति में कहीं भी बाधक नहीं बनने दिया ।

जाति पांति पूछै नहिं कोई ।
हरि को भजे सो हरि का होई ।।

राशिगत-फलादेश, अक्तूबर १९६६

ज्योतिषाचार्य पं० शिव कुमार जेतली, (प्रसिद्ध नाम पप्पी पंडित) अमृतसर

मेष—दिल खुश, उन्नति; यात्रा का योग, मकान अथवा सवारी का खरीदना।

वृष—व्यापार में वृद्धि, मालिक से सम्बन्ध अच्छे, मान बढ़े।

मिथुन—धन का नाश, किसी से मांगने से भी न मिले। ४, ७, १२, २३ तिथियां नेष्ट।

कर्क—सन्तान से चिन्ता, घर से भाग जाए, स्त्री पर सन्देह इत्यादि।

सिंह—धन का नाश, मान घटे, सन्तान घर से भाग जाए, अधिक व्यय।

कन्या—मान बढ़े, मन पसन्द सगाई, मित्रों से प्रेम अधिक।

तुला—दिल उदास तथा दुःखी, मित्र का आवाहन परन्तु हो न इत्यादि।

वृश्चिक—दिल दुःखी, व्यय अधिक, कम लाभ और शरीर को कष्ट।

धन—मान बढ़े, यात्रा, नये कार्य में लाभ तथा हौंसला बढ़ेगा।

मकर—अधिक मान प्राप्त होगा, मित्रों से मिलाप, संतान की वृद्धि।

कुम्भ—नौकरी में उन्नति, दिल प्रसन्न, घर में खुशी के काम, अधिक खर्च।

मीन—व्यापार की वृद्धि, चित्त प्रसन्न, परस्पर मेल-मिलाप अधिक। ❁

स्वास्थ्य-स्तम्भ—

'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'

इस स्तम्भ द्वारा शरीर को निरोग रखने और स्वास्थ्य को स्थिर रखने की सामग्री 'गीता-सन्देश' परिवार के स्नेही पाठकों में उपस्थित करने का प्रयास किया जायेगा, क्योंकि 'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्' अर्थात् धर्म, अर्थ काम एवं मोक्ष इन चारों की प्राप्ति का आधारभूत---है 'स्वस्थ और निरोग शरीर'। संसार यात्रा को सफलता पूर्वक सम्पन्न करने के लिए, जीवन के उत्तरदायित्वों को समुचित ढंग से निभाने के लिए, सर्वप्रथम निरोग देह की आवश्यकता है। इसमें आपके रोग और स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर भी दिया जाएगा।

सम्पादक स्वास्थ्यविभाग के नाम से हर महीने १५ तारीख तक आपके पत्र 'गीता-सन्देश' कार्यालय, पोस्ट स्वर्गाश्रम, हृषीकेश में पहुँच जाने चाहिएँ। जो भाई-बहिन अपना नाम व पता गुप्त रखना चाहते हों, वह पत्र में स्पष्ट निर्देश कर देवें।

सनातन धर्म सभा मन्दिर, ईस्ट पटेलनगर नई दिल्ली में

पूज्य स्वामी वेदव्यास जी महाराज की अध्यक्षता में गौरक्षा सम्मेलन
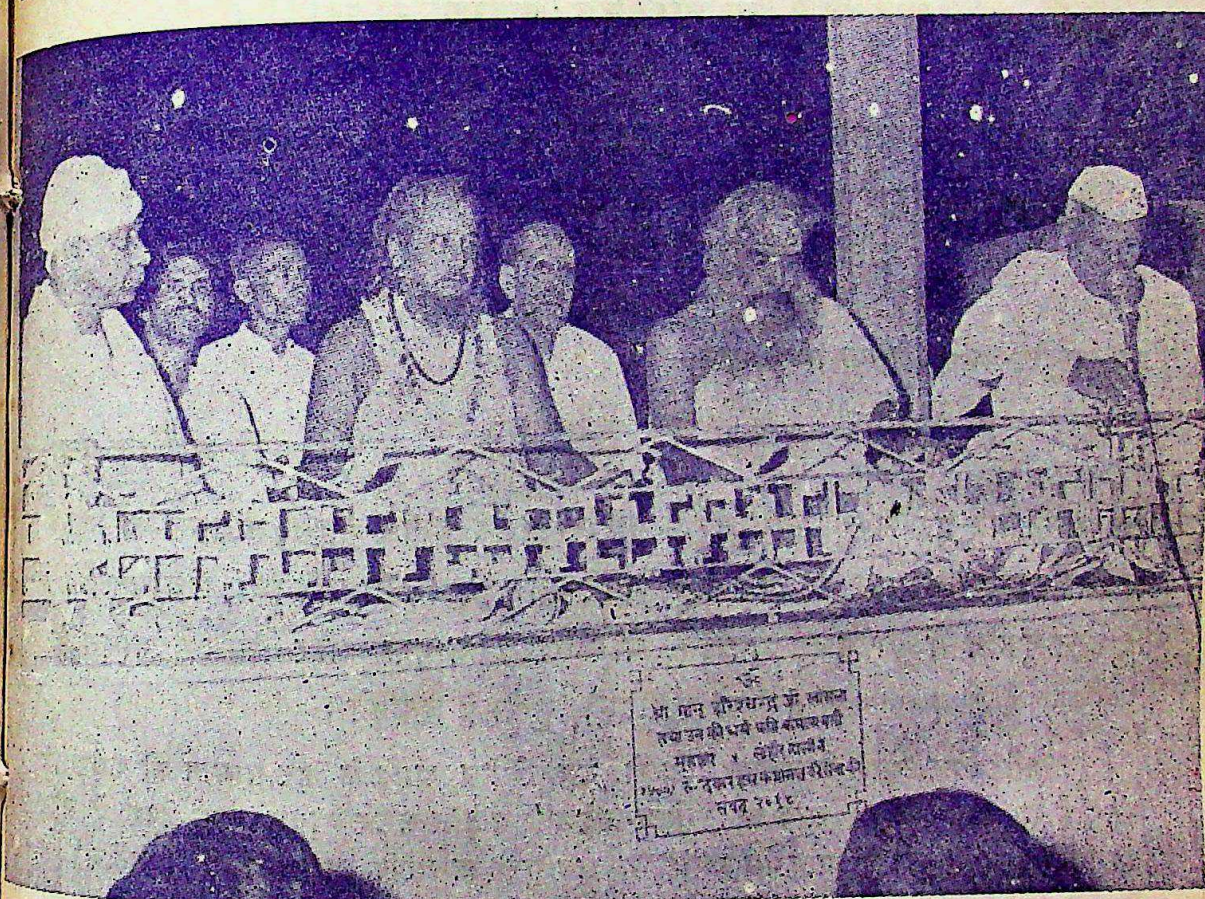
बायें से दायें--श्री स्वामी केशवानन्द जी महाराज (संयोजक); सोमप्रकाश शाण्डिल्य, सम्पादक 'गीता-सन्देश'; पूज्यपाद श्री १०८ योगिराज, गीताव्यास, *स्वामी वेदव्यास जी महाराज* (अध्यक्ष); श्री सीताराम जी प्रधान, सनातन धर्म सभा, ईस्ट पटेलनगर, नई दिल्ली; गौव्रती *सन्त श्री ब्रह्मचारी प्रभुदत्त जी महाराज* (सम्मेलन के उद्घाटनकर्ता); पंडित विश्वम्भर प्रसाद जी शर्मा, सम्पादक 'गोधन' महामंत्री भारत गौ-सेवक-समाज, प्रवचन करते हुए ।

ऋषि-पंचमी के पुण्य पर्व पर नई दिल्ली के इस विशाल मन्दिर में सर्वदलीय गौरक्षा महाभियान समिति के अध्यक्ष *सन्त श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी महाराज* ने इस सम्मेलन का उद्घाटन किया । यह गौरक्षा सम्मेलन "श्री स्वामी वेदव्यास जी महाराज" की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ । सम्मेलन के संयोजक श्री स्वामी केशवानन्द जी महाराज थे ।

आज भौतिकवाद के तूफानी अंधड़ में,
अश्लील व दूषित साहित्य से बचिए और देश को बचाइए।
आज देश में "सदाचार" और "मानवता" की पुकार है।

गीता-सन्देश हमें

सदाचार का पाठ पढ़ाता है, और केवल मानव नहीं, नर से नारायण भी बनाता है।
आज अपनी होनहार भारतीय सन्तान को बचाइए।
गीता-रामायण जैसे सद्ग्रन्थों की धार्मिक शिक्षा से
'राष्ट्र का चरित्रबल' ऊँचा करिए।
इस राष्ट्रीय-धार्मिक पुण्यकार्य के लिए—

गीता-सन्देश (हिन्दी मासिक-पत्र)

आप अपने घर-घर में, सभा-समाजों में, मन्दिर-सत्संग-कीर्तन भवनों में, स्कूल-कालेजों में, वाचनालय-पुस्तकालयों में, ग्राम-ग्राम नगर-नगर में, जिला परिषदों, पंचायतघरों में दुकान-दुकान में आज ही मंगाइए, और अपने बाहरी और भीतरी जीवन के संसार को सजाइए, सुखमय बनाइये।

और फिर आज के कागज, स्याही, मजदूरी प्रेस आदि के हर सामान की कमरतोड़ मंहगाई के जमाने में भी आप को "गीता-सन्देश" बढ़िया सफेद कागज आर्ट पेपर के साथ रंग-बिरंगी स्याहियों की आकर्षक छपाई में, खूब सूरत चमकीले ब्लाक चित्रों (फोटोज) को लिए, अनेकों मनलुभावनी कला-कृतिपूर्ण साज-सज्जा में, सालभर तक केवल ४) रु० में ही प्राप्त।

एक साल में रुपये केवल ४) और गीता-सन्देश की पुस्तकें १२ बारह।

इसके साथ ही,
उच्चकोटि की खोजपूर्ण भावसामग्री से परिपूर्ण रंग-बिरंगी स्याहियों में आकर्षक व मनोहर चित्रों से दर्शनीय मोटी जिल्दों के
विशेषांक भी इन्हीं केवल चार रुपयों में मिलते हैं।

अब आप ही देखिए—
इस मंहगाई में भी अनमोल विचाररत्नों का कितना सस्ता सौदा।
आप फौरन आज ही केवल चार रुपये, "गीता-सन्देश-कार्यालय" पो० स्वर्गाश्रम, हृषीकेश (उत्तर-प्रदेश) को भेजकर 'गीता-सन्देश' के स्थायी ग्राहक बनिये, और अपने सम्बन्धी एवं मित्रों को ग्राहक बनाकर पुण्य व सुयश कमाइये।

—व्यवस्थापक

गीता सन्देश

सर्व वेदमयी-गीता, सर्व धर्म-मयो मनुः ।
सर्व-तीर्थ-मयी गङ्गा, सर्व-देव मयो हरिः ॥

गौ सेवा अङ्क

वर्ष : १०
अङ्क : ११

वार्षिक मूल्य
४) रु०

गीता सम्पूर्ण वेदों के तत्व को प्रकाशित करने वाली, मनु सम्पूर्ण धर्मों के मर्म को जानने वाले, और गंगा जी सम्पूर्ण तीर्थरूपिणी हैं, तथा भगवान विष्णु सर्व देवमय हैं।

पता—"गीता-सन्देश", गीता-आश्रम, पो० स्वर्गाश्रम, हृषीकेश । फोन : १२६

—: गीता-सन्देश के उद्देश्य तथा नियम :—

उद्देश्य—विशुद्ध-आध्यात्मिक, सांस्कृतिक लेखों द्वारा जनता को सत्पथ दिखाने का प्रयत्न करना, गीता-सन्देश का उद्देश्य है।

—: नियम :—

१. गीता-सन्देश का नवीन वर्ष एक जनवरी से प्रारम्भ होकर ३१ दिसम्बर को समाप्त होता है।
२. पत्र प्रतिमास पहली तारीख को प्रकाशित होता है।
३. ग्राहक एक वर्ष से कम के लिए नहीं बनाए जाते। वर्ष के बीच में ग्राहक बनने पर उस वर्ष के पिछले प्राप्तांक लेने पड़ते हैं। ग्राहक प्रायः अग्रिम मूल्य प्राप्त होने पर ही बनाए जाते हैं।
४. विशेषांक सहित वार्षिक मूल्य देश में ४–०० रुपये, विदेश के लिए ६–०० रुपये है।
५. अङ्क निश्चित मास के द्वितीय सप्ताह तक यदि ग्राहक की सेवा में न पहुंचे, तो कार्यालय को सूचना देनी चाहिए। अपने पोस्ट आफिस से इस सम्बन्ध में प्राप्त, लिखित उत्तर साथ भेजना होगा।
६. २५ पैसे के डाक-टिकट मिलने पर पत्र की एक प्रति नमूने के लिए भेजी जा सकती है।
७. कम से कम पत्र के चार सदस्य बनाने वाले महानुभावों को एक वर्ष तक पत्र निःशुल्क भेजा जाएगा।
८. समालोचनार्थ पुस्तक की दो प्रतियां सम्पादक के नाम भेजनी चाहिएँ।
९. आध्यात्मिक तथा नैतिक स्तर को उन्नत करने वाले लेख, कहानी एवं कविताएँ ही पत्र में स्थान पा सकेंगी।
१०. लेखों को घटाने बढ़ाने, छापने अथवा न छापने का पूर्ण अधिकार सम्पादक को है।
११. लेख में प्रकाशित मत के लिए लेखक ही उत्तरदायी होगा।

पत्र-व्यवहार एवं समालोचनार्थ ग्रन्थादि भेजने का एकमात्र पता—

— व्यवस्थापक —

गीता-सन्देश कार्यालय, पो० स्वर्गाश्रम, वाया हृषीकेश (उ०प्र०)

प्र० संरक्षक—सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, अनन्त श्री विभूषित, महाराज श्री स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज

— संस्थापक-संरक्षक-संचालक —

हिमालय के महान तपस्वी सन्त, योगिराज, गीताव्यास,

श्री १००८ स्वामी वेदव्यास जी महाराज सरस्वती

सहयोगी-संचालक—जगद्गुरु शंकराचार्य श्री स्वामी सत्यमित्रानन्दगिरि जी महाराज

—सर्वाध्यक्ष—

परम प्रतापी, प्रजावत्सल, दानवीर-शिरोमणि महाराजा श्री वीरभद्रसिंह जी महाराज, भावनगर।

मानव अपने जीवन में अपना बैठे,

तो नर से नारायण बना देने वाली,

卐 सन्त-वाणी 卐

प्रेम संसार की ज्योति है।

—महात्मा ईशा

❀ ❀ ❀ ❀

परोपकार करना, दूसरे की सेवा करना और अहंकार न करना, यही सच्ची शिक्षा है।

—महात्मा गांधी

❀ ❀ ❀ ❀

कठिन परिश्रम ही सौभाग्य की जननी है।

—अज्ञात

❀ ❀ ❀ ❀

जब तक हमारा चरित्र हमारी इच्छाओं का सहायक न होगा, तब तक हम कुछ पाने के योग्य न होंगे।

—गोखले

❀ ❀ ❀ ❀

मित्र बनाओ तो धीरे-धीरे, और तोड़ो तो उससे भी धीरे।

फ्रेंकलिन

❀ ❀ ❀ ❀

जो शरीर से घात करते हैं पर आत्मा से नहीं, उनसे मत डरो। पर उनसे अवश्य डरो जो आत्मा और शरीर दोनों का नाश करते हैं।

महात्मा ईसामसीह

❀ ❀ ❀ ❀

बुद्धिमानों की झिड़कियां बुद्धिहीनों की प्रशंसा से अच्छी है। उनकी झिड़कियों से अपने दोषों का ज्ञान होता है। बुद्धिहीन कभी-कभी दोषों को भी गुण बतलाकर प्रशंसा करते हैं जो सबसे बुरा और अनिष्टकारी होता है।

—सादी

❀ ❀ ❀ ❀

लाख मन ज्ञान से एक मुट्ठी चरित्र उत्तम है।

—रस्किन

सम्पादक-मण्डल

प्रवंतनिक {
प्रधान सम्पादक— श्री सोमप्रकाश शाण्डिल्य,
सम्पादक—श्री बैजनाथ कपूर, श्री चन्द्रशेखर शास्त्री,
श्री न्यायमित्र शर्मा, विशारद।

गीता-सन्देश कार्यालय, पो० स्वर्गाश्रम, ऋषीकेश (फोन नं० : १२९) के लिए गीता-मुद्रणालय स्वर्गाश्रम में

गीतासन्देश

गीता सुगीता कर्तव्या, किमन्यैः शास्त्र-विस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य, मुखपद्माद्विनिःसृता ।। —भगवान 'व्यास'

वर्ष : १० } गीता-आश्रम, स्वर्गाश्रम, कार्तिक सं० २०२३—नवम्बर, १९६६ ई० { अंक : ११

अबलौं नसानी, अब न नसैहौं ।

राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं ।।१।।
पायेउँ नाम चारु चिंतामनि, उर कर तें न खसैहौं।
स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित-कंचनहिं कसैहौं ।।२।।
परबस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं।
मन-मधुकर पनकै तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहौं ।।३।।

भारत के गुरुभक्त-बालक—

महर्षि आयोदधौम्य का शिष्य "आरुणि"

[यह भारत के वह होनहार गोपाल-कृष्ण कन्हैया और धनुर्धारी राम हैं, जो कल के सुयोग्य शासक और राष्ट्रीय-जीवन के कर्णधार होंगे। —सम्पादक]

यह कहानी प्राचीन भारत की है, महर्षि आयोदधौम्य के आश्रम में बहुत शिष्य विद्याध्ययन करते थे, जिनमें आरुणि, उपमन्यु और वेद नामक तीन शिष्य विशेष रूप से गुरुप्रिय थे। क्योंकि वह सदाचारी, परिश्रमी, ब्रह्मचारी गुरु जी के आज्ञाकारी बालक थे, बिना कठोर परिश्रम किए ही वह थोड़े ही समय में वेदशास्त्र के पण्डित बन निकले, कैसे? गुरु-कृपा से ही। सुनिए इनके जीवन की कहानी—

महर्षि आयोदधौम्य के आश्रम में आरुणि के विद्या पढ़ते समय एक दिन बहुत भारी वर्षा हुई और आश्रम के धानों के खेत की मेढ़ तोड़कर तमाम पानी बाहर बहने लगा। गुरु जी ने आज्ञा दी, कि फौरन खेत का पानी रोकने के लिए कोई ब्रह्मचारी जाए, तुरन्त आरुणि उठा और भारी वर्षा में भीगते २ खेत पर पहुंचा। समय सायंकाल का था, आरुणि ने खेत की मेढ़ पर मिट्टी लगाकर पानी रोकने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु मिट्टी गीली होने से मेढ़ के पानी के बहाव में टिक न पाती, अन्तिम गुरु भक्त आरुणि स्वयं उस मेढ़ के आगे लेट गया, और पानी रुक गया।

तमाम रात बीत गई, वर्षा और ठण्ड से आरुणि अकड़ गया, परन्तु गुरु जी की आज्ञा का पालन करना था। इधर प्रातःकाल होते ही आश्रम के सभी छात्र गुरु जी को प्रणाम करने पहुंचे, परन्तु आरुणि को न देखकर जब महर्षि ने पूछा, कि आरुणि कहां है? तो मालूम हुआ कि सायंकाल खेत का पानी रोकने गया था, लौटकर नहीं आया। गुरु अपने प्रिय शिष्य को जाकर देखते हैं कि खेत की मेढ़ पर लेटा पड़ा है, तमाम रात बीत गई और शरीर भी अकड़ गया है बालक की इस गुरुभक्ति (आज्ञापालन) को देखकर महर्षि आयोदधौम्य प्रसन्न हो उठे और हृदय से शुभाशीर्वाद दिया, कि तुम पूर्ण विद्वान हो, बिना पढ़े भी तुम विद्या के भण्डार होगे। इसी गुरुकृपा से आरुणि भारत का एक सुयोग्य विद्वान महर्षि बना। तभी तो भारतीय शास्त्रों ने कहा है कि—

गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा।
अथवा विद्यया बिद्या चतुर्थं नैव साधनम्॥

आप भी ऐसे ही 'गुरुभक्त' माता-पिता गुरुजनों के आज्ञाकारी विद्वान बालक बनो। आगामी अंक में फिर तुम्हें बड़ी मनोहर नन्हीं सी चटपटी शिक्षाप्रद कहानी तुम्हारे बाल्यपन की सुनाएँगे।

—सेवामित्र

श्रीमद्भगवद्गीता-पाठ

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

इसलिए सब मोर्चों पर अपनी-अपनी जगह स्थित रहते हुए आप लोग सब के सब ही निःसन्देह भीष्मपितामह की ही सब ओर से रक्षा करें ॥११॥

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

इस प्रकार द्रोणाचार्य से कहते हुए दुर्योधन के बचनों को सुनकर कौरवों में वृद्ध बड़े प्रतापी पितामह भीष्म ने उस दुर्योधन के हृदय में हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वर से सिंह की नाद के समान गर्ज कर शंख बजाया ॥१२॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

उसके उपरान्त शंख और नगारे तथा ढोल, मृदङ्ग और नृसिंहादि बाजे एक साथ ही बजे, उनका वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ ॥१३॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

इसके अनन्तर सफेद घोड़ों से युक्त उत्तम रथ में बैठे हुए श्रीकृष्ण महाराज और अर्जुन ने भी अलौकिक शंख बजाये ॥१४॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

उनमें श्रीकृष्ण महाराज ने पाञ्चजन्य नामक शंख और अर्जुन ने देवदत्त नामक शंख बजाया, भयानक कर्म वाले भीमसेन ने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया ॥१५॥

(क्रमशः आगामी अंक में)

श्रीमद्भगवद्गीता-माहात्म्य

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं, य पठेत्प्रयतः पुमान् ।
विष्णोः पदमवाप्नोति, भयशोकादिवर्जितः ॥ १ ॥

जो मनुष्य प्रयत्नपूर्वक इस पुण्यमय गीताशास्त्र को पढ़ते हैं वे भय शोक से रहित, भगवान विष्णु के पद (स्थान) को प्राप्त होते हैं ॥१॥

❋

भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम् ।
गीता गङ्गोदकं पीत्वा, पुनर्जन्म न विद्यते ॥ २ ॥

भारत में अमृत-स्वरूपिणी भगवान् विष्णु के मुख से निकली हुई गीतारूपी गंगा जल को पीकर पुनर्जन्म नहीं होता है ॥२॥

❋

गीता गंगा च गायत्री, गोविन्देति हृदि स्थिते ।
चतुर्गकार-संयुक्ते, पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ३ ॥

जिस व्यक्ति के हृदय में गीता, गङ्गा, गायत्री और गोविन्द का सम्यक् बोध विवेचन एवं चिन्तन है उसका पुनर्जन्म नहीं होता ॥३॥

❋

यस्यान्तःकरणं नित्यं, गीतायां रमते सदा ।
स साग्निकः सदाजापी, क्रियावान् स च पंडितः ॥ ४॥

जिसका अन्तःकरण सदा गीता के अध्ययन में सुख मानता है वही अग्निहोत्री, वही जप करने वाला और वही कर्मशील है तथा वह पंडित है ॥४॥

❋

यत्र गीता-विचारश्च, पठनं पाठनं तथा ।
मोदते तत्र भगवान्, कृष्णो राधिकया सह ॥ ५ ॥

जिस स्थान पर गीता का विचार तथा पठन पाठन होता है उस स्थान पर भगवान् कृष्ण राधिका के सहित प्रसन्न रहते हैं ॥५॥

❋

वेदों के अनमोल-रत्न

卐

ॐ मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥

—अ० ३-३०-३

भाई भाई से द्वेष न करे, बहन बहन से द्वेष न करे । हम सब एक चाल वाले हों और एकव्रत होकर भली रीति से अच्छी वाणी बोलें ।

ॐ रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुच ँ राजसु नस्कृधि ।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥

—यजु० १८-४८

हमारे ब्राह्मणों में शान्ति व तेज दीजिये । हमारे राजाओं, क्षत्रियों में तेज पैदा करें । वैश्यों और शूद्रों में कान्ति देवें । मुझे तेज से युक्त कान्ति प्रदान करें ।

ॐ यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु ॥

—यजु० ३२-१४

हे अग्ने, जिस मेधा बुद्धि को देवता और पितर चाहते हैं, वही मेधा हमें आज प्रदान करें ।

ॐ त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ ।
अधा ते सुम्नमीमहे ॥

—अ० २०-१०८-२

हे परमेश्वर ! तुम निश्चय से हमारे पिता हो । हे असंख्य ज्ञान और कर्मों वाले, तुम ही हमारी माता हो । अतः हम तुम से शान्ति की प्रार्थना करते हैं ।

तुलसी के मानस में—

रामनाम-महिमा

राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार ।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर ॥

तुलसीदास जी कहते हैं, यदि तू भीतर और बाहर दोनों ओर उजाला चाहता है तो मुखरूपी द्वार की जीभरूपी देहली पर सदैव राम-नामरूपी मणि-दीपक को रख ।

नाम जीहँ जपि जागहिं जोगी । बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी ॥
ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा । अकथ अनामय नाम न रूपा ॥

ब्रह्मा के बनाये हुए इस प्रपञ्च (दृश्य-जगत्) से भलीभांति छूटे हुए वैराग्यवान् मुक्त योगी पुरुष इस नाम को ही जीभ से जपते हुए (तत्त्वज्ञान रूपी दिन में) जागते हैं और नाम तथा रूप से रहित अनुपम, अनिर्वचनीय, अनामय ब्रह्मसुख का अनुभव करते हैं ।

जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ । नाम जीहँ जपि जानहिं तेऊ ॥
साधक नाम जपहिं लय लाएँ । होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ ॥

जो परमात्मा के गूढ़ रहस्य को (यथार्थ महिमा को) जानना चाहते हैं वे (जिज्ञासु) भी नाम को जीभ से जपकर उसे जान लेते हैं । (लौकिक सिद्धियों के चाहने वाले अर्थार्थी) साधक लौ लगाकर नाम का जप करते हैं और अणिमादि (आठों) सिद्धियों को पाकर सिद्ध हो जाते हैं ।

जपहिं नामु जन आरत भारी । मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी ॥
राम भगत जग चारि प्रकारा । सुकृती चारिउ अनघ उदारा ॥

(संकट से घबराये हुए) आर्तभक्त नाम-जप करते हैं तो उनके बड़े भारी बुरे-बुरे संकट मिट जाते हैं और वे सुखी हो जाते हैं । जगत् में चार प्रकार के (१-अर्थार्थी-धनादि की चाह से भजने वाले, २-आर्त—संकट की निवृत्ति के लिए भजने वाले, ३-जिज्ञासु—भगवान् को जानने की इच्छा से भजने वाले, ४-ज्ञानी—भगवान् को तत्व से जानकर स्वाभाविक ही प्रेम से भजने वाले) रामभक्त हैं और चारों ही पुण्यात्मा, पापरहित और उदार हैं ।

चहू चतुर कहुँ नाम अधारा । ज्ञानी प्रभुहि बिसेषि पिआरा ॥
चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ । कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ ॥

चारों ही चतुर भक्तों को नाम का ही आधार है, इनमें ज्ञानी भक्त प्रभु को विशेषरूप से प्रिय है । यों तो चारों युगों में और चारों ही वेदों में नाम का प्रभाव है, परन्तु कलियुग में विशेष रूप से है । इसमें तो (नाम को छोड़कर) दूसरा कोई उपाय ही नहीं है ।

गीता का एक मंत्र

गीताव्यास, पूज्यपाद,
श्री स्वामी वेदव्यास जी महाराज

❀

[महाराजश्री का यह गीता-सन्देश का 'पावन प्रसाद' है, मानव जीवन की सार्थकता के लिए सीधे हृदय को छूने वाली विलक्षणशैली में प्राप्त इस गीताज्ञान को जीवन में उतारिए और अपनी दिव्यज्योति के दर्शन करिए। —सम्पादक]

❀

ये हि संस्पर्शजा भोगा, दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय, न तेषु रमते बुधः॥ गीता ५-२२

पदच्छेद

ये, हि, सं+स्पर्श+जाः भोगाः, दुःख+योनयः, एव, ते आदि + अन्त + वन्तः, कौन्तेय ! न, तेषु, रमते, बुधः।

अन्वय

ये सं + स्पर्श + जाः भोगाः, ते हि दुःख+योनयः, आदि + अन्त + वन्तः एव कौन्तेय ! बुधः तेषु न रमते।

साधारण अर्थ

हे कौन्तेय ! हे अर्जुन ! संस्पर्श से जायमान् जो भी भोग हैं वे सब दुःखों के घर हैं अर्थात् जितने प्रकार के दुःख होते है वे समस्त दुःख संस्पर्शजन्य भोगों से ही उत्पन्न होते हैं, अथवा संस्पर्शजन्य भोग केवल दुःखों को ही जन्म देते हैं। इतना ही नहीं, ये भोग आदि और अन्त वाले भी हैं। आदि और अन्त से तात्पर्य यह है कि वे सदा अनित्य हैं। अस्तु हे अर्जुन ! 'बुधः तेषु न रमते' बुद्धिमान पुरुष उन विषयों में रमण नहीं करता।

भावार्थ

इस मंत्र में अर्जुन को 'कौन्तेय' शब्द से सम्बोधित किया गया है। 'कौन्तेय' का अर्थ है 'कुन्ती का पुत्र।' अर्जुन की माता कुन्ती बड़ी वैराग्यवान, संयमी और विषय-भोगों से विरक्त रहने वाली थीं। भगवान इस मंत्र में अर्जुन को उसकी माता की याद दिला कर उसे विषय-भोगों से विरत होने के लिए 'कौन्तेय' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं कि तू उसी तपस्विनी कुन्ती का पुत्र है, जो कि समस्त 'संस्पर्शजा' भोगों से विरत है।

इस मन्त्र में **संस्पर्शजा** शब्द पर विशेष जोर है और इस शब्द को 'भोग' शब्द का विशेषण बनाकर रखा गया है। 'संस्पर्शजा' का अर्थ है—सम्यक् स्पर्शाः इति संस्पर्शाः। संस्पर्शेभ्यः जायन्ते ते संस्पर्शजाः।

अर्थात् जो संस्पर्श से पैदा हों उनको 'संस्पर्शजा' कहते हैं। **'संस्पर्श'** शब्द का अर्थ है 'सम्यक् स्पर्श' अर्थात् इन्द्रियां अपने-अपने विषयों में जब रमण करती हैं उस समय मन किसी एक इन्द्रिय के विषय में आसक्त हो जाता है उस समय यह मन उन विषयों के आनन्द में तन्मयता के साथ लिप्त होकर सुख की मिथ्या अनुभूति करता है। 'संस्पर्शजा' का यही मौलिक अर्थ है। आसक्ति-पूर्वक, या रागपूर्वक विषयों में लिप्तता। 'संस्पर्शजा' शब्द का दूसरा अर्थ भी है— 'विषयेन्द्रिय सम्बन्धजाः भोगाः' विषय और इन्द्रियों के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले भोग। ये भोग केवल दुःखों को ही उत्पन्न करते हैं। जैसा कि विष्णु पुराण में लिखा है—

यावत् कुरुते जन्तुः,
संबन्धान्मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते,
हृदये शोकशङ्कवः॥

अर्थात् प्राणी अपने मन के प्रिय पदार्थों के साथ जितने भी सम्बन्ध करता है, उतनी ही शोक की कीलें अपने हृदय में गाड़ता है। जब एक कील की व्यथा ही हृदय को सहन नहीं है तो इन अनेकों कीलों की व्यथा वह कैसे सह सकता है। और भी मनुस्मृति में आया है—

न जातु कामः कामानामुप-
भोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव,
भूय एवाभिवर्द्धते॥

—मनुस्मृति

अर्थात् जैसे घी डालने से आग बुझती नहीं है किन्तु बढ़ती ही है। जितना ही घृत अग्नि में पड़ता जायेगा उतने ही वेग से अग्नि अधिक प्रदीप्त होती जावेगी। ठीक इसी प्रकार से विषयों को उपभोग करने से मन की भोगेच्छा और अधिक बलवान होती है और शान्ति और सुख का नाम भी इन विषयों से नहीं मिलता। अस्तु सिद्ध हुआ कि समस्त भोग केवल दुःखों को ही उत्पन्न करने वाले हैं।

दुःखयोनयः अर्थात् 'दुःखहेतवः' अथवा दुःखानां योनयः' दुःखों के जन्मस्थान। जितने दुःख हैं समस्त दुःखों का जन्म स्थान यही भोग हैं। इतना ही क्यों **आद्यन्तवन्तः** भी हैं, इनका आदि भी है और अन्त भी है—विषयेन्द्रिय-संयोग का नाम **आदि** है और विषयेन्द्रिय-वियोग का नाम **अन्त** है। ये संयोग और वियोग वाले भोग इनमें सुख कहां से आया। संयोग और वियोग के मध्य में जो क्षणिक सुख की प्रतीति है वह काल्पनिक सुख है। सुख तो

उस तत्व का नाम है जिसको प्राप्त करने के बाद मन और बुद्धि पूर्ण तुष्ट हो जावें आप्त-काम हो जावें, इच्छा रहित हो जायें, आनन्द में लीन हो जावें, प्यास बुझ जावें, भूख मिट जावे सो यह बात विषयों के संयोग में कहां ? श्री 'गौड़पादाचार्य' जी ने इसी बात को स्पष्ट लिखा है–

'आदावन्ते च यन्नास्ति,
वर्तमानेऽपि तत्तथा।'

जो आदि-अन्त में नहीं है वह वर्तमान में भी कहाँ से आया अर्थात् इन भोगों में जब आदि-अन्त में सुख नहीं है तो मध्य में भी कहां से आया। अस्तु विवेकी पुरुष इस तत्व को समझ कर इन विषयों में रमण नहीं करते। विषय भोग के समय मनुष्य भ्रमवश भोगों को सुख का कारण समझता है किन्तु इनका परिणाम इनका अन्त बल-नाश, आयुनाश, तथा बुद्धिनाश के रूप में मिलता है। इतना ही नहीं, आसक्तिवश भोगों को भोगता हुआ प्राणी भोगों में लिप्त हो जाता है। और भोग सदा मिलते नहीं तो केवल स्मरणमात्र से ही वह उन भोगों को याद करके शोकाग्नि में जलता, रोता, बिलखता और पछताता रहता है।

प्रश्न १—संस्पर्शजा शब्द का यहां क्या अर्थ है ?

उत्तर—संस्पर्श शब्द पांच ज्ञाने-न्द्रियों का उनके पांच विषयों के साथ **घनिष्ट-स्पर्श** का नाम है। इन्द्रियां तत् तत् अपने विषयों में जब अनुरक्त होती हैं तो मन तत् तत् विषयों का अनित्य स्वाद ग्रहण करता है यह मन इन्दियों सहित उन भोगों के साथ अत्यन्त रागयुक्त होकर उनमें लिप्त हो जाता है। इन्द्रियों द्वारा यही भोगों का 'संस्पर्श' है। अत्यन्त आसक्ति पूर्वक जो वस्तु ग्रहण की जाती है उसी का नाम संस्पर्शजा है।

प्रश्न २–भोग शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर–भोग शब्द 'भ' कार से प्रारंभ होता है। संस्कृत भाषा में 'भ' कार का अर्थ होता है 'प्रकाश। गीता के ग्यारहवें अध्याय के बारहवें नम्बर में ***यदि भाः सदृशी सा स्यात्*** में 'भाः'प्रकाश या चमक के अर्थ में आया है। अस्तु अज्ञानी को भोगों के सुख में प्रकाश और चमक की प्रतीति होती है। इसी प्रकाश और चमक की प्रतीति के कारण 'भोग' शब्द का नाम 'भ' कार से प्रारम्भ हुआ। लेकिन इसी में दूसरा अक्षर 'ग' मिला हुआ है। 'ग' का अर्थ होता है–'गमन करना', 'चला जाना', अस्तु 'योग' शब्द को पढ़ते ही भोगों की अनित्यता का ज्ञान हो जाना चाहिए। क्योंकि चमक आई और गई। अर्थात् 'भ' जो प्रकाश है वह 'ग' अर्थात् गमन करने वाला है, स्थिर रहने वाला नहीं। यही 'भोग' शब्द का अर्थ है।

प्रश्न ३—गीता में **भोग** शब्द कहां-कहां और किन-किन अर्थों में आया है ?

उत्तर—अर्जुन परमतपस्वी, वीतराग तथा उच्चकोटि का साधक था, वह भोगासक्त नहीं था। गीता तत्व का परम अधिकारी था। इसीलिए गीता के पहिले और दूसरे अध्याय में अर्जुन स्पष्ट घोषणा करता है कि मुझे 'भोग' नहीं चाहिये। यथा–

'किं भोगैर्**जीवितेन वा' –१-३२**
'राज्यं भोगाः **सुखानि च--१-३३**
श्रेयो भोक्तु **मैंक्ष्यमपीहलोके-२-५**
भुञ्जीय भोगान्**रुधिर प्रदिग्धान्**
–२-५

अर्जुन के मुख से इन तीनों मंत्रों में भोगों की भारी भर्त्संना की गई है। यहां 'राजसुख', 'विजय सुख', 'शासन सुख', 'अर्थ सुख' तथा स्त्रीप्रसंगादि समस्त सुखों को अर्जुन ने दूर से ही नमस्कार किया है। इसके अतिरिक्त भगवान ने भी अपने मुख से दूसरे अध्याय में **भोगैश्वर्यगतिं प्रति** (४३) तथा **भोगैश्वर्यप्रसक्तानां** (४४) में भोगों के भोगने वालों को 'कामात्मा', 'स्वर्गपरा' तथा अज्ञानी बताया है। किन्तु मनुष्य की जीवन रक्षा के लिए जो पदार्थ आवश्यक हैं उनका नाम भी गीता में कहीं-कहीं 'भोग' शब्द से उच्चारण किया है। यथा—

इष्टान्भोगान्हि वो देवा,
दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
—गीता ३-१२

इस मन्त्र में इष्टभोगों का तिरस्कार नहीं किया गया। यहां 'इष्टान्भोगान्' का अर्थ शरीर रक्षा के लिए आवश्यक पदार्थों को **इष्टभोग** बताया है। अस्तु **भोगों** के भी दो प्रकार हैं—'इष्टभोग' और 'अनिष्ट भोग'। संसारी प्राणी को 'इष्टभोग' चाहिए ही। अर्थात् न्यायोचित वस्तु अन्न, जल, पुष्प, फल आदि शरीर की पुष्टि के निमित्त उसे मिलने ही चाहिएं। इसी मन्त्र में यह भी कहा गया है कि शरीर रक्षार्थ प्राप्त हुई वस्तुओं को वह तत्निमित्त ही माने। क्योंकि इष्टभोग सभी परमात्मा के द्वारा प्राप्त हुए हैं। और उसकी प्रसन्नता होने पर ही उपलब्ध हुए हैं। तो क्यों न मैं भी उसकी प्रसन्नता के लिए ही शरीर रक्षार्थ इनका उपभोग करूं क्योंकि यह शरीर भी तो उसी परमात्मा का है।

जैसे कोई ड्राइवर सरकारी रेलवे इंजिन को चलाने के लिए सरकारी कोयला, पानी इंजिन में डालता है। उस समय वह ड्राइवर न तो इंजिन को अपना करके मानता है और न कोयले पानी को ही अपना समझता है।

वैसे ही औषधि, अन्न, तथा वस्त्रादि के सेवन को भी भगवान ने शरीर-रक्षार्थ इष्टभोगों के नाम से कहा है। इसके विपरीत 'अनिष्ट भोग'—**यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः** (३-१२) तथा **भुञ्जते ते त्वघं पापा** (३-१३) में अनिष्ट भोगों को कहा है। 'अनिष्ट भोग' वही हैं जो अहंकार और आसक्ति पूर्वक अपना अधिकार मान कर भोगे जावें। उस दशा में तब यही औषधि, धन, वस्त्र **अनिष्टभोग** हो जाते हैं। 'संस्पर्शजा भोगाः' में भी समस्त भोगों की ओर संकेत किया जा रहा है। इसमें इष्ट, अनिष्ट सभी पंचज्ञानेन्द्रियों के समस्त पंच विषयों का समावेश है। अस्तु 'भोग' शब्द का गीता में अनेक स्थलों में अनेक अर्थों में प्रयोग दिखाई देता है। पर भाव एक ही है।

प्रश्न ४—दुःखयोनयः शब्द का क्या अर्थ है? और भोगों को दुःखयोनयः क्यों कहा गया है? तथा दुःख कितने प्रकार के होते हैं?

उत्तर—दुःखयोनयः शब्द प्रथमा बहुवचनान्त पद है। मूल शब्द 'दुःखयोनि' है। यह शब्द दुःख+योनि='दुःखों का जन्म स्थान' अर्थ वाला है। अर्थात् भोग ही समस्त दुःखों को जन्म देने वाले हैं या भोगी को ही दुःखों की प्राप्ति होती है। जो भोगी नहीं है उसे कोई दुःख नहीं हो सकता। प्रथमकाल में भोग और द्वितीयकाल में उस का परिणाम दुःख भोगना अनिवार्य है। विषयी भोगी पुरुष को परिणाम में दुःखों के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलने वाला है। ये दुःख तीन प्रकार के होते हैं—आध्यात्मिक दुःख, आधिभौतिक दुःख और आधिदैविकदुःख। आध्यात्मिकदुःख शरीर सम्बन्धी दुःखों को कहते हैं यथा—अनेक प्रकार के रोग, वात, पित्त, कफादि। आधिदैविक दुःख अचानक बाढ़, वर्षा, अनावृष्टि, भूकम्पादि ओला आदि कहलाते हैं। इसी प्रकार आधिभौतिक दुःख संसारी दुःखों को कहते हैं जैसे महामारी, हैजा, चेचक, कलह, हिंसा उपद्रव आदि। इन समस्त दुःखों की उत्पत्ति विषय भोगों से ही है।

योगदर्शन में पांच प्रकार के दुःख बताये गये हैं यथा-**अविद्या, स्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश।** योगदर्शन में इनका विस्तार से वर्णन है। ये समस्त दुःख अज्ञान पूर्वक भोगों में लिप्त प्राणी को ही भोगने पड़ते हैं। अज्ञानी पुरुष अपने से अधिक किसी दूसरे के पास जब भोगों को देखता है तो उसे द्वेष-मूलक दुःख होता है। अपने भोगों में राग और दूसरे के भोगों से द्वेष उसे बढ़ता रहता है। ये समस्त

दुःख उसे आसक्ति पूर्वक भोगों को भोगने से ही मिलते हैं।

प्रश्न ५—दुःखयोनयः के साथ **एव** शब्द का क्या अर्थ है?

उत्तर—एव शब्द का अर्थ संस्कृत में 'एव इति निश्चयेन' होता है। यह निश्चयवाची शब्द है। 'दुःखयोनयः एव' का अर्थ है कि भोगों में दुःख ही है और कुछ नहीं। यह 'एव' शब्द 'भोगा' के साथ भी लग सकता है और तब इसका अर्थ इस प्रकार से होगा कि भोगों से ही दुःखों का जन्म होता है अर्थात् समस्त दुःखों का जन्म-स्थान 'भोग' ही हैं।

प्रश्न ६—दुःख शब्द गीता में कहां-कहां आया है? और उन स्थानों पर उसका क्या-क्या अर्थ है?

उत्तर—दुःख शब्द गीता में अनेक स्थानों पर आया है। यथा—

सन्यासस्तु महाबाहो,
दुःखमाप्तुमयोगतः। ५-६

अर्थात् हे अर्जुन! बिना निष्काम कर्मयोग के सन्यास की प्राप्ति नहीं हो सकती। यहां 'दुःख' शब्द का अर्थ 'कठिन' किया गया है।

सुखं वा यदि वा दुःखं,
स योगी परमो मतः। ६-२२

इस मन्त्र में **समत्वयोग** का वर्णन है और इसमें सुख दुःख में समता धारण करने वाले को **परमयोगी** के नाम से उच्चारण किया गया है। और इस मन्त्र में दुःख शब्द कठिन परिस्थितियों या अधिक घटनाओं के अर्थ में आया है।

सुखं दुखं भवोऽभावो,
भयं चाभयमेव च। –१०-४

इस मन्त्र में प्राणियों के अनेक प्रकार के भावों का वर्णन है और ये समस्त भाव सुख दुःख इत्यादि परमात्मा की प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं ऐसा कहा गया है। इस मन्त्र में 'दुःख' शब्द केवलमात्र 'भावबोधक' है।

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं,
देहवद्भिरवाप्यते। –१२-५

इस मंत्र में अव्यक्ता, गतिः, दुःखं, अवाप्यते' अव्यक्त गति बड़े दुःखपूर्वक प्राप्त होती है। यहाँ अव्यक्त निराकार की साधना को देहाध्यासी के लिए कष्ट-साध्य बताकर 'दुःख' शब्द को 'कष्ट' अर्थ में लिया गया है।

इच्छा द्वेषः सुखं दुखं,
संघातश्चेतना धृतिः। –१३-६

इस मन्त्र में 'दुःख' शब्द को क्षेत्र (नाशवान शरीर) के विकारों में से एक विकार मात्र माना गया है।

रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् । १४-१६

इस मन्त्र में 'दुःख' को रजोगुण का फल बताया गया है । अर्थात् जहां-जहां रजोगुण या रजोगुणी वस्तु, पदार्थ और प्राणी हैं वहां-वहां उसका फल 'दुःख' अनिवार्य है ।

दुःखमित्येव यत्कर्म, कायक्लेशभयात्त्यजेत् । -१८-८

अर्थात् जहां-जहां कर्म है वहां-वहां उसका परिणाम दुःख होता है ।' इस मिथ्याज्ञान के द्वारा कर्म का त्याग कर देना 'राजसी त्याग' है । यहां 'दुःख' का सम्बन्ध भ्रमवश संसार के समस्त कर्मों के फलरूप में माना गया है । और नाना प्रकार के संसारी कष्टों को ही 'दुःख' की संज्ञा दी गई है ।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः । निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् । -२-३६

इस मंत्र में भगवान ने शत्रुओं के अपमानजनक बोले हुए शब्दों को महा दुःख-रूप में लिया है ।

कट्वम्ललवणात्युष्ण-तीक्ष्णरूक्षविदाहिनः । आहारा राजसस्येष्टा दुःख शोकामयप्रदाः । -१७-९

में भगवान ने दुःखशोकामयप्रदाः राजसी आहार को ही दुःखप्रद बताया है । यहां 'दुःख' शब्द का अर्थ स्थूलशारीरिक-कष्टों से है ।

प्रस्तुत मन्त्र (५-२२) में समस्त भोगों को ही दुःखों की खान के नाम से उच्चारण किया है । यहां दुःख शब्द सूक्ष्म-शरीर के रोगों और जन्म-मृत्यु जरा आदि भयों का बोधक है ।

प्रश्न ६—समस्त प्रकार के दुःखों के नाश के लिए गीता में कौन-कौन से उपाय बताये गये हैं ?

उत्तर—गीता में दुःखेष्वनुद्विग्न-मनाः (२-५६) अर्थात् दुःख आ पड़ने पर मन में कभी उद्वेग नहीं लावे । यह 'स्थित-प्रज्ञ' के लक्षणों में बताया गया । 'गुणातीत' पुरुष कर्म करता हुआ दुःखों-सुखों की परवाह नहीं करता । वह तो इनको भगवान का दिया हुआ प्रसाद मानता है और **प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते** भगवान की प्रसन्नता या

आत्मा की प्रसन्नता या आत्मसुख की प्राप्ति होने के बाद समस्त प्रकार के दुःखों का सर्वनाश हो ही जाता है। तथा **मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्** (८-१५) इस मन्त्र में पुनर्जन्म को ही दु.खों का घर बताया गया है, और उस दुःख के नाश का उपाय भगवान की अनन्य-शरणागति का उपाय सुझाया गया है। अर्थात् पुनर्जन्म से सदा-सदा के लिए छुटकारा पाने के लिए (जो कि समस्त दुःखों का भण्डार है) मनुष्य को परमात्मा की अनन्यभक्ति करनी चाहिये। किन्तु छठे अध्याय में 'ध्यानयोग' या 'राजयोग' के द्वारा संकल्पों से उत्पन्न समस्त कामनाओं का त्याग करके अन्त में समस्त चिन्तनों की इतिश्री को ही दुःखों का नाश कहा है और उसकी पहिचान

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन
गुरुणापि विचाल्यते। —६-२२

इस सुख के प्राप्त करने के बाद भारी से भारी दुःख में भी पुरुष विचलित नहीं होता। यहां पर 'विचार' और 'राजयोग' के साधन को ही सर्वश्रेष्ठ साधन बताया गया है। इसी छठे अध्याय में दुःखों के नाश का एक और उपाय बताया गया–

युक्ताहार-विहारस्य युक्त-
चेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो
भवति दुःखहा। —६-१७

इसमें दुःखों के नाश का सर्वसाधारण के योग्य उचित क्रियात्मक उपाय सुझाया गया है। 'तू अपना आहार, विहार, रहन-सहन, कर्म करने की चेष्टाएँ और सोना-जागना समस्त क्रियाएँ शास्त्रोक्त रीति से यथायोग्य कर, तो तेरे सब दुःखों का नाश हो जावेगा' और आगे चलकर इसी छठे अध्याय के बत्तीसवें मंत्र में ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान का सर्वोत्कृष्ट उपाय बताया गया—

आत्मौपम्येन सर्वत्र
समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं······ ६-३२

जो अपने समान ही संसार के समस्त प्राणियों में आत्मदर्शन करे और समता में बरते, सभी प्राणियों में परमात्मा को देखे, **स योगी परमो मतः** उससे बड़ा कोई भी योगी नहीं है—वह परम योगी है, ऐसा बताया गया। यही गीता में समस्त दुःखों के नाश के अलग-अलग उपाय बताये गये हैं।

[क्रमशः]

सुखशान्ति का मार्ग—अध्यात्मवाद

अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य भानपुरा-पीठाधीश्वर श्री स्वामी सत्यमित्रानन्दगिरि जी महाराज, (म०प्र०)

अपने दीनता-दरिद्रता अल्पज्ञतामय जीवत्व को मिटाकर सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान सच्चिदानन्दमय परमात्मा की प्राप्ति करना ही मनुष्यजीवन का परमलक्ष्य है। निखिल जगदाधार परमात्मतत्व या परमेश्वर की अनुभूति अथवा प्राप्ति ही मानव-जीवन की पूर्णता है।

परमात्मानुभव को मानव-जीवन की पूर्णता इसलिये माना गया, कि इस अवस्था में अथवा इसकी प्राप्ति के मार्ग में ही मनुष्य आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक सभी क्षेत्रों में विकास की पूर्णता प्राप्त कर लेता है। आध्यात्मिक क्षेत्र में वह निर्गुण, निरंजन, परमतत्व का अनुभव करता है और आधिभौतिक एवं आधिदैविक क्षेत्रों में उसके लिए कुछ अज्ञात एवं अप्राप्य नहीं रह जाता, इच्छामात्र से सब करने की सामर्थ्य उसमें आ जाती है।

यं यं लोकं मनसा संविभाति,
विशुद्ध सत्वः कामयते यांश्चकामान्।
तं तं लोकं जायते तांश्चकामान्,—
स्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः॥

—मुण्डकोपनिषद् ३।१।१०

निर्मल अन्तःकरण आत्मज्ञानी इच्छानुसार लोकलोकान्तरों में भ्रमण कर सकता है और इच्छामात्र से ही सकल भोगों की प्राप्ति कर सकता है। इसलिए ऐश्वर्य की इच्छा रखने वालों को उसकी पूजा करनी चाहिए, यह वेदवाक्य है। अनन्तकाल से भारत के ऋषि-महर्षिगण इसका प्रत्यक्ष अनुभव करते आ रहे हैं।

पूज्यपाद श्री शंकराचार्य जी महाराज के इस सदुपदेश में, मानवजीवन की सार्थकता के लिए **'असतो मा सद् गमय'** वेदवाक्य का प्रकाश देखिए।

—*सम्पादक*

हिन्दू संस्कृति के मूलाधार और सर्वकल्याण-कारी वेद के शिरोभाग उपनिषद् का यह उपदेश है कि—जिसके जान लेने से सब कुछ जाना जा सकता है और जिसकी प्राप्ति के बाद कुछ अप्राप्य नहीं रह जाता, उस आत्मब्रह्म या परमेश्वर की प्राप्ति का उपाय करो। उपनिषद् का स्पष्ट मत है कि—

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं
शाश्वतं नेतरेषाम् ... ...
तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥

—कठोपनिषत् ५।१२।१३

यह हमारे लिए निर्विवाद और अनुभूत सिद्धांत है कि स्थायी सुख-शांति की प्राप्ति का एक ही उपाय है और वह है आत्मोन्मुख होना।

आत्मानुभूतिहीन मनुष्य कभी जीवन में स्थायी रूप से सुख-शांति का अनुभव नहीं कर सकता। भौतिक जगत की अनन्त भोगसामग्री भी स्थायी सुख-शांति प्रदान नहीं कर सकती। भौतिक-सामग्री से प्राप्त विषयजन्य सुख ऐन्द्रिक और क्षणिक है।

वास्तव में वह सुख नहीं, सुखाभास है। यदि आत्मसुख को समुद्र की तुलना दी जाय तो इन्द्रिय-जन्य सांसारिक क्षणिक सुख को उसकी तुलना में सीकर-कणमात्र ही कहा जा सकता है। यदि आत्मानन्द को सूर्य कहा जाय तो विषयानन्द उसका प्रतिबिम्बमात्र—वस्तुविहीन आभास ही कहा जा सकता है। अथवा आत्मानन्द को यदि शीतल जल सरोवर कहें, तो विषयानन्द ग्रीष्म की

मृगमरीचिकामात्र है जिससे कभी भी तृषा की शांति नहीं हो सकती।

स्वधर्मानुसारी आचरण के सहारे इन्द्रियों और मन को संयम में रखकर उन्हें विषयों की ओर जाने से रोकना और जगन्नियंता परमात्मा की सत्ता सर्वत्र परिपूर्ण व्यापक मानने का अभ्यास करना, अध्यात्मपथ पर आगे बढ़ने का और स्थायी सुख-शांति प्राप्ति का मार्ग है।

कुछ लोग कहते हैं कि धर्मानुसार जीवन यापन करने वाले अधिक कष्ट में पड़े दिखाई पड़ते हैं, किन्तु यह ठीक मत नहीं है। कहीं-कहीं अधर्म के प्राबल्य में भी प्राणी को साम्राज्य, वैभव, समृद्धि प्राप्त हो जाती है परन्तु वहां भी पूर्वजन्म का तप और धर्माचरण सहायक हो रहा है; ऐसा मानना चाहिए। रावण का अद्भुत वैभव देखकर श्री हनुमान जी ने कहा था कि—'यदि अधर्म बलवान न होता तो यह रावण शक्रसहित सुरलोक का शासक होता।' दूसरे स्थान पर पुनः एक बार श्री हनुमान जी ने रावण से कहा था—'हे रावण! पूर्व सुकृतों का फल तुमने पा लिया अब इस अधर्म का फल शीघ्र ही भोगोगे। और सर्वनाश प्राप्त करोगे।' तदनुसार रावण का सर्वनाश होकर ही रहा।

अध्यात्मपक्ष में बाधक प्रत्येक प्रलोभन को छोड़ना ही श्रेयकारी है।

धर्मादपेतं यत्कर्म यद्यपिस्यान्महाफलम्।
न तत्सेवेत मेधावी न हि तद्धितमुच्यते॥

बुद्धिमान पुरुष धर्मविरुद्ध होने पर कितना भी बड़ा लाभ क्यों न मिले, उसका सेवन न करे। धर्माचरण से विद्या, रूप, धन, शौर्य, कुलीनता, मोक्षादि मिलते हैं।

विद्यारूपं धनं शौर्यं कुलीनत्वमरोगता।
राज्यं स्वर्गश्च मोक्षश्च सर्वं धर्मादवाप्यते॥

ऐसे धर्म को छोड़कर कोई सच्ची शांति प्राप्त नहीं कर सकता। अतः अध्यात्मवाद और धार्मिक-चिंतन-आचरण ही मानव को सच्ची सुखशांति दिलाता है।

विविध उपक्रम

प्रभु, तेरे विश्व के विविध क्रीड़ा-कुतूहलों ने मेरे मन-प्राणों को मोहा है।

मेरे मुग्ध नयनों ने आजीवन सौंदर्य का पान किया है।

कलरवपूर्ण प्रभात की नीली-सुनहली कांतियों, तारक-खचित आकाश और ज्योतिर्मयी दिशाओं के उज्ज्वल आलोक में मेरी कल्पना का पांखी उन्मुक्त उड़ानें भरता फिरा है।

कूल-किनारों की मदिर लहरों और आरक्तिम अधरों वाली ऊषा ने मूक सांकेतिक भाषा में मुझ से बहुत कुछ कहा है।

मेरे मनोरंजन के लिए भिन्न ऋतुओं में जल-थल-आकाश में विविध उपक्रम होते रहे हैं।

श्री कवि योगी
हरीश 'करुण'

मनुष्य में ईश्वर की झाँकी 卐

श्री डा० रामचरण जी महेन्द्र,
एम०ए०, पी-एच० डी०

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।। —गीता ५-१८

[श्री महेन्द्र जी के भावपूर्ण सारगर्भित लेख में आप गीता-माता के इस भारतीय समदर्शी-जीवन के प्रत्यक्ष दर्शन करिए। —सम्पादक]

●

वह दयावान महापुरुष—

बड़े आदमी अपनी विशेषता छोटी-छोटी बातों में प्रकट कर देते हैं। तीक्ष्णबुद्धि वाले व्यक्ति इन विशेषताओं को देखकर पहचान लेते हैं कि यह आदमी भविष्य में बड़ी उन्नति करने वाला है।

× × ×

प्रातःकाल का समय है। दिन के कोई सात बजे हैं। लोग सुबह की सैर को जा रहे हैं। एक युवक भी विचारों में डूबा हुआ मस्त चाल से टहलता चला जा रहा है।

उसका ध्यान सड़क के एक किनारे की ओर जाता है। यह क्या है ? उफ् ! कैसा घिनोना दृश्य है यह !

एक बीमार कुत्ता है। उसके कान के पास एक घाव है। शायद बेचारा किसी की निर्मम लकड़ी की मार का शिकार हुआ है ? रक्त बह रहा है। मक्खियां भिनभिना रही हैं। दुर्गन्धि उड़ रही है। वह पीड़ा से व्याकुल होकर कान को बार-बार फड़फड़ाता है, मक्खियां कुछ देर के लिए इधर उधर उड़ती हैं, पर फिर बैठकर घाव को पुनः गन्दा करने और खून चूसने लगती हैं।

युवक एक क्षण उस कुत्ते की पीड़ा का अनुमान करता रहा ! ओफ़ ! कितना दर्दनाक दृश्य है ! यह कुत्ता न बोल सकता है, न हकीम डाक्टर से मरहम पट्टी करा सकता है। इसका दुःख देखने वाला है ही कौन ? युवक के मन में भगवान जगे। वह सैर से लौट पड़ा। अब उसके कदम समीप के वैद्य के औषधालय की ओर तेजी से पड़ रहे थे।

'वैद्य जी, एक बीमार के लिए मरहम पट्टी कराने की जरूरत है ? रोगी की दशा चिन्ताजनक है !'—वह कातर स्वर में बोला।

आदमी की आशा लगाये हुए वैद्य ने उत्सुकता-पूर्वक पूछा, 'कहिए, कहिए, क्या बात है ? घर पर कौन बीमार है ?'

युवक बोला—

'घर का तो कोई बीमार नहीं है, पर जो बीमार है, उसे भी मैं परिवार के सदस्य से कम नहीं मानता।

वैद्य जी ने पूछा, 'आखिर कौन है ?'

युवक ने करुणाजनक स्वर में कहा, 'एक अनाथ कुत्ते के कान के पास घाव में कीड़े पड़ गए हैं। वह पीड़ा से बुरी तरह बेचैन है। एक क्षण भी चैन से नहीं बैठ सकता। बेचैनी से बार-बार पागल जैसा हो कान फटफटा रहा है। मैं उसकी चिन्ताजनक हालत से बड़ा दुःखी और चिन्तित हूं······आप दया करके शीघ्र ही कोई दवा दे दीजिए !'

'ओफ़ ! तो बस इतनी सी बात के लिए आप परेशान हैं,—'वैद्य जी बोले, 'एक नाचीज़ कुत्ते के लिए तूफान मचाये हैं ! मैं तो आपकी व्याकुल मुखमुद्रा से घबड़ा उठा था।'

उन्होंने एक दवा दे दी।

फिर हंसकर बोले, 'मेरे दोस्त, परोपकार में अपने को सुरक्षित रखना······जानवर आखिर जानवर ही है। पीड़ा की अवस्था में कुत्ता लगभग आधा पागल बेचैन रहता है······हम तो मरीज आदमियों को मुश्किल से दवाइयां लगाते हैं। बीमार और घायल कुत्ते को दवा लगाना कोई आसान काम नहीं है।'

वैद्य कहे जा रहे थे। धुन के पक्के उस युवक ने इधर कोई ध्यान नहीं दिया। वह दौड़ा दौड़ा कुत्ते के पास आया। घायल कुत्ता अब और भी अधिक बेचैन था। मक्खियों ने काट काट कर उसे बुरी तरह परेशान कर रखा था। रास्ते से और भी लोग आ जा रहे थे। वे उसे रास्ता चलते घृणापूर्वक देखते और नाक-भौं सिकोड़कर तिरस्कार की बचती नजरें डालकर जल्दी से आगे बढ़ जाते।

युवक ने न बदबू से घृणा कर नाक दबाई, न उसके काटने से भयभीत ही हुआ।

उसने साहसपूर्वक एक बांस में कपड़ा लपेट कर उसे दवा में भिगो कर घाव पर धीरे से स्पर्श किया। कुत्ते के घाव पर तेज़ दवा ने कुछ तेजी दिखाई, तो वह तिलमिलाया। उसे काटने की भी कोशिश की, किन्तु साहसी युवक सेवा में डटा रहा, उसने उसकी कोई परवाह नहीं की। वह अपने परोपकार के काम में तल्लीन रहा।

बीमार कुत्ते को कुछ शान्ति, कुछ लाभ का अनुभव हुआ। दवाई के असर से घाव में ठण्डक पहुंची और उसकी बदबू से मक्खियां भी उड़ गईं। उसे आराम मिला।

अब वह शांतिपूर्वक लेटा था, और युवक उस के अधिक पास आकर अच्छी तरह दवाई लगा रहा था। कुत्ता दुम हिला हिलाकर अपनी मूक कृतज्ञता प्रकट कर रहा था। वह समझ गया था कि यह व्यक्ति पूर्वजन्म का कोई देवता ही था। उसने उसे मौत से बचा लिया था।

जहां और सफेदपोश लोगों ने घायल और तड़पते कुत्ते की ओर कोई ध्यान नहीं दिया, वहां इस युवक का हृदय करुणा से द्रवित हो उठा था।

क्या आप जानते हैं कि इस आदमी का क्या नाम था? यह थे '*पंडित मदनमोहन मालवीय*', जिन्होंने भारत में हिन्दू धर्म, भारतीय संस्कृति और विद्या के क्षेत्रों में युगान्तर किया और देश को शिक्षित करने में जीवन का बड़ा भाग लगाया था।

बड़ों का बड़प्पन शुरू से ही प्रकट होने लगता है।

पुनर्जन्म को मानने वाला कभी निराशावादी नहीं हो सकता, वह निराशा क्यों करे?

क्या मैं अपने आन्तरिक दोषों को जानता हूँ? जानता हुआ भी नहीं जानता। यदि जान सकूँ और उनके बखान करने की सामर्थ्य पा सकूँ, तो मैं वास्तव में महान् बन जाऊँ।

जिस कार्य को मैं जनता में स्वीकार नहीं कर सकता, वह करने के योग्य नहीं। उसका न करना ही अच्छा है।

सौजन्यभाव से, श्री प्रो० हंसराज जी अग्रवाल, M.A., P.E.S.

गीता में यज्ञ

श्री बैजनाथ जी कपूर

[गीता विश्वधर्म का अमरशास्त्र, के लेखक, गीता-धर्म के अनन्योपासक एवं विशेषज्ञ श्री कपूर जी ने गीता के यज्ञ की जनजीवन के साथ जो गहरी विद्वत्ता-पूर्ण विवेचना की है, आज के भारत के लिए वह विचारणीय एवं आचरणीय है। —सम्पादक]

गीता में यज्ञ शब्द का बत्तीस बार प्रयोग हुआ है। जो शब्द बत्तीस बार प्रयुक्त किया जावे, निश्चय हो वह बड़ा महत्वपूर्ण गौरव गरिमा का शब्द है। यज्ञ का कोष अर्थ है 'प्राचीन भारतीय आर्यों का प्रसिद्ध एक वैदिक कृत्य, जिसमें प्रायः हवन और पूजन होता था। किन्तु इस अर्थ में ही गीताकार ने यज्ञ शब्द का प्रयोग नहीं किया है। यज्ञ का साधारण अर्थ है यज्ञ करना, आहुति देना, दान करना, यज्ञ संगति करना। परन्तु यज्ञ का वास्तविक अर्थ है—अर्पण करना, ईश्वर के नाम अग्नि में आहुति देना। शनैः शनैः प्रत्येक धर्मकृत्य यज्ञ के ऐसे पवित्र एवं शुभ नाम से सम्बोधित किए जाने लगा। समाज सेवा के जो तीन प्रधान स्तम्भ हैं उनमें यज्ञ का प्रधान स्थान है। यज्ञ, दान, तप के द्वारा समाज प्रगतिशील बनता है, और इनका कर्ता परम पुनीत।

यज्ञ का दूसरा अर्थ श्री विष्णु भी हैं। परम-ब्रह्म को भी यज्ञ कहते हैं। परन्तु गीताकार ने यज्ञ शब्द का बहुत व्यापक अर्थ किया है। एक भाष्य-कार के शब्दों में 'उपभोग के कारण सृष्टि में जो कमी पैदा होती है उसे पूरा करने का कार्य यज्ञ का है। यज्ञ का प्रयोजन, उसकी विधि और उसका रहस्य जो जानता है वह यज्ञ-विद् है।'

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥
—गीता ४-३०

उपभोग के कारण विश्व में जो क्षीणता आती है वह यज्ञ द्वारा दूर होती है। फिर यज्ञ होने से सारा विश्व यज्ञभावित होता है। यह यज्ञ दूसरे शब्दों में केवल कर्मयोग का ही समर्थक है। स्पष्टतया यह कर्मयोग तो ही है।

गीता ने तपोयज्ञ, द्रव्ययज्ञ, जपयज्ञ, ज्ञानयज्ञ, दैवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, योगयज्ञ, नामयज्ञ—ऐसे अनेक यज्ञ बताये हैं। और यज्ञ-शून्य व्यक्ति के जीवन की व्यर्थता भी बताई है। किसी न किसी रूप में यज्ञ हमारे धर्म का प्रधानरूप शुरू से रहा है। वेद में ही कहा है—

ॐ यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।

गीता माता के अनन्य-उपासक तथा जीवन के प्रत्येक क्षण में गीता से प्रेरणा प्राप्त करने वाले महा-मानव गांधी जी यज्ञ को जीवमात्र की मेहनत मानते थे। सेवा ही उनकी दृष्टि में यज्ञ था। बापू के शब्दों में—'इस लोक में या परलोक में कुछ भी बदले में लिए या चाहे बिना, परार्थ (जीवमात्र) के लिए किए हुए किसी भी कर्म को यज्ञ कहेंगे।

'जिस कर्म में अधिक से अधिक जीवों का अधिक से अधिक क्षेत्र में कल्याण हो और जो कर्म अधिक से अधिक मनुष्य अधिक से अधिक सरलता से कर सकें और जिसमें अधिक से अधिक सेवा होती है, वह महायज्ञ है। अतः किसी भी सेवा के निमित्त अन्य किसी का अकल्याण चाहना या करना यज्ञ-कार्य नहीं है और यज्ञ के अलावा किया हुआ कार्य बन्धनरूप है, यही हमें गीता और अनुभव सिखाता है। गीता सिखाती है हमें यह शरीर केवल परमार्थ के लिए मिला है और यज्ञ किए बिना जो खाता है, वह चोरी का खाता है।

'यज्ञ नित्य कर्तव्य है, चौबीस घंटे आचरण में लाने की वस्तु है। निष्कामसेवा परोपकार नहीं है, बल्कि अपने निज के ऊपर उपकार है। जैसे कर्ज चुकाना परोपकार नहीं, बल्कि अपनी सेवा

है, अपने ऊपर से भार उतारना है, अपने धर्म को बचाना है। गृहस्थजीवन त्यागी और भोगी दोनों हो सकता है। सब काम करते हुए भी, व्यापार करते हुए भी केवल भावना बदल जाने से उसका धन्धा यज्ञरूप बन गया, उसमें पवित्रता आ गई और पेशे में दूसरे के सुख का विचार प्रविष्ट हो गया।

'शुद्ध यज्ञ करने वाले के लिए अपना कुछ नहीं है उसने सब 'कृष्णार्पण' कर दिया है।'

'जीवन सेवा के लिए है, भोग के लिए नहीं। अतः जीवन को यज्ञमय बना डालना उचित है केवल जानना भर ही नहीं, वरन् जानकर आचरण करने पर हम उत्तरोत्तर शुद्ध पवित्र होते जायेंगे। सच्ची सेवा के लिए इन्द्रिय-दमन आवश्यक है।

'स्वार्थदृष्टि से किये जाने वाला सेवाकार्य यज्ञ नहीं रह जाता। अतः अनासक्ति की बड़ी आवश्यकता है। प्रयत्न में ही सफलता है। पर हमें सूक्ष्मता से जांचते रहना चाहिये कि प्रयत्न वास्तव में हो रहा है या नहीं। आत्मा को धोखा नहीं देना चाहिए।'

अपने समस्त कर्मों को भगवान के अर्पण करना इन्द्रियों और मन पर संयम करना, काम, क्रोध आदि का त्याग करना, स्वाध्याय, सत्य भाषण, लोक संग्रह, दान आदि समस्त श्रेष्ठकर्म यज्ञ हैं। अर्थात् परोपकारार्थ, ईश्वरार्थ किए हुए सब कर्म यज्ञ हैं।

भगवान ने **'यज्ञक्षपितकल्मषाः'**—यज्ञों द्वारा अपने पापों को क्षीण करने वाले ये सब यज्ञों को जानने वाले हैं। यज्ञ में से बचे हुए अमृत का पान करने वाले लोग सनातन-ब्रह्म को पाते हैं।

जो यज्ञ से उबरा हुआ खाने वाले हैं, वे सब पापों से छूट जाते हैं। जो अपने लिए ही पकाते हैं, वे पाप खाते हैं। —गीता ३-१३

अन्न से भूतप्राणी उत्पन्न होते हैं। अन्न वर्षा से उत्पन्न होती है। वर्षा यज्ञ से होती है और यज्ञ कर्म से होता है। —गीता ३-१४

तू जान ले, कि कर्म प्रकृति से उत्पन्न होता है, प्रकृति अक्षरब्रह्म से उत्पन्न होती है और इसलिए सर्वव्यापक ब्रह्म सदा यज्ञ में विद्यमान है। गी० ३-१५

समाजरक्षण की भावना से क्या ही ठीक कहा है—'यज्ञ द्वारा संतुष्ट हुए देवता तुम्हें इच्छित भोग देंगे। उनका बदला दिए बिना, उनका दिया हुआ जो भोगेगा वह अवश्य चोर है। —गीता ३-१२

और भी कहा है—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

गीता ३-९

यज्ञार्थ किए जाने वाले कर्म के अतिरिक्त कर्म से इस लोक में बन्धन पैदा होता है। इसलिए, हे कौन्तेय! तू राग रहित होकर यज्ञार्थ कर्म कर।

यज्ञ के सहित प्रजा को उत्पन्न करके प्रजापति ब्रह्मा ने कहा,—'यज्ञ द्वारा तुम्हारी वृद्धि हो। यह तुम्हें इच्छित फल दे।' —गीता ३-१०

'तुम यज्ञ द्वारा देवताओं का पोषण करो और देवता तुम्हारा पोषण करें, तुम परमकल्याण को पाओ।' —गीता ३-११

निष्काम कर्मयोग ही **यज्ञ** कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में श्रद्धा और निष्ठापूर्वक निःस्वार्थ भावना से आलस्य त्यागकर किया हुआ कर्म ही यज्ञ है। विद्यार्थियों के द्वारा निष्ठापूर्वक अध्ययन, क्रीडास्थल में निष्ठा एवं श्रद्धा सहित खेलना, अध्यापकों द्वारा निष्ठापूर्वक अपना अध्यापन-कार्य करना, सरकारी कर्मचारियों का अपने कार्यालय में निष्ठापूर्वक कार्य करना, व्यापारियों का जन-सेवा की दृष्टि से सच्चाई के साथ व्यापार करना, मंत्रियों का निःस्पृह होकर अपना अपना कार्य करना अर्थात् गीताकार के शब्दों में 'स्वधर्म का पालन करना' ही यज्ञ है। यदि हम अपने हिस्से में प्राप्त सभी कर्मों को—झाड़ू लगाने से लेकर वकालत तक के काम को—श्रद्धा, निष्ठा, सच्चाई और अनासक्तभावना तथा लोक-संग्रह की दृष्टि से करें, तो निश्चय ही हमारे सब कार्य यज्ञ-कर्म ही हैं। ये सब कर्म निश्चितरूपेण हमें ब्रह्म-प्राप्ति करायेंगे।

❋❋

योगाभ्यास की दृष्टि से 'गीता-स्वाध्याय'

श्री स्वामी राम हिमालय

[श्री स्वामी जी महाराज के शास्त्रीय-ज्ञानपूरित लेख में आपको उस गीताज्ञान के दर्शन होंगे, जिससे आप अपने जीवन में भारत के योगदर्शन का एक अलौकिक प्रकाश झलकता देखेंगे, यह भारत के ऋषिमुनि-सन्तमहात्माओं के विद्वत्तापूर्ण अनुभवी-सन्तजीवन का पावन प्रसाद है। —सम्पादक]

●

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
—गीता १८-६१

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) ईश्वरः (परमेश्वर) मायया (माया शक्ति के द्वारा) यन्त्रारूढानि (इव) (यन्त्रारूढ़ पुत्तलिका के समान) सर्वभूतानि (सब भूतों को) भ्रामयन् (भ्रमण कराता हुआ) सर्वभूतानां हृद्देशे (सब जीवों के हृदय-देश में) तिष्ठति (अधिष्ठित करते हैं)।

'एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढ़ः,
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः,
साक्षी चेतः केवलो निर्गुणश्च॥
—इति श्वे०

अन्तर्यामिब्राह्मणश्च

'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मानम् अन्तरो यमयति,
यम् आत्मा न वेद यस्य आत्मा शरीरम्,
ऐष ते अन्तर्याम्यमृतः' इत्यादि।
—बृहदारण्यक १६

[इस प्रकार दो श्लोकों में सांख्यादिमत से जीव का प्रकृति पारतन्त्र्य, स्वभाव पारतन्त्र्य तथा कर्म पारतन्त्र्य कहा गया है। अब दो श्लोकों में अपना मत कहते हैं]।

सब भूतों के हृदय में अन्तर्यामी ईश्वर निवास करते हैं। वे सम्पूर्ण भूतों को माया द्वारा अर्थात् स्वशक्ति के प्रभाव से उनके कर्मों में उसी प्रकार प्रवृत्त करते रहते हैं, जैसे सूत्रधार दारुयन्त्र में आरूढ़ कृत्रिम भूतों को भ्रमण कराता है इसके प्रमाण में श्वेताश्वतर उपनिषद् का मन्त्र है। 'परमात्मा सब भूतों में गूढ़ भाव से स्थित हैं, वह सर्वव्यापी तथा सब भूतों के अन्तरात्मा हैं। वह कर्माध्यक्ष या सब कर्मों का नियन्ता तथा भूतों का अधिवास अर्थात् अधिष्ठान-स्वरूप हैं। वह साक्षी अर्थात् द्रष्टा और चेतयिता हैं तथा केवल अर्थात् निरुपाधिक और निर्गुण अर्थात् गुणातीत हैं।' अन्तर्यामि-ब्राह्मण में लिखा है—'जो बुद्धि में अवस्थित होकर बुद्धि को परिचालित कर रहा है तथापि बुद्धि जिसको नहीं जान सकती, बुद्धि जिसका शरीर उपाधि है, वही तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है'।१६।

यौगिक व्याख्या—ईश्वर क्रिया की परावस्था में सब भूतों में स्थित है, चर और अचर में ब्रह्म-स्वरूप में इड़ा-पिंगला सुषुम्ना-स्वरूप यन्त्र के द्वारा सब भूतों को अर्थात् जो हो गये हैं और जो होंगे उनमें आवृत होकर आरूढ़ अर्थात् अन्य जो वस्तुतः मिथ्या है उसको सत्य ज्ञान करके भ्रमण-माया अर्थात् आसक्तिपूर्वक दृष्टि करता है।

प्रकृति की प्रेरणा से जीव को नित्यप्रति कर्म-चक्र में घूमना पड़ता है। तथा उसके फलस्वरूप नाना योनियों में जन्म-ग्रहण करना पड़ता है। इच्छा न रहते हुए भी जीव को प्रकृति के वश में पड़ कर जन्म-मृत्यु के चक्कर में बार बार घूमना पड़ता है। बद्धजीव को आत्मस्वातन्त्र्य नहीं हो सकता। तब फिर आप क्या हैं? क्या जीव की मुक्ति सम्भव नहीं? नहीं, ऐसी बात नहीं है।

जीव मुक्ति प्राप्त करता है तथा मुक्ति प्राप्त करने पर जीव का प्रकृति-पारतन्त्र्य छूट जाता है। भगवान या परमात्मा सब अवस्थाओं में प्रकृति के अधीश्वर हैं, वह कभी भी प्रकृति के आधीन नहीं है। जीव भी उसी परमात्मा का अंश है। जब तक जीव परमात्मा से अपने आप को स्वतन्त्र रूप में देखता है तब तक वह बद्ध है। और प्रकृति की वश्यता उसको स्वीकार करनी ही पड़ती है जब वह ज्ञान प्राप्त करता है या अपने स्वरूप से अवगत होता है तब उसकी प्रकृति-परतन्त्रता की अवस्था समाप्त हो जाती है। चेतन जीव कैसे माया के वश हो जाता है, यह अति रहस्यमय व्यापार है। अध्यात्मशास्त्र ने चित्त को ही माया का नाभिदेश कल्पित किया है। चित्तचक्र के अवरुद्ध होने पर माया का खेल भी बन्द हो जाता है। अनात्म-विषय में आत्मबुद्धि और आत्मविषय में अनात्म-बुद्धि उत्पन्न करना ही माया का कार्य है। यह माया ही विष्णु शक्ति या भगवान की कार्य-उत्पादन शक्ति है। उसी शक्ति की शरण लेने पर जीव मृत्यु-सागर को पार कर सकता है। शक्ति और शक्तिमान अभिन्न है। विष्णु माया और विष्णु शक्ति एक ही बात है। विष्णु और माया अङ्गाङ्गी-भाव में जड़ित हैं। माया-मिश्रित चैतन्य ही नारायण या नारायणी हैं। तन्त्रशास्त्र में इसी महाशक्ति को महामाया कहा है। वेद इसी को मुख्य प्राण कहता है और यौगिक ग्रन्थों में इसी का नाम स्थिरप्राण है। माया का कार्य यह देह है। इस देह का अवलम्बन करके ही जीव का आवागमन चलता है। यही माया का खेल है। मनुष्यदेह (प्रकृति) जिस प्रकार निर्मित्त हुई है तथा जीव देह के भीतर प्रविष्ट होकर जैसे बद्ध हुआ है उसको ठीक ठीक जान लेने पर ही जीव उसे मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार की व्यवस्था करके ही देह की रचना हुई है। विविध नाड़ियों के द्वारा प्रारभ की गति होने पर मन उन्मत्त के समान संसार चक्र में परिभ्रमण करता है। इसको रोकने का एकमात्र उपाय है प्राण को स्थिर करना।

महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है—'मनुष्य की देह में वातादिवाहिनी १० नाड़ियां हैं। वे पांच इन्द्रियों के गुण द्वारा प्रचालित होती हैं। अन्यान्य सहस्रों सूक्ष्म नाड़ियां इन दस नाड़ियों को आश्रय करके शरीर में फैली हुई हैं सारी नदियां जैसे समुद्र को परिवर्द्धित करती हैं, उसी प्रकार ये सारी शिरायें देह की वृद्धि करती हैं। मनुष्य के हृदय में मनोवहा नाम की एक शिरा है यह शिरा उसके सारे शरीर से सङ्कल्पज शुक्र को ग्रहण करके उपस्थ के सामने ला देती है। सर्वगात्रव्यापनी अन्यान्य शिरायें इस शिरा से बाहर निकलकर तैजस गुण को वहन करते हुए चक्षु की दर्शनक्रिया सम्पादन करती है। मन्थन दण्ड के द्वारा जैसे दुग्ध के अन्दर से नवनीत मथित कर निकाला जाता है, उसी प्रकार सङ्कल्पज स्त्री-दर्शन आदि के द्वारा शुक्र उत्तेजित हो जाता है। स्वप्नावस्था में स्त्रीसंग के न रहते हुए भी मन जैसे संकल्पज अनुराग को प्राप्त होता है। उसी प्रकार इस अवस्था में मनोवहा नाड़ी भी देह से संकल्पज शुक्र को निकाल देती है।'' इससे देखा जाता है कि नाड़ी-मुख में ही वाह्य प्रकृति स्फुरित होकर इस गुणमयी संसार लीला को चलाती है। इसके निरोध का क्या उपाय है ? यह भी शांतिपर्व के उपर्युक्त स्थान में इस प्रकार उल्लिखित है—वाह्य-प्रवृत्तिशून्य महात्मागण योग के बल से क्रमशः गुण का साम्य प्राप्त कर अन्तकाल में सत्यलोक प्रदान करने वाले सुषुम्ना मार्ग द्वारा प्राण को प्रेरित करके मोक्ष प्राप्त किया करते हैं। मन के विश्वात्मक होने पर ही ज्ञान का उदय होता है। तब सारे विषय स्वप्नवत् प्रतिभास होते हैं तथा मन भी प्रकाशशाली, वासनाविहीन, मन्त्रसिद्ध और सर्वशक्ति सम्पन्न हो जाता है।'

योग क्रिया के अभ्यास द्वारा वाह्य संकल्पादि के अवरुद्ध होने पर क्रिया की परावस्था में हृदय

में जो एक विशिष्ट प्रकार की स्थिति का बोध होता है, वही ईशनशील या ईश्वरभाव है। योगी इस अवस्था को प्राप्त कर समझ सकते हैं कि जगत का नियन्ता कौन है तथा किसकी शक्ति से यह जगत चल रहा है। तभी यह समझ में आता है कि—

जग त्वं जगदाधार-स्त्वमेव परिपालकः।
त्वमेव सर्वभूतानां भोक्ता भोज्यं जगत्पते ॥
(अध्यात्मरामायण)

देह के अन्दर निवास करने वाले ईश्वर को कैसे जानेंगे? जिसके कृपाकटाक्ष से जगत चल रहा है। वह जगत का शासक या ईश्वर सबके हृदय में सर्वदा विराज रहा है। उसको जानने का उपाय यह है कि मूलाधारादि पञ्चचक्र भेद करके मेरुदण्ड के मध्य भाग में जो सुषुम्ना नाड़ी प्रवाहित होती है उस सुषुम्ना नाड़ी के भीतर एक ब्रह्मनाड़ी वर्तमान है उसके अन्दर जो शक्ति या ब्रह्माकाश रहता है वही सर्वशक्ति-सम्पन्न ईश्वर है। उसी के शासन में पञ्चतत्व-मन-इन्द्रियादि भूत-समूह स्व-स्वकर्म में प्रवृत्त रहते हैं। उसके बिना पञ्चतत्व-कर्म में समर्थ नहीं हो सकते।

मयादस्याग्निस्तपति मयात्तपति सूर्यः।
मयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्यु र्धावति पंचमः ॥
—कठ-उप०

प्राणशक्ति के रूप में प्रकाशित जगत कारण-ब्रह्म के नियम से बाध्य होकर अग्नि प्रज्वलित हो रही है। इसीके भय से तपन उत्ताप दे रहा है। और इसी के भय से इन्द्र, वायु और मृत्यु स्व-स्वकार्य में दौड़ रहे हैं। आध्यात्मिक भाव से देखने पर ज्ञात होता है कि प्राणशक्ति के शासन से क्षिति, अप, तेज, मरुत या मेरुदण्ड के अन्दर पञ्चचक्रस्थ शक्तियां स्व-स्वकार्य में नियुक्त रहती हैं। महा-प्राण या ब्रह्माकाश सर्वत्र अर्थात् मूलाधारादि पञ्चभूतमय स्थानों में लक्षित हो सकता है, परन्तु प्रधानतः आज्ञाचक्र में ही वह प्रकाशित है। इन चक्रों के मध्य में कूटस्थ ज्योति निर्वातस्थान में प्रदीपशिखा की भांति प्रज्वलित रहती है। प्रत्येक चक्र का कूटस्थ आज्ञा चक्रस्थ कूटस्थ के साथ समसूत्रभाव में मिलित है, मानो सब चक्रों में आज्ञाचक्र की ज्योति ही दीप्यमान रहती है। इस कारण इस आज्ञाचक्र में लक्ष्य रखने पर समस्त चक्रस्थ कूटस्थों के प्रति लक्ष्य हो जाता है। इस आज्ञाचक्रस्थ कूटस्थ में लक्ष्य करने पर सर्वभूत-स्थित (सर्व चक्र के अन्तर्गत) ब्रह्मनाड़ी के अन्दर से गमनागमन होता है। तभी सर्वतोभावेन उनके शरणापन्न हो सकते हैं। ❀

अ० भा० संस्कृत साहित्य-सम्मेलन की स्वर्ण जयन्ती का उद्घाटन करते हुए राष्ट्रपति ने कहा है, कि छात्रों को हमारी संस्कृति तथा मूल्यों की बुनियादी वास्तविकताओं को समझना चाहिए जो कि लोकतंत्रीय, पूर्णतः वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक सत्य है।

राष्ट्रपति ने काल्पनिक नए विचारों के जाल में पड़ने के विरुद्ध चेतावनी दी।

उन्होंने कहा कि आधुनिकता का अर्थ है समस्याओं को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखना तथा सभी धर्मों व लोकतंत्र में आस्था।

डा० राधाकृष्णन ने कहा, कि संस्कृति की मूल भावना स्थायी है। उसके स्थान पर कोई नई चीज नहीं आ सकती है। विभिन्न धर्मों को परस्पर विरोधी नहीं मानकर उन्हें एक-दूसरे का पूरक मानना चाहिए। मानव का लक्ष्य सिर्फ बौद्धिक ज्ञान की प्राप्ति नहीं है। उसका लक्ष्य महान आध्यात्मिक धरातल की प्राप्ति होना चाहिए।

—हिन्दुस्तान ३-१०-६६

[सरल, सुललित, सुमधुर सरस पदावली के साहित्यिक-संगीतमय निनाद में गीताज्ञान के दर्शन करिए।

२७ अक्टूबर १९६२, दीपावली की काली रात, चीनी आक्रमण पर,

भारत का कविहृदय-योगी समाधि से जाग कर कह उठा।

—सम्पादक]

जगजीवन की असारता के
जो शाश्वत संगीत विरागी दर्शनवादी—
असामयिक हैं आज अलापने।
स्वाभिमान औ साहस का उद्वेग
राष्ट्र की नस-नस में
करना होगा, भरना होगा।

❋ ❋ ❋

समर से—सन्धि से
उत्क्रान्ति या शान्ति से
अब मान धुलता है ! धुलता है।
देखना है !

यह महर्षि दधीचि की तपोभूमि
भगवान कृष्ण की कर्मभूमि
भारत भक्तों की हृदयभूमि
गौतम गांधी की शांतिभूमि
औ वीर बोस की क्रान्तिभूमि
है देव भूमि—

स्थावराणां हिमालयः—गीता १०-२५

गंगा, यमुना, सिन्धु, ब्रह्मपुत्र
सरित की हरित भरित घाटियों को
ताको मत ! झांको मत !
ये बन जावे कहीं न रक्तिम
हल्दी घाटी फिर……।

—बालयोगी श्री प्रेमवर्णी जी महाराज —

दीप जलता ही रहेगा…!

स्नेह यदि मिलता रहा, तो दीप जलता ही रहेगा।
स्नेह के सहयोग से दीपक जले यह मानते हैं,
दीप के सुरश्रोत हो प्रकाश यह पहचानते हैं।
पवन के अधिवेग से दीपक मचलता ही रहेगा,
स्नेह यदि मिलता रहा तो दीप जलता ही रहेगा॥

दीपशिखा की ओज में सम्मानता है नेह की भी,
दीप के व्यवहार में ही मान्यता है नेह की भी।
नेह हो अनुकूल तो प्रिय वात वलता ही रहेगा,
स्नेह यदि मिलता रहा तो दीप जलता ही रहेगा॥

द्वेष है अति पवन से यदि दीप का फिर मूलते क्यों,
एक ही आवरण को लख मग्न होकर भूलते क्यों ?
दीपहित गौरव स्नेहमय सदा फलता ही रहेगा,
स्नेह यदि मिलता रहा तो दीप जलता ही रहेगा॥

मान से, अपमान में, सम्मान में, रहा एक सा जो,
भावनाओं का किला ढ़ाहता रहा है रेत सा जो।
वह पथिक निज मार्ग पर गतिमान चलता ही रहेगा,
स्नेह यदि मिलता रहा तो दीप जलता ही रहेगा॥

— श्री फूलचन्द 'मानव' —

योग का जीवन में व्यावहारिक-पक्ष 卐

श्री गोवर्धननाथ जी कक्कड़

[गीता के इस योगदर्शन को जीवन के व्यावहारिक-पक्ष में कैसे अपनाया जाए, उसका अपूर्वलाभ क्या होगा ? श्री कक्कड़ जी ने सरलभाषा व भावों में बड़ा मार्मिकविवेचन किया है, आज व्यावहारिकजगत के लिए यह सरसयोग का सन्देश मनोहारी-शास्त्रीयविचार है।

❋❋

—सम्पादक]

योग शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'जोड़'। इस दृष्टि से किन्हीं भी दो का मेल योग है आध्यात्मिकजगत में योग का अर्थ है 'अपने में तल्लीनता' अपने में ही अभेद-स्थिति'। साधारण दृष्टि से योग शब्द का अर्थ परमात्मसत्ता से अपना अविच्छिन्न सम्बन्ध हो जाना है। मन जब वाह्य-कामनाओं से निवृत्त होकर स्वयं में ही संतुष्टि खोज लेता हैं, तभी उसे युक्त होने की संज्ञा दी जा सकती है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठति।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥

जिस अवस्था में चित्त समस्त कामनाओं को नष्ट कर अतीव आनन्दावस्था को प्राप्त करता है, उसी अवस्था का नाम योग है।

सतत साधना में लीन योगी परमपद निश्चय ही प्राप्त करता है। वह अपने आत्म-स्वरूप में स्थित होकर जो कुछ प्राप्त करता है, उसे प्राप्त करने के बाद समस्त पदार्थ उसकी दृष्टि में हेय हो जाते हैं और उन्हें पाने योग्य भी वह नहीं मानता।

कबिरा प्याला प्रेम का, अन्तर लिया लगाय।
रोम रोम में रम रहा, और अमल क्या खाय।

फिर सभी आनन्द फीके लगने लगते हैं। काम, क्रोधादि वृत्तियों को विजित कर योगी सांसारिक राग-तृष्णा से परे हो जाता है। मान-अपमान, सुख-दुख, हानि-लाभ उसके लिए समान हो जाते हैं क्योंकि वह जान जाता है कि ये सब वाह्य-विषय हैं और उसकी आन्तरिक चेतना इनके प्रभाव से सर्वथा मुक्त है। वह तो आनन्द-स्वरूप है, आनन्दमय है, आनन्द देने वाली है। आनन्द से अन्य विषय उसे स्पर्श भी नहीं कर सकते। योगी शरीर के नाश में अपना नाश नहीं मानता क्योंकि वह जानता है कि शरीर जड़ है, उसे नष्ट होना ही है और वह आत्म-स्वरूप जो चैतन्य है, वह अविनाशी है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः॥

साधना की दृष्टि से योगमार्ग कठिन अवश्य है किन्तु यदि एक बार भी अपने स्वरूप का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त हो गया तो—

'जिन मधुकर अम्बुज-रस चाख्यो,
क्यों करीलफल खावै।'

योग का सही और व्यावहारिक अर्थ है कि जीवन मस्ती में डूबकर रसमय हो जाय। आनन्द के वर्षण से रोम रोम हर समय भीगा रहे। जीवन मस्ती से भर उठे। योगावस्था शुष्क और नीरस नहीं है। परमात्मा रसमय है, आनन्दमय है, उससे युक्त होकर हम निश्चय ही रसमय होंगे, आनन्द-मय होंगे। यह आनन्दावस्था अस्थायी नहीं है, अखण्ड है। घोर से घोर विपत्ति और अतीव प्रसन्नता भी उसे इस अवस्था से रंचमात्र भी विचलित नहीं कर सकती। यह योग की सिद्धा-वस्था है।

योगी अपनी समस्त कामनाओं से चित्त की उपरामता प्राप्त कर अहर्निश अपनी आत्मा में ही रमण करता है।

इस सम्बन्ध में एक बात विशेष रूप से समझ लेने की है कि योग की साधना का अर्थ संसार से पलायन नहीं है। ऐसा नहीं है कि संसार छोड़कर

जंगल में जा बसने से ही योग सिद्ध होगा। योगी के लिए संसार ही वास्तविक साधना-क्षेत्र है। योग जीवन का एकमात्र भावपक्ष ही नहीं, व्यावहारिक-पक्ष भी है। आज के संदर्भ में योग का व्यावहारिक पक्ष ही उपयुक्त है। योग जीवन की आस्था है, नैराश्य नहीं। योग का अर्थ जीवन से उपरामता नहीं, वरन् उसे सुन्दरतम बनाना है। यही गीता का प्रतिपाद्य विषय है। भगवान ने कहीं भी अर्जुन को संसार त्यागने को नहीं कहा। उन्होंने अर्जुन को योग का वास्तविक ज्ञान दिया। यही नहीं, उन्होंने अर्जुन को सब कुछ समझा बुझाकर अन्त में योगी बनने को ही कहा।

तपस्विभ्योऽधिको योगी,
ज्ञानिभ्योऽपिमतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी,
तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

इस साधना में मन की निश्चलता ही योग का आधार है। साधक को सर्वप्रथम मन के संकल्पों से उत्पन्न होने वाली समस्त कामनाओं के विरोध का अभ्यास करना चाहिए। ऐसा करने से मन अन्तर्मुखी होगा। यही समय है जब मन आत्म-चिन्तन में लगाया जावे। यह स्थिति, मन को समस्त सांसारिक विषयों से मोड़कर परमात्मा से जोड़ने से होगी। मन एक से ही जुड़ सकता है। यदि वह संसार से जुड़ा है तो परमात्मा से नहीं जुड़ सकता और यदि परमात्मा से जुड़ गया, तो संसार से नहीं जुड़ सकता।

इस विषय में अत्यधिक सावधानी बरतने की आवश्यकता है क्योंकि मन चिरकाल से ही सांसारिक विषयों में ही रमता आया है। इसलिए बारम्बार उसका विषयों की ओर ही उन्मुख होना स्वाभाविक है। इसलिए बारम्बार उसे विषयों से खींचकर आत्म-स्थिति में ही दृढ़ करने का अभ्यास करना चाहिए। शनैः शनैः यह सहज स्थिति में होने लगेगा।

अपने आत्म-स्वरूप में स्थित हुआ योगी सर्वत्र आत्म-स्वरूप का ही दर्शन करता है।

सियाराममय सब जग जानी.....

वह सब चराचर में चिदानन्द सर्वात्मा को आत्म-स्वरूप से देखता है। फिर उसके लिए कौन शत्रु और कौन मित्र! वह सब कुछ करता हुआ भी तत्व-दृष्टि से परमात्मा में रमण करता है। भगवान ने ऐसे योगी के लिए स्पष्ट घोषणा की है—

यो मां पश्यति सर्वत्र, सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि, स च मे न प्रणश्यति।

फिर ऐसे योगी के लिए जिसकी दृष्टि सम है, न कोई कर्तव्य है, न अकर्तव्य। सब चराचर और सुख-दुखादि में आत्म-दृष्टि रखने वाला योगी ही सर्वोत्तम है।

वस्तुतः आज के पूर्ण भौतिकवादी युग में तो योगपूर्ण जीवन ही एकमात्र अवलम्बन है। आवश्यकतामात्र इस बात की है कि हम योग का व्यावहारिक स्वरूप अपनायें, जिसकी गीता में भगवान ने स्पष्ट व्याख्या की है। किसी वस्तु विशेष को त्याग देना ही योग नहीं है, वरन् उसमें आसक्तिरहित बुद्धि रखना ही योग की सच्ची साधना है। ऐसा होने पर ही हम वास्तव में सही अर्थों में सुखी होंगे।

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुआ बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिए, वे शाहन के शाह॥

वे ही सच्चे अर्थों में योगी हैं, जिन्होंने इसी जीवन में समस्त कामनाओं पर विजय प्राप्त कर आनन्दमय-परमात्मा से अपने को युक्त किया है। उन्होंने ही जीवन का आनन्द पाया है, जिन्होंने जीवन में मस्ती पाई है। यह तभी होगा जब हम इसी जीवन में अपनी समस्त वृत्तियों पर विजय पा लें।

शक्नोतीहैव यः सोढुं,
प्राक्शरीर विमोक्षणात्।
काम क्रोधोद्भवं वेगं,
स युक्तः स सुखी नरः॥

गीता-आश्रम के प्रति हृदयोद्गार—

आयुर्वेदाचार्य कविराज मदनमोहन वैद्यशास्त्री

❀

[श्री डा० चोपड़ा जी जहां भारतीय आयुर्वेदशास्त्र के सुयोग्य अनुभवी पंडित हैं, वहां भारत की राजधानी दिल्ली के कर्मठजीवन, धार्मिक जीवन के ख्यातिप्राप्त समाजसेवी भी हैं। 'गीता-सन्देश' के स्थायी 'स्वास्थ्य-स्तम्भ' द्वारा आप गीता-सन्देश परिवार को आत्मबल के साथ साथ शारीरिकबल से भी पूर्णतेजस्वी बनाने का पुण्यकार्य करने जा रहे हैं। आपकी निष्कामसेवाओं के प्रति साभार।
—सम्पादक]

गत वर्ष विश्वधर्म-सम्मेलन के अवसर पर परम पूज्य महानतपस्वी योगिराज *स्वामी वेदव्यास जी* के पुनीत सम्पर्क में आने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। *महाराजश्री इस विश्वधर्म सम्मेलन के मनोनीत स्वागताध्यक्ष थे* और महामन्त्री के नाते इस सम्मेलन के स्वागत तथा आतिथ्य सत्कार के आयोजन का कार्यभार मेरे ऊपर और कुछ अन्य महानुभावों पर था। भारत की राजधानी में इस सम्मेलन के विराट् रूप में जहां लाखों नर-नारी रामलीला मैदान में उपस्थित थे वहां विशेषअतिथि के रूप में प्रधानमन्त्री स्वर्गीय श्री लालबहादुर जी शास्त्री, स्वराष्ट्रमन्त्री श्री नन्दा जी और पूर्व वित्तमन्त्री श्री मोरार जी देसाई के अतिरिक्त देश के सर्वमान्य अग्रगण्य धार्मिकनेता भी पधारे थे। अमेरिका, इंगलैंड, जर्मनी, फ्रांस, रूस, इज़राइल, इटली, अल्जीरिया, यूनान आदि देशों के ख्यातिप्राप्त धर्म-गुरुओं और धर्मनिष्ठ महानुभावों ने इस सम्मेलन में भाग लेकर इसके महत्व और नाम को सार्थक किया।

सम्मेलन में पधारने वाले अनेकों महात्माओं, तपस्वियों और सिद्धपुरुषों में मैंने *महाराजश्री वेदव्यास जी* की विभूति, कीर्त्ति और कर्म-परायणता को विलक्षण पाया। स्वामी जी महाराज ने अपने ओजस्वी *गीता-सन्देश के शंखनाद द्वारा भारत के कोने कोने में सदाचार तथा राष्ट्र-प्रेम की पवित्र भावनाओं का उद्बोधन किया है। देश के लोगों में प्राचीन संस्कृति और नैतिकता के आदर्शों को और मूल्यों को पुनः स्थापन करने का भगीरथप्रयत्न किया है।* स्वामी जी महाराज ने अपने तप, त्याग और संगठनशक्ति द्वारा पुण्य-सलिला-भागीरथी के परम-पावन तट पर *'गीता-आश्रम'* का निर्माण कर एक ऐसे आध्यात्मिककेन्द्र की स्थापना की है जिसके प्रतिभाशाली प्रकाश की रश्मियों से जन-साधारण का अज्ञानान्धकार दूर होकर उन्हें कर्म-योग का सन्मार्ग मिलता है। मैं भी उन सहस्रों सद्गृहस्थियों में से हूं जो महाराजश्री के अमृतमय ओजस्वी सदुपदेशों से अपने जीवन को सार्थक बनाने में प्रयत्नशील हैं। मुझे विश्वास है कि *निकट भविष्य में ही हिमालय के इन महान तपस्वी योगिराज के आशीर्वाद और सद्प्रयत्नों से जान्हवी के तट पर खड़ा 'गीता-आश्रम' भारत के कल्याण और अभ्युदय का आदर्श-प्रतिष्ठान होगा।*

गीता वेदों का सार है, *'सर्ववेदमयी गीता'*, गीता जीवन का गीत है। सांसारिक मानवों के लिए इससे ऊपर कोई भी जीवनशास्त्र नहीं है। गीता के सिद्धांत अकाट्य, स्थायी तथा शाश्वत् हैं। जीवन कर्मक्षेत्र है और गीता कर्मयोग, जो अकिंचन मानव को धूमिल रज-कण से शक्तिमय तेपुजञ्ज बना देता है। आज भारतवर्ष में मनोदैन्य और परवशता तथा पर-निर्भरता का प्रदर्शन हो रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्र के कर्णधार भी आत्मबल और आत्म-विश्वास खो रहे हैं। इधर विश्व के मंच पर राजनैतिक संकटों के घन-घोर बादल छा रहे हैं। भारत की सीमाओं पर शत्रुदल आतंक फैला रहा है। देश के भीतर विनाशकारी प्रवृत्तियाँ दिन-प्रतिदिन उग्ररूप धारण करती जा रही हैं। ऐसी विकट स्थिति में आज फिर भारत को योगेश्वर श्रीकृष्ण की गीता के अमर सन्देश की आवश्यकता है। इसी से देश का कल्याण होगा और श्रीः विजय, विभूति भारत के भाल को सुशोभित करेगी।

❀

धन्वन्तरि-जयन्ती के पुण्यपर्व पर—स्वास्थ्य-स्तम्भ

'धर्मार्थ काममोक्षाणां शरीरं साधनं यतः ।
सर्वकार्येष्वंतरंगं शरीरस्य हि रक्षणम् ॥'

गीता-सन्देश में महाराजश्री के आशीर्वाद और अनुमति से 'स्वास्थ्य-स्तम्भ' प्रारम्भ किया जा रहा है, ताकि अनन्त-शक्तिवान आत्मा और सुदृढ़ मन के साथ साथ स्वस्थ और सबल शरीर भी हो।

इसके लिए सृष्टि के आदिकाल में ही स्वयम् श्री ब्रह्मा जी ने सृष्टि के कल्याणार्थ आयुर्वेद की प्रथम संहिता की रचना की थी। वेदों के अनेक सूक्तों में आयुर्वेद के उपदेशों का प्रथम संकलन प्राप्त होता है—विशेषतया अथर्ववेद में तो प्राणीमात्र की आयुरक्षा के लिये दिव्य-औषधियों का प्रयोग और वर्णन मिलता है।

गिरिराज हिमालय तो इन अनन्तवीर्य और अद्भुत प्रभावशाली औषधियों का विशेष स्थल है।

'दिव्यौषधीनां बहवः प्रभेदाः ।'

हम अपने प्रिय पाठकों को इन रहस्यमय बूटियों के गुण धर्म और प्रयोग का परिचय देंगे, जिससे इस अत्यन्त छुपे हुए औषधियों के अद्भुत प्रभाव का सर्वसाधारण को ज्ञान हो जाय और वे अपने नित्यप्रति के जीवन में कष्टसाध्य रोगों से सहज सुलभ ही इनके प्रयोग द्वारा मुक्त हो सकें।

इसके अतिरिक्त ऋतुचर्या, दिनचर्या आदि स्वास्थ्यरक्षा के आवश्यक विषयों का भी प्रतिपादन किया जायेगा। तथा आयुर्वेद के उन शाश्वत सिद्धान्तों और उपदेशों को आपके समक्ष रखा जायेगा, जिन्हें पालन कर दीर्घायु की कामना रखने वाले मानवजनों का हित और कल्याण होता है।

आयुकामयमानेन धर्मार्थं सुखसाधनम् ।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥

❋ आवश्यक-सूचना ❋

इस स्तम्भ में 'आपकी स्वास्थ्य समस्या और हमारे सुझाव' नाम से एक श्रृङ्खला प्रारम्भ की जा रही है, जिसमें आपके स्वास्थ्य और रोग सम्बन्धी प्रश्नों और समस्याओं के उत्तर, भारत के विख्यात आयुर्वेदज्ञ पीयूषपाणि आयुर्वेदाचार्य कविराज डा० मदनमोहन चोपड़ा वैद्यशास्त्री, *M.A.M.S., D. Sc. (A)* भूतपूर्व प्राध्यापक राजकीय आयुर्वेदिक कालेज देहली द्वारा दिए जाएंगे।

आपकी राशि के अनुसार नवम्बर मास का राशि-फल——

पं० शिवकुमार जेतली (पपी पंडित) अमृतसर

ज्योतिषी पं० शिवकुमार जेतली, प्रसिद्ध नाम (पपी पंडित) है, जिन्होंने भारतवर्ष के प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री तथा पाकिस्तान के प्रधान श्री अयूब खां की भेंट होने से पूर्व ही भविष्यबाणी की थी, कि श्री शास्त्री जी को ताशकन्द में पाकिस्तान के प्रधान से फरवरी मास तक कोई वार्ता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह समय श्री शास्त्री जी की शारीरिक अवस्था के लिए नेष्ट था, जो सत्य हुई। तथा गतवर्ष भारत पाक युद्ध की समाप्ति की भविष्यवाणी, जैसा कि तार द्वारा श्री राष्ट्रपति जी, गृहमन्त्री जी, स्वर्गीय प्रधानमन्त्री जी तथा कांग्रेस प्रधान जी की सेवा में अवगत कर दिया था कि यह युद्ध २३ सितम्बर १९६५ तक भारत की विजय के साथ समाप्त हो जाएगा, यह भविष्यवाणी १० सितम्बर १९६५ को की गई थी जब कि युद्ध उग्र रूप से चल रहा था और समाप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता था। यह सब प्राचीन हिन्दू ज्योतिषशास्त्र सूर्यसिद्धान्तीय गणितानुसार सत्य प्रमाणित हुआ।

अब ६ नवम्बर को भूकम्प के आने का अथवा कोई उपद्रव होने का योग है। गल्ला चावल और दालों की मार्कीट में तेजी आवेगी। साम्प्रदायिक उपद्रव होते रहा करेंगे, जो कि पूर्व, उत्तर की ओर अधिक सुनने में आयेंगे। इस मास में मेघ चाल भी रहेगी। इस मास की तिथि ३-६-१२-१४-१९-२०-२१-२३-२४ के दिन बिजली, वर्षा, लड़ाई-झगड़ा और भूकम्प से हानि होने का योग है। १२ नवम्बर को सूर्य ग्रहण होगा, जो कि भारत में दिखाई न देगा।

मेष—लाभ अच्छा, नेक कार्य पर खर्च, संतान की वृद्धि।

वृष—लाभ, मान, सवारी का सुख, यात्रा अधिक, खर्च कम।

मिथुन—मान-भय, सन्तान को कष्ट, शारीरिक-रोग, लाभ कम।

कर्क—मुकद्दमेबाजी में खर्च, झूठा आरोप लगे, मानसिक परेशानी।

सिंह—दिल दुःखी, चिन्ता अधिक, स्त्री पर संदेह, मान बढ़ेगा।

कन्या—लाभ अधिक, दिल खुश, मान बढ़े, व्यापार अधिक बढ़ेगा।

तुला—धन की हानि, दिल उदास, खर्च अधिक, क्लेश, शत्रु का नाश।

वृश्चिक—लाभ, खर्च कम, मान अधिक बढ़ेगा, चित्त प्रसन्न, यात्रा हो।

धन—दिल प्रसन्न, व्यापार से लाभ, यात्रा का होना, लाभ भी हो।

मकर—व्यापार की वृद्धि, शत्रु का नाश, घर से दिल दुःखी।

कुम्भ—नया मकान बनाने का योग, सवारी पर खर्च, इज्जत बढ़े।

मीन—व्यापार में हानि, नौकरी की चिन्ता, धोखा भी हो।

गीता-प्रचार-यात्रा--

सनातनधर्म मन्दिर शिमला में,

महाराजश्री की गीता की कथा

दिनोंदिन जनता की भीड़

भारत की राजधानी दिल्ली में गीताप्रचार के भव्यकार्यक्रमों में तथा गौहत्यानिरोध के विभिन्न कार्यक्रमों व सम्मेलनों में भाग लेकर सितम्बर के अन्तिम सप्ताह में वापिस आश्रम पर लौट कर यहां अपने विशेष साधकमण्डल के साथ महाराजश्री ने गीता-सत्संग किया और इस बार उत्तर-प्रदेश और बम्बई में गीता प्रचार को अधिक बढ़ावा देने पर गीतापरिवार के विशिष्ट कार्यकर्ताओं से विचार विमर्श किया। जैसा कि इस बार **उत्तर प्रदेश में ही अ० भा० गीता महासम्मेलन करने के लिए कई विशिष्ट-महानुभाव महाराजश्री से भारी आग्रह कर रहे हैं।**

२ अक्टूबर को महाराजश्री, अध्यक्ष प्रैस विभाग गीता-आश्रम ब्रह्मचारी श्री रामानन्द जी महाराज तथा श्री शान्तिमित्र ब्रह्मचारी के सहित गीता-प्रचार-यात्रा के महत्वपूर्ण कार्यक्रम में शिमला पधारे। यहां की सनातन धर्म सभा के तथा कई अन्य श्रद्धालु प्रेमी भक्तों के आग्रह विशेष पर इस मास के कई कार्यक्रम स्थगित कर महाराजश्री ने अपना अमूल्य समय शिमला को प्रदान किया। नित्यप्रति प्रातः गीता की कथा और सायं गीता के ज्ञान, योग, कर्म, आदि सिद्धान्तों पर विशिष्ट भाषण हुए। श्रद्धालु जनता की भीड़ दिनोदिन बढ़ती ही गई। रात दिन के कई कई कार्यक्रमों की व्यस्तता में महाराजश्री के स्वास्थ्य में भी कुछ शिथिलता आई, परन्तु आयोजित सभी धार्मिक-कार्यक्रमों में आपने पूर्णरूपेण भाग लेकर धर्मप्राण जनता को प्रोत्साहित किया।

योगदा सत्संग सोसाइटी शिमला का सप्तम वार्षिक-महोत्सव

पूज्यपाद योगिराज, गीताव्यास श्री १००८ स्वामी वेदव्यास जी महाराज द्वारा

आध्यात्मिक-सम्मेलन का उद्घाटन

२१-२२ अक्टूबर १९६६ को दो दिवसीय इस धार्मिक महोत्सव में कई अन्य सुयोग्यविद्वान वक्ताओं में श्री ब्रह्मचारी रामानन्द जी महाराज गीता-आश्रम हृषीकेश प्रो० धर्मनाथ जी एम०ए०, डा० सूर्यप्रकाश जी एम०ए०पी०एच०डी० के भी गीतामाता के सिद्धान्तों पर प्रभावशाली भाषण हुए। 'भक्ति और निष्काम कर्मयोग' पर महाराजश्री के गीतामय विद्वत्ता-पूर्ण मनोहर व्याख्यान से जनता मन्त्रमुग्ध हो उठी। योगदा सत्संग आश्रम के 'संस्थापक' श्री **परमहंस योगानन्द जी महाराज**, तथा '**प्रधान**' **श्री दयामाता जी हैं।** यहां पर २३ अक्टूबर को महाराजश्री का महत्वपूर्ण भाषण '**क्रियात्मक वेदान्त**' पर एक शिक्षित सभ्य समाज में हुआ, जिस का अपना अनोखा हो प्रभाव रहा है। श्री शान्तिमित्र ब्रह्मचारी गीता-आश्रम, हृषीकेश, के योगासन तथा योगक्रियाओं के सफल प्रदर्शनों पर शिमला की जनता चकित हो उठी। इस छोटी सी आयु में बालक ने भारी योगाभ्यास का बल प्राप्त कर लिया है। यह सब गुरुकृपा का ही सुफल है।

योगदा सत्संग शिमला का वार्षिकोत्सव

२१-२२-२३ अक्टूबर, १९६६

योगिराज, गीताव्यास, श्री स्वामी वेदव्यास जी महाराज द्वारा 'उद्घाटन'

श्री आर० सी० गुप्ता, संचालक योगदा सत्संग सोसाइटी शिमला, महाराजश्री योगिराज, गीताव्यास, पूज्यपाद श्री स्वामी वेदव्यास जी महाराज तथा अन्य आगन्तुक सन्त महात्माओं का स्वागत भाषण करते हुए । महाराजश्री के बांई ओर सम्मेलन के अध्यक्ष, मेजर जेनरल श्री जोगेन्द्रसिंह वेस्टर्न कमाण्ड बैठे हैं ।
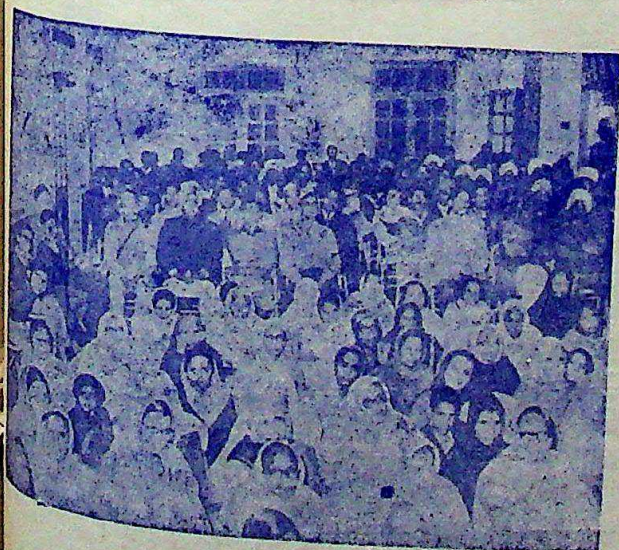
योगदा-सत्संग वार्षिकोत्सव शिमला, में डी० ए० वी० स्कूल के हाल में पूज्यपाद श्री स्वामी वेदव्यास जी महाराज तथा अन्य सन्तों के दर्शन और प्रवचनों को श्रवण करती हुई 'उत्सुक जनता' के एक भाग का दृश्य । कुर्सी पर बैठे हुए बांई ओर से प्रथम 'श्री रतनचन्द जी नारकंडा' वाले तथा दूसरे शिमला के परम धार्मिक जनसेवी तथा 'उद्योगपति श्री लाला मेलाराम जी' आदि नगर के प्रतिष्ठित नागरिक विद्यमान हैं ।

गोव्रती सन्त पूज्यपाद श्री ब्रह्मचारी प्रभुदत्त जी महाराज

२४-९-६६ को अ०भा० गौरक्षा महाभियान आन्दोलन के पुण्यकार्य का लक्ष्य लिए

अपनी तीर्थयात्रा स्पेशल ट्रेन से हृषीकेश पधारे

इसी अवसर पर श्री पूज्य ब्रह्मचारी जी महाराज

गी ता - आ श्र म

(संस्थापक-संचालक—गीताव्यास, पूज्यपाद श्री स्वामी वेदव्यास जी महाराज)

लक्ष्मणझूला में गीता-ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम

के ब्रह्मचारी "श्री यज्ञमित्र" से सन्तहृदय के वात्सल्यभाव में परिचय प्राप्त करते हुए।

बायें से दायें—श्री चन्द्रमित्र जी शुक्ल, श्री स्वामी निजानन्द जी महाराज, श्री स्वामी रामानन्द जी बी०ए०, श्री स्वामी लोकानन्द जी महाराज, श्री रमेशचन्द्र जी।

भारतीय-धर्माचार्यों के पावन सन्देश

गावो विश्वस्य मातरः

।। नमामि धेनुं मातरम् ।।

शुभदां सुखदां वसु गण कन्यकां
पीयूष नाभिं मातरम्
दुग्धधारामृत बलदायिनीम्
श्याम शस्य च प्रजनन कारिणीम्
पयस्विनीम् सुरगण धारिणीम्
बलदां हलदां मातरम् ।।
कोटि कोटि हिंदू जनगण प्रणाम वरेण्ये
रुग्ण प्रपीडित-कृषिबल-जनैक शरण्ये
धनदे पुण्यदे कामदुहे

होम हविर्दायिनीं नमामि पावनीं ।
सुर-मुनि-भावी मातरम् ।।
त्वं हि लक्ष्मीः धन धान्य दायिनी
मेधा — धी बल — विधायिनी
पुष्टि बल वीर्य वर्द्धिनी
नमामि त्वाम्
नमामि कपिलां अमलां मंगलां
प्राणदां ज्ञानदां मातरम्
धर्मदां अर्थदां कामदां मोक्षदां
सुखदां शुभदां मातरम् ।।

परिशिष्ट गोसेवा अंक गोपाष्टमी

भारत का जनतन्त्र शासन

धर्मप्राण भारत के पूज्यपाद धर्माचार्यों की हार्दिक सद्भावनाओं का समादर कर भारतीय-संविधान में संशोधन करते हुए भी गोवध कानून बनाकर भारत के माथे से गोहत्या के काले कलंक को सदा के लिए मिटा कर "महामना मालवीय" गांधी जी, लोकमान्य तिलक की आत्मा को शांति पहुंचाते हुए आज के भारतीय-जनतन्त्र का स्वर्णिम-इतिहास बनाए। जनतन्त्र शासन जनता के अपने ही निर्वाचित प्रतिनिधिवर्ग का शासन रहता है अधिक से अधिक आयु पांच वर्ष, अतः जनतन्त्र में जनभावना का सम्मान होने में ही राष्ट्र का कल्याण है।

भारत के जनतन्त्र की जनता

गोपाष्टमी के पावन पर्व पर अपने अपने घरों में गोपालन का व्रत लेवे, वह भी केवल दूध तक का ही नहीं, गोमाता का हमारा माता पुत्र का यह धार्मिक सम्बन्ध जीवन-मरण तक का गहरा पवित्र सम्बन्ध है। अतः हम अपने बूढ़े माता-पिता की सेवा की भांति ही बूढ़ी गोमाता की जीवनभर सेवा का भी व्रत लेवें, यही आज हमारी सच्चे अर्थों में गोपाष्टमी की गोपूजा होगी। —सम्पादक

गावः स्वस्त्ययनं महत् — गौएं कल्याण का भण्डार हैं।
यतो गावस्ततो वयम् — गौएं हैं, तो हम भी हैं।
गावो लक्ष्म्याः सदा मूलम् — गौएं लक्ष्मी का मूलस्थान हैं।

❀ ❀ ❀

गोहत्या जैसा घोरपाप बन्द कराने के लिए

सबसे पहिले मेरा बलिदान होगा

अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य गोवर्धन-पीठाधीश्वर श्री स्वामी निरंजनदेवतीर्थ जी महाराज

जिस पूज्या गोमाता की इतनी अद्भुत महिमा है कि जिसे साक्षात् भगवान वेद—

'गावो विश्वस्य मातरः।'

गाय समस्त विश्व की माता है, कहकर पुकारते हैं। आज बड़े ही घोर दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आज उसी पूज्या गोमाता के ऊपर घोर विपत्ति आई हुई है और आज उन्हीं पूज्या गोमाताओं की हत्या कर उनका गोमांस विदेशों को सप्लाई किया जा रहा है। और आज देश में गो दुग्ध की जगह गो रक्त की नदियां बह रही हैं। और आज इसी हमारे धर्म पर और हमारी हिन्दूसभ्यता तथा संस्कृति पर चतुर्दिक आक्रमणों पर आक्रमण हो रहे हैं, और फिर भी हम अपने को भगवान् श्री राम का भक्त बताने वाले यह सब घोर अनर्थ होते हुए बैठे बैठे टुकर टुकर देख रहे हैं। और हमारे कानों पर तनिक भी जूं नहीं रेंग रही है फिर भला हम काहे के तो भगवान श्री राम के भक्त हैं, और काहे के भगवान श्रीकृष्ण के भक्त हैं और काहे के हम साधुसंत महात्मा हैं।

यदि हम वास्तव में भगवान श्रीराम के सच्चे भक्त हैं। और यदि हम वास्तव में सच्चे रूप में साधु-सन्त महात्मा हैं तो जब हमारे परम इष्टदेव परात्परब्रह्म भगवान श्रीराम और श्रीकृष्ण भी गोमाता की रक्षा के लिए और हिन्दू धर्म की, हिन्दू सभ्यता संस्कृति की रक्षा के लिए अपने पाँवों में जंगल के अरण्य के कांटे लगने, चुभने, सहन कर सकते हैं, तो हमें तो अपने सर के बल चलकर भी और अपने सर में कांटे चुभने सहन करके भी गोमाता की रक्षा करनी चाहिए और अपनी सभ्यता-संस्कृति की रक्षा करनी चाहिए। हमें गोमाता की धर्म की, सभ्यता संस्कृति की रक्षा के लिए आगे न आना और पीछे हटना और मुख मोड़ना और बैठे बैठे देखते रहना यह कदापि शोभा नहीं देता है, और यह कदापि उचित नहीं है।

सबसे प्रथम गोरक्षार्थ मेरा बलिदान होगा

हम तो स्वयं गोहत्या बन्द कराने के लिए आगे आये हैं और अपने प्राणों की बाजी लगाने वाले हैं। यह एक बड़ी प्रसन्नता की बात है कि आज हमें दो तीन ऐसे महापुरुष हमारे साथी हमें मिल गए हैं कि जो हमारे साथ गोहत्या बन्द कराने के लिए अपने प्राणों की बाजी लगाकर बैठेंगे। लो हम आपको एक महापुरुष का नाम बता ही देना चाहते हैं। वह हैं आपके चिरपरिचित पूज्यपाद जगद्गुरु शंकराचार्य ज्योतिर्मठपीठाधीश्वर अनन्त-श्रीविभूषित श्री स्वामी श्री कृष्णबोधाश्रम जी महाराज। वह आज लगभग ७५ बर्ष के वयोवृद्ध महापुरुष हैं और गोरक्षा के लिए सहर्ष तैयार हो गये हैं और उन्होंने हमसे यह आज्ञा की है कि यह गोहत्या बन्द करने के लिए सर्वप्रथम हमारा नाम होना चाहिए और इसके पश्चात् फिर किसी दूसरे का नम्बर होना चाहिए। हमने कह दिया है कि नहीं महाराज जी ! सर्वप्रथम हमारा नम्बर होगा और बाद में हमारी मृत्यु के पश्चात् दूसरे नम्बर पर आपका शुभ नाम आएगा।

गोहत्या बन्द कराना साधु सन्तों का परम कर्त्तव्य है

जहां गोहत्या बन्द कराना और जहां गोरक्षा कराना प्रत्येक भारतीय हिन्दू का परम कर्तव्य है और परम धर्म है वहां साधु सन्तों का और धर्माचार्यों का भी गोहत्या बन्द कराने में और गोरक्षा कराने में भाग लेना यह सर्वप्रथम कर्तव्य है और यह परमधर्म है। हम साधु सन्त हैं और हम धर्माचार्य हैं इसलिए धर्म की रक्षा करना और हिन्दू-सभ्यता संस्कृति की रक्षा करना, गोमाता की रक्षा करना यह हमारा परम कर्तव्य है और यह हमारा परम धर्म है और इसका सबसे बढ़कर उत्तरदायित्व हमारे ऊपर है।

गौ की रक्षा बलिदान के बिना नहीं !

पूज्यपाद श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी महाराज, संस्थापक गोलोक संकीर्तनभवन बंशीवट वृन्दाबन

❀

वीरो ! वीरो ! उठो उठो मत देर लगाओ।
गौ माता डकराइ ताइ अब आइ बचाओ ॥
चलीं बहुत दिन छुरी गरे पै अब न चलिङ्गी।
मिली बहुत धिक्का जगत में अब न मिलिङ्गी ॥
मां के हित मरि जायेंगे, गौवध बन्द करायेंगे।
पीछे पग न हटायेंगे, गौरक्षक कहलायेंगे ॥

गौ को हमने अनादिकाल से माता मान रखा है। गौ और आर्यधर्म का ऐसा अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है कि आर्यधर्म गौरक्षा के बिना रह नहीं सकता तथा गौरक्षा बिना धर्म रह नहीं सकती। गौ, बैल तथा सांड देती है, गौ दोषरहित विशुद्ध सर्वोत्तम जीवनदाता दुग्ध देती है, जिससे दही, मट्ठा, घृत, खोवा तथा विविध भाँति की खोवा रवड़ी आदि मिठाइयां बनती हैं। गौ का मूत्र गोबर सभी वस्तु एक से एक पवित्र तथा परमोपयोगी है।

बिना धार्मिक दृष्टिकोण रखे और बिना सद्भावना के गौ की रक्षा हो नहीं सकती। गौ को एक दूध का यन्त्र मानकर गौसंरक्षण गौसंवर्द्धन और नसल सुधार आदि हो सकते हैं। वह गौरूपा दूध के यन्त्र से घी, दूध का व्यापार कहा जा सकता है जैसा कि पाश्चात्य देश वाले करते हैं।

हमारे लिए गौ माता पहले है और उपयोगी पशु पीछे है।

सुनते हैं एक बार जब बिनोवा भावे प्रयाग गए थे तब नैनी होकर जा रहे थे। नैनी के ईसाइयों ने उन्हें अपनी संस्था में चलने को कहा तो उस संस्था की ओर वे पीठ फेर कर खड़े हो गये और बोले—आप लोग चलने को कहते हैं मैं तो आपकी संस्था की ओर मुख भी न करूँगा। क्योंकि वहां तुरन्त पैदा हुई गौ के बच्चों को मार दिया जाता है।

गौ के साथ हमारी धार्मिक भावना जुड़ी हुई है। यद्यपि गौ कभी भी अनुपयोगी नहीं होती। बूढ़ी होने पर भी वह खाद के रूप में इतना गोबर देती है, जो उसके भोजन भर को पर्याप्त है। इसके आंकड़े आज से बहुत दिन पहिले देशी ही नहीं, बिदेशी विशेषज्ञों ने भी लगाये हैं। किन्तु मैं यहां उसके विस्तार में जाना नहीं चाहता। यहां तो मैं यही बताना चाहता हूँ कि गौ हमारी माता है, उसकी रक्षा जैसे भी हो तैसे हर मूल्य पर करनी ही चाहिए।

अपने को हिन्दू संतान कहलाने वाले हमें सलाह देते हैं कि आर्थिक-दृष्टि से गौ उपयोगी नहीं, अतः खेती के कर्मों के लिए तो ट्रैक्टर आदि मशीन रखो, दूध के लिए भैंस रक्खो। गौ को सर्वथा छोड़ दो, किन्तु इस दृष्टिकोण को हमने अपना लिया तो हम अपनी सनातन संस्कृति को खो बैठेंगे, जिसके लिए हमने असंख्यों लोगों का बलिदान दिया और भारत विभाजन के समय अब भी उसके असंख्यों-असंख्यों ज्वलंत उदाहरण प्रत्यक्ष देखने को मिले, अतः गौरक्षा हमें करनी होगी।

देशभर में गोहत्या पर प्रतिबन्ध लगाया जाए

गोरक्षक-षड्दर्शन-साधुमण्डल के प्रधान, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य महामण्डलेश्वर

श्री १०८ श्री स्वामी प्रकाशानन्द जी महाराज

●

यह देश कृषिधर्म-प्रधान है, और कृषिकार्य में गोधन सबसे अधिक उपयोगी है। गोमूत्र, गोबर, भूमि की उर्वराशक्ति को बढ़ा कर अन्नोपज की वृद्धि में परम सहायक होता है। आर्थिक और धार्मिक-दृष्टि से गोहत्या मानवता-भारतीय-गणतंत्र और विशेषतया गांधी-सिद्धान्त का कलंक है। भारत सरकार महात्माओं की मांग को ४५ करोड़ भारतीयों की मांग समझ कर गोहत्या पर प्रतिबन्ध लगावे। भारत के मत्थे पर लगे काले दाग़ को सदा के लिए मिटा कर विश्वशान्ति के लिए भारत-राष्ट्र की सर्वांगीण रक्षा करे।

भारत के विशालभाल पर ६० हजार गोवंश के दैनिक वध का कलंक है। उस पर वैधानिक-प्रतिबन्ध लगवाने के लिए समस्त संप्रदायों के पूज्य महात्मा जेल में तथा मंत्रियों की कोठियों पर भिन्न-भिन्न प्रकार की यातनाएँ सह रहे हैं। यह महात्मा गांधी और गणतन्त्र का घोर अपमान है। भारत सरकार अपना आश्वासन पूरा करे और गोवध-व्यापार बन्द करे। शासकवर्ग इस तथ्य को भी भली भांति समझे, कि साधुओं का यह अभियान राजनैतिक नहीं; किसी दल से प्रभावित नहीं, चुनाव में इसे खड़ा नहीं होना। अतः अनशनकारी साधुओं की मांग देश सुरक्षा की ढाल है। शीघ्र गोवंश के वध पर प्रतिबन्ध लगाकर भारत को संकट से बचावे।

गोमाता और गोपाल के प्रिय भक्तों से भी आग्रह है कि वे प्रतिदिन संकीर्तन करते, गीत गाते नारे लगाते और प्रभात फेरी लगाते हुए जन-जागरण करें। समस्त जनता सर्वथा गोवध बन्द कराकर ही चैन ले। ध्यान रहे, गोवध विरोध न करने वाले व्यक्ति भी गोहत्या के भागी या अपराधी हैं। इस पाप से बचने के लिए आगामी चुनावों में गोघातकों को मतदान न दिया जाय। यह संकल्प लेकर कीर्तन-गीत-भजन-नारे लगावें, और भगवान से प्रार्थना करें कि भारत से गोघातक नष्ट हों। भारत में रामराज्य हो।

गोमाता की करुण पुकार

**

पूज्य श्री स्वामी परमहंस-शंकरदेव मुनि जी महाराज

कहां श्याम बंशी बजैया हमारे,
कन्हैया बिना को हरै दुःख भारे।
दुखी दीन गौएँ निहारैं मुरारे,
पुकारैं कहां कृष्ण गोविन्द प्यारे ॥१॥

चलें नित्य प्रातः गले पै कटारें,
हजारों व लाखों मरे वत्स वारे।
करै देर क्यों? प्राण जाते हमारे,
पुकारैं कहां कृष्ण गोविन्द प्यारे ॥२॥

कहां कृष्ण राधा, कहां गोप प्यारे,
कहां पार्थ से वीर मां के दुलारे।
कहां भारतीयों! न जाते निहारे,
पुकारैं कहां कृष्ण गोविन्द प्यारे ॥३॥

भगवान राम की गोरक्षा

सनातनधर्मजगत के सुप्रसिद्ध संत त्यागशील तपोमूर्ति
श्री १०८ पूज्य स्वामी गणेशानन्द जी महाराज
(प्रधानमन्त्री, स० ध० प्र० सभा पंजाब, दिल्ली)

वेदों, ब्राह्मणों और यज्ञों की रक्षा से धर्म की रक्षा होती है अतः हमारे सभी भगवत अवतारों ने इन तीनों की ही मुख्यतया रक्षा की है। किन्तु वेद मन्त्रों का यज्ञों में ब्राह्मणों द्वारा पाठ करना तभी सफल होता है जब उनके साथ गौ के पवित्र घी, दूध, दही, आदि पदार्थ देवताओं के लिए अर्पण किए जाते हैं। अतः गौओं की रक्षा के बिना इन तीनों की रक्षा करना सार्थक नहीं होता। तभी तो—

'विप्र धेनु सुर सन्त हित,
लीन्ह मनुज अवतार।'

और 'गोब्राह्मणहिताय च' आदि वचनों में ब्राह्मणों के साथ गौओं की रक्षा को भी धर्म के लिए अनिवार्य बताया गया है। भगवान कृष्ण के द्वारा गौओं के पालन की बात सभी जानते हैं किन्तु भगवान राम भी स्वयं गौ पालन किया करते थे। यह बात वाल्मीकीय रामायण के अध्ययन से ज्ञात होती है। बनवास के लिए जाते समय जब भगवान राम अपनी सभी बस्तुएं जो नई थी उन्हें सेवकों में बांट चुके तब उनके पास एक निर्धन ब्राह्मण आया, भगवान राम सोचने लगे, इसे क्या दिया जाए? श्री जानकी जी ने एक डंडा उठा कर दिया जो पड़ा रह गया था और कहा इस ब्राह्मण को यह डंडा दे दीजिए, भगवान राम ने वह डंडा लेकर ब्राह्मण को दिया और कहा इसे सरयूनदी की ओर जहां तक फेंक सकते हो दूर फेंको, ब्राह्मण ने उस डंडे को बलपूर्वक फेंका तो वह सरयू के पार पहुँचा। भगवान ने वहां तक की भूमि और उस भूमि में चर रही सभी गौवें उस ब्राह्मण को दे दीं, इस घटना से सिद्ध होता है कि राजकुमार होते हुए भी भगवान राम अपनी गौवों की सेवा और रक्षा का पूरा ध्यान रखते थे। बन जाते समय उन्हीं ने अपनी गौएं ब्राह्मणों को सौंपने के साथ उन्हें भूमि भी दी, जिससे वे उनकी सेवा कर सकें।

आज राम और कृष्ण के नाम लेवा हम लोग अपने कर्तव्य से कितने विमुख हो रहे हैं, इसका ध्यान हमें आना ही चाहिए और उन महापुरुषों द्वारा स्थापित धार्मिक मर्यादाओं के पालन के समय गोपालन और गोरक्षण का भी पूरा ध्यान रखना चाहिए। सभी को एक स्वर से अपनी सरकार से अनुरोध करना चाहिए, कि वह शीघ्रातिशीघ्र गोवध पर प्रतिबन्ध लगाकर हमारी धार्मिक भावनाओं की रक्षा करे।

भारत की राजधानी दिल्ली में लालकिले के सुभाष मैदान से,

गोहत्यानिरोध के लिए महाराजश्री का सुसन्देश

४-९-६६ को इस धार्मिक मंच से एक विशालजनसमूह को सम्बोधित करते हुए महाराजश्री स्वामी वेदव्यास जी ने कहा, कि आज भारत में गोहत्यावन्दी कानून बनवाने के लिए दो 'गकार' श्री स्वामी गणेशानन्द जी महाराज व श्री स्वामी गुरुचरणदास जी महाराज और तीन 'पकार' आचार्य महामंडलेश्वर श्री स्वामी प्रकाशानन्द जी महाराज, श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी महाराज, श्री स्वामी पूर्णानन्द जी महाराज और दो 'मकार' महामंडलेश्वर श्री स्वामी महेश्वरानन्द जी महाराज, शास्त्रार्थ महारथी श्री पं० माधवाचार्य जी यह मिलकर सप्तर्षि मैदान में उतर आए हैं। इस भगीरथ प्रयास को लिपिवद्ध करना वेदव्यास का काम है, अब भारत में गोहत्या-निरोध का महत्वपूर्ण एक नया इतिहास बनेगा, और भारत में अब गोहत्या बन्द होकर रहेगी ! यह सुनिश्चित हो है।

भारत के ऋषिमुनियों का आध्यात्मिक-प्रभाव,

परमश्रद्धेय श्री जैन-मुनि सुशीलकुमार जी महाराज का सदुपदेश

दिल्ली के एक हजार 'गोहत्यारे' गोभक्त बने (धार्मिक क्षेत्र में हृदय-परिवर्तन)

हमारे अपने श्रद्धेय श्री मुनि सुशील कुमार जी महाराज के आध्यात्मिक सदुपदेश के प्रभाव में राजधानी दिल्ली के लगभग १ हजार कसाइयों ने यमुना के परमपावनतट पर अपना धर्म-ग्रन्थ कुरानशरीफ हाथ में लेकर यह प्रतिज्ञा की हैं, कि हम आज से कभी गोहत्या नहीं करेंगे। इतना ही नहीं, उनकी अपनी संस्था कसाई अंजुमन के नेताओं ने यहां अधिकारियों से मिलकर सानुरोध यह मांग की है कि भारत में यथाशीघ्र ही गोहत्या कानूनन बन्द की जाए।

उनकी इस संस्था ने भारत में चल रहे इस गोहत्यानिरोध के महाभियान में सहायतार्थ अपनी ओर से ११०१ रुपये की धनराशि भी गोरक्षा महाभियान समिति को प्रदान की है।

यह भारत का वह धार्मिक परमपावन क्षेत्र है, जहां ऋषिमुनि-सन्तमहात्माओं के सदुपदेश पर डाकू और लुटेरे भी एक दिन महर्षि बन निकलते हैं। (विरक्त से साभार)

रघुवंशी भगवान राम की वंशपरम्परा में "गोरक्षा"

महाराज दिलीप ने कामधेनु को भूल में प्रणाम नहीं किया। इसी अनजाने अपराध के कारण उनके कोई संतान नहीं हुई। अपने गुरु वशिष्ठ की आज्ञा से उन्होंने गौसेवा का व्रत लिया। नित्य गौ चराने वन में जाते और गौ जिधर भी जातीं उनके पीछे-पीछे फिरते। एक दिन एक सिंह ने गौ को धर दबाया। राजा ने अपने धनुष पर बाण चढ़ाकर सिंह को मारना चाहा, किन्तु राजा के हाथ ही न उठे। तब वे विवश हो गये। सिंह ने हँसकर कहा—'राजन्! मैं कई दिनों का भूखा हूँ। यह गौ मुझे आहार रूप में मिली है। इसे खाकर मैं अपनी भूख शान्त करूँगा। आप मेरा आहार क्यों छीन रहे हैं।'

राजा ने कहा—'सिंह! तुम्हें अपना पेट ही तो भरना है। तुम मुझे खालो और गौ को छोड़ दो।'

सिंह ने कहा–'राजन! मूर्खता की बात मत करो। तुम्हारे शरीर से लोक का बहुत उपकार होगा। तुम्हारे बिना देश में अराजकता फैल जायेगी। तुम्हारे वंश का नाश हो जायेगा। आगे वंशपरम्परा न चलेगी। एक छोटी सी गौ के पीछे तुम संसार का इतना अहित कर रहे हो। अरे अपने गुरु को एक के स्थान पर सहस्र गौ दे देना। जब तुम्हारा वंश ही नहीं चलता, तो प्राण क्यों दे रहे हो।'

राजा ने कहा–'सिंह! गौ की रक्षा मेरा धर्म है। धर्म के लिये प्राण दे देना मरना नहीं है अमर होना है। अपने शरीर को देकर मैं अपने धर्म का पालन कर रहा हूँ।'

सिंह ने अनेक तरह से समझाया। राजा नहीं माने और अपनी आहुति देने को गौ के ऊपर गिर पड़े। वही तो उनके धर्म की परीक्षा थी। वहां न तो सिंह था न कोई और, नन्दिनी गौ उनकी ऐसी धर्मनिष्ठा से प्रसन्न हो गयी।

भारत के धर्माचार्य-सन्तमहात्मा आज देशभर में गोहत्यानिरोध के लिए,
भारी से भारी बलिदान देने को तैयार ।

आज भारत में गोभक्तों की ही नहीं, गोहत्यारे कसाइयों की भी मांग है,

भारत में गोवध बन्द हो !

रामकृष्ण के पुजारी गोभक्त ध्यान देवें ।

गीताव्यास पूज्यपाद श्री स्वामी वेदव्यास जी महाराज

महाराजश्री ने गोहत्यानिरोध के सम्बन्ध में एक वक्तव्य प्रसारित करते हुए कहा, कि आज देश में कोरा भौतिकता का साम्राज्य हो रहा है, जिसमें एकमात्र धर्मग्लानि हो जाने से जनजीवन में भ्रष्टाचार, स्वार्थपरता, अन्याय और मिथ्याडम्बर तेजी से बढ़ चले हैं, आज के इस अशान्तजीवन में मानव अपने जीवन से भी निराश हुआ जा रहा है। आज मानवता के संरक्षक किसी भी भारतीय-आचार-विचार को केवल पैसे की कीमत पर आंका जाने लगा है, अतः आज वह समय आ गया है, कि भारत के धर्मगुरु सन्तमहात्मा तपस्वी योगी, ऋषिमुनि अपनी पर्वत गुहाओं की तप साधना छोड़ कर गीता के निष्काम-कर्मयोग को साथ लिए भारत की जनता तथा जनतन्त्रीय सरकार को भारतीय-आध्यात्मिक आदर्शों का सदुपदेश दें। धर्मप्रधान भारत में घर घर आज आध्यात्मिकता का सुसन्देश पहुंचाएँ ।

'गावो विश्वस्य मातरः ।'

आज भारत के सन्त महात्माओं के सामने समस्त भारत में गोहत्यानिरोध का महत्वपूर्ण प्रश्न आ खड़ा हुआ है, जिसके लिए एक तरफ उन्हें आज गांव गांव, नगर नगर में जाकर देश के कोने कोने में गोमहिमा, गोरक्षा, गोपालन का प्रचार करना है। आज जनतन्त्र की जनता को गोरक्षा के लिए बताना है, कि हम रामकृष्ण के पुजारी आज घर घर में गोमाता का पालन-पोषण करें, चूंकि गोमाता का और हमारा अन्य पशुओं की तरह केवल दूध तक ही सम्बन्ध नहीं, भारत की गो का हमारे साथ माता और पुत्र का धार्मिक सम्बन्ध है। मेरे तो कृष्ण भगवान के गीताज्ञान की सर्वोत्तम समता ही इस गोमाता के दुग्धामृत से देते हुए धर्मग्रन्थों ने स्पष्ट लिखा है कि—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ।

अतः सर्वप्रथम हमें घर घर गोपालन का व्रत लेकर आज वास्तव में भारत की गोमाता की रक्षा करनी है ।

इधर केवल पैसे पर ही भारतीय आदर्शों का भी मूल्यांकन करने वाली अपनी सरकार के सामने आज हमें गोरक्षा के प्रश्न पर देशव्यापी ही नहीं, आवश्यकता पड़ी, तो विश्वव्यापी-आन्दोलन भी करने हैं गोरक्षक-साधुसन्तों के हजारों हजारों के सत्याग्रही जत्थों से सरकार की जेलें भरनी हैं, इतना ही नहीं, आज केवल गोमहिमा के प्रचार का ही समय नहीं रह गया, अपितु भारत के साधु-समाज को हिन्दूसद्गृहस्थियों को गोरक्षा के लिए वह सभी कुछ करना होगा जो आज तक नहीं किया गया, क्योंकि भारत की गोरक्षा का प्रश्न देश की स्वतन्त्रताप्राप्ति से कम मूल्य का नहीं है। भारतीय गोरक्षा का प्रश्न ऐसा धार्मिक राष्ट्रीयप्रश्न है, कि जिसमें न केवलमात्र भारत के गोभक्त हिन्दू, सिक्ख, सनातन, आर्य, जैन, बौद्ध ही संगठित हो एकमंच से गोरक्षा की मांग कर रहे हैं, अपितु इसाई और गोवध करने वाले स्वयं मुसलमान कसाई भी आज गोरक्षा की मांग करने चले हैं, अतः हमारी सरकार को समय रहते विचारपूर्वक गोहत्या का यह काला कलंक गोहत्यानिरोधक कानून बनाकर समस्त देश में गोहत्या बन्द कर भारत के मत्थे से मिटा ही देना चाहिए। इसी में देश का कल्याण है।

नामधारी सिक्खों के पूज्य श्री सद्गुरु जगजीतसिंह जी महाराज की ज़बानी, आज की सच्ची कहानी

लेखक—श्री भक्त रामशरणदास जी पिलखुवा —

मुसलमान ने गोमाता की रक्षा कैसे की ?

तपामंडी तहसील बरनाला, जिला संगरूर में एक मुसलमान सज्जन रहते हैं जो मुसलमान होते हुये भी गोमाता के बड़े अनन्य भक्त हैं और जिनका शुभ नाम है "खैरदीन।" उन्हीं के जीवन की यह एक बिल्कुल सत्यघटना है। सन् १९४७ में हिन्दुस्तान पाकिस्तान के बटवारे के समय जब समस्त देश में महान भयँकर मारकाट मच रही थी तो उस महान घोर भयँकर विपत्ति के समय में उस मुसलमान खैरदीन के प्राणों की रक्षा कैसे हुई इसके सम्बन्ध मे स्वयं मुसलमान खैरदीन ने सद्गुरु महाराज श्री जगजीत सिंह जी को यह महान आश्चर्यजनक सत्य घटना सुनाते हुये बताया—

सन् १९४७ में जब पाकिस्तान हिन्दुस्तान का बटवारा हुआ तो उससे कुछ दिनों पूर्व की बात है कि कुछ मुसलमान कसाई बुच्चड़ों को मैंने एक बहुत दुबली पतली गाय को ले जाते हुये देखा; कि जो उसकी हत्या करने के लिये ले जा रहे थे। मुझे उस गाय को देखकर गायके ऊपर बड़ी दया आई और मैंने उनसे मोल देने के लिये कहा,तो उन कसाईयों ने मुझसे उस अपनी गाय के दाम २० रुपये मांगे। मेरे पास उस समय गरीब होने के कारण बीस रुपये नहीं थे। पर फिर भी मैंने उस गाय के प्राण बचाने की सोची और अपने घर पर जाकर अपने भाई की बहू अपनी भौजाईकी एक सोने की चीज़ ली और मैंने उस सोने की चीज़ को एक के यहाँ गिरवी रख दी और उसके बीस रूपये लेकर मैं कसाइयों के पास गया और उन्हे वह बोस रुपये देकर वह गाय उनसे मोल लेली। मैंने वह कसाइयों के हाथों से बचाई गाय अपने घर पर नही रखीं, क्योंकि मैंने वह गाय बचाने का काम अपने घरवालों से बिना पूछे चोरी से किया था। जब वह गाय व्याई,तो दूध के लालच से उसे अपने घर लाने पर उस समय किसी ने भी इन्कार नहीं किया। कुछ दिनों तक उस गाय को अपने पास रखकर फिर उस गाय को एक ऐसी अच्छी जगह पर बेच दिया कि जहां फिर उसके जीवन को किसी प्रकार का भी खतरा न हो।

गोमाता ने उसी मुसलमान के प्राणों की रक्षा कैसे की ?

सन् १९४७ में जब पाकिस्तानी मुसलमानो ने हिन्दुओं को और हिन्दुओं ने मुसलमानों को खूब मारा काटा था। हम मुसलमान गांव में कुछ थोड़ी संख्या में थे तो जब हिन्दुओं का हमारे ऊपर हमला हुआ तो हम हिन्दुओं से डर कर कुछ मुसलमान एक मकान के अन्दर घुस गये और हमने अन्दर से उस मकान की संकल लगाली। लोगोंने मकान को आग लगादी। मकान में आग लगी देखकर सबके सब तो मुसलमान एकदम से बाहर आगये, सिर्फ में अकेला उस मकान के अन्दर रह गया। मकान धुएँ से भर गया और उधर मकान के चारों ओर आग लगी हुई थी अब तो मैं बड़ा घबड़ाया, कि मेरे प्राणों की रक्षा कैसे होगी ? अकस्मात मैं क्या देखता हूँ कि जो गाय मैंने कुछ दिनों पूर्व मुसलमान कसाईयों के हाथों से बचाई थी ठीक उसी प्रकार की और ठीक उसी रंग की गाय की पूँछ मेरे सामने घूमने लगी और बराबर अपनी पूंछ से उस धुंए से और उस भयंकर आग से मेरी रक्षा करती रही और मुझे बचाती रही। फिर ठीक समय समाप्त कर जब आतंक कुछ समाप्त हुआ, तो मैं बाहर निकल आया और मैं उस गाय की कृपा से धाँय धाँय करती हुई प्रज्वलित अग्नि के बीच से जीवित निकला, मैं आज भी जीवित हूँ और मैं इस समय पंजाब में रह रहा हूँ।

हमारे गोरक्षक–धर्माचार्यों में,

❀

गोवर्धनपीठाधीश्वर श्री जगद्गुरु शंकराचार्य श्री स्वामी निरंजनदेवतीर्थ जी महाराज।

❀

श्री प्रभुदत्त जी महाराज

❀
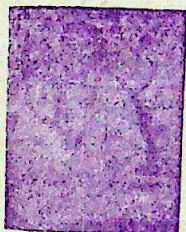
तपोमूर्ति, श्री स्वामी गणेशानन्द जी महाराज, (प्र. मन्त्री, स. ध. प्र. स. पंजाब दिल्ली)

❀

जैन मुनि, श्री सुशील कुमार जी महाराज।

दी प मा ला

त म सो मा ज्यो ति र्ग म य

दीपावली के इस लक्ष्मीपूजन के पुण्यपर्व पर

आप के लिए हमारी हार्दिक–मंगल–कामनाएँ

१—आज भारत की पर्णकुटीरों में, राज भवनों में, देव मन्दिरों में, दीपावली के स्नेहपूरित दीपकों की जगमगाती लौ का 'प्रकाश' हमारे अज्ञानान्धकार को दूर कर अपनी दिव्यज्योति के प्रकाश से राष्ट्रीय-जीवन को आलोकित करे।

२— 'लक्ष्मीपूजन' का यह पुण्यपर्व किसी एक राजभवन या पर्णकुटीर में नहीं, समस्त राष्ट्र के जन-जीवन में एक नया आर्थिक-प्रगति का नवयुग लाकर फिर से भारत को "सोने की चिड़िया" का ऐतिहासिकगौरव प्रदान करे।

३—आज दीपावली पर्व पर भारत के किसान की खेतों में खड़ी शारदी–फसल पक चुकी है, यह राष्ट्र का 'नया-अन्नभण्डार' मेरे भारत को अन्नसमस्या पूर्ति में भगवान् के वरदहस्त का प्रसाद बनकर घर घर में अन्न-धन का अतुल भण्डार परिपूर्ण रक्खें।

४—दीपावली पर्व पर भारत के घर घर में आज सफाई, लिपाई, रंगबिरंगी पोताई हो रही है, भारत का यह स्वच्छता-आन्दोलन राष्ट्र के जीवन को नीरोगी, स्वस्थ और सुदृढ़ बलवान बनाए, साथ ही नए नए खिलौने-खेल, कलात्मक चित्रों से भारत का यह 'कलात्मक–सौन्दर्य' का महानपर्व भारतीय जीवन में 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' की अमर ज्योति जगाए।

५—दीपमाला की द्यूतक्रीड़ा (व्यापारी-सट्टा क्रयविक्रय) भारत के व्यापारी-जगत में वह आर्थिक प्रगति ला दिखाए, कि देश का जनसाधारण धनधान्य के अतुल भण्डार से परिपूर्ण देश में 'रामराज्य' के प्रत्यक्ष दर्शन कर उठे।

—सम्पादक

जनवरी १९६७ का अंक,

गी ता-ज़ य न्ती-वि शे षां क

जिसमें धार्मिक संसार के उच्चकोटि के विद्वान् सन्तमहात्माओं धार्मिकनेताओं के भावपूर्ण सारगर्भित विचार, जीवन के अनुभव, गीताज्ञानविज्ञान की सरस रोचक सामग्री से भरपूर खोजपूर्ण लेख, भगवद्भक्तिमयी-कविताएं, भक्तकथाएं, वेदोपनिषद् पुराण धर्मशास्त्रों के चुने हुए पुनीतमन्त्र प्रकाशित हो रहे हैं। रंगीन व सादे अनेकों सुन्दर चित्र, बढ़िया सफेद कागज, आकर्षक कलात्मक साजसज्जापूर्ण छपाई।

आज ही अपना गीतासंदेश का १९६७ का वा. चन्दा ४) रु० चार रुपये, गीतासन्देश कार्यालय, पो० स्वर्गाश्रम, वाया हृषीकेश को भेज कर "गीताजयंती विशेषांक" सुरक्षित करा लेवें।

गीतासन्देश १९६७ के स्थायी ग्राहकों को अपने वार्षिक शुल्क केवल मात्र ४) चार रुपये में ही यह "विशेषांक" मिलेगा।

केवल "गीताजयन्ती-विशेषांक" की अलग से कीमत २) रुपये ७५ पैसे होगी।

केवल गीताजयन्ती विशेषांक लेने वाले महानुभावों को २० नवम्बर १९६६ तक २) रु० ७५ नए पैसे का मनिआर्डर उपरिलिखित पते से कार्यालय को भेज देना चाहिए।

'गीतासन्देश परिवार' को आज एक नया 'व्रत' लेना है

इस बार गीताजयन्ती तक गीतासन्देश का हर ग्राहक गीतासन्देश के ११ नए सदस्य बनाने का व्रत लेवे, चूंकि गीताजयन्ती का पुण्यपर्व मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी यानी ११ तिथि को ही पड़ता है। गीतासन्देश ऐसे विशिष्ट गीता-प्रेमियों के धार्मिक-जीवन सचित्र प्रकाशित कर रहा है, जिन्होंने गीतासन्देश के ३१ ग्राहक बनाए हों अथवा इस गीताप्रचार-महायज्ञ में गीतासन्देश की कम से कम १०१) रुपये की वार्षिक सहायता करता हो।

आप स्वयं गीतासन्देश के ग्राहक बनिए, और साथ ही अपने ग्राम, नगर, मुहल्ले के मित्रों को तथा सगे नातेदार सम्बन्धियों को गीतासन्देश का ग्राहक बना कर भारत के घर घर में गीताप्रचार-महायज्ञ का शुभ सन्देश पहुंचाते हुए पुण्य और सुयश कमाइए।

—व्यवस्थापक

...mi Vivekananda's Collected Works...
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
Vol. 6, 1905.
No. 12, Dec
ABSIT INVIDIA
The INDIAN REVIEW.
Contents.
SWAMI
VIVEKANANDA
AN
Exhaustive Collection
OF HIS
SPEECHES & WRITINGS
Rs. 2.
TO SUBSCRIBERS OF THE
INDIAN REVIEW RS. 1-8.
ANNUAL
Subscription
INDIAN
Rs. 5 (Five).
PUBLISHED BY
G. A. NATESAN & Co.,
Esplanade, Madras.
FOREIGN...10/-
AMERICA
Three Dollars.
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Contents.

CONCESSION WILL POSITIVELY BE WITHDRAWN ON THE 31st JAN. 1906.

Swami Vivekananda

Crown 8vo., 650 pages.

AN EXHAUSTIVE AND COMPREHENSIVE COLLECTION OF HIS

Speeches and Writings,

With Portraits of Swami Vivekananda in three different postures; Sri Ramakrishna Paramahamsa, Swami Brahmananda, and pictures of the Belur Mutt and the Dakshineswar Temple, Calcutta.

PUBLISHERS' NOTE.

THIS publication is the first of its kind. It is the most exhaustive and comprehensive collection of the works of Swami Vivekananda hitherto published. It contains, among others, his eloquent character sketch of "My Master"; his celebrated lecture at the great Parliament of Religions at Chicago; all the important and valuable speeches, addresses, and discourses delivered in England, America and India on Gnana Yoga, Bhakti Yoga, Karma Yoga, Vedanta and Hinduism; selections from the eloquent, stirring and inspiring speeches he gave in reply to addresses of welcome that were presented to him at different towns and cities in India during his historic journey from Colombo to Almora, on his return from America; a choice collection of the contributions of the Swami to various papers and periodicals hitherto not available in book form; some of his private letters to friends; and a selection from the beautiful poetry that he wrote in the true spirit of the seer.

The publishers propose to issue at no distant date a companion volume to the present containing a collection of the speeches and writings of the members of the brotherhood of the Ramakrishna Mission of which the late Swami was so distinguished a representative.

Detailed Contents :—The Song of the Sanyasin; My Master 1; Address at the Parliament of Religions 38; Reply to Addresses of Congratulations from Madras and Calcutta 64; Karma-Yoga 93; Metaphysics in India; Reincarnation 119; Immortality 139; Is the Soul Immortal? 157; The Freedom of the Soul 163; Maya and Illusion 184; Maya and the Conception of God 210; Maya and Freedom 229; The Real and the Apparent Man 246; The Absolute and Manifestation 271; Unity in Diversity 293; The Cosmos: The Macrocosm 313; The Cosmos: The Microcosm 328; Realization 349; The Ideal of a Universal Religion 379; God in Everything 408; Bhakti or Devotion 424; Vedanta 448; The Vedanta in Indian Life 504; The Mission of the Vedanta 532; The Sages of India 564; Christ, The Messenger 593; The Relation of Buddhism to Hinduism 615; The True Method of Social Reform 619; The Reform of Caste 630; Education on National Lines 639; The Conquest of the World by Indian Thought 644; The Himalayas 650; Max Müller—A Vedantist 653; Japan 657; To a Friend 660; The Hymn of Creation 664; And Let Shyama Dance there 666; To the Awakened India 671.

Cloth bound, Price, Rs. TWO.

Note.—As the book has exceeded the original estimate of 500 pages and now occupies over 650 pages, subscribers of the Review who wish to avail themselves of the concession rate, should purchase copies at once as the reduced rate will shortly be withdrawn, and thereafter the price of the book will be Rs. Two to all alike. Each subscriber can have only one copy and should quote his Register number when ordering.

To Subscribers of the "Indian Review", Re. 1 As. 8.

The annual subscription to "THE INDIAN REVIEW" is Rs. 5 (five). Subscription can commence from any month. Any one who wishes to buy books at the reduced rates must remit Rs. 5, one year's subscription to the Review in advance. Those that are in arrears cannot have concession rates.

Apply to—G. A. NATESAN & Co., PRINTERS & PUBLISHERS, ...

THE ILLUSTRATED CHAMBERS'S ENCYCLOPÆDIA.

This Latest and Most Magnificent Edition is the only one enriched with Coloured Plates.

An Encyclopædia is absolutely necessary.

Knowledge is increasing so rapidly and in so many directions that it is impossible for any one to study thoroughly more than one or two subjects. An intelligent person who wishes to be well-informed has no time to read all that is published upon any given branch of knowledge, but must depend on prepared summaries which can be mastered in a few minutes, or at most in a few hours.

Hence the necessity for an Encyclopædia. But an unreliable Encyclopædia is worse than useless and every day indifferent and out-of-date books are being offered to the public. The question then is—

Which is the best Encyclopædia.

Our reply is, of course, "Chambers's." But as we are sellers, and therefore prejudiced, take the opinion of those qualified to judge.

SIR WALTER BESANT.

"A library must contain books of reference. Without books of reference one is constantly stranded, and the most important thing is a good Encyclopædia of reference." Put down, therefore, on your list, as something to be bought at the very first opportunity, a good Encyclopædia. For my own part I found the 'Encyclopædia Britannica' too large for the space which I could afford on my shelves. I, therefore, bought Chambers's Encyclopædia, which takes up a third of the room and is a most excellent and trustworthy compendium of knowledge. I cannot imagine any difficulty which the ordinary reader is likely to encounter which this work would not meet."

Mr. T. P. O'CONNOR, M.P.

"Chambers's is the best Encyclopædia in the language."

THE ILLUSTRATED CHAMBERS'S ENCYCLOPÆDIA

consists of

TEN HANDSOME VOLUMES,

Beautifully bound in half leather, marble edges.

200,000 SUBJECTS

WITH CROSS REFERENCES.

Over

8,000 PAGES

of new clear type, written by

1,000 CONTRIBUTORS

of world-wide distinction. There are

4,000 ENGRAVINGS

superbly reproduced.

50 COLOURED MAPS,

each one absolutely up to date and in conformity with the latest investigation and research.

There are also

OVER 60 COLOURED PLATES,

the finest ever produced in connection with any work of reference.

This is not a reprint of an old work; it is absolutely new and up-to-date.

All the Articles are written by Specialists.

Below are a few names taken from a list of over a thousand contributors, whose weight of authority there is no gainsaying;

Andrew Lang, Dr. Richard Garnett, Grant Allen, Holman Hunt, Justin McCarthy, Dr. Andrew Wilson, Gladstone, Pasteur, Bramwell Booth, Prof. Henry Drummond, Dean Farrar, W. T Stead, Prince Kuropatkin, Mrs. Besant, The Duke of Argyll, The Marquis of Bute, G. J. Holyoake, W. E. Henley, Edison, Hugh Price Hughes, Rt. Rev. Dr. Gasquet, Lord Brassey, Mrs. Fawcett, Sir Chas. Warren, Sir Isaac Pitman, Sir E. F. du Cane, Florence Nightingale, Jesse Collings, M.P., Sir C. Dilke, M.P., Sir Wilfrid Lawson, M.P., Sir E. N. C. Braddon, Sir W. H. Bruce, Lord Kingsburgh.

The man who goes to the Illustrated Chambers's knows whose authority he is relying on.

10 Vols., cloth, Rs. 75. *To Subscribers of the "Indian Review," Rs. 65.*

Orders must be accompanied with a remittance of Rs. 15.

The annual subscription to "THE INDIAN REVIEW" is Rs. 5 (five.) Subscription can commence from any month. Any one who wishes to buy books at the reduced rates must remit Rs. 5, one year's subscription to the Review in advance. Those that are in arrears cannot have concession rates.

Apply to—G. A. NATESAN & Co., BOOK-SELLERS, ESPLANADE, MADRAS.

UNWIN'S.

Indians in South Africa. The book which gives a reliable account of the grievances and position of our countrymen in South Africa is "Labour and other questions in South Africa." By "Indicus." *Crown 8vo., cloth. Rs. 2-10.*

The author has resided in India for many years, and was greatly astonished at the treatment meted out to Indians in South Africa. He doubts whether it is realised in Great Britain that the coloured subjects of His Majesty, who in India rise to the highest positions, are not allowed to be carpenters, tailors, or blacksmiths in South Africa, nor does he believe that it is known how much Natal owes to this industrious and law-abiding people. In the words of one of themselves, not a cabbage was grown in Natal until they arrived. The author's object in writing the book is to call attention to the unjust and impolitic way in which Indians are treated in South Africa, but there are numerous sidelights on the state of affairs in South Africa, one of which, the preponderance of emigrants from South-Eastern Europe of a very undesirable class, may perhaps be mentioned.

Patriotism under Three Flags: A Plea for Rationalism in Politics. By Ralph Lane. *Crown 8vo., Cloth. Rs. 4-8.*

The Story of Japan. By David Murray, with many Illustrations and a War Map and a special supplementary chapter on "Japan since 1890." Rs. 3-2. This is an excellent book belonging to the "Story of the Nations" Series.

Labour and Protection. Essays edited by H. W. Massingham. Political Dangers of Protection; Protection as a Working Class Policy; In the Days of Protection; The Workman's Cupboard: The Co-operative Housewife; The People on the Margin; Protection and the Staple Trades; and other essays. Rs. 4-8.

A Modern Utopia. By H. G. Wells. Rs. 1-8.

CONTENTS:—The Owner of the Voice, Topographical; Concerning Freedoms; Utopian Economics; The Voice of Nature; Failure in Modern Utopia; Women in a Modern Utopia; A few Utopian Impressions; My Utopian Self; The Samurai Race in Utopia; The Bubble Burst; Scepticism of the Instrument.

The Perils of Sympathy By Nina Stevens. *Crwn 8vo., [Red Cloth Library].* Rs. 1-4.

This story is worked out in Europe and in India. Pictures are given of the life led by Anglo-Indians in Calcutta and in up-country stations. The book brings vividly before the reader the loneliness suffered by men in the small sub-divisional stations of Bengal, the monotony of life at headquarters and the glitter and gaiety of a Calcutta season. One of the leading ladies is the daughter of an English gentleman of the cultured classes who in his loneliness married an ayah. Beautiful but soulless she bears the defects of her mother's upbringing though she has the tastes and good looks of her father. In sharp contrast, the heroine, a struggling artist, shows the heights of unselfishness to which the love of woman can rise. After many vicissitudes here, love is rewarded.

British Industries under Free Trade. Essays by members of leading English firms. Edited by Harold Cox, *Secretary of the Cobden Club.* Linen by Sir R. Lloyd Paterson; Wool by Sir Swire Smith; Cotton by Elijah Helm; Grocery by J. Innes Rogers; Alkali by Alfred Mond; Coal by D. A. Thomas; Tramp Shipping by Walter Runciman; Shipping Liners by M. Ll. Davies; Cutlery by F. Callis; Soap by A. H. Scott; Silk by Mathan Blair., etc. Rs. 4-8.

Through Town and Jungle: Fourteen Thousand Miles a wheel among the Temples & People of the Indian Plain. By William Hunter Workman and Fanny Bullock Workman. With 200 Illustrations. *Super Royal 8vo., cloth.* Rs. 15-12.

The Insane Root: A Tale of Eastern Magic. By Mrs. Campbell Praed. Crown 8vo., cloth Rs. 4-8.

"The fascination of the book remains with us and is not easily shaken off."—*Daily Telegraph.*

London at School: The Story of the School Board 1870-1904. By Hugh B. Philpott. With an Introductory Chapter, fully Illustrated. Crown 8vo, cloth. Rs. 3-12.

An Editor's Sermons. By Sir E. Russell. Contents:—Introduction, Advent, Christmas, Ash Wednesday, Lent, Good Friday, Easter Sunday, Whit-Sunday, Trinity Sunday, Church and State. A Franker Erastianism. The reform of Convocation. The gift of Prayer, Church-going, High-mindedness, etc. Rs. 4-8.

G. A. NATESAN & Co., BOOK-SELLERS, ESPLANADE, MADRAS.

T. Fisher Unvin, LONDON.

Chambers's Etymological Dictionary of the English Language. (The People's Edition), Pronouncing, Explanatory and Etymological.

CONTENTS :—Explanations to the student; Supplementary Glossary of obsolete and rare words and meanings in Milton's Poetical Works; Prefixes and Suffixes; Table of Divisions of the Aryan Languages; Grimm's Law; Etymology of names of places, etc.; Words and phrases from the Latin, the Greek, and modern foreign Languages; List of abbreviations; Pronouncing Vocabulary of Scripture proper names; Select List of Mythological and Classical names; The Metric System. Price As. 12.

Chambers's School Atlas of modern and ancient Geography for use in Schools and for general reference with a descriptive index.

CONTENTS :—World in Hemispheres; Europe (with 18 subdivisions), Asia (with 6 subdivisions), Australasia (with 2 subdivisions), Africa, North America (with 5 subdivisions), South America, world as known to the ancients. Price Rs. 3-2.

The Book of Days.—A miscellany of Popular Antiquities in connection with the Calendar, including Anecdote, Biography, and History, Curiosities of Literature and oddities of Human Life and Character. Edited by R. Chambers in two Vols. Price Rs. 15-12.

Contents: (1) Matters connected with the Church Calendar, including the Popular Festivals, Saints Days, and other Holidays, with illustrations of Christian Antiquities in general; (2) Phenomena connected with the seasonal changes; (3) Folklore of the United Kingdom—namely, Popular Notions and Observances connected with Times and Seasons; (4) Notable Events, Biographies, and Anecdotes connected with the Days of the Year; (5) Articles of Popular Archæology, of an entertaining character, tending to illustrate the progress of Civilisation, Manners, Literature and Ideas in these kingdoms; (6) Curious, Fugitive, and unedited.

Chambers's Cyclopædia of English Literature. An entirely new edition, edited by David Patric, LL.D. In three Handsome Vols., Imp. 8vo. cloth. Illustrated with nearly Three Hundred Portraits, specially reproduced for this book from the most authentic Paintings and Engravings known. A History Critical and Biographical of authors in the English tongue from the earliest times till the present day with specimens of their writings. Price Rs. 23-10.

Chambers's Twentieth Century Dictionary of the English Language. Rs. 2.—"This marvellously cheap book, Pronouncing, Explanatory, Etymological, contains twelve hundred thousand references, all the most recent words as well as technical and scientific terms. It is copiously illustrated and embodies the latest scholarship. Supersedes all other cheap dictionaries."—*British Weekly.*

"A miracle of scholarship and cheapness."—*Journal of Education* Price Rs. 2.

Chambers's Concise. Gazetteer of the World, Topographical, Statistical, Historical, Pronouncing. 768 pages. Cloth. Price Rs. 6.

The Times says:—"Contains a really prodigious amount of information about many thousands of places."

Temperance Progress of the Nineteenth Century.—By John G. Woolley, M.A., and William E. Johnson. Price Rs. 3-12.

Political Progress of the Nineteenth Century.—By Thomas Macknight. Revised and completed by C. C. Osborne. Price Rs. 3-12.

BOOKS ON AGRICULTURE.

Agriculture. By R. Hedger Wallace. This book has been written with the object of placing before the student and reader a simple statement of the Principles of Agriculture, based on general practice and not restricted to any specified country or adapted to special climatic or other conditions. Price Rs. 2-5.

Agriculture. By W. T. Lawrence. This work covers the whole of the elementary course and the advanced course with the exception of stock-breeding and the optional sections. Rs. 1-8.

Principles of Agriculture. By W. T. Lawrence containing the principles influencing the supply of plant-food in the soil, the necessity for cultivation, and the circumstances making tillage more or less effective. 'The principles regulating the more or less perfect supply of plant-food.' Manures as supplemental sources of plant-food and 'the principles regulating the growth of crops.' Price As. 10.

Apply to—G. A. NATESAN & Co., BOOK-SELLERS, ESPLANADE, MADRAS.

W. R. CHAMBERS, LONDON.

LAURIE'S.

"THE FIRST BOOK ON THE WAR."

The Campaign with Kuropatkin.

BY DOUGLAS STORY.

Demy 8vo., with 48 illustrations from the author's photographs, cloth gilt, 368 pages.

Price Rs. 7-14.

The Complete Bridge Player. By Edwyn Anthony ("Cut Cavendish"), 320 pages. (*With the revised laws of bridge and comments thereon*) Crown 8vo. Price Rs. 2-3.

Iconoclasts: A Book of Dramatists. Illuminating critical studies of modern revolutionary playwrights. By James Huneker. Crown 8vo.

Henrik Ibsen. August Strindberg. Henry Becque. Gerhart Hauptmann. Paul Hervieu. The Quintessence of Shaw. Maxim Gorky's Nachtasyl. Hermann Sudermann. Princess Mathilde's Play. Duse and D'Annunzio. Villiers de l'Isle Adam. Maurice Maeterlinck. Price Rs. 5-4.

The Works Of Horace. Translated into English by C. Smart. With notes and a memoir. With photogravure frontispiece, Crown 8vo., cloth gilt, Price Rs. 2-3-0.

Pictures in Umbria. By Katharine S. Macquoid. With 50 original illustrations by Thomas R. Macquoid, R. I. Price Rs. 5-4.

"Pictures in Umbria" gives an account of the marvellous old hill cities—Perugia, Assisi, and others—and endeavours to convey the charm of the scenery around them, to describe the Art treasures they contain, and to recall the associations interwoven with their history.

The Catherdrals of Northern France. By Francis Miltoun. With 80 illustrations from original drawings, and many minor decorations, by Blanche McManus. Vol. I decorative cover, Cloth gilt. Price Rs. 5-4.

The Cathedrals of Southern France. By Francis Miltoun. With 90 illustrations from original drawings, and many minor decorations, plans, and diagrams by Blanche McManus, decorative cover, 568 pages, Cloth gilt. Price Rs. 5-4.

The Cathedrals of England. An account of some of their distinguishing characteristics; together with brief historical and biographical sketches of their most noted bishops, with 30 full-page plates. By Mary Taber. 296 pages, Cloth gilt. Price Rs. 5-4.

T. WERNER LAURIE, LONDON.

Literary Gems. As 12 Each.

A dainty series of literary gems carefully printed on very thin, but opaque paper of the fine quality and tastefully bound in linen cloth, extra guilt. (Pocket Library.)

Emerson's Poems.
Lays of Ancient Rome.
Paradise Lost.
E. B. Browning's Poems.
R. Browning's Dramatic Romances and Lyrics.
Gray's Poems.
Bret Harte's Poems.
Wordsworth's Early Poems.
Matthew Arnold's Poems.
Poet at the Breakfast Table.
Professor at the Breakfast Table.
Sketch Book of Washington Irving.
Book of Humour, Wit and Wisdom.
Lamb's Essays of Elia.
Bacon's Essays.
Holmes' Autocrat of the Breakfast Table.
The Biglow Papers.
The Coming Race.

The Muses' Library.

As. 12 A Volume.

This collection forms a fascinating series of British poetry, in which the works of each author are edited with notes and introduction by a leading literature, the series being under the general supervision of Mr. A. H. Bullen, the Elizabethan scholar and critic; pott 8vo., cloth extra, full gilt back.

PATMORE COVENTRY: The Angel in the House, and The Victories of Love. With an Introduction by Alice Meynell, Vol. I.

VAUGHAN'S POETICAL WORKS, with introduction by Canon Beeching and notes by E. K. Chambers. 2 vols.

DONNE'S POETICAL WORKS, with introduction by Prof. George Saintsbury and notes by E. K. Chambers. 2 vols.

DRUMMOND OF HAWTHORNDEN'S POETICAL WORKS, edited by W. C. Ward. 2 vols.

POE: POLITICAL WORKS. With the Poetic Principle, the Philosophy of Composition and the Power of Words. With a Biographical Sketch by N. H. Dole.

Apply to—G. A. NATESAN & CO., ESPLANADE, MADRAS.

JAPAN.

THE STANDARD BOOK ON JAPAN.

" DAI NIPPON."

Dai Nippon.

Price Rs. 9-6.

The Britain of the East. A study in National Evolution. By Henry Dyer, with chapters on—Fall of Feudalism. The Japanese mind; Transition; Education; Army and Navy; Means of communication; Industrial developments; Commerce; Art; Industries; Colonisation and Emigration; Constitutional Government; Administration; Finance; International relations; Foreign politics; Social results; The future; Recent events; and appendices on Treaty of Alliance with Great Britain, etc.

THE UNIVERSE.

Or, The Infinitely Great and the Infinitely Little. By F. A. Pouchet, M.D. Revised and edited by J. R. Ainsworth Davis, M.A., Professor of Biology and Geology in University College, Aberystwyth. Illustrated by 269 Engravings on Wood and 7 Coloured Pictures. Cloth gilt edges. Rs. 5-10-0.

The Universe has long since attained the position of a standard work. As the title indicates, the author has gathered his material from Creation at large, often contrasting the smallest of its productions with the mightiest. It is not a learned treatise, but a simple study. The rapid progress of science has, however, rendered a portion of the author's work no longer consistent with our later knowledge, and in this new edition the whole book has been carefully revised and brought up to date.

"We can honestly commend this work, which is admirably, as it is copiously, illustrated."—*The Times.*

KOBO

A Story of the Russo-Japanese War, fully illustrated, by William Rainey, R. I., with a Map of Korea and part of Manchuria and a Plan of the Battle of Yalu River. The reader will learn in these thrilling pages how Kobo subsequently sacrificed himself in his country's cause. Price Rs. 3-12.

Stirring Events of History. Re. 1-14-0 Incidents drawn from times and countries wide apart, the aim being to present the young reader with a series of historical pictures instructive in themselves, and thus to induce a taste for further reading.

The World of Annimal Life: Edited by Fred Smith. Profusely illustrated with Engravings. An admirable volume for the young mind enquiring after nature. Rs. 3-12.

Sturdy and Strong. By G.A. Henty. Re. 1-14-0.

The aim of the story is to show how steadfastness, truth, and watchfulness may aid a lad to win his way through the greatest difficulties, and be of assistance to others in the endeavour.

Autobiographies of Boyhood. As. 10.

CONTENTS:—(1) William Hutton, (2) Thomas Holowft, (3) William Gifford (4) Walter Scott. (5) Leigh Hunt.

Apply to:—G. A. NATESAN & Co., Printers and Publishers, Esplanade Madras.

BLACKIE & SON., Ltd., Warwick House, Bombay, London, Glasgow, & Dublin.

Routledge's PRIZE BOOKS.

Rubaiyat of Omar Khayyam, translated by Edward Fitzgerald with four beautiful illustrations by Jessie M. King. As. 6.

The Dictionary of Statistics.—By Michael G. Mulhall. Rs. 15-12.

Part 1.—Comprehends all statistics from the earliest times. Part II—Since 1890.

THE WORLD'S OPINIONS.—Emile de lauege—"This admirable dictionary." Leroy Beaulieu—"The quintessence of statistics." Baron Malortie—"His statistics are most reliable." Neumann Spallart—"History of Prices is accurate."

Buckle's History of Civilization. Edited with all the Author's Notes, by John M. Robertson, with additional Notes and Introduction. Rs. 3-12.

"Messrs. Routledge are to be congratulated on bringing out Buckle's 'History of Civilization' at a cheap price in one volume.... Numerous notes are added by the Editor with the object of correcting the matter and bringing it up to date."—*Athenæm.*

A Japanese Utopia. A descriptive life of a Japanese Seaman. By Leonard A. Magnas. As. 10.

Dictionary of Trade Products. Manufacturing and technical terms, moneys, weights and measures of *all countries* by P. L. Simmonds. This Dictionary may be considered an "Encyclopædia in brief," and a necessary accessory for the counting house, or on the library table. Rs. 1-14.

Pronouncing Dictionary of the English Language. By P. Austin Nuttall, LL.D., with a Dictionary appendix comprising (1) foreign and classical words; (2) abbreviations used in writing and printing; and (3) a selection of familiar sayings. Rs. 2.

Heroes of the Laboratory and the Workshop. By C. E. Brightwell. In this book are given a variety of short notices of men, most of whom laboured in the mechanical arts; among them, are four or five names devoted to science, but they may truly be numbered as "working men": and they all rose to eminence solely by the force of their own talent and energy, while many of the fruits of their researches were turned to practical account in the service of the industrial arts. CONTENTS:—R. Arkwright; C. L. Bethollet; J. Brindley; W. Caxton; B. Cellini; Sir H. Davy; S. Erard; Graham and Brequet—watch and clock-makers; Richard Lenoir, etc., etc. As. 10.

A Collection of Books useful for Presentation, Bound in Calico and Gilt Edges.

PRICE ANNAS TEN EACH.

Life of Nelson. By Robert Southey.

Tales from Shakespeare. By Charles Lamb.

From Log Cabin to the White House. By William M. Thayer.

Gulliver's Travels. By Jonathan Swift.

Sandford and Merton. By Thomas Day.

Vicar of Wakefield. By Oliver Goldsmith.

Beauties of Shakespeare. By Rev. W. Dodd.

Story of Nelson and Wellington with 15 illustrations.

Story of Napolean Bonaparte with 12 illustrations.

Duty and Affection, or Drummer boy with frontispiece. By W. S. Stacey.

The Story of Watt and Stephenson with 14 illustrations.

The Story of Howard and Oberlin with 7 illustrations.

The Story of the Life of Sir Walter Scott. By Robert Chambers, LL.D.

Easy Poetry for Children, a selection from the best authors containing 20 poetry pieces.

General Gordon. By Archibald Forbes.

Early Lessons. By Maria Edgeworth.

Swiss Family Robinson.

Adventures in India. By William H. G. Kingston.

Pilgrim's Progress. By John Bunyan.

Robinson Crusœ. By Daniel Defoe.

Evenings at Home. Containing new impressions with a frontispiece and 100 illustrations.

Emma. By Jane Austen.

Heroes of the Workshop. By C. L. Brightwell.

William Shakespeare (The story of his life and times). By Evan J. Cuthbertson.

Tennyson (The story of his life). By Evan J. Cuthbertson.

General Gordon and Lord Dundonald: being the stories of two heroic lives.

Thomas Alva Edison (The telegraph boy who became a great inventor). By E. C. Kenyon.

Nansen and the Frozen Earth with reminiscences of Arctic exploration. By John Black.

Apply to—G. A. NATESAN & Co., PRINTERS & PUBLISHERS, ESPLANADE, MADRAS.

George Routledge & Sons, Limited, London.

NEWNES'.

The Japs at Home. By Douglas Sladen. With 8 illustrations from Photographs of Japanese Life and Scenery. CONTENTS:—Street Life in Yokohama—In Yokohama, a Week Later—The Temples of Shiba—The Maple Club and its Dancing Girls—Christmas Day in Yokohama—New Year's Eve in Japan—The New Year Festival in Japan—Japanese Firemen—Japanese Wrestling—Seeing the Giant Feed—Sir Edwin Arnold at Home in Japan—The Plum Trees of the Sleeping Dragon—At Nagasaki—Japanese Women—What the Japanese themselves think of Women—Curio Shops and Curio Stalls—At a Japanese Funeral—Japanese Novels—The Opening of the Japanese Exhibition at Tokyo (Ueno)—The Martyrdom of a Missionary—To Kobe, for the Mikado's Naval Review—Kyoto during the English Royal Visit—Down the Rapids with the Duke of Connaught—Danjuro and the Japanese Theatre—Tea Houses and Tea Gardens—The Golden Shrines of Nikko—"English as She is Spoke" in Japan—Theatres and Variety Shows in Japan, etc., etc. Price As. Six.

Imperial Japan. The Country and its People by G. W. Knox, with a number of illustrations. CONTENTS:—The Tradition; Asiatic Civilisation; Feudal Wars; The Awakening; Buddhism; The Religion of the Common People; Confucianism; The Religion of Educated Men; Philosophy for the People; The War of the 'Samurai'; The Life of Samurai' in Old Japan; The Life of 'Samurai' in New Japan; The Common People; Farmers, Artisans and Artists; Merchants, Women and Servants; Language, Literature and Education; Tokyo, with an introductory chapter on 'The Point of view.' Price Rs. 5-10.

The Sowers. By Henry Seton Merriman. This absorbingly interesting story by that most popular writer, the late Mr. Merriman, will be found very difficult to lay down until its last page has been turned. The scene is laid partly in England and partly in Russia. The story of a Secret Society is mixed up with the main incidents of the narrative, thus making the book full of colour, emotion and adventure. Besides being written in Mr. Merriman's most fascinating manner, "The Sowers" throws considerable light on several phases of Russian life and society. Mr. A. S. Hartrich contributes eight excellent illustrations to the volume. Price As. 6.

All about Animals. For Old and Young Popular, interesting and amusing. With 240 large and beautiful Illustrations. Price Rs. 9-6.

STANDARD ATLASES.

:o:

The International Student's Atlas of Modern Geography:—A Series of 105 Physical, Political, and Statistical Maps, compiled from British and Foreign Surveys, and the latest results of International Research, under the direction of J. G. Bartholomew, F.R.S.E., F.R.G.S., etc. Royal 4to. cloth. Price Rs. 4-8.

Daily Telegraph.—"The moderate price of this publication, the clearness of its printing, and the vast amount of detailed information, physical, political, and statistical make it a boon to all students of the world's contemporary history."

The International Geography:—By Seventy Authors. Edited by Hugh Robert Mill, D.Sc., F.R.S.E. With 488 Illustrations. Third Edition, Revised. Demy 8vo. Cloth Price, Rs. 11-4.

The Handy Shilling Atlas of the World:—Containing 120 pages of Fully Coloured Maps, by J. G. Bartholomew, and a Gazetteer with 10,000 entries, Pott. 8vo., 6in. by 4in., cloth. As 14.

The Handy Atlas of the British Empire:—By J. G. Bartholomew, F.R.S.E. A series of 100 Maps and Plans illustrating the Geography of the Colonies, with Statistical Notes and Tables. Cloth. Price As. 12.

The Survey Gazetteer of the British Isles.—Topographical Statistical, and Commercial. Compiled from the 1901 Census and the latest Official Returns. Edited by J. G. Bartholomew, F.R.S.E. With numerous Statistical Appendices and 64 Special Maps in Chromo-Lithography.

A complete index of all places of importance or interest in the country, a descriptive and statistical summary of the geographical features of Great Britain and Ireland. The present work is based on the 96 volumes containing the Census of 1901, together with the 696 sheets of the Ordnance Survey of the United Kingdom. It also incorporates the substance of all the principal works on British Topography, Statistics and Commerce. It deals with nearly 50,000 different places. The series of new maps—physical, commercial, demographic, political, and topographical, is quite an atlas in itself. Imperial 8vo., cloth. Price Rs. 13-2.

School Atlas.—Thirty-One Quarto and Three Folio coloured Maps; with a copious Index, Cloth. Price Rs. 3-2.

Apply to—G. A. NATESAN & Co., PRINTERS & PUBLISHERS, ESPLANADE, MADRAS.

George Newnes, Limited, LONDON.

Thin Paper Classics.

—:o:—

Price Rs. 2-4-0 each Vol.

These charming and portable volumes are small enough for the pocket (6¾ in. by 4 in. and ¾ in. thick), yet large enough for the bookshelf. Printed in large type on a thin but thoroughly opaque paper, with Photogravure Frontispiece and Title-page to each Volume, printed on Japanese Vellum, and in a dainty binding. They make reading a real pleasure.

Shakespeare's Plays and Poems.

With Glossary, 3 vols. Vol. 1, Comedies. Vol. 2, Histories and Poems. Vol. 3, Tragedies.

The Life of Samuel Johnson, LL.D.

By JAMES BOSWELL. 2 vols.

Herrick's Hesperides and Noble Numbers.

With Illustrations. By REGINALD SAVAGE. 2 vols.

Homer's Iliads.

Translated by GEORGE CHAPMAN.

Poems of William Wordsworth.

Edited by Professor KNIGHT.

The Poems of John Keats.

The Works of Charles Lamb.

Containing the Essays of Elia, Last Essays of Elia, Miscellaneous Essays, Dramatic Writings and Poems.

The Poems of Samuel Taylor Coleridge.

Edited by Professor KNIGHT.

The Poems of John Milton.

New England Romances.

By NATHANIEL HAWTHORNE. Containing The Scarlet Letter, The House of Seven Gables, and The Blythedale Romance.

The Poems of Percy Bysshe Shelley.

The Serious Poems of Thomas Hood.

With Illustrations by H. GRANVILLE FELL. (Caxton series.) Re. 1-14-0.

☛ *Of these books, the "Daily Mail" says:—*

"They are tall enough for the bookshelf, small enough for the pocket, handsome enough for the drawing-room, and cheap enough for anybody."

Fine Arts.

—:o:—

G. F. Watts.

By Romualdo Pantini.

Contains about 64 full-page Illustrations in monochrome, and a frontispiece in photogravure.

The text is mainly biographical and descriptive, and includes a list of the principal works of the artist under consideration.

Bound in quarter vellum, with artistic paper sides. Price Rs. 2-10-0.

Drawings of Great Masters.—

These volumes contain about 48 Illustrations on a large scale. Many of the reproductions are printed in tints and mounted on a paper to harmonise with the tints. The books are bound in delicately tinted paper boards with vellum backs. The beautiful binding design of the series has been made by Mr. Granville Fell and is printed in three colours.

Burne Jones.
Albrecht Durer.
Holbein.
} Price. Rs. 5-10-0 each.

Classic Myths in Art. By Julia Addison. Illustrated with 40 plate reproductions from famous Painters. Crown 8vo, cloth gilt. Price Rs. 5-4.

An interesting account of Greek myths, illustrated from the works of great artists. The most interesting myths of literature are represented and illustrated from the works of ancient sculptors or more modern paintings.

"I can recommend this book to all readers who appreciate a fresh and vigorous story of romance and war, told with a freshness of touch which is becoming more and more rare in modern fiction."—*T. P.'s. Weekly.*

"Mrs. Chesson is to be congratulated on her first novel. This is a book of great promise and of a considerable performance."—*Athenæum.*

RAVIVARMA—THE INDIAN ARTIST.

This is a sumptuous volume which outlines the story of this famous Indian artist and furnishes portraits of the two brothers. We can imagine no more suitable gift book for Hindus or Europeans who are interested in Indian art and***there are many who in making choice of presents could not do better than select this really unique work which is moderately priced at five rupees. A very useful appendix furnishes notes on the subjects of the different pictures reproduced and will materially aid the reader who is ignorant of the Sanskrit stories from which the artist draws his themes. **Rs. Five.**

Apply to—G. A. NATESAN & Co., PRINTERS & PUBLISHERS, ESPLANADE, MADRAS.

HANDY SIX PENNY NOVELS.

Many of these books are illustrated by the most famous black-and-white artists of the day.

Price Annas Five each.

HARRISON AINSWORTH.

Auriol.
Crichton.
Flitch of Bacon.
Guy Fawkes.
Jack Sheppard
James II.
Lancashire Witches.
Mervyn Clitheroe.
Miser's Daughter.
Old St. Paul's.
Ovingdean Grange.
Rookwood.
St. James's.
Spendthrift.
Star Chamber
Tower of London.
Windsor Castle.

CHARLES DICKENS.

The Chimes.
Christmas Carol.
Cricket on the Hearth.
Martin Chuzzlewit.
Old Curiosity Shop.
Oliver Twist
Sketches by Boz.
American Notes.

VICTOR HUGO.

By Order of the King (The Man who Laughs).
Ninety-Three.
Toilers of the Sea.

CHARLES KINGSLEY.

Alton Locke.
Hypatia.
Yeast.

LORD LYTTON.

Alice.
Caxtons.
Coming Race.
Devereux.
Disowned.
Ernest Maltravers.
Eugene Aram.
Falkland and Zicci.
Godolphin.
Harold.
Kenelm Chillingly.
Last of the Barons.
Leila, and Pilgrims of Rhine.
Lucretia.
My Novel, 2 vols.
Night and Morning.
Parisians, 2 vols.
Paul Clifford.
Pelham.
Rienzi
Strange Story.
What Will He Do With It ?
2 vols.
Zanoni.

JANE AUSTEN.

Pride and Prejudice.
Sense and Sensibility.

CAPTAIN MARRYAT.

Children of the New Forest.
Dog-Fiend.
Frank Mildmay.
Jacob Faithful.
Japhet in Search of a Father.
King's Own.
Little Savage.
Masterman Ready.
Midshipman Easy.
Monsieur Violet.
Newton Forster.
Olla Podrida.
Pacha of Many Tales.
Percival Keene.
Peter Simple.
Phantom Ship.
Pirate, and Three Cutters.
Poacher.
Poor Jack.
Privateersman.
Rattlin the Reefer.
Scenes in Africa (The Mission).
Settlers in Canada.
Valerie.

SIR WALTER SCOTT.

Anne of Geierstein.
The Antiquary.
Bride of Lammermoor.
Fair Maid of Perth.
Guy Mannering.
Heart of Midlothian.
Kenilworth.
The Pirate.
Rob Roy.
St. Roman's Well.
Waverley.
Woodstock.

SAMUEL LOVER.

Handy Andy.

TOBIAS SMOLLETT.

Humphry Clinker.
Peregrine Pickle, 2 vols.
Roderick Random.

DEAN SWIFT.

Gulliver's Travels.

W. M. THACKERAY.

The History of Henry Esmond.

ALEXANDRE DUMAS.

Monte Cristo, 2 vols.
Three Musketeers.
Queen's Necklace.
Forty-five Guardsmen.

DANIEL DEFOE.

Robinson Crusoe.

DOUGLAS JERROLD.

Mrs. Caudle's Curtain Lectures.

ANONYMOUS.

Swiss Family Robinson.
Anderson's Fairy Tales.
Æsop's Fables.
Uncle Tom's Cabin.

Price Annas 6 each.

DETECTIVE NOVELS.

7 to 12 : A Detective Story
Shadowed by three. L. L. Lynch
Strange Disappearance
Vidocq, the French Spy
Widow Lerouge. E. Gaborian
Behind Closed Doors
Crime in the Office. Albert E.
Radium and the Detective
A Matter of Millions
Forsaken Inn. Anna K. Green
Belgrave Mystery. Treve Roscoe
Poison, Romance and Mysteries
Pit-Town Coronet. C. J. Wills
Great Hesper Mystery
Hulk of the Hidden Blood
Cash on Delivery. Du Boisgobey
Condemned Door. Du Boisgobey
Diamond Coterie. L. L. Lynch
File, No. 113. E. Gaborian
Leavenworth Case. Anna K. Green
Marie de Brinvilliers. E. Gaborian
Mill Mystery. Anna K. Green
Mystery of Orcival. E. Gaborian.

A. CONAN DOYLE.

Adventures of Sherlock Holmes.
The Sign of Four.
Uncle Bernac.
Micah Clarke.
The White Company.
The Exploits of Brigadier Gerard.
The Tragedy of the Korosko.
Rodney Stone.
Memoirs of Sherlock Holmes.
The Green Flag and other stories.

NEWNES' SIXPENNY NOVELS.

For God and the Czar. J.E. Muddock.
A deal with the Devil. E. Phillpotts.
One Life one Love. Miss Braddon.
Memoirs of a Mother-in-law. R. Sims.
Miss Cayley's Adventures. Grant Allen
Hilda Wade. Grant Allen.
What's Bred in the Bone. Grant Allen.
An African Millionaire. Grant Allen.
In the Heart of the Storm. Maxwell Gray.
Dr. Therne. H. Rider Haggard.
Jess. A story of the Boer War. Rider Haggard.
She. H. Rider Haggard.
Robert Elsmere. Mrs. Humphry Ward.
The History of David Grieve. Mrs. Ward.
Marcella. Mrs. Humphry Ward.
John Herring Rev. S. Baring Gould.
A Millionaire's Love Story. Guy Boothby.
Mystery of the Clasped Hands. Guy Boothby.
Stories from the Diary of a Doctor. Mrs. Meade.
Fights for the Flag. W. H. Fitchett.
Deeds that won the Empire. W. H. Fitchett.
The Herb Moon. John Oliver Hobbes.
The Manchester Man. Mrs. Banks.
The Japs at Home. Douglas A. Sladen.
The Sowers. H. Seton Merriman
The Reproach of Annesley. Maxwell Gray.
The Manchester Man. Mrs. Banks.

APPLY TO G. A. NATESAN & CO., PRINTERS & PUBLISHERS, ESPLANADE, MADRAS.

Law of Landlord and Tenant with a copious collection of useful forms. By W. A. Holdsworth Revised to 1904.— As. 12.

Law of Wills, Executors and Administrators. By W. A. Holdsworth. With a separate art (containing three chapters) on the death duties in connection with the changes introduced by the Finance Act, 1894. As. 12.

Sir Edward Clarke's Forensic Speeches. Rs. 1-8.

FOREIGN AND COLONIAL SPEECHES. By the Right Hon. J. Chamberlain, M. P. Contents:—A Mission to the United States and Canada; Egypt; Unity of the Empire; The Expansion of the Empire; Imperial Trade; South Africa; Imperial Policy; Index. Rs. 2-10.

KALIDASA: Sakuntala; or, The Lost Ring: an Indian Drama. Translated into English Prose and Verse by Sir Monier Monier-William, K. C. I. E. Seventh Edition. In Sir John Lubbock's opinion, Sakuntala is worthy of a place among the hundred best books of the world. 282 pp., cr. 8 vo., Rs. 2-10.

PRONOUNCING DICTIONARY OF THE ENGLISH LANGUAGE. By P. Austin Nuttall, LL.D., with a Dictionary appendix comprising (1) foreign and classical words; (2) abbreviations used in writing and printing; and (3) a selection of familiar sayings. Rs. 2.

DICTIONARY OF TRADE PRODUCTS. Manufacturing and technical terms, moneys, weights and measures of *all countries* by P. L. Simmonds. This Dictionary may be considered an "Encyclopædia in brief," and a necessary accessory for the counting house, or on the library table. Rs. 1-14.

DICTIONARY OF NAMES, NICKNAMES AND SURNAMES: Of persons, places and things by Edward Latham. The compilation of this volume has been undertaken with the view of supplementing, and to a certain extent providing a key to the ordinary dictionaries of biography, geography, mythology etc. Rs. 2-10.

THE RECITER'S TREASURY OF VERSE: SERIOUS AND HUMOROUS. With an Introduction on the Art of Speaking. 944 pp., large 8 vo. cloth extra Rs. 2-10. "By far the best, as it is by far the biggest book of verse recitations we can call to mind. It is handsomely presented, and is not a mere *rechauffe* of other books of a similar character, but is obviously the result of original research. Of copyright matter there is a considerable amount."—*Literary World.*

THE RECITER'S TREASURY OF PROSE AND DRAMA: SERIOUS AND HUMOROUS. 968 pp., large 8vo, cloth extra. Rs. 2-10.

"This collection is a remarkably good one. A volume of the gems of English literature, interspersed with light pieces picked from the best of our modern dramatists and humourists, and an admirable selection from Shakespeare for the use of students."—*Yorkshire Post.*

LAURIE'S TABLES OF SIMPLE INTEREST. At 5, 4½, 4, 3½, 3, 2½, & ½d., per cent. per annum, from 1 day to 365 days, from 1 month to 12 months, from 1 year to 12 years, also Tables of Compound Interest and Interest on large sums for a single day at the same from with Copious Tables of Commission or Brokerage from one-eighth to ten per cent. Royal 8vo., 796 pages. Price Rs. 15-12.

TWENTIETH-CENTURY HUMOROUS PROSE RECITER. As. 12.

RANKE'S STANDARD HISTORY OF THE REFORMATION IN GERMANY, which has hitherto been unobtainable except at a high price. The translation is that of Miss Sarah Austin, edited, with new annotations, tables, and an Introduction, by Robert A. Johnson, M.A. Price Rs. 3-12.

CARLYLE'S HISTORY OF THE FRENCH REVOLUTION. Printed in a handsome type, and forming 808 pages. A special feature of this edition is a series of 32 fine portraits and plates. It is believed that this forms the most acceptable edition of the book in the market. Price Rs. 3-12.

BUCKLE'S HISTORY OF CIVILIZATION. Edited with all the Author's Notes, by John M. Robertson, with additional Notes and Introduction. Rs. 3-12.

"Messrs. Routledge are to be congratulated on bringing out Buckle's 'History of Civilization' at a cheap price in one volume......Numerous notes are added by the Editor with the object of correcting the matter and bringing it up to date."—*Athenæm.*

HOW TO MAKE MONEY. A practical treatise on business by Edwin T. Freedley, with an inquiry into the chances of success and causes of failure. As. 6.

FABLES AND PROVERBS FROM SANSKRIT. Being the Hithopadesa translated by Charles Wilkins. In executing this work, the author has scrupulously adhered to the text. As. 12.

THE HANDY ATLAS OF THE BRITISH EMPIRE. By J. G. Bartholomew, F.R.G.S. A Series of 120 Maps and Plans illustrating the Geography of the Colonies, with Statistical Notes and Tables and Gazetteer of British Possessions. As. 12.

THE HANDY SHILLING ATLAS OF THE WORLD. Containing 120 pages of fully coloured Maps by J. G. Bartholomew, and a Gazetteer with 10,000 entries. As. 14.

INDIAN LIFE IN TOWN AND COUNTRY. By Herbert Compton. Contents:—India as it is; Caste, Manners and Customs; From Ryots to Rajahs; Jacks in office: Men-at-arms and some others; Ladies past; woman's wrongs; Indian at home; In the sunshine; the Golden East; On the path of progress; The land of Exile; Anglo-Indian castes; Bungalow life; out-of-door life; Sepia surroundings; The Glad Cry; Index, with numerous illustrations. Rs. 2-10.

SHAKSPEARE'S PLAYS AND POEMS. In 3 Volumes, with Glossary. 1. Comedies. 2. Tragedies. 3. Histories and Poems.

Printed in large, clear type on extremely thin but thoroughly opaque paper, with Photogravure Frontispiece and Title-page to each Volume printed on Japanese Vellum, from Drawings by Edmund J. Sullivan and A. Garth Jones. *Narrow F. cap. 8 vo. Gilt Tops Designed End-papers, Cloth Limp.* Rs. 2-4 each.

CONAN DOYLE'S NOVELS *As. 6 each.*

The Sign of Four
Uncle Bernac
Micah Clarke
The White Company
The Exploits of Brigadier Gerard
The Tragedy of the Korosko
Rodney Stone
Memoirs of Sherlock Holmes
The Green Flag and other stories

Apply to—G. A. Natesan & Co., Printers & Publishers, Esplanade, Madras.

RFERENCE BOOKS.

THE RHYMING DICTIONARY OF THE ENGLISH LANGUAGE by J. Walker. Revised and enlarged Edition. Rs. 2-3.

TEN THOUSAND WONDERFUL THINGS of all times and countries by E. F. King. Profusely illustrated. Rs. 2-10.

ENGLISH SYNONYMS explained in alphabetical order with copious illustrations and examples drawn from the best writers by George Crabb, M. A. (Cloth gilt). Price Rs. 2-10.

FAMILIAR QUOTATIONS: being an attempt to trace to their source passages and phrases in common use by John Bartlett (Cloth gilt). Price Rs. 2-10.

A CONCORDANCE TO THE PLAYS OF SHAKESPEARE by W. H. Davenport Adams. Price Rs. 2-10.

THE COMMERCIAL DICTIONARY OF TRADE PRODUCTS: manufacturing and technical terms, moneys, weights, and measures of all countries by P. L. Limmonds. Price Re. 1-14.

A DICTIONARY APPENDIX comprising classical and foreign phrases, family mottoes, proverbs, etc., fully translated together with Abbreviations in frequent use and notes for the general reader, by James Henry Murray. Price As. 6.

VEST POCKET WEBSTER'S DICTIONARY including leading Synonyms, Speller, Gazetteer of the world and toasts and speeches of all occasion. As. 12.

A THOUSAND AND ONE RIDDLES, the best collection of riddles. Price As. 6.

A NEW SIX PENNY DICTIONARY with many illustrations. As. 6.

LEMPIRRE CLASSICAL DICTIONARY (Unabridged). Rs. 2-10.

THE BOOK OF EPIGRAMS. By W. Davenport Adams. Selected and arranged with introduction, notes and notices of the Epigrammatists. This is an attempt to provide for popular reading a representative collection of English Epigrams. This volume differs from its predecessors—first, in the arrangement of contents under the heads of certain special subjects, and secondly in the exclusion of mere *jeu d'esprit*, professing to be epigrams but having none of the characteristics of that kind of verse. Re. 1-8.

LATHAM (E.) Dictionary of Names, Nicknames, and Surnames, etc. 344 pp. Rs. 2-10.

THE FAMILY DOCTOR. 760 pp. with 500 illustrations. Rs. 2-10.

NUTTALL'S Pronouncing Dictionary of the English Language, founded on the labours of Walker, Webster, Worcester, Craig, Ogilvie, etc., with a Dictionary Appendix by Dr. J. H. Murray. 229th thousand. 832 pp. Rs. 2

ON THE STUDY OF WORDS. By R. C. Trench. Containing lectures on the Poetry, the Morality, the History in words, the Rise of New words, the Distinction of words, and the Schoolmaster's use of words. Re. 1-4.

ENGLISH, PAST AND PRESENT. By R. C. Trench. Containing Five Lectures, *viz.*, English, a composite Language; Gains of the English Language; Diminutions of the English Language; Changes in the meaning of English words and changes in the spelling of English words, with notes and Index by Dr. A. Smythesalmer. Re. 1-14.

THE DICTIONARY OF STATISTICS.—By Michael G. Mulhall. Price Rs. 15-12.

Part 1.—Comprehends all statistics from the earliest times. Part 11—Since 1890.

THE WORLD'S OPINIONS.—Emile de lauege—" This admirable dictionary." Leroy Beaulieu—" The quintessence of statistics." Baron Malortie—" His statistics are most reliable." Neumann Spallart—" History of prices is accurate."

CHAMBERS'S TWENTIETH CENTURY DICTIONARY OF THE ENGLISH LANGUAGE—" This marvellously cheap book, Pronouncing, Explanatory, Etymological, contains twelve hundred and sixteen Demy 8vo. pages, over one hundred thousand references, all the most recent words as well as technical and scientific terms. It is copiously illustrated and embodies the latest scholarship. Supersedes all other cheap dictionaries."—*British Weekly.*

" A miracle of scholarship and cheapness."—*Journal of Education.* Price Rs. 2.

CHAMBERS'S ETYMOLOGICAL DICTIONARY OF THE ENGLISH LANGUAGE:—Pronouncing, Explanatory, and Etymological, by Andrew Findlater, M.A., LL.D. People's Edition. As 12.

CHAMBERS'S ENGLISH DICTIONARY.

In one volume of 1264 pp., Imp. 8vo., cloth. The Vocabulary is exceptionally copious. In addition to ordinary words, it contains compound phrases, idiomatic expressions, scientific and general terms. The *Outlook* says:—"In recommending this Dictionary as the best of its kind, we shall be doing no more than justice to all concerned in its issue. Price Rs. 9-6.

THE MINIATURE REFERENCE LIBRARY.

For the Pocket, the Desk, or the Armchair.

Price As. 12 Each.

ABBREVIATIONS, CONTRACTIONS AND ABBREVIATIVE SIGN. A Dictionary for the Desk.

WHO SAID THAT? A Dictionary of Famous Sayings, traced to their sources.

WHO WROTE THAT? A Dictionary of Every-day Quotations, with their sources.

DICTIONARY OF CHRISTIAN NAMES. Male and Female.

MOTTOES AND BADGES. British and Foreign, with Translations.

DISCOUNT, COMMISSION, AND BROKERAGE TABLES. From 1d. to £1,000 at from one-sixteenth to 95 per cent.: a Dictionary for the Pocket.

Apply to—G. A. NATESAN & Co., BOOK-SELLERS, ESPLANADE, Madras.

LIBRARY OF USEFUL STORIES.

PRICE AS. 12 EACH.

The Stars. By G. E. Chambers, F.R.A.S.
Primitive Man. By Edward Clodd.
The Plants. By Grant Allen.
Electricity. By J. Munro.
The Earth in Past Ages. By H. G. Seeley, F. R. S.
The Solar System. By G. F. Chambers, F. R. A. S.
A Piece of Coal. By E. A. Martin, F. G. S.
Extinct Civilizations of the East. By R.E.Anderson,M.A.
The Chemical Elements, By M. M. Pattison Muir, M.A.
Forest and Stream. By James Rodway, F. L. S.
The Weather. By G. F. Chambers, F. R. A. S.
The Atmosphere. By Douglas Archibald.
Germ Life. By H. W. Conn.
The Potter. By C. F. Binns.
The British Coinage. By G. B. Rawlings.
Life in the Seas. By Sidney J. Hickson, F.R.S.
Photography. By A. T. Story.
Religions. By the Rev. E. D. Price, F. G. S.
The Cotton Plant. By F. Wilkinson, F. G. S.
Geographical Discovery. By Joseph Jacobs.
The Mind. By Prof. J. M. Baldwin.
The British Race. By John Munro.
Eclipses. By G. F. Chambers, F. R. A. S.
Ice in the Past and Present. By W. A. Brend.
The Wanderings of Atoms. By M. M. Pattison Muir,M.A.
Life's Mechanism. By H. W. Conn.
The Alphabet. By Edward Clodd.
Bird Life. By W. P. Pycraft.
Thought and Feeling. By F. Ryland.
Art in the British Isles. By J. Ernest Phythian.
Wild Flowers. By Prof. G. Henslow.
Books. By G. B. Rawlings.
King Alfred. By Sir Walter Besant.
Fish Life. By W. P. Pycraft.
Architecture. By F. L. Waterhouse.
Euclid. By W. B. Frankland.
Music. By F. J. Crowest.
Animal Life. By W. B. Lindsay.
Lost England. By Beckles Wilson.
The Empire. By E. Salmon.
Alchemy, or the Beginnings of Chemistry.
By M. M. Pattison Muir, M.A.
The Army. By Captain Owen Wheeler.
Rapid Transit. By Beckles Wilson.
Alpine Climbing. By Francis Gribble.
A Grain of Wheat. By William C. Edgar.
Wireless Telegraphy. By A. T. Story.
British Trade and Industry. By James Burnley.
Story of Reptile Life.

The whole set at As. 11 a volume.

THE STRANGE VISITATION OF JOSIAH MONASON. A True Ghost Story. By Marie Corelli. As. 12.

MEMOIRS OF MOTHER-IN-LAW.
By
Geo. R. Sims. As. 6 Only.

New Arrivals.

—:o:—

The Wild Irishman. By T. W. H. Crosland. The book presents a new and clear view of Ireland and the Irish. Price Rs. 3-12.

Later Peeps at Parliament taken from behind the Speaker's chair, with a description of Parliamentary men as they flitted through the scenes enacted during the decade dating from 1896. The several notes were written under the dates given; and their chief value is their touch with contemporary events, recorded as they passed. With about 250 illustrations and a coloured frontispiece. Price. Rs. 5-11.

How we recovered the Ashes. By P. F. Warner. A book specially adapted for the benefit of the cricket public at large. With many illustrations. Price As. 12.

The Century Book of Gardening. A comprehensive work for every lover of the garden. Edited by E. T. Cook. With about 720 illustrations. Specially designed cover. Large 8 vo., gilt edges, art canvas. Price Rs. 15-12.

The work is one on which editor, printer and publisher can be heartily congratulated, and having regard to its comprehensive character, the soundness of its information, and elegant appearance, we know of no work on gardening more suitable for presentation.—*Gardeners' Magazine.*

Folklore of the Telugus. A collection of 42 highly amusing and instructive tales by G. R. Subramiah Pantulu. Price As. 8. To subscribers of the *Indian Review,* As. 4.

The Private Diary of Ananda Ranga Pillai, Dubash to J. F. Dupleix, Governor of Pondicherry. A record of matters political, historical, social and personal, from 1736 to 1761. Rs. 3.

Information on Japan. By S. M. Shafi' E. M., C. E., (Tokio). We would invite the attention of our readers and the public in general to this admirable little brochure in which Mr. Shafi has with considerable tact and talent, given a vast amount of information on Japan in all her relations, social, political and religious, together with a series of lessons in Japanese with a glossary. It is, indeed, a marvel as a *multum in parvo.* Price Re. 1.

APPLY TO—G. A. NATESAN & CO., PRINTERS & PUBLISHERS, ESPLANADE, MADRAS.

THE NINETEENTH CENTURY SERIES.

"An interesting and intellectual set of books."—*Scotsman.*

Price Rs. 3-12 each.

Progress of New Zealand in the Century.—By R. F. Irvine, M.A., and O. T. J. Alpers, M.A. Contents:—Discovery and Settlement: The Maori—The Coming of the White Man—Between 1800 and 1840—Systematic Colonisation—Constitution and Responsible Government. Expansion and Experiment: The Public Works Policy and the Abolition of the Provinces—The New Democracy—The Labour Laws—Progress of Land Settlement, Education, Art, Science, and Literature—Statistical Appendix.

Progress of Canada in the Century.—By J. Castell Hopkins, F.S.S.

"A noble contribution to the Nineteenth Century Series. . . . The narrative of Mr. Hopkins is one of the most fascinating in the story of the development of the British Empire."—*Bristol Mercury.*

Literature of the Century.—By Professor A. B. de Mille, M.A. Contents:—Prelude: The Triumph of Romanticism. English Literature: The New Influence—Poetry—The Novel—Later Novelists—Philosophers and Critics—English in America—The Periodical—Literature on the Continent—Germany—France—Italy and Spain—Russia and the North—Retrospective.

Progress of India, Japan, & China in the Century.—By the Right Hon. Sir Richard Temple, Bart.

"In the first three chapters Part I. we find a lucid and sometimes striking portraiture—drawn in large outline by a skilled hand—of the great empire of the middle East, with a pregnant and sufficient account, brief yet emphatic, of its formation."—*The Athenæum*, Aug. 9, 1902.

Progress in South Africa in the Century.—By Geo. McCall Theal, D.Lit., LL.D.

"In forty-two compact clearly-written chapters, the author contrives to say all that general readers will care to know about the general progress of the Cape, Natal, the Transvaal, the Orange Free State, & Rhodesia during the last century."—*Daily News.*

Religious Progress of the Century.—By W. H. Withrow, M.A., D.D., F.R.S.C.

"No other book we know contains such a comprehensive or encouraging survey of recent religious progress as this admirable work by Dr. Withrow, which forms an appropriate beginning of the new series."—*Leeds Mercury.*

Inventions in the Centuy.—By William H. Doolittle.

"America has taught us enough in the way of inventions to make the subject of this volume of high British interest."—*The Outlook.*

Progress of the United States of America in the Century.—By William P. Trent, M.A., LL.D.

"A welcome volume in the 'Nineteenth Century Series' by one who has the historic sense and realises the value to the world of the American example of self-government."—*The Outlook.*

Progress of British Empire in the century.—By James Stanley Little.

"He has succeeded well. His survey is a wide and comprehensive one; moreover, it is a serious and honest effort to estimate, in true perspective, the position in which the British Empire found itself in the year 1900."—*St. James's Gazette.*

Wards of the century & the Development of Military Science.—By Oscar Browning, M.A.

"The book is ably written—a thoroughly good grasp of the subject-matter is manifested throughout—and should prove as serviceable as it is undoubtedly an interesting record of the most tragic phase of the departed century's activities."—*Glasgow Evening News.*

Progress of Australasia in the Nineteenth century.—By T. A. Coghlan, F.S.S., and Thomas T. Ewing, M.L.A.

"Rich in concise statistical information, and written, not without a proper literary manner, it is true, but also with business-like brevity and point, the volume is much more solidly instructive than such general surveys usually are."—*Scotsman.*

Continental Rulers in the century.—By Percy M. Thornton, LL.B., M.P.

"As a lucid outline of European politics since the close of the old régime Mr. Thornton's book is admirable."—*Pall Mall Gazette.*

Economic & Industrial Progress of the century.—By Henry de Beltgens Gibbins, Litt. D., M.A.

"Mr. Gibbins seems to have read everything of importance, his industry is immense, his knowledge wide and sound, and he has a distinct faculty of condensation. It is hardly possible to find a better short account than is given in these pages of the economic history of England, the 'industrial revolution,' the coming of free trade, the factory legislation."—*Morning Leader.*

British Sovereigns in the century.—By T. H. S. Escott, M.A.

Naval Development.—By Sir Nathaniel Barnaby, K.C.B.

Price Rs. 3-12 each.

Apply to—G. A. NATESAN & CO., Book-Sellers, Esplanade, Madras.

NEW ARRIVALS.

The Scarlet Letter. By Nathaniel Hawthorne. 320 pages, crown 8vo. cloth gilt, Price As. 14.

The Worldlings. By Lonad Merrick. Price As. 6.

The Story of Reptile life. By W. P. Pycraft As. 12.

An Index to the Names in the Mahabharata, with short explanations and a concordance to the Bombay & Calcutta editions and P. C. Roy's translation by the late S. Sorensen, P. H. D. Part I. Price Rs. 6-9.

Who was he?: a dictionary of Biography. By E. Latham. (Routledge's Miniature Reference Library). Price As. 12.

Shakespeare's Characters described by Shakespeare. By Walter Jerold (Routledge's Miniature Reference Library) Price As. 12.

Utilitarianism. By J. S. Mill (Routledge's New Universal Library) Price As. 12.

Life of Charlotte Bronte. By Mrs. Gaskell (Routledge's Universal Library) Price As. 12.

Horoes & Hero workshop. By Thomas Carlyle (Roughtledge's New Universal Library) Price As. 12.

Sartor Resortes. By Thomas Carlyle (Routledge's New Universal Library) Price As. 12.

Pilgrims Progress. By John Bunyan (Routledge's New Universal Library) Price As. 12.

The Scarlet letter. By Hawthorne (Routledge's New Universal Library) Price As. 12.

Records of Shelley, Byron, and the Author. By John Trelawny. (Routledge's New Universal Library) Price As. 12.

Imaginary Conversations. By Landor. (Routledge's New Universal Library) Price As. 12.

Parables from Nature. By Mrs. Gatty (Routledge's New Universal Library) Price As. 12.

Headlong Hall, Melin Court, etc. By Peacock. (Routledge's New Universal Library.) Price As. 12.

My Study windows. By James Russel Lowell. (Routledge's New Universal Library) Price As. 12.

Citizen of the World. By Goldsmith (Routledge's New Universal Library) Price As. 12.

The Channings. By Mrs. Henry Wood. (Routledge's new Universal Library) Price As. 12.

William Shakespeare. By Victor Hugo (Routledge's New Universal Library) Price As. 12.

Kingsley to Thomson: By Alfred H. Miles. (*Poets and Poetry of the Nineteenth Century Series.*) About 712 pp Price Rs. 1-2.

Patmore (Coventry). With an Introduction by Alice Meynell. 1 vol. Price As. 12.

Poe, Poetical Works. With The Poetic Principle, The philosophy of Composition and The Power of Words. With a Biographical Sketch by N. H. Dole. Price as 12.

Brass and Copperware. Monograph on the—in the Punjab. By D. C. Johnston. Published 1888. Foolscap, paper cover. Price Re. One.

Griffin's Punjab Chiefs—History and Biographical Notices of the Principal Families in the Lahore and Rawalpindi Divisions of the Panjab By Lepel Griffin. In two volumes. Published 1890. Demy 8vo, cloth. Price Rs. 12.

Massy's Punjab Chiefs—and Families of Note in the Punjab. Historical and Biographical Notices of the Principal Families in the Delhi, Jullundur, Peshawar and Derajat Divisions of the Punjab, with short notices of the Ruling Chiefs in the Punjab. By Major C. F. Massy. Published 1890. Demy 8vo, cloth. Price Rs. 8.

Appendix to Griffin's Punjab and Massay's—chiefs and Families of note in the Punjab. Price Rs. 3-8.

Constitution and Powers powers of the Government of India. History of Legislation; Legislatures of India under the Crown; Civil administration, etc. By Messrs. E. W. Parker and P. Morton. Price Rs. 2-8.

Jurisprudence—Outlines of—Jurisprudence defined; study of the Science of Jurisprudence; source of law; moral responsibility; civil capacity and liability; classification of law; constitutional law; laws of ownership; law of Contracts; law of persons; law of civil injuries; criminal law; international and private international law. By E. W. Parker and P. Morton. Price Rs. 2-8.

Economic Products—Hand-Book of the—of the Punjab, with a combined Index and Glossary of technical Vernacular words; products of the mineral kingdom; products of the animal kingdom; products of the vegetable kingdom; substances used in manufactures. By B. H. Baden-Powell. Volume 1 only. Price Rs. 21.

Rajas—Rajas of the Punjab. History of the Principal States and their Political Relations with the British Government. By Lepel Griffin. In English Price Rs. 12.

APPLY TO—G. A. NATESAN & CO., PRINTERS & PUBLISHERS, ESPLANADE, MADRAS.

THE PRIVATE LIFE OF WARREN HASTINGS.

First Governor-General of India.

Second Edition.

BY

SIR CHARLES LAWSON.

Opinions of the Press.

The Times.—A very engaging picture of Warren Hastings' personal character and surroundings at different times of his life, gathered from authentic sources, compiled with much skill and patience, and copiously illustrated from contemporary portraits and caricatures, as well as by representations of localities associated with his life and family. . . . We heartily congratulate Sir Charles Lawson upon his admirable book. . . . We must add one word of praise for the illustrations liberally interspersed throughout the volume. Some of the best are from the author's own pencil.

The Saturday Review.—The secret of the charm of this contribution to national biography lies in the frankly personal nature of its contents. . . . We believe that the personal details and the illustrations of this delightful book will give most people a more vivid idea of the great drama and its actors than even the periods of Macaulay.

The Athenæum.—The author has done well to set before us in the present form the accumulated fruits of his painstaking and intelligent research in fields hitherto neglected, or but partially explored . . . . One great distinctive merit of this book consists in the abundance and apt variety of its illustrations—the portraits, sketches of scenes and places, facsimiles and caricatures.

The Daily Telegraph.—This friendly and painstaking representation of a distinguished Englishman is very timing, and adds another tribute to one who served his country faithfully, and whose merits were not less accentuated by the hatred of his enemies than by the admiration of his friends.

The Standard.—The surroundings of Warren Hastings at Park Lane and Daylesford, his books and his pictures, his love of nature, and his passion for poetry, his interest in science, and his delight in gardening, the stately accessories of his life, and his lavish hospitality are passed in picturesque review. The charm of the book is heightened by reproductions of many amusing, and a few bitter caricatures by Gillray and others, as well as many portraits of friends and scenes and facsimiles of letters and papers.

St. James's Gazette.—Certainly the account given of Warren Hastings in these pages shows him in a most favourable light. It is in that way a notable tribute to the memory of a great Englishman.

Birmingham Post.—It is a record so bright and readable that it may be safely described as being singularly attractive to all sorts and conditions of men. It is a biography and an autobiography, a stirring story, a memorable record, a charming page of history, a story of travel and adventure, a historic register of an eventful period, and a brilliant picture of some of the most famous men of the later years of the last century.

The Englishman (Calcutta).—Few books published this year possess so much interest for the Anglo-Indian World as Sir Charles Lawson's life of the first Governor-General. Upon taking the volume into his hand the reader is at once struck by the extreme beauty and finish of its get up. As he glances through the pages the Illustrations next claim his attention. . . . We have to thank the author for vindicating so thoroughly the reputation of Warren Hastings as a candid Englishman.

The Times of India (Bombay).—The production of the work seems to have been a labour of love on the author's part, and such a tribute to the memory of one of the greatest of his race is to be welcomed and applauded.

The Pioneer (Allahabad).—For this book we have only words of unqualified approbation. The research, the industry, the disposition of materials are beyond all praise . . . . Altogether a most delightful book to read, to study, to linger over, and of which the author may well be proud.

Literary World (Boston, U. S.).—In the collection and selection of material, in the assimilation and assortment of it, in arrangement and presentation, in the liberality and skill of illustration, in all those editorial accessories and conveniences which have so much to do with the readers easy grasp of contents, and last but not least, in excellence of typography, facility of binding, this book is a model of its kind.

Price Rs. 9-3.

Apply to G. A. NATESAN & Co., Esplanade, MADRAS.

Commercial Hand-Books.

BOOK-KEEPING BY SINGLE AND DOUBLE ENTRY. By W. Inglis. Unnecessary technicalities in the phraseology and complexity in the system of keeping accounts have been studiously avoided. An Appendix, containing explanations of Mercantile Terms and Transactions, and Questions for pupils to solve, is subjoined. 208 pages. Re. 1-2.

COMMERCIAL CORRESPONDENCE AND OFFICE ROUTINE. First Year's Course. By G. R. Walker. 152 pages, cloth. Re. 1-9.

The object of this book is to give boys and girls leaving the Day School an intelligent knowledge of the details and minor duties of business life. While primarily intended for use in Evening Continuation and Commercial Schools, it can also be used with advantage in the Upper Standards of Day Schools, and by all who wish to obtain an insight into the ordinary routine of an office.

COMMERCIAL GEOGRAPHY OF THE BRITISH ISLES. By A. J. Herbertson, M. A., Ph D., F.R.S.E., Lecturer in Regional Geography in the University of Oxford. 140 pages, cloth. As. 10.

COMMERCIAL GEOGRAPHY OF THE WORLD OUTSIDE THE BRITISH ISLES. By A. J. Herbertson, M. A., Ph. D., F. R. S.E., Lecturer in Regional Geography in the University of Oxford. 268 pages, cloth. Re. 1-9.

COMMERCIAL TABLES:—Consisting of Reckoning, Interest, Annuity, Money, Weights, Measures and other tables useful in Business. Re. 1-14.

TIME-TABLES: shewing the number of days between any two days of the year with other Tables. Re. 1-8.

Popular Biographies & Stories.

Price As. Ten each.

Tennyson: The Story of his Life. By Evan J. Cuthbertson.

William Shakespeare: The Story of his Life and Times. By Evan J. Cuthbertson. Portrait and illustrations.

Thomas Alva Edison. By E. C. Kenyon.

The Story of Watt and Stephenson.

The Story of Nelson and Wellington.

General Gordon and Lord Dundonald.

The Story of the life of Sir Walter Scott. By Robert Chambers, LL. D.

The Story of Howard and Oberlin.

The Story of Napoleon Bonaparte.

Wonderful Stories for Children. By Hans. C. Anderson.

Duty and Affection; or, the Drummer Boy.

True Heroism, and other Stories. As. 8.

Clever Boys. As. 8.

Self-denial. By Miss Edgeworth. As. 5.

Books on Heroism.

Artistically bound and beautifully illustrated.

Price Rs. 3-2-0 each

GRIT AND GO. By G. A. Henty, Guy Boothby, &c., &c. With eight illustrations by W. Rainey.

'Just the book for boys.'—*Free Lance.*

'An exceptionally good collection of boys' stories.'—*Standard.*

PERIL AND PROWESS. Being stories told by G. A. Henty, G. Manville Fenn, A. Conan Doyle, W. W. Jacobs, D. Ker, C. R. Low, D. Lawson Johnstone, Andrew Balfour and others. With eight illustrations by W. Boucher.

'The stories are of supreme interest, and admirably told.—*Birmingham Gazette.*

'No boy with healthy animal instincts could help reading and enjoying 'Peril and Progress.'—*Edinburgh Evening News.*

DASH AND DARING. Being stories told by G. A. Henty, G. Manville Fenn, D. Ker, and many others. With eight illustrations by W. H. C. Groome.

'The volume is one to be treasured by British boys.'—*Liverpool Post.*

VENTURE AND VALOUR. Being stories told by G. A. Henty, A Conan Doyle, Gordon Stables, G. M. Fenn, W. W. Jacobs, Tom Gallon, &c. With eight Illustrations by W. Boucher.

'The moral appearing to be that men have many admirable qualities, conspicuous among which is bravery.'—*Scotsman.*

COURAGE AND CONFLICT. A series of stories by G. A. Henty, G. Manville Fenn, F. T. Bullen, Fred Whishaw, &c. With eight illustrations by W. Boucher.

'One of the best story-books of its class you could find in a day's search.'—*Morning Post.*

HAZARD AND HEROISM. Being stories told by G. A. Henty, Louis Tracy, Harold Bindloss, Edwin Lester Arnold, Lt.-Col. A. F. Mackler-Ferrman. With eight illustrations by W. H. C. Grome, R.B.A.

Good Reading.

SELECTIONS FROM THE BEST ENGLISH AUTHORS. Edited by Prof. A. F. Murison, M.A., LLD. With Portraits. Re. 1-14-0.

This book gives, in chronological order, representative specimens of representative authors in English Literature from Beowulf to the present time.

READINGS IN ENGLISH LITERATURE:—Being a collection of specimens from the best writers from the earliest times down to 1860. With Biographical notices and explanatory notes. Price Re. 1-14.

CHAMBERS'S NEW RECITER. Comprising selections from the works of I. Zangwill, Ian Maclaren, S. R. Crockett, John Davidson, Sir Edwin Arnold, Austin Dobson, Clement Scott and many stories by R. C. H Morison. Re. 1-14.

CHAMBERS'S ELOCUTION. Containing numerous Readings and Recitations selected by R. C. H. Morison from Rudyard Kipling, Robert Buchanan Alfred Austin, Bret Harte, J. K. Jerome, J. M. Barrie, Austin Dobson, Adam, L. Gordon, Clement Scott, etc. Re. 1-14.

Apply to—G. A. NATESAN & Co., PRINTERS & PUBLISHERS, ESPLANADE, MADRAS

MISCLELANEOUS.

THE INSANE ROOT: A Tale of Eastern Magic. By Mrs. Campbell Praed. Crown 8vo., cloth. Rs. 4-8.

"The fascination of the book remains with us, and is not easily shaken off."—*Daily Telegraph.*

GRAIN OR CHAFF: THE AUTOBIOGRAPHY OF A POLICE MAGISTRATE. By A. C. Plowden. Cheap Edition. Large Crown 8vo., cloth. Rs. 4-8.

"There is something in Mr. Plowden's volume which disarms criticism and at once secures a good understanding between author and reader.........Being the frank, natural talk of a shrewd, experienced man of the world who has seen one side of life and who does not pose as being wiser than he is, there being no effort or art in these studied reminiscences, the volume is readable from first to last, and the closing chapters are much more instructive than volumes written with much more pretence."—*Times.*

HOW TO BECOME A TEACHER. By T. W. Berry. *Fcap. 8vo., cloth. As. 12.*

This book comes at an opportune moment when a great dearth of teachers is experienced in all classes of schools and when the demand for teachers is unprecedented. The passing of the Education Act (1902) has given a great impetus to educational work, and the need for teachers will continue to grow. This little work sets forth the conditions of service and the improved status and emoluments of teachers. Full information is given as to how to become a teacher—Primary, Secondary, or teacher of Special Subjects—Science, Art, Music, Cookery, Laundry, Manual Work. The author, for ten years Editor of the *Pupil Teacher* and a Director of Education, has experience of the insufficiency of supply, and he is fully cognisant of the requirements of teachers and of the best means of becoming an efficient teacher.

LONDON AT SCHOOL: THE STORY OF THE SCHOOL BOARD, 1870-1904. By Hugh B. Philpott. With an Introductory Chapter, fully Illustrated. *Crown 8vo., cloth. Rs. 3-12.*

THROUGH TOWN AND JUNGLE: FOURTEEN THOUSAND MILES AWHEEL AMONG THE TEMPLES & PEOPLE OF THE INDIAN PLAIN. By William Hunter Workman and Fanny Bullock Workman With 200 Illustrations. *Super Royal 8vo., cloth. Rs.* 15-12.

AN EDITOR'S SERMONS. By Sir E. Russell. Contents:—Introduction, Advent, Christmas, Ash Wednesday, Lent, Good Friday, Easter Sunday, Whit-Sunday, Trinity Sunday, Ascension Day, Church and State, A Franker Erastianism. The reform of Convocation. The gift of Prayer, Church-going, Highmindedness, etc. Rs. 4-8.

PROVERBS, MAXIMS, AND PHRASES OF ALL AGES. Classified subjectively and arranged alphabetically. By Robert Christy. Two Vols. Crown 8 vo., cloth. Rs. 25.

MY MEMORY OF GLADSTONE. By GOLDWIN SMITH. With Portrait, cloth. Rs. 1-14.

In this volume Professor Goldwin Smith gives us both recollections of the great statesman and also a review of his career. The professor was often brought into contact with Gladstone, both socially and in the way of business and he is able to give many interesting personal details. At the same time the book has importance as an estimate of Gladstone's life and work from the pen of one of the most distinguished of living historians and economists.

THE INDUSTRIAL AND COMMERCIAL HISTORY OF ENGLAND. By J. E. Thorold Rogers, Two Vols. Rs. 5-4.

CHINA UNDER THE SEARCHLIGHT. By W. A. Cornaby. Crown 8vo., cloth Rs. 4-8.

THE ECONOMIC INTERPRETATION OF HISTORY:—Being lectures on Political Economy and its history delivered by J. E. Thorold Rogers. Two Vols. Rs. 5-4.

THE LIFE AND TIMES OF SAVONAROLA. BY PROFESSOR VILLARI. "The most interesting religious biography that we know of in modern times Price Rs. 2-3.

HISTORICAL HAND-BOOKS.

Long 8vo., cloth, gilt top, with Photogravure Frontispiece Price Rs. 1-14 each.

SCOTLAND. By Mrs. Oliphant.
IRELAND. Edited by Barry O'Brien.
GERMANY. By Kate Freiligrath Kroeker, Author of "Fairy Tales from Brentano," etc.
ROME. Byary Ford. In preparation.
SPAIN. By Leonard Williams.
CANADA. By J. N. Mcilwraith.

BUILDERS OF GREATER BRITAIN.

A Set of 10 Volumes, each with Photogravure Frontispiece and Map. Large Crown 8vo., cloth, Rs. 3-2. each.

LIST OF VOLUMES.

SIR THOMAS MAITLAND; the Mastery of the Mediterranean. By Walter Frewen Lord.

JOHN AND SEBASTIAN CABOT; the Discovery of North America. By C. Raymond Beazley, M. A.

EDWARD GIBBON WAKEFIELD; the Colonisation of South Australia and New Zealand. By R. Garnett, C. B., LL.D.

ADMIRAL PHILLIP: the Founding of New South Wales. By Louis Becke and Walter Jeffery.

RAJAH BROOKE: the Englishman as Ruler of an Eastern State. By Sir Spencer St. John, G.C. M.G.

SIR STAMFORD RAFFLES; England in the Far East. By Hugh E. Egerton.

THE CRIMINOLOGY SERIES.

Edited by W. Douglas Morrison. Rs. 4-8 each.

(1) Criminal Sociology. By Professor Ferri, (2) Juvenile Offenders. By W. Dougals Morrison, M.A. (3) Political Crime. By Louis Proal.

THE PERILS OF SYMPATHY. By Nina Stevens. *Crown 8vo. cloth. [Red Cloth Library.]* Rs. 1-4.

This story is worked out in Europe and in India Pictures are given of the life led by Anglo-Indians in Calcutta and in up-country stations. The book brings vividly before the reader the loneliness suffered by men in the small sub-divisional stations of Bengal, the monotony of life at headquarters and the glitter and gaiety of a Calcutta season. One of the leading ladies is the daughter of an English gentleman of the cultured classes who in his loneliness married an ayah. Beautiful but soulless she bears the defects of her mother's upbringing though she has the tastes and good looks of her father. In sharp contrast, the heroine, a struggling artist, shows the heights of unselfishness to which the love of woman can rise. After many vicissitudes her love is rewarded.

Apply to—G. A. NATESAN & Co., PRINTERS & PUBLISHERS, ESPLANADE MADRAS

Library of Recreations.

—:o:—

A Series of Books of useful and delightful amusements for Girls and Boys. Profusely Illustrated. Square crown 8vo., cloth extra, gilt edges.

Price Rs. 2-4-0 each Vol.

The Boys' Handy Book.
What to do and How to do it. By D. C Beard. With about 500 Illustrations and Diagrams.

The Girls' Handy Book.
How to Amuse Yourself and others. By Lina Beard and Adelia B. Beard. With about 500 Illustrations.

The Jack of All Trades.
New Ideas of Useful Amusements. By D. C. Beard. With about 200 Illustrations and Diagrams.

The Outdoor Hand Book.
By D. C. Beard. Containing descriptions of American and English Games during Spring, Summer, Autumn and Winter. With a number of Illustrations.

Russian Life in Town and Country.
By Francis H. E. Palmer. Crown 8vo., cloth, gilt top, containing a full description of the Social and Domestic Life of the Russians. With fifteen Illustrations. Price Rs. 2-10-0.

"It is an excellent book, manifestly the work of intimate knowledge, and in at least one respect it will come as a surprise to English readers."—*Academy*.

From Paris to New York by Land.
By H. De Windt. With Illustrations from Photographs by the Authors and Maps of the Route. Price Rs. 9-6-0.

Easy French Dishes for English Cooks.
By Mrs. Praga. Small crown 8vo., cloth extra. Re. 1-14-0.

"Mrs. Praga's instructions seem simplicity itself. The little book may be honestly commended."—*Manchester Evening News*.

Easy French Sweets for English Cooks.
By Mrs. Praga. Small crown 8vo., cloth extra. Re. 1-14-0.

"A practical and much-needed little volume." *Manchester Guardian*.

How to Furnish Well and Cheaply.
By Mrs. Praga. Small crown 8vo. Re 1-14-0.

"It is a book for those who have to study means, and to such it will prove really valuable." —*Weekly Dispatch*.

Agriculture.

Economies in Dairy Farming.
A new and important work on Dairying by Mr. Ernest Mathews (the well-known Judge and Expert).

"The author of this book is so well known among farmers, especially those interested in the selection and judging of cows, that his name and experience alone will go far to ensure that his views receive the attention they deserve. He has for many years past been judge in all the most important butter tests which have been held at our principal agricultural shows." *The Journal of the Bath and West of England Society*.

Contents:—Quality and Peculiarities of Milk—Characteristics of Dairy Cattle—Feeding of Dairy Stock—Economical Disposal of Milk—Hints on Butter Making—Accounts. Price Rs. 5-10-0.

Gardening for Beginners.
A handbook to the garden. By E. T. Cook. Superbly illustrated. Third edition.
So great has been the success of this gardening book for beginners, that a third edition has been called for and is now ready. This work is for those who are about to begin gardening, nothing that will help the beginner over first difficulties being omitted.

About 100 diagrams will explain certain practical operations better than mere descriptions. There are also nearly 200 illustrations, prepared in the best style, of flowers, fruits, vegetables, and trees and shrubs.

Spectator.—"Full of information about both the useful and the ornamental, and, as far as we have been able to test it, eminently practical. The beginner, by the way, will have gone a long way before he has assimilated the contents of this stout volume of nearly five hundred pages; but then *alia alis cura*, and the wider the choice that is offered by a volume of this kind the better." Price Rs. 9-6-0.

The Fruit Garden.
By George Bunyard and Owen Thomas.
Now ready. 507 pages. Size 10½ by 7½ in.

The Field, February 27, 1904.—"Written by experts . . . In all thirty chapters, and these contain practically all that is really essential for the reader to know as to the modern methods employed in the selection, culture, protection, and increase of trees, and the harvesting, storing and preserving of fruit as grown in the garden or fruit farms to-day." Price Rs. 15-12-0.

Apply to—G. A. NATESAN & Co., PRINTERS & PUBLISHERS, ESPLANADE, MADRAS.

New Universal Library.

Of Standard works of Literature, British & Foreign printed from accurate texts, entirely unabridged, and, where necessary, annotated and indexed. *Pott 8vo., olive-green cloth extra, full gilt back.*

Twelve Annas each.

Tennyson: Poems.
Lowell: My Study Windows With an Index.
Trelawny: Records of Shelley, Byron.
Mill: Utilitarianism.
Victor Hugo: William Shakespeare.
Professor at the Breakfast Table.
Landor: Imaginary Conversations.
Mrs. Gathy. Parables from nature.
Peacock: Novels (2 vols). I. Headlong Hall, Melincourt, Nightmare Abbey, Maid Marian.
Carlyle: Heroes and Hero Workshop.
Sartor Resartus.
Poe: Tales of Mystery and Imagination.
Bunyan: The Pilgrim's Progress.
Goldsmith: Citizen of the World.
Hawthorne: The Scarlet Letter.
Mrs Henry Wood: The Channings.
Robert Browning: Poems.
Johnson: Rasselas.
Mill's Dissertations & Discussions.—400pp.
Mill on Liberty. With an index.
Mill's Representative Government. With an index.
Brimley's Essays. Edited by W. G. Clark, M.A.
Palgrave's Golden Treasury of Songs, Lyrics.
Mrs. Gaskell's Cranford.
Mrs. Sylvia's Lovers.
Sir Lewis Morris's Poems.
Holmes's Poet at the Breakfast Table.
Hughes's Tom Brown's Schooldays.
Hughes's Tom Brown at Oxford.
Marryat's the King's Own.
Grimm's Fairy Tales.
Anderson's Fairy Tales.
Jeffrey's Essays from the Edinburgh Review: English Poets and Poetry.
Lessing's Laocoon.
Coleridge's Aids to Reflection.
Harris's Uncle Remus.
Nights with Uncle Remus

Poets and Poetry of the Nineteenth Century.

Edited by A. H. Miles.

Cloth extra, full gilt back. **Price Re. 1-2 each.**

A unique and very comprehensive series of specimens of the representative verse of the century, with elaborate and judicious notices of each poet. The editor has been unusually fortunate in having obtained permission to include in his work a large number of copyright pieces, the absence of which would have destroyed its representative character, and having in many instances enjoyed the personal counsel and assistance of the Poets.

CRABBE TO COLERIDGE (including also Blake, Rogers, Bloomfield, Hogg, Wordsworth, Scott). 576 pp.

SOUTHEY TO SHELLEY (including also Tannahill Landor, Lamb, Campbell, Moore, Elliott, Knowles Tennant, Hunt, Peacock, Procter, Byron, De Vere, &c.). 612 pp.

KEATS TO LYTTON (including also Clare, Talfourd Carlyle, H. Coleridge, Darley, Motherwell, Hood, Thom, Macaulay, Taylor, Wells, Barnes, Praed, Horne, Beddoes, Whitehead, Hawker, &c.), 656 pp.

TENNYSON TO CLOUGH (including Turner, Hallam, Sterling, French, Hake, Houghton Blackie, Fergusson Doyle, Domett, Browning, Scott, Linton, Westwood Mackay, Bailey, Harpurcall, Jones, Marston, Ruskin) 688 pp.

KINGSLEY TO THOMSON (including, Charles Kingsley, Ebenezer Jones, W. C. Bennet, Locker Lampson, Sir Joseph Noel Paton, Robert Lughton, Mathew Arnold, William Cory, William Brighty Rands, Coventry Patmore, William Coldwell Roscoe, Sydney Dobbell, William Allingham, George Macdonald, Francis T. Palgrave, Thomas Woolner, Mortimer Collins, Robert Brough, Gerald Massey, George Meridith Walter Thornbury, Danti Gabriel Rosetti, Alexander Smith, Sebastian Evans, T. E. Brown, Robert Earl of Lytton, Joseph Skepsy, Sir Edwin Arnold, Richard Watson Dixon, Adam Lindsay Gordon, John Nichol, Sir Lewis Morris

Apply to—G. A. NATESAN & Co., PRINTERS & PUBLISHERS, ESPLANADE, MADRAS.

THE PROBLEM OF EXISTENCE: ITS MYSTERY, STRUGGLE, AND COMFORT IN THE LIGHT OF ARYAN WISDOM. By Manmath C. Malik. *Demy 8vo., cloth.* Rs. 7-14.

Life makes itself manifest in two main features—action and abtsraction. Life in continuous action is only observable in the material forces of nature which are incessantly at work without stoppage or rest. Life in abstraction is perceivable in thought alone when the mind withdraws itself wholly from its material associate. There are subordinate divisions as innumerable as the material figures in which life enters for a time, in which the two characteristics are combined in different degrees. To study and to know what life is to solve its mystery, to receive imperishable light, and to secure everlasting and unalloyed happiness.

This book seeks to indicate the method by which the mystery of life may be solved, its delusion dispelled, and individual, national, racial, human advancement towards perfection, if ever attainable on this planet, achieved.

THE MYSTICS, ASCETICS AND SAINTS OF INDIA. By John Campbell Oman, *Author of "Indian Life, Religious and Social," etc. Fully illustrated. Medium 8vo., cloth.* Rs. 10-8.

This work is in the main a study of Sadhuism, the name Sadhu being applied in general to Hindu ascetics, monks, or religious mendicants, without reference to their particular sects. It contains also incidentally some account of the faquirs, or ascetics who profess Islam. A great mass of information, which has hitherto been scattered in a number of books and in learned journals difficult of access is here brought within the reach of every one, and many new and interesting facts which have come within the author's personal experience are added, with the result that a tolerably full account has been presented in this volume of the peculiarities of the leading ascetic sects, such as the *Yogis, Sannyasis, Bairagis*, etc. The question of Indian miracle workers—a subject of perennial interest—is also discussed. In a concluding chapter, the author enters into a comparison of Occidental and Oriental ideals, the latter as especially exemplified by the prevalence of Sadhuism since remote antiquity, and attempts to estimate the probable influence of Hindu asceticism on the future of India. Dr. Oman's name is, of course, sufficient guarantee of the accuracy and scholarliness of the work, and he has succeeded in presenting matter sometimes of considerable difficulty, in so lucid and attractive a form, that the general reader can hardly fail to be interested.

British Political Leaders. By Justin McCarthy with portraits. Contents:—Arthur James Balfour; Lord Salisbury; Lord Rosebery; Joseph Chamberlain; Henry Labouchere; John Morley; Lord Aberdeen; John Burns; Sir Michael Hicks-Beach; John E. Redmond; Sir William Harcourt; James Bryce; Sir Henry Campbell-Bannerman. **Rs. 3.**

BUDDHIST INDIA. By T. W. Rhys Davids, LL. D., *Professor of Pali and Buddhist Literature, University College, London.* Rs. 3-2.

STOPS; OR HOW TO PUNCTUATE. By Paul Allardyce. Cloth. As. 10.

Indians in South Africa.

LABOUR AND OTHER QUESTIONS IN SOUTH AFRICA. By "Indicus." *Crown 8vo., cloth. Rs. 2-10.*

The author has resided in India for many years and was greatly astonished at the treatment meted out to Indians in South Africa. He doubts whether it is realised in Great Britain that the coloured subjects of His Majesty, who in India rise to the highest positions are not allowed to be carpenters, tailors, or blacksmiths in South Africa, nor does he believe that it is known how much Natal owes to this industrious and law-abiding people. In the words of one of themselves, not a cabbage was grown in Natal until they arrived. The author's object in writing the book is to call attention to the unjust and impolitic way in which Indians are treated in South Africa, but there are numerous sidelights on the state of affairs in South Africa, one of which, the preponderance of emigrants from South Eastern Europe of a very undesirable class, may perhaps be mentioned.

——:o:——

Labour and Protection. Essays edited by H. W. Massingham. Political Dangers of Protection; Protection as a Working Class Policy; in the Days of Protection; the Workman's Cupboard; the Co-operative Housewife; the People on the Margin; Protection and the Staple Trades; and other essays. Rs. 4-8.

The Inner Life of the House of Commons. Selected from the writings of William White, with a Prefatory Note by his son. Rs. 5-5.

British Industries under Free Trade. Essays by members of leading English firms. Edited by Harold Cox, *Secretary of the Cobden Club.* Linen by Sir R. Lloyd Paterson; Wool by Sir Swire Smith; Cotton by Elijah Helm; Grocery by J. Innes Rogers; Alkali by Alfred Mond; Coal by D. A. Thomas; Tramp Shipping by Walter Runciman; Shipping Liners by M. Ll. Davies; Cutlery by F. Callis; Soap by A. H. Scott; Silk by Mathan Blair., etc. Rs. 4-8.

MEDIÆVAL INDIA UNDER MUHAMMADAN RULE (As. D. 712-1764.) By Stanley Lane-Poole, *Professor of Arabic at Trinity College, Dublin.* Rs. 3-2.

CHINA UNDER THE SEARCHLIGHT. By W. A. Cornaby. *Crown 8vo., cloth.* Rs. 4-8.

In the present work the author discusses many things as seen from the inside. The moral and political results of China's congested population; the native ideas of fraternity and patriotism; the intellectual outlook of the Chinese as regards literature and science are touched upon and the author discourses on the vexed missionary question from the standpoint of an expert.

APPLY TO—G. A. NATESAN & CO., PRINTERS & PUBLISHERS, ESPLANADE, MADRAS.

Imperial Japan.

Price Rs. 5-10.

THE COUNTRY AND ITS PEOPLE.

BY G. W. KNOX.

WITH A NUMBER OF ILLUSTRATIONS.

CONTENTS :—The tradition ; Asiatic civilisation ; Feudal wars ; The Awakening ; Buddhism ; The religion of the common people ; Confucianism ; The religion of educated men ; Philosophy for the people ; The war of the 'Samurai' ; The life of 'Samurai' in Old Japan ; The life of 'Samurai' in New Japan ; The common people ; Farmers, Artisans and Artists ; Merchants, women and servants ; Language, literature and education ; Tokyo, with an introductory chapter on 'The point of view.'

HOW WE RECOVERED THE ASHES.

(By P. F. Warner.)

A thoroughly interesting record of the historic tour of the M.C.C. team in Australia written in a fascinating manner by its Captain. The vivacity, vigour and unaffected frankness of the book make it one of the best stories of cricket ever told. It contains some forty excellent photographs and a most valuable appendix giving statistics of the tour such as batting and bowling averages, notable performance with the ball in the Test Matches, besides several other interesting Test Match records. The volume is bound to fascinate everyone who takes the slightest interest in cricket.

Price As. 12.

THE SOWERS.

(By Henry Seton Merriman.)

This absorbingly interesting story by that most popular writer, the late Mr. Merriman, will be found very difficult to lay down until its last page has been turned. The scene is laid partly in England and partly in Russia. The story of a Secret Society is mixed up with the main incidents of the narrative, thus making the book full of colour, emotion and adventure. Besides being written in Mr. Merriman's most facinating manner, "The Sowers" throws considerable light on several phases of Russian life and society. Mr. A. S. Hartrich contributes eight excellent illustrations to the volume. Price As. 6.

Russian Life in Town and Country. By Francis H. E. Palmer. Price Rs. 2-10.

Containing a full description of the Social and Domestic Life of the Russians. With fifteen Illustrations.

"It is an excellent book, manifestly the work of intimate knowledge, and in at least one respect it will come as a surprise to English readers."—*Academy.*

Six Penny Novels.

——:o:——

Price As. 6 each

Memoirs of a Mother-in-Law. George R. Sims
Miss Cayley's Adventures. Grant Allen.
Hilda Wade. Grant Allen
What's bred in the Bone. Grant Allen
An African Millionaire. Grant Allen
In the Heart of the Storm. Maxwell Gray
Dr. Therne. H. Rider Haggard
She. H. Rider Haggard
Robert Elsmere. Mrs. Humphry Ward
The History of David Grieve. Mrs. Humphry Ward
Marcella. Mrs. Humphry Ward
John Herring. Rev. S. Baring Gould
A Millionaire's Love Story. Guy Boothby
Mastery of the Clasped Hands. Guy Boothby.
Stories from the Diary of a Doctor. Mrs. Meade
Fights for the Flag. W. H. Fitchett
Deeds that won the Empire. W. H. Fitchett
The Herb Moon. John Oliver Hobbes.
The Manchester Man. Mrs. Banks
The Japs at Home. Douglas Sladen
The Sowers. H. Seton Merriman
For God and the Czar. J. E. Muddock
A Deal with the Devil. Eden Phillpotts.
One Life one Love. M. E. Braddon

——:o:——

Apply to—G. A. NATESAN & Co., BOOK-SELLERS, ESPLANADE, MADRAS.

Chats on Violins. By Olga Racster. Fully illustrated. Crown 8vo. cloth gilt. Price Rs. 2-10

The Complete Bridge Player. By Edwyn Anthony ("Cut Cavendish"), 320 pages. (*With the revised laws of bridge and comments thereon.*) Crown 8vo. Price Rs. 2-3.

Iconoclasts: A Book of Dramatists. Illuminating critical studies of modern revolutionary playwrights. By James Huneker. Crown 8vo, Price 5-4.

Henrik Ibsen. August Strindberg. Henry Becque. Gerhart Hauptmann. Paul Hervieu. The Quintessence of Shaw. Maxim Gorky's Nachtasyl. Hermann Sudermann. Princess Mathilde's Play. Duse and D'Annunzio. Villiers de l'Isle Adam. Maurice Maeterlinck.

The Works Of Horace. Translated into English by C. Smart. With notes and a memoir. With photogravure frontispiece. Crown 8vo., cloth gilt, Price Rs. 2-3-0.

Pictures in Umbria. By Katharine S. Macquoid. With 50 original illustrations by Thomas R. Macquoid, R. I. Price Rs. 5-4.

"Pictures in Umbria" gives an account of the marvellous old hill cities—Perugia, Assisi, and others—and endeavours to convey the charm of the scenery around them, to describe the Art treasures they contain, and to recall the associations interwoven with their history.

The Catherdrals of Northern France. By Francis Miltoun. With 80 illustrations from original drawings, and many minor decorations, by Blanche McManus. Vol. I decorative cover, Cloth gilt. Price Rs. 5-4.

The Cathedrals Of Southern France. By Francis Miltoun. With 90 illustrations from original drawings, and many minor decorations, plans, and diagrams by Blanche McManus, decorative cover, 568 pages, Cloth gilt. Price Rs. 5-4.

The Cathedrals of England. An account of some of their distinguishing characteristics; together with brief historical and biographical sketches of their most noted bishops, with 30 full-page plates. By Mary Taber. 296 pages, Cloth gilt. Price Rs. 5-4.

A Lindsay's Love. A Tale of the Tuileries and the Siege of Paris. By Charles Lowe. Crown 8vo. cloth gilt. Price Rs. 4-8.

"THE FIRST BOOK ON THE WAR."

The Campaign with Kuropatkin.

BY DOUGLAS STORY.

Demy 8vo., with 48 illustrations from the author's photographs, cloth gilt, 368 pages.

Price Rs. 7-14.

THE WILD IRISHMAN. By T. W. H. Crosland, Author of "The Unspeakable Scot," "Lovely Woman," etc. 1. Distressful.—2. The Shillelagh.—3. Blarney.—4. Whiskey.—5. The Pathriot.—5. Orangemen.—7. The Low Scotch.—3. Priestcraft.—9. Morals.—10. Pretty Women.—11. The London Irish.—12. Tom Moore—13. W. B. Yeasts.—14.—Wit and Humour—15. More Wit and Humour.—16. Dirt.—17. Pigs.— 18. Potatoes—19. The Dirthy Government.—20. "Tay Pay" and Others.—21. Erin and the King. **PRICE RS. 3-12.**

THE ARTIST'S LIFE AND OTHER ESSAYS. By John Oliver Hobbes, Author of "Some Emotions and a Moral," "The School for Saints," etc. Crown 8vo. Cloth Gilt, with Frontispiece. Rs. 2.

A collection of brilliant essays by Mrs. Craigie. In the volume are included her lectures before the Dante Society, the Ruskin Society, and the Philosophical Institution of Edinburgh.

THE CONFESSIONS OF A YOUNG MAN. By George Moore, Author of "Esther Waters," "The Mummer's Wife," "Evelyn Innes," etc. A fifth edition revised and with a new foreword. Crown 8vo., Cloth with Frontispiece, Portrait and a Cover. Rs. 3-14.

ROBERT LOUIS STEVENSON. A record, an estimate, and a memorial. By Dr. A. H. Japp. Price Rs 4-11

The Private Life Of Warren Hastings. By Sir Charles Lawson. Price Rs. 9-3.

The Times.—A very engaging picture of Warren Hastings' personal character and surroundings at different times of his life, gathered from authentic sources, compiled with much skill and patience, and copiously illustrated from contemporary portraits and caricatures, as well as by representations of localities associated with his life and family....

A Modern Utopia. By H. G. Wells. Price Rs. 1-8.

Contents:—The owner of the voice, Topographical; Concerning freedoms; Utopian Economics; The voice of nature; Failure in modern Utopia; Woman in a modern Utopia; a few Utopian impressions; my Utopian Self; The Samurai race in Utopia; The bubble burst; Scepticism of the instrument.

The Bell and the Arrow. An English Love Story. By Nora Hopper (Mrs. Hugh Chesson). Crown 8vo., cloth. Price Rs. 4-8.

Apply to—G. A. NATESAN & Co., PRINTERS & PUBLISHERS, ESPLANADE, MADRAS.

THE INDIAN REVIEW.

EDITED BY G. A. NATESAN, B.A.

Vol. VI.] DECEMBER, 1905. [No. 12.

Contents.

Contributions.

All contributions and books for review should be addressed to Mr. G. A. Natesan, Editor, The "Indian Review," Esplanade, Madras.

Rates of Subscription.

Annual Subscription Including Postage { *India, Rs. 5* / *Great Britain, 10/-* / *United States, 3 dollars.*

Advertisement Rates.

Per page per month { India .. .. Rs. 10 / Foreign .. .. £ 1

Proportionate rates for quarter and half pages.

Contract rates and terms for insets on application to

G. A. NATESAN & Co., Publishers, Esplanade, Madras.

School of Arts, Madras.

Chrome Leather Department.

To popularize the use of Chrome leather, a Special Department for the manufacture of Chrome leather boots, shoes, and sandals, has been opened. Under no circumstances will work in any other kind of leather be undertaken. Chrome leather can be supplied either black, brown or in the undyed condition, the colour of which is pale green. The following prices will be charged. No credit will be given and mofussil orders will be sent V. P. P.

PRICE LIST.

MEN'S.

	RS.	A.
Balmoral boots to lace up—black, brown or undyed leather	9	8
Derby cut boots, light make	10	8
Shooting boots, stout soles and wide welts	12	8
Cricket boots with spikes	10	12
Football boots with bars	10	8
Button boots in black chrome leather only	12	8
Parade boots in black chrome leather only—correct to regulation	10	8
Marching boots, correct to regulation, in brown and black chrome leather ..	11	8
Miners' and Planters' boots	10	8
Field or Elcho boots	20	0
Riding boots in black or brown leather	30	0
Volunteer boots	6	8
Oxford shoes	6	8
Tennis shoes	6	0
Slippers	3	8
Sandals, best quality	2	8
„ 2nd „	1	8
Gaiters to button, buckle or with straps—any pattern—black, brown or undyed leather	12	8

LADIES'.

	RS.	A.
Balmoral boots—black, brown or undyed leather	7	8
Button boots	10	8
Oxford shoes	6	8
Tennis shoes	4	8
Riding boots in black or brown leather.	25	8
Sandals, best quality	2	0

BOYS'.

	RS.	A.
Boots in brown, black or undyed leather. Sizes 11 to 13..	4	0
Boots extra strong and durable for school use	5	4
Oxford shoes	3	0
Slippers	2	0
Tennis shoes	2	12
Sandals, best quality	1	8

CHILDREN'S.

	RS.	A.
Boots in brown, black or undyed leather. Sizes 7 to 10..	3	0
Boots extra strong for school wear ..	3	8
Oxford shoes	3	0
Ankle or instep strap shoes	3	4
Sandals	1	8

INFANTS'.

	RS.	A.
Ankle or instep strap shoes in brown, black or undyed leather. Sizes 1 to 6.	2	8

NOTE.—TO MOFUSSIL RESIDENTS.

A well-fitting boot or shoe is the best guide for size. When this is impossible, draw the outline of foot on a piece of paper holding the pencil perpendicularly. Next take a measuring tape and pass round (1) joint, (2) instep, (3) heel, and for boots round the ankle also. The tape should be drawn fairly tight and the drawing and measurements should be sent along with the order.

☞ *All communications should be addressed to the Officer in charge, Chrome Tanning Department, School of Arts, Madras.*

THE INDIAN REVIEW.
Published about the third Week of every month.
EDITED BY G. A. NATESAN, B. A.

Vol. VI.] DECEMBER, 1905. [No. 12.

EDITORIAL NOTES.

:o:

THE MEETING IN THE HOLY CITY.

A few days more and a vast concourse of citizens from all parts of the country will meet in the holy city of Benares to confer together in a spirit of earnestness and true brotherliness on the various problems political, industrial, religious and social, which engage the attention of all thoughtful men who are working in some form or other for the advancement of this great land of ours. The veriest pessimist is sure to feel the warm glow of optimism as he gazes on the galaxy of men of the highest learning, character and public spirit engaged seriously in trying to find means for the alleviation of the lot of the Indian people, and for the uplifting of the nation at large. Surely, the assembling year after year in various parts of the country of representatives of the Hindu, the Mussalman, the Christian and the Parsi communities, undergoing pecuniary and other sacrifices for the discussion of common grievances and the promotion of common aims and aspirations is, in itself, an event which would gladden the hearts of all. Eighteen years ago, addressing the delegates of the Second Indian National Congress which assembled at Calcutta, the late lamented Dr. Rajendra Lala Mitra gave utterance to these remarkable words :—

"It has been the dream of my life that the scattered units of my race may some day coalesce and come together ; that instead of living merely as individuals, we may some day so combine as to be able to live as a nation. In this meeting, I behold the commencement of such coalescence. I hope the union will not be very distant. It may not be left to me to realize the sight, but it is highly gratifying to me that we are here assembled together, delegates from the North and from the South, from the East and from the West, all anxious to join as members of one nation for the good of our country."

The voice of the venerable patriot that gave expression to this loving welcome is now hushed for ever ; but not even the worst critic of the Congress will make bold to say that within the last seventeen years and more the national spirit has not been gaining strength and the scattered units of the race have not been coalescing. There is everywhere manifest an ardent and glowing desire that India should take its proper place among the nations of the world.

Nevertheless, amidst such a warm feeling of enthusiasm and hope it is good to recognise that so far only "the jungle has been cleared and the foundations laid. The great work of rearing the superstructure has yet to be taken in hand, and the situation demands, on the part of workers, devotion and sacrifice, proportionate to the magnitude of the task."

A steadfast and strenuous struggle against our own weaknesses and the external forces that operate against us is necessary. "The path is beset with great difficulties—there are constant temptations to turn back—bitter disappointments will repeatedly try the faith of those who have put their hand to the work. But the weary toil can have but one end, if only the workers grow not faint-hearted on the way. * * * * * Public life must be spiritualized. Love of country must so fill the heart that all else shall appear as of little moment by its side. A fervent patriotism, which rejoices at every opportunity of sacrifice for the motherland, a dauntless heart, which refuses to be turned back from its object by difficulty or danger, a deep faith in the purpose of Providence that nothing can shake—equipped with these, the worker must start on his mission, and reverently seek the joy, which comes of spending oneself in the service of one's country."

These are the words of the Hon. Mr. Gokhale who has devoted almost the whole of his life to the service of his country and who is yet in the full vigour of manhood buoyed up with the hope and conviction that success is for those that earnestly strive for it. The grand national movement which is shortly to commence its sittings under the presidency of this most patriotic and self-sacrificing of Indians will this year attain its age of majority. And what holier soil could we conceive for us to stand on while we vow to work, in however a small degree, for the regeneration of our mother-land.

THE INDUSTRIAL CONFERENCE.

The Executive Committee of the Exhibition Section of the Congress have resolved to hold for the first time this year, in the venerable city of Benares, an Industrial Conference. The idea of an Industrial Conference was first projected by that eminent thinker the late Mr. Ranade, who immediately strove to realise it by holding conferences at Poona. A few conferences were held in this city—and their proceedings may now be read in the pages of the journal of the *Sarvajanick Sabha*—but on the elevation of Mr. Ranade to the Bombay High Court the movement in Poona collapsed. Latterly, at one of the Lahore Congresses Lala Harikishen Lal succeeded in getting the Congress to adopt a resolution in favour of giving half a day at least to the consideration of industrial and educational questions. Sub-Committees were appointed in pursuance of the resolution, to consider details, but nothing further was done in this direction. The Exhibition, which for the last four years has been a feature of the Congress, is more or less a gay adjunct. It is no doubt useful as preparing the way for strenuous industrial activity by showing the people the actual condition of their industries and the possibilities of future development. But in the absence of clear and accurate knowledge regarding the industries themselves and an organization for collecting and distributing such information widely, nothing really beneficial to industrial development could be said to have been done. It is gratifying, therefore, to learn that this defect is to be remedied at the next Congress. This widens the sphere of Congress work and to that extent elevates and renders more practically useful the sittings of the Indian National Congress.

A RELIGIOUS CONGRESS.

While Northern India is, this winter, the scene of so much public activity directed towards political elevation and industrial development, it would be strange if the claims of the religious situation obtained no hearing. That ardent patriot of the Punjab, Mr. Madan Mohan Malaviya tells us in a circular that it is proposed to hold a *Sanatana Dharma Maha Sabha*, a Congress of the ancient religion, at Allahabad in the next Magh on the occasion of the *Kumbhamela*. The objects of the Sabha will be to call the attention of the Hindus to the unsatisfactory condition of their religious organization and to emphasise those fundamental aspects of the Hindu faith and ritual which are uniform in all the diverse sects of India. That great desideratum, a hand-book of the Hindu Religion based on texts of indisputable authority, is also hoped to be supplied; and arrangements will also be made to train a body of competent religious teachers. These are worthy aims; and in view of the fact that the Hindu mind is most easily reached and roused through the religious side, it seems probable that a certain measure of success would attend these endeavours But the task which the Sabha has set itself, if hopeful from one, is stupendous from another, standpoint. And what is not stupendous in India as a whole? Everything is and everything must be done.

MORAL TEACHING IN SCHOOLS.

To the memorial of Babu Upendranath Banerjee and several others regarding the moral training of students in Bengal Schools, the Government of India have replied in a Resolution which is not characterised by much relevancy. While the memorial pointed out that the courses of study were defective in not embracing moral curricula, the Government make undesirable references to the raising of the ethical standards of a people and shelter themselves, where non-feasance is apparent, under religious neutrality. There are only four agencies by the aid of which, according to Government, morality can best be taught to the rising Indian generation. The first and foremost of them, as also the most direct and potent, is the influence of Home life. The Government rightly observe that it is an agency entirely independent of them. It must be admitted, however humiliating the admission may be, that in regard to this matter, Indian parents have not been very much alive to their responsibilities. The second and the third agencies, namely, the influence of the teacher on the pupil and the nature of the teaching, they are getting, say the Government of India very self-complacently, all the attention they deserve. It is certainly open to question whether it is so. On the fourth head, that of providing healthy sorroundings for boys out of school hours, the Government confess only to a divided responsibility. It is always difficult to determine where the responsibility of the Government ends and that of the people begins; but it appears to us that in this matter both the Government and the public have been remiss in their duties.

——:o:——

SANSKRIT LEARNING IN INDIA.

We have received an influentially signed circular issued from Benares in the interests of Sanskrit learning in India. The circular which is headed "An appeal to the Hindu Public of India," begins with a pathetic reference to the condition to which Sanskrit lore has sunk in our country to-day, and we cannot help agreeing with the signatories in their statement that "this ancient learning is fast deteriorating both in quality and quantity, and that "there are to be found tens of students in place of thousands and the deep scholastic learning is giving place to scholars' knowledge and pedantry." The popularisation of Sanskrit study must find a prominent place in any scheme that may be formulated for the purpose of giving India her rightful position among the nations of the world, and this popularisation is essentially a matter which rests almost entirely with the people themselves. The Government have no doubt discharged a share of their duty by the establishment, so early as 1794, of the great Sanskrit College at Benares, which has continued to thrive to this day. The College imparts education to about 400 students, and on an average turns out about 15 scholars annually with diplomas of the highest proficiency in Sanskrit. It grants literary degrees and titles recognised by the Government and is in fact a sort of University. It attracts students from such distant places as Ceylon, Russia and Japan. It has an annual income of Rs. 20,000 and its expenditure amounts to nearly that sum. The Benares Sanskrit College is doubtless an institution of which we may be all justly proud, but it has some shortcomings which detract from its utility. The absence of a Boarding-House or Hostel is greatly felt by students coming from distant provinces, and the majority of those seeking instruction are too poor to meet the cost of their daily board. Further, because of the absence of studentships, no one cares to remain at College after graduating and devote his time exclusively to the cultivation of knowledge and original research. It is to remove these shortcomings that this "Appeal," has been issued. A Committee has been formed in Benares, under the patronage of Their Highnesses the Maharajahs of Benares and Travancore for the purpose of raising a fund to build a big Boarding-House with accommodation for about a hundred students and to provide means for feeding and clothing poor scholars. Besides this, the Committee proposes to raise funds for establishing four studentships of Rs. 75 per mensem each, to be awarded to the most brilliant students of the College who should elect to remain at this College for original research. A sum of not less than four lakhs of rupees is necessary at the lowest estimate for this endowment. The Hon'ble Munshi Madho Lal, besides contributing Rs. 40,000 towards establishing scholarships for Sanskrit students in the B. A. and M. A. classes, has, it is most gratifying to note, contributed a sum of Rs. 25,000 towards this fund. The public are assured that no one will have any authority to appropriate this fund to any other purpose, and if the required sum is not forthcoming and the project fails, the donations will be duly returned. Contributions to the "Sanskrit Hostel Fund" may be sent to the Benares Branch of the Bank of Bengal.

In this connection, our readers will be glad to know that Mr. V. Krishnaswamy Aiyar of our city, well known for his public spirit and large-hearted charity, has set apart a sum of Rs. 25,000 for starting on a modest scale a Sanskrit College in the town of Madras. Substantial help has been promised by other public-spirited citizens and the details of the scheme will soon be made public. We may state, however, that one unique feature of this new Sanskrit College will be that the study of English will be made compulsory for the Pundits and the students who resort to it, the chief aim of the promoters being the education of the Pundit so as to put him in touch with modern thought and conditions of life.

AN ORIENTAL SCHOOL IN LONDON.

It is remarkable that of the four great Western Powers who have great interests in Asia, England alone should be behind-hand in providing for its people facilities for the acquisition of Oriental learning. In Berlin, Paris and St. Petersburg large and well endowed institutions exist for imparting instruction in Oriental languages. Dr. Grierson the eminent philologist who recently conducted the linguistic survey of India has called attention at the last annual meeting of the Royal Asiatic Society to the fact that Indian officials have to go to Germany to hear lectures on Indian subjects. For these reasons, the Royal Asiatic and Central Asian Societies have moved in the matter and appointed a Committee. The Committee, after several sittings, have now adopted a report proposing that a petition should be addressed to the Prime Minister asking for the appointment of a Committee or Commission of Inquiry with a view to the establishment of a Central Oriental Institution in London.

BANDE MATARAM.

This famous song occurs in a Bengali novel called the *Ananda Math*. It is a work of the famous Bankim Chunder Chatterjee in which the revolt of the *Sanyasins* during the time of Warren Hastings is depicted. *Ananda Math* is the name of their rendezvous, and the song, their war cry. It is now the shibboleth of the Bengal Swadeshis and the horror of the Bengal Civilians.

Thou with sweet springs flowing,
Thou fair fruits bestowing,
Cool with zephyrs blowing,
Green with corn tops growing,
Mother, hail!

Thou of the shivering-joyous moon-blanched night,
Thou with fair groups of flowering tree-clumps bright,
Sweetly smiling,
Speech-beguiling,
Pouring bliss and blessing,
Mother, hail!

Though now seventy million voices
Through the mouth sonorous shout,
Though twice seventy million hands
Hold thy trenchant sword-blades out,
Yet, with all this power now,
Mother, wherefore powerless thou?
Holder thou of myriad might,
I salute thee saviour bright,
Thou who dost all foes affright,
Mother, hail!

Thou sole creed and wisdom art,
Thou our very mind and heart,
And the life-breath in our bodies,
Thou, as strength in arms of men,
Thou, as faith, in hearts, dost reign,
And the form from fane to fane,
Thine, O Goddess!
For, thou hast the ten-armed *Durga's* power,
Riches thrones thee in her lotus-bower,
Wisdom thee with deity doth dower,
Mother, hail!

Lotus-throned, rivalless,
Radiant in thy spotlessness,
Thou whose fruits and waters bless,
Mother, hail!

Hail, thou, verdant, unbeguiling,
Hail, O! decked one, sweetly-smiling,
Ever bearing,
Ever rearing,
Mother, hail!

Mr. JOHN MORLEY.

It is a matter for congratulation that Sir Henry Campbell Bannerman has given us Mr. John Morley. So far India feels grateful to him. Let us devoutly hope that he may prove to be India's good angel and usher the dawn of a bright day after the long Arctic night of pain and distress through which she has just passed. Not that India is sanguine that Mr. Morley will revolutionise the administration. The lions in the path are many and of almost a determined character. Indians are fully aware of the fact that ministers come and go but that the bureaucracy which governs the great empire is permanent. All that may be anticipated is that Mr. Morley may bring to the consideration of the great problems that are pending, a historic mind which is at once open and just. India seeks justice at the hands of the great British nation, and next to justice, sympathy. It will feel grateful to the new minister, if rising equal to the occasion and the high trust and responsibility with which he is now charged, he shapes the policy of the Government of India in such a statesmanlike manner as to be in harmony with the oft-declared sentiments of our people and in the spirit of the beneficent charters and gracious Proclamations that we cherish so fondly. It will be enough for Indians to cherish his Secretaryship with gratitude if he succeeds in restoring confidence, and bringing back rest and contentment, making them forget that there ever was a reactionary and repressive regimé, and inspiring them with moderate hope as to future progress, moral and intellectual, on the lines of least resistance. And is this too much to expect from one who, writing of Burke, said:—

"He taught the great lesson that Asiatics have rights, and that Europeans have obligations; that a superior race is bound to observe the highest current morality of the time in all its dealings with the subject race. Burke is entitled to our lasting reverence as the first apostle and great upholder of integrity, mercy, and honour in the relation between his countrymen and their humble dependents."

—:o:—

HAND-WEAVING IN INDIA.

Mr. Alfred Chatterton, to whose zealous efforts the great success of the Aluminium industry is due, is now engaged with equal enthusiasm in rectifying the defects of hand-weaving in India. He has toured through Bombay and Bengal and the results of his investigation in these provinces are now embodied in an important report to Government. Inspired by the success of the Basel Mission Weaving Establishments, an experimental Weaving Department was opened at the School of Arts, Madras, for the purpose of improving the methods of hand-weaving in South India. Similar improvements were introduced both at Chingleput and Karur, but these latter had to be closed within a year as it was found that even with the fly-shuttle loom they were unable to compete with the native weavers. The Madras establishment, which manufactured the "Madras Handkerchiefs" has, however, been kept up, though much profit has not been earned. Mr. Havell of the Calcutta School of Arts has, nevertheless, been a persistent advocate of the fly-shuttle loom and has stated that the weavers of Serampore have been able, with an old pattern hand-loom, to produce twice as much work as their neighbours with the common country loom. But somehow the result of the experiments in Madras was not altogether satisfactory.

It was found that, though the rate of weaving could be more than doubled, yet as the threads of the warp broke frequently, the resulting out-turn was not anything so great as anticipated. This was discouraging to the native weaver. Mr. Chatterton, like Mr. Churchill the American expert in charge of the Ahmednagar institution, therefore, devised some improvements in the machinery, and the indent for such a type of machine has just been transmitted to the Secretary of State, though it was made three years ago to Government.

Mr. Chatterton has clearly brought out in his report the very important fact that in a humid climate the threads break less frequently and this is why Bengal and the West Coast succeed where Madras fails. There, the average humidity is considerably greater than in Madras. Even in Madras more work could be done in the humid than in the dry months; and it is well known that native weavers put their looms in damp excavations and work during the cool hours of the day. It is therefore essential that factories should be started only in places where humid conditions prevail, if success is to be achieved.

OUR POLITICAL MISSION TO ENGLAND.

The wisdom of pleading the cause of India before the British public is coming to be justified by its results. The letter which Mr. Hodgson Pratt, late of the Bengal Civil Service, wrote to Mr. Gokhale expressing sympathy with his mission is a notable document. Mr. Hodgson writes in the true spirit of an Englishman. The frank sympathy and the high magnanimity of the letter ought to inspire hope in Indians that their, cause is bound to find favour ultimately with the British public.

Mr. Hodgson Pratt deplores the amount of ignorance of India which prevails in the ruling country. He learnt from his experience as a member of the Civil Service how essential it is for the sake of good administration that the mind of the people should be thoroughly understood. Great mistakes were made in the past in questions regarding Land Tenure owing to the want of intimate knowledge of the people. The aspiration of educated Indians to a greater share in legislation and administration of the country is a legitimate one. It is the direct outcome of that noble policy which decided that English learning should be imparted to Indians. Mr. Pratt bears testimony from personal experience that this educational policy was inaugurated with the object *of preparing the peoples for Self government.* These are the words used by the then Lieut. Governor of Bengal, Sir Frederick Halliday. What has happened since that the Government should try to abandon this noble policy? Nothing that he could see. By their success at the English examinations and their ability as administrators of Native States, Indians have proved themselves not less gifted than Englishmen in intellectual capacity. Nor are they lacking in moral virtues. Their philosophic literature is famous for its profundity, and in religion some of their latter-day teachers have commanded the respect of the followers of other creeds and won their profound esteem. In view of such facts Mr. Pratt finds it difficult to understand on what ground justice has been denied to the legitimate aspirations of his fellow-subjects in the East. In his opinion Englishmen, who hold that national independence is the birthright of all nations, who have attained a certain degree of civilisation, ought to support actively their fellow-men in the East who have turned to good account the lessons imparted by them, and who only ask for a right to which they are entitled.

THE SWADESHI MOVEMENT.

A SYMPOSIUM.

I. RAJAH PEARY MOHUN MUKERJEE.

[In view of the important phase, the Swedishi Movement has recently assumed in this country, we invited several leading gentlemen in India to give their views on the subject. A special request was made that attention may be drawn to industries which deserve immediate attention and development. In response to our invitation, we have received among others the following which we publish as the first instalment. *Ed. I.R.*]

The desirability of using country-made goods and the necessity of improving indigenous industries and introducing new industries not only to meet demand but also to create new avenues of employment for men of the middle classes have been felt for several years. The "Association for the advancement of Scientific and Industrial Education' 'owed its foundation to that feeling. Within a period of little more than two years, the Association has succeeded in doing an amount of useful work which entitles it to the support of all well-wishers of the country. Although the Swadeshi movement received a strong impetus from the feeling roused by the Partition of Bengal, it is not an outcome of that measure. The great obstacle in the way of working out the principle to the desired extent is the poverty of the people and the disinclination on the part of large landed proprietors and capitalists to invest money in furtherance of it. Some mischief, too, has been done by giving it the character of a *quasi* political movement. It is necessary for its success that the movement should be divested of that character and treated purely as an attempt to promote self-reliance and to improve the condition of the people. The difficulties in the way of success are great and they would be insuperable unless we content ourselves at the outset with a modest programme. Industrial training and manufacturing skill have usually a long infancy; one should not despair at want of success in the beginning. What we want most at the present moment is the extensive cultivation of cotton, the improvement of handlooms, the introduction of machinery for spinning and weaving, the manufacture of enamelled ware and the manufacture of small hardware and safety matches.

II. DEWAN BAHADUR KRISANASWAMY ROW.

It is a matter for sincere congratulation that the whole of India from the Himalayas to Cape Comorin is now of one mind as to the necessity of relying entirely on ourselves for the supply of all our needs. The Swadeshi movement is purely economic, and its sole aim is to better our material condition, which by the verdict of the world, is most deplorable. Any innocent movement may become mischievous by the manner it is conducted. I deprecate demonstrations of all kinds, as they lead to friction and disunion. The success of the movement depends entirely upon steady co-operation, honest work, and unceasing perseverance. No man with a sense of justice and fairness can find fault with the movement which seeks to improve Indian manufactures. I do not approve of the boycott of foreign goods in the offensive manner in which it has been carried out in some parts of India under the influence of misguided zeal. In the present condition of India, it is impossible to abstain altogether from the use of foreign goods. They can be superseded only gradually by an increased supply of Indian manufactures. A boycott *by deed* is preferable to a boycott by words and exhibition of temper. An unostentatious and steady programme of work, and a rigid adherence to it, under all circumstances, are the best means of securing the object of the movement. I hope that the present movement will not pass away like a cyclonic wave, but would remain in the country, as firmly as the highest peak of the Himalayas.

The first obstacle in the way of the successful working of the movement, is the weakness of the spirit of co-operation which exists among us. We are individually good workers; but we have not yet reached the stage when we can say we are fairly good for co-operative action, without which, progress on the lines of civilized nations is impossible. The various institutions in the country such as Associations, Clubs, Conferences, Benefit Funds, Agricultural Co-operative Societies are slowly improving the co-operative spirit. Signs are not wanting to show that it is becoming strong and effective.

The second obstacle to the success of the movement seems to be that by far the great majority of the commercial and industrial classes are yet to learn the urgent necessity for improvement *on new lines*. They look upon all innovations with extreme diffidence and even despair. The

fear of failure reigns supreme with them. Even those who could afford to lose a few hundred rupees without appreciable injury to their interests, do not venture to make experiments with new methods. The general poverty of the classes and their very limited sources of income have also their depressing influence upon their spirit of enterprise. Actual demonstration of the superiority of modern processes will greatly remove this obstacle. The demonstrations which are being held in Indian exhibitions will, I trust, encourage the classes to adopt the new ways.

The third obstacle is that there is an unwholesome dread that the Indian manufactures will be subjected to taxation and statutory restrictions so as to place them on a par with English goods. The foundation for this dread is the imposition of excise duty on the manufactures of Indian mills, at the instance of cotton merchants of Lancashire. An authoritative declaration of policy not to tax Indian manufactures for the benefit of the foreigner, will encourage our small capatalists to turn their serious attention to the improvement of indigenous manufactures. The chief industries to which special attention should be directed, are cotton, woollen and leather manufactures. They require considerable expansion and improvement. If the demand which the Swadeshism is creating for Indian articles proves to be steady, the Indian manufacturers will soon learn to take to improved methods and try to supply all our needs within a reasonable time. Unflagging patriotism and self-respect must keep up the spirit of Swadeshism.

III. DEWAN BAHADUR RAGUNATHA ROW.

I hold that the "Swadeshi Movement" means the observance of the rules that one should buy and use all articles manufactured in his country when they are in quality and price equal to those of foreign articles and not to buy and use the foreigner's when they are inferior in quality and dearer in price. It includes all steps that have to be taken to produce such articles, to produce raw materials for their production, to export them only when there is a surplus and not any portion which can be utilized for the benefit of the producer's country; and to improve their quality and quantity. Our agriculture on which nine-tenths of our population depend should be considerably improved. Our mines of coal, gold, iron and diamonds should be worked by us. These require capital and technical knowledge and skill. Excessive taxation has deprived us of the first and unsound education given during the last 50 years at great expense of the public funds has taken away or has not given the second. For this state of affairs the rulers are responsible. They are not disposed to admit the patent fact of excessive taxation. They appear to admit that the education imparted has been in the wrong direction. To mend it according to their idea it may take a generation at the least. It devolves upon the impoverished people to do what they can to mend matters. They should unite, deliberate and resolve what means they should adopt for making the land to yield more, for developing their industries, for learning the methods employed by successful nations, for gaining information by travels to distant countries, &c.

They should select competent leaders to promote agricultural and commercial undertakings. They should found Agricultural Associations, Co-operative Societies, Commercial Bureaus, Banks, and they should give up their fancy for every thing foreign whether in food, drink, cloths, custom or manners. Our youths should learn the arts and sciences with the help of which they may be able to serve their country in various departments of life and become useful in raising its position—by being truthful, active, industrious, enterprising and dutiful when they become men and citizens and custodians of the reputation of their country. This is the stage of life in which the greatest care, prudence, forethought, courage, unselfishness, patriotism have to be exercised. The knowledge of political economy and politics is in this stage of life absolutely necessary. Its use then is an important part of Swadeshism.

Agriculture would give us food and material for clothing. Mining would give us wealth. There is no doubt in my mind that we can produce the finest cotton in the world. The wool of our country can give us material for warm clothing. We can weave by all available means, whether of our country or of foreign countries, best cloths. We can produce raw materials enough for our purposes and to draw the money of other countries by exports, by prudence and sagacity supply our wants to that extent which would not encourage imports from other countries. All we want is unity, self-confidence, trust in one another, able and honest leaders of industry and enterprise. In short, a desire and determination in each of us to do our duty to our mother country.

IV. MR. DAVID GOSTLING.

—:o:—

DURING all my life in India I have been engaged in constructional work as an Architect. When I arrived forty years ago in 1865, in India, the plans of Watson's Esplanade Hotel, Bombay, were being prepared in London by a celebrated English civil engineer, a designer of railway bridges of large span who subsequently made a name for himself as a specialist in the designs of railway station roofs of large span. The whole of this hotel, ashlar stone plinth, cast iron pillars, wrought iron beams, cast iron staircases and railings, also the fire brick walls were made in England. The only indigenous materials were the foundations, the teak floors, and the internal plaster of the walls. The doors and windows were also made in England of pine wood a most unsuitable material for the hot dry and damp climate of Bombay.

This experiment as a whole was never repeated, but for many years cast iron pillars and wrought iron beams continued to be shipped from Europe. But when the cotton mill industry was resuscitated in Bombay it was found that the local iron factories when put on their mettle turned out equally good cast iron columns as those from England and at as cheap a price, while the saving of time and the certainty of good local supervision turned the scale easily in favour of locally made pillars. Our local firms have screw cutting lathes, planing and drilling machines of the largest size, while one firm has a whole plant of boiler-making machinery including bending machines, machines for drilling to guage, and for plate welding. This firm turns out Lancashire-type double-flued boilers of the largest size, equal to the best English work, all tested under hydraulic pressure.

Again in order to meet the requirements of the cotton mill industry, there are many small repairing and fitting shops, each containing one or two screw cutting lathes, drilling machines horizontal and radial planing machines. These are driven by overhead shafting. The power is mostly actuated by cooly labour, but an increasing number of these shops now use oil engines.

Steel rolling mills have not hitherto been worked in India on a commercial scale, but the Bombay firm of Tata & Sons are now starting a company to roll on the Calcutta side steel railway-rails, H beams and joists, Ts and Ls.

I was delighted many years ago, when President of the Poona Industrial Conference, to be shown round a local Factory for the making of brass cups, (Marathi pyala), *Anglice*, of finger-glass shape. Each separate size had to pass through four sets of dies, in four separate presses, the fifth and final machine being a trimmer and edge-cutter. I purchased a set of these for finger glasses. They have been in continual use in my house ever since. They are made of a special quality of elastic soft-tending golden-colored metal, which if cleaned once a fortnight with tamarind juice retains its color permanently. The cups last practically for ever as they never break. This industry should be started in every large town in India.

I have often wondered what becomes of the large number of private carriage axles and brass hubs. When my carriage wheels rattle beyond endurance, a new set of one axle and two hubs cost me Rs. 80 which includes my coach-builders profit. He only allows me Rs. 5 for the old set net 75, out of which I judge he also makes some profit. But the disparity between the prices of new and old is very great, for if the old hubs are re-bored, the screw-threads re-tunned and fitted to a new axle, the set is as good as new, while if the old axle is returned and fitted to new hubs the set is also as good as new. But the work must be done with extreme accuracy, which can only be secured with a special machine made in Europe, which means capital expenditure, possible failure and loss. Hence good reason why the business has not been attempted up to now.

My firm have built many cotton spinning and weaving mills in Bombay and the mofussil. I have much money invested in cotton mills, and am a director in several mills. But I have always regretted the failure of the hand-weaving industry consequent upon the starting of power-loom machinery. I have the greatest admiration for the self-sacrificing labours of Mr. Chatterton of the Madras School of Arts in endeavouring to improve the hand-loom. But I fear he will fail for the reason that the hand-loom must be too small in its out-turn to compete with the machine loom. The hand-weaver must make goods of specially figured designs which the machine weaver cannot imitate. For instance a firm I know have an agency in a district in India whose name I will not indicate. They advance money to the weavers on the security of the labour put

into the unfinished goods which are figured half-silk, half-cotton the silk only showing on the outside.

But I would go further than this. Mr. Chatterton for instance, and other School of Arts men especially of the Jaipur style, should make designs in colored or figured cottons, redesigned from the ancient Indian patterns, and fit these to machine looms. The weavers always work in a house by themselves. They hire a whole house. Let this be fitted up with overhead shafting in a ground floor shed in a country place near the town. The machines must be English, but let the cards be figured with Indian designs. The shafting should be run by an oil engine, and each weaver look after two looms as soon as he becomes a practised hand. Possibly he might run four machines if the design is simple in character. But figured borderings with or without silk should be a speciality.

The same thing was done in England for many years by the late William Morris, the Socialist and Art Worker. His men, I think, worked entirely with hand-looms. He with £ 100,000 at command was able to accomplish many things. He kept up his weaving shop as a school to teach the forgotten craft of hand-loom weaving to all England. Since his death the work has been continued by "the Arts and Crafts Guild" of which Walter Crane, the Artist-Painter is the moving spirit. They recently held their annual meeting jointly in the same rooms at the same time as the Theosophical Convention in London, at which many specimens of their work were on exhibition. The report of their exhibition meeting is published in a recent number of the *Theosophical Review*. The "Arts and Crafts" has no connection with the Theosophical Society further than the bond of sympathy, members of the one are also members of the other. There is a steady sale for their work owing to the individuality that William Morris, Walter Crane and other artists have put into the designs woven. Though Mr. Chatterton and other art-workers have been spending their time in improving the Indian hand-loom, it must be borne in mind that for the weaving of plain cloths, even with a narrow figured border, the Indian weaver can only make four annas per day. This is not a living wage; not less than eight annas per day should be kept in view, and this can only be accomplished, I think, by power-driven looms. I am not here referring to specialised work such as is being initiated by the Indian Schools of Art, and which will at the utmost touch a few thousand weavers. I wish to give remunerative employment to the millions of Indian weavers, and to drive the Indian weaving mills, the makers of coarse plain cotton cloths, to find their legitimate market in cold frozen China. But, after all, I am rather beside the mark in this argument. I am aware that but little of the cloth woven by Indian mills is used in India. This is too coarse for Indian wear and already goes to China. What I want is to encourage Indian weavers profitably to weave Indian cloths of fine texture in competition with the fine cloths which now come from England. Indian weavers cannot compete with English plain goods, but only with English cloths of figured designs.

The following is an extract from a very effective speech delivered by Dr. T. M. Nair at a recent public meeting held in Madras to protest against the present unconstitutionalism in Bengal:—

History teaches us that such methods of boycott have always been a weapon of the weak against the strong. "In 1703, 1705 and 1707, the Irish House of Commons resolved unanimously that it would conduce to the relief of the poor and to the good of the kingdom, that the inhabitants thereof should use none other but the manufactures of their kingdom in their apparel and the furniture of their houses; and in the last of these sessions (1707) the members engaged their honour to conform themselves to this resolution."

This position of the Irish House of Commons was supported by Swift in his well-known work entitled "Proposal for the universal work of Irish manufacture," which appeared in the year 1720. Then again in the case of the American Colonies when, Great Britain imposed great commercial restrictions on them they had recourse to the same system of boycotting British goods.

MR. LECKY says:—"In order that the colonies might be able to dispense with assistance from England, great efforts were made to promote manufacture. The richest citizen set the example of dressing in old or home-spun cloths rather than wear new clothes imported from England and in order to supply the deficiency of wool, a general agreement was made to abstain from eating lamb." Coming to more modern times, we have the instance of Chinese boycott of American goods.

V. MR. V. KRISHNASWAMY IYER, B.A.,B.L.

I have no doubt that the Swadeshi Movement is calculated to do a great deal of good to the country. It is one of the phases of industrial revival and of industrial development. The exhibitions that have been held in connection with the Congress have been admirable from a spectacular point of view, but it is doubtful whether they have yet produced any important results except in drawing public attention to the resources of the country in the industrial line and to the possibilities of the future. The first real impetus to industrial progress has, I believe, come from the Swadeshi Movement. Swadeshism consists in increased production of indigenous goods, in the starting of new industries that have not hitherto found a congenial soil, and in the better distribution of the commodities produced in suitable markets. The first two may require a large application of capital which has hitherto fought shy of industries, and a technical skill and knowledge which have yet to come into existence. The last is more easy of attainment. Many a commodity suited to the tastes and habits of different parts of the country languishes in the home production for want of the middle men, the commercial agents and the elaborate devices of advertisement that will bring it into close relation with the markets of the demand. The exhibitions may be supposed to have done some work in this direction. But for lack of effective organisation carrying on the work of the exhibition between one session and anothor, their influence has been practically evanescent. With the spirit of Swadeshism abroad, it appears to me to be an excellent opportunity for the formation of a Central Commercial Bureau of Indians in a central place like Bombay from which should issue a weekly bulletin of indigenous industrial products in particular centres with quotations of prices. The department of commerce organised by the Government of India performs no such function and cannot be expected to devote itself to the stimulation of Indian industries under Indian management. If the new Industrial Conference to be held at Benares will hit upon a scheme like the one I have indicated, it will prove a source of permanent good. As regards the stimulation of increased production, improvements in industrial appliances must be largely taken advantage of. Existing industries such as hand-loom weaving, the tanning of leather and the refining of sugar are capable of large expansion with very small additions of capital provided the knowledge of improved appliances is possessed by the artizan classes engaged in those trades. Schools exclusively devoted to particular industries and located in centres where they are carried on largely for the education of the children of the classes engaged in them will do much for the placing of those industries on an efficient footing. Government can do much in this direction but private effort ought to do more, and the industrial awakening signified by Swadeshism must be turned to good account by the leaders of native communities. I am more sceptical as regards the founding of new industries. Unless large numbers of the youths of this land are sent to technical colleges of Europe, America and Japan, following the example of Japan herself in that line and they return to the country with the spirit of invention and enterprise to take industrial concerns on hand, little progress can be made in the establishment of new industries. There is a large field of work now before us even to absorb all the newly awakened interest and enthusiasm in finding the appropriate markets for the goods produced and in increasing the production in the industries in which we are already engaged. Away from books of reference as I am, I do not wish to trust to my memory for figures but it goes without saying that weaving stands at the head of all our industries. The expansion of hand-loom weaving has very wide limits. In the tanning of leather and the refinement of sugar which come after weaving we can do a great deal. I am hopeful that the new enthusiasm will not spend itself in mere boycotting of foreign goods. If even a portion of it is regulated and diverted into proper channels we shall have taken the first decisive step in the industrial regeneration of the land. It will never do for us to confine ourselves to agriculture as some well-meaning friends advise us to do. I am free to admit that there is much in improved agriculture to claim our attention and our energies. But if, ever we are to be saved from the grip of periodical famines it will only be by industrial advancement; for the country, as a whole, rarely fails to produce an adequate food supply but the starvation in large areas is due to the lack of purchasing power.

THE INDIAN NATIONAL CONGRESS :

ITS ORIGIN AND DEVELOPMENT.

BY MR. G. SUBRAMANIA AIYAR, B.A.

(Late Editor of the "Hindu.")

THE establishment of the Indian National Congress, in the year 1885, and its first meeting in Bombay in the closing week of that year, inaugurated a new period in the history of modern India. It was an event full of significance regarding the social and political changes that the people of India had been undergoing since the establishment of British supremacy. Like all great events, it was the culmination of the joint operation of several factors in their progress under a peaceful and free Government. The abolition of the East India Company and the assumption of the Government of India directly by the British Crown, marked the commencement of a new era because it put an end to a regime of war and force, when the new foreign rulers gave almost their exclusive attention to foreign politics and had no leisure to attend to home affairs. But even during that regime, forces were at work, which, though unseen and neglected at the time were gathering strength and rapidly developing as it drew to an end. Education and freedom of discussion, equality of laws, impartial justice, contact with a vigorous and progressive foreign race, did not fail to produce their natural effect. These forces, since the abolition of the Company, have worked with greater freedom and over wider areas and slowly trained the people to a corporate life and continuous self-improvement and progress; and Indian society advanced with unsuspected rapidity towards the goal to which it was encouraged.

The earlier years of the new regime, inaugurated in 1860, were devoted to the repairing of the evil results of the mutiny and to the organisation of the Government machinery to the new conditions. Finance, public works, administrative reform occupied the attention of Lord Lawrence and his successors. But, when the accomplished work in this direction made a pause possible, the improvement of the condition of the people claimed attention and at the termination of the terrible famine of 1878 the Marquis of Ripon became the Governor-General of India. His administration was free from troubles on the frontier, from financial difficulties, and from famine, and the new Viceroy strenuously set himself to the task of divising measures for the material and moral elevation of the people. His well-meant and liberal endeavours met with the most violent opposition from British residents in India and brought out unsuspected formidable difficulties which a truly pro-Indian policy of Brittsh rule had to contend against. British Indian residents had all along been blind to the forces of progress that were connecting the Indian people into a new community. They did not comprehend the full meaning of Sir John Strachey's assertion that the England of Queen Anne was hardly more different from the England of to-day than the India of Lord Ellenborough was from the India of Lord Ripon." The British Indian considered, as he foolishly considers even now, that the fruitful changes which had taken place around him in successive stages of political development had left the people of India simply as they found them, that the laws of evolution had not touched them, and that the Indian must remain, as he remained of old, the primitive creature of prehistoric strata. But the people of India under the influence of their fresh born self-consciousness, thought differently of themselves. They did not feel that they were still the primitive creatures of pre-historic strata. They had become conscious of the freedom, rights and liberties that British Government had irrevocably conferred on them. They knew their strength and fully reckoned on it and on the sympathy of the British Democracy.

Thus, the violence of the British Indian community to measures intended for their good

provoked a counter opposition from the educated classes, who for the first time learnt that in the ascendant class of British Indians they had always a force hostile to their advancement and that the only way of overcoming it was to organise and strengthen their own. They learnt that the surest and the only means of attaining their national ends was to present a bold front to unreasonable race hostility, and appeal to the British nation and the British Parliament for the fulfilment of the rights and privileges that the British constitution and traditions had conferred on them and the repeated pledges of the British sovereign and statesmen had guaranteed to them.

The most important outcome of this new national feeling took practical shape in the establishment of the Indian National Congress twenty-one years ago. Previous to that event, political associations had sprung into existence in various centres throughout the country, andwhile they were till now working independently and without unison, the opposition of the British Indian community suggested the necessity of their working in co-operation and harmony towards the common ends of the nation. Each association had been endeavouring to consolidate public opinion and organise public activity within its own provincial sphere. The Madras Mahajana Sabha for instance, which was established towards the close of Lord Ripon's administration, held two successive Provincial Conferences in the Christmas week of 1884 and 1885, and the Indian Association of Calcutta had done the same At the end of the year 1883, an Industrial Exhibition was held in Calcutta, and attracted Indian visitors from different parts of the country, and the leading public men of that place invited to a Conference the visitors from other Provinces. The departure of Lord Ripon, in December 1884, which was regarded as a national occasion, drew a number of Indian leaders to Bombay where at a consultation among them, the idea of a common gathering of patriotic men from all parts of India was for the first time, reduced to a practical shape. There was in Bombay an organisation called the Indian National Union which used to send telegraphic messages to London of important political occurences in India, not only to acquaint the British public with the opinions of the Indian public, but also to counteract the effect of the one-sided representations that proceeded from the official quarter. Amidst what sentiments that were in the minds of most leading men throughout India the Indian National Congress was born, was illustrated by the speech of the late Dr. Rajendralal Mitra of Calcutta, who welcomed the delegates to the Congress when it held its second session in that city in December 1886.

It has been the dream of my life that the scattered units of my race may some day coalesce and come together; that instead of living merely as individuals, we may some day so combine as to be able to live as a nation. In this meeting I behold the commencement of such coalescence. I hope the union will not be very distant. It may not be left to me to realise the sight, but it is highly gratifying to me that we are here assembled together, delegates from the North and from the South, from the East and from the West, all anxious to join as members of one nation for the good of our country."

The same sentiments actuated other men of light and leading in Bombay, Madras and other Capital cities of India, and they took a practical shape at the consultation in December 1884. Mr. A. O. Hume who had just retired from service and who was actuated by a noble ambition to render to the people of India a substantial and lasting service in the cause of their regeneration, took upon himself to give them a permanent embodiment in an annual assembly consisting of representative Indians from the different parts of the country. From Bombay whither he had come to join in the farewell to Lord Ripon, he went to Simla to place before the new Viceroy Lord Dufferin the idea of a national union that had come into prominence in most of the leading men of India. What took place in this memorable interview and how the Congress took shape are related by Mr. W. C. Bonnrjee, in a preface he wrote for Mr. Natesan's "Indian Politics."

It will probably be news to many that the Indian National Congress, as it was originally started and as it has since been carried on, is in reality the work of the Marquis of Dufferin and Ava when that nobleman was Governor-General of India. Mr. A. O. Hume, C.B., had, in 1884, conceived the idea that it would be of great advantage to the country if leading Indian politicians could be brought together once a year to discuss social matters and be upon friendly footing with one another. He did not desire that politics should form part of their discussion, for, there were recognised political bodies in Calcutta, Bombay, Madras and other parts of India, and he thought that these bodies might suffer in importance if Indian politicians from different parts of the country came together and they discussed politics. His idea further was that the Governor of the Province where the politicians met should be asked to preside over them and that thereby greater cordiality should be established between the official classes and the non-official Indian politicians. Full of these ideas he saw the noble Marquis when he went to Simla early in 1885 after having in the December previous assumed the Viceroyalty of India. Lord Dufferin took great interest in the matter and after

considering over it for some time he sent for Mr. Hume and told him that, in his opinion, Mr. Hume's project would not be of much use. He said there was no body of persons in this country who performed the functions which Her Majesty's Opposition did in England. The newspapers, even if they really represented the views of the people, were not reliable and as the English were necessarily ignorant of what was thought of them and their policy in native circles, it would be very desirable in the interests as well of the rulers as of the ruled that Indian politicians should meet yearly and point out to the Government in what respects the administration was defective and how it could be improved; and he added that an assembly such as he proposed should not be presided over by the local Governor for in his presence the people might not like to speak out their minds. Mr. Hume was convinced by Lord Dufferin's arguments and when he placed the two schemes, his own and Lord Dufferin's, before leading politicians in Calcutta, Bombay, Madras and other parts of the country, the latter unanimously accepted Lord Dufferin's scheme and proceeded to give effect to it. Lord Dufferin had made it a condition with Mr. Hume that his name in connection with the scheme of the Congress should not be divulged so long as he remained in the country, and this condition was faithfully maintained and none but the men consulted by Mr. Hume knew anything about the matter.

In March 1885, it was decided to hold a meeting of representatives from all parts of India at the Christmas of that year. Poona was considered the most central and therefore a suitable place, and a circular was issued, stating that "a Conference of the Indian National Union will be held at Poona from the 25th to the 31st December 1885." The Conference will be composed, the circular stated, "of delegates— leading politicians well acquainted with the English language—from all parts of the Bengal, Bombay, and Madras Presidencies. The direct objects of the Conference will be:—(1) to enable all the earnest labourers in the cause of national progress to become personally known to each other; (2) to discuss and decide upon the political operations to be undertaken during the ensuing year." "Indirectly," the circular added, "this conference will form the germ of a Native Parliament, and, if properly conducted, will constitute in a few years an unanswerable reply to the assertion that India is still wholly unfit for any form of representative institutions. This circular was issued in the name of Mr. A. O. Hume, to whom we feel bound to express in this brief retrospect of the Congress work, in the name of the Indian nation, our lasting indebtedness for the undying service he has rendered to us in founding and working in the earlier years, this great institution which is at present the one symbol of India's national unity and the one common organ of Indian public opinion. Ever since its birth Mr. A. O. Hume has been its General Secretary. He is justly called the father of the Congress.

The Hon. Mr. Pherozeshah Mehta, one of the leaders of the movement, rightly observes, "It is to his genius we owe that flash of light which pointed out the creation of a body like the Congress, as fraught with the promotion of the best interests of English rule in India." The Hon'ble Mr. P. Ananda Charlu spoke of him thus, "Through good report and through evil report, and at the sacrifice of health, money, well-earned ease, and peace of mind, he has steadily and earnestly adhered to his labour of love in the progressive interests of the people of this country and he has thus earned. not only *our* love and gratitude but I hope also the love and gratitude of our children and children's children." Mr. W. C. Bonnerjee paid him the following tribute of praise:—"That Mr. Hume possesses, and has exercised, a vast amount of influence over the Congress movement, and over each single Congress which has met, is a fact. We are not only not ashamed to acknowledge it, but we acknowledge it with gratitude to that gentleman, and *we are proud of his connection with the Congress.*" Mr. Allen Octavian Hume has thus earned an immortal name—a name that shall ever be cherished not only in our minds, but in the minds of those who come after us, with feelings of deep gratitude.

Mr. W. C. Bonnerjee, who presided over the first session of the Congress, stated its objects as follows:

(*a*) The promotion of personal intimacy and friendship amongst all the more earnest workers in our country's cause in the parts of the Empire.

(*b*) The eradication, by direct friendly personal intercourse, of all possible race, creed, or provincial prejudices amongst all lovers of our country, and the fuller development and consolidation of those sentiments of national unity that had their origin in their beloved Lord Ripon's ever memorable reign.

(*c*) The authoritative record after this has been carefully elicited by the fullest discussion of the matured opinion of the educated classes in India on some of the more important and pressing of the social customs of the day.

(*d*) The determination of the lines upon and methods by which during the next twelve months it is desirable for native politicians to labour in the public interests.

For twenty-one years the Indian National Congress has met in different capital cities of India successively every year. Since 1885, and during this period it has necessarily undergone silent organic changes, its object and scope have expanded and its influence has spread over and permeated all classes of the people. The earlier years were naturally a period of offensive enthusiasm and rapid development, and opposition from the official classes instead of suppressing the movement, only stimulated the energy of its leaders. The President of the fourth session at Allahabad in 1888, the late Mr. George Yule, said:

(1). It withstood all opposition and fierce attack. (In the words of the report) "Hundreds of missionaries of

the cause travelled from town to town and village to village, expounding the good tidings of the Congress, and the fiercer the opposition raged and the more persistent the efforts of the adversaries of the movement, the more strenuous became the efforts of its supporters."

(2). Though each delegate was required to pay a fixed fee towards the expenses of the Congress (which was done to reduce the number lest the deliberations of the Congress should be impeded by an overwhelming number), yet "the raging blasts of calumny and persecution only resulted in 1248 delegates taking the place, at Allahabad, of the 607 who were present at Madras."

(3). There were present 6 Princes, 4 Rajahs, 17 Nawabs, 3 Sardars, and 54 Members of noble families; again there were 3 Members of Council, 73 Honorary Magistrates, 12 Chairmen, 19 Vice-chairmen, and 127 Commissioners of Municipalities, 10 Chairmen and Vice-chairmen and 69 Members of Local and District Boards, 27 Fellows of Universities, 3 Public Prosecutors, 1 Coroner, etc.,

(4). In this Congress was first elected a committee to select subjects and frame the necessary resolutions therefrom to be adopted by the Congress. This in short, is the origin of the subjects-committee.

Though this enthusiasm has since cooled and has been less manifest and though the stimulus of official opposition has disappeared, yet the grand object which the Congress had placed before itself from the very beginning, the object of strengthening national sentiment among the people and serving as the great medium of expressing national grievances and national aspirations, is every year being fulfilled to an increasing extent. It no doubt labours under the disadvantages of a national assembly organised and maintained by the spontaneous effort of the people themselves and without the aid or sanction of the Government. It has no regular constitution and works entirely under the unwritten law of its growing traditions; it is not representative in the sense in which the British House of Commons is; it exercises no direct influence on the decisions or the policies of the Government. To some extent, it has even departed from the features that marked it in the earlier years. The Congress, for instance, intended to do more than merely register in its resolutions at the successive sessions the nature of public opinion on the various measures of the Government. But it does little more than that at present. The fourth of the objects of the Congress, as stated by its first President, namely, "the determination of the lines upon and methods by which during the next twelve months it is desirable for native politicians to labour in the public interests," has now gone out of its sight. This work is left to Provincial Associations and Conferences. But its indirect influence on the sentiments and the aspirations of the people as well as on the action of the Government, is immense. Several important measures of reform, political, fiscal and administrative the country owes to the influence of the Congress, although the bureaucracy is too proud to acknowledge the fact. It has been the cause, though the indirect cause, of much good that has been done and much evil that has been averted. But for the Congress and its continuous work in India and in England, a ruler like Lord Curzon, in pursuance of a policy of perpetuating the subordination of the people to the politically ascendent class, might have done much more mischief than was actually done. Under the healthy and ever widening influence of the Congress and the national sentiment of the people, they are discovering fresh avenues of national work in the fulfilment of their national future. In the initial years of the Congress, there was no intention of taking up the work of an industrial propaganda, but now the Industrial Exhibitions and the Swadeshi Movement are based on the Congress and derive their sustaining force from the feeling of national unity which the Congress has created. Towards the promotion of personal intimacy and friendship amongst all the more earnest workers in our country's cause in all parts of the Empire, the moderation by direct friendly personal intercourse, of all possible race, creed or provincial prejudices amongst all lovers of our country, the second of the four objects of the Congress stated by Mr. Bonnerjee great strides have been made, and at this moment, the leading men of one Province are regarded as the leading men of all the Provinces. Indian patriots like Mr. Dadabhai Naoroji, Mr. W. C. Bonnerjee, and Sir P. M. Mehta, Mr. Gokhale, Lala Lajpat Rai, Gunga Prasad Varma, Mr. Mudholkar, are no longer men of provincial distinction, but are *Indian* patriots and are of the most valuable moral assets of the whole Indian Nation. If the Congress had done nothing else for which it has won a permanent place in the modern history of India, it has done so far having enabled the Indian people to discover their great men and cherish them as their most precious possession. It has taught the Indian people the greatest of any lesson that a people can learn, the lesson of self-respect. It has besides succeeded in imparting to our rulers an idea of the full moral and intellectual capacity of our race whom they no longer recognise as a multitude of semi-civilised incoherent atoms, but whom they feel they must respect and conciliate. The Indian National Congress, finally is the one living emblem and proof of the unity of India, and the hope and guarantee of her future.

PURDAH, ITS ORIGIN AND EFFECTS.

BY RAJA PRITHIPAL SING.

——:o:——

To a student of Sanskrit the inference that this custom is wholly without precedent drawn from a careful perusal of the ancient scriptures is easy. We gather from our ancient annals that *Swayamvara* was the then prevailing form of marriage; and the Indian princesses like Sita, the paragon and personification of domestic virtue and chastity, walked out quite freely to garland the prince of her choice in the midst of a multitude of princes that had gathered from all quarters under the sacred "mandap."

In the *Harivamsa Parva* we come across an instance of a sort of Indian picnic where it is said that at Pindarak, near the holy city of Dwaraka, Baldewa with his brother, the God Krishna and Arjuna the great hero of *Mahabharata*, followed by a large retinue of servants, enjoyed themselves by bathing, dancing, feasting and singing for the whole of the day.

In those golden days on the occasion of the celebration of the *Aswamedha* or *Gomedha* sacrifices the presence of the queen by the side of her husband was absolutely indispensable.

In the opening canto of Kalidas's *Raghuvamsham* where the illustrious bard describes the journey of King Dilipa with his consort Sudakshina the Noble, to the hermitage of the sage Vashishta, we find the Imperial pair travelling in a chariot and putting questions to the people that met them regarding the names of the roadside trees.

In *Ratnavali*, a beautiful Sanskrit drama we observe the presence of the queen at the audience given by the king to the Sinhalese ambassadors.

Similarly, a good many instances can be produced from the great Indian epics—the *Ramayana* and the *Mahabharata*—as well as from several other works of antiquity to prove that "Purdah" was quite unknown to our ancestors.

Some of our social reformers attribute the origin of "Purdah" to the effects of the Mahomedan rule in India. They say that the Mussalman rulers of India frequently admitted Hindu ladies both virgins and married into their harems, and, that the reign of Akbar the Great is full of such instances.

But this much alone is not the origin of "Purdah." The conquest of Bharatavarasha by the Mahomedans, truly speaking, which was the outcome of our jealousy, envy, and constant feuds, degraded the position of our ladies.

The holy Koran of the Mahomedans permits polygamy and divorce. According to the Mahomedan law, a Mussalman is at liberty to marry any woman excepting very close relatives, and further more a married woman has the option to become the legal wife of another man if she can only persuade her husband to divorce her.

For these reasons the Mahomedans keep their ladies in seclusion lest the foundations of their society be shaken. Besides this, during the Mahomedan period sometimes most despicable outrages were committed on our ladies, and so the unfortunate Hindus, out of consternation and inability to cope with the then ruling race, borrowed this "Purdah" system from their moslem rulers.

To demonstrate further that "Purdah is a borrowed custom:—We find that it is observed more in the Mahomedan families and in places where the Mahomedan rule has been very strong, specially in the cities founded by the Mahomedan potentates and peopled with a larger population of their own sect; or those that have been the chief towns of the Mussalman rulers from time to time; or those that have constantly fallen in the way of the Mahomedan invaders.

In Nepal, and in the Hindu families of Southern India and in the Mahratta families of Poona and Bombay, the ladies, children and men continue to enjoy a far greater amount of liberty than they do in Northern India. And can we doubt that the ideal of womanhood that Indian ladies like Mrs. Ranade, the Maharanees of Baroda and Kuch-Beehar, cherish without any "Purdah" is as high as it can be?

Let us now enquire whether the "Purdah" really fulfils its purpose? The answer cannot but be in an emphatic negative. Verily these precious words falling from the lips of the Divine hero of *Ramayana* "neither houses, nor vestments, nor enclosing walls are the screen of a woman. Her own virtue alone protects her," are worth being remembered with advantage by both the sexes.

In analysing some of the consequences arising out of "Purdah" its most injurious effects on female education is the very first thing that attracts our attention.

The term education, I think, in its widest connotation is the root of every blessing, as also an inseparable incentive to everything useful. Travels and voyages, form a most important factor in education.

Neither can our ladies attend a girls' school freely, nor can they accompany us to distant places. Would it not be a blessing to be able to travel with one's wife and children, who beside being a source of pleasure and making the journey much more comfortable, would get better opportunities of developing their faculties and recruiting their health? Now-a-days when "Purdah" is so vigorously observed in some quarters, we cannot, except with difficulty, and at an enormous expense take our ladies with us. The result is we have to leave them behind to lead a life of drudgery, without any fit occupation. By secluding our ladies we only work out their ruin in various ways; we deprive them of their rightful privilege of innocent enjoyments, and keep them at a distance from Nature's free gifts, such as light and fresh air which are so very necessary to preserve health and prolong life.

The result is that there is a far greater deterioration in their physique than there would otherwise have been. In cases of serious illness it is considered better to leave our ladies to nature than bring in any expert physician in the absence of a lady doctor. They in their turn treat children similarly.

So the poor little ones who are in the company of their mothers have to undergo this ordeal of seclusion until they attain a certain age, with the result that they very often look so poor in appearance, and invariably their health suffers to such a great extent that they become victims to this most barbarous seclusion. If they manage to live somehow, they only imbibe the superstition and ignorance of their uncultured mothers behind the "Purdah," the effects of which are hard to efface in their after life.

It is the duty of every man to be in every way considerate to his women as their happiness entirely hinges on him. The uncultured may be excused but men of culture and knowledge should not in the least, be spared for inflicting such a *vulnus-immedicabile* on their women.

Indeed, the outlook would be most discouraging if there is not a small group of enlightened reformers who are not quite satisfied with the customs prevailing in our society. Indeed, a radical reformation is absolutely necessary in a good many of our social customs.

But to begin with radical changes at the outset is most perilous and never can success be hoped for, for such an undertaking. Unless we work "heart within and God overhead" with unselfishness and indefatigable zeal "for the greatest good of the greatest number" and begin our mission gently, quietly, calmly and conscientiously, with tolerance and with the object of bringing out the necessary radical change with a humble start, we cannot really achieve the end in view.

I think there is an imperious necessity to improve the lot of our ladies whose endurance and patience ought to appeal to the feelings of every educated individual. We must really do our very best to extricate them from the sort of jail life that they are now leading. Every God-fearing Hindu must bear in mind the words of our ancient legislator *Manu*, who in slokas Nos. 55, 56, 57, and 58 Bk. III of his Smriti says, "Women are to be honoured and adored by fathers, brothers, husbands, and also by brothers-in-law desiring prosperity."

"Where women are honoured there the gods rejoice, but where they are dishonoured there all rites are fruitless."

"That family where women grieve, quickly perishes, but that where they do not, prospers." "Houses which unhonoured women curse, perish utterly as if blighted by magic." And verily the position of women in society is the true test of a nation's civilization. I think every sensible man will agree to my statement that no reform, no revival, no goodness and piety in fact nothing beneficial could be attained without education—the *summum-genus* of every conceivable virtue and requirement.

So I would only say that to remove the disabilities of our ladies owing to the "Purdah"—the baneful, thorny, screen must somehow or other be removed without delay. We must first give our prompt attention towards the real culture and development of our women; then we must purify our own society by putting down all coarse jests and improper behaviour, and learn to be more moral before allowing our ladies into it. Thirdly, we must allow social intercourse between our women and the nearest relatives of the family who are refined and moral and should gradually widen the circle by introducing them to our friends—friends not in the sense of mere acquaintances—whom we know to be really moral, and whom we in many cases prefer to our blood relations.

LONDON AND THE ARISTOCRACY.

BY MR. G. BARNETT SMITH.

——:o:——

BETWEEN the aristocracy and trade and commerce there is generally supposed to be a great gulf fixed. Yet a study of the records of the peerage will reveal the fact that many of the ancestors of our great houses were city merchants. In fact the city has indirectly in the past been connected with the throne itself; for the great grand-father of Queen Elizabeth on the maternal side was Alderman Bullen, Knight and Mercer. From this progenitor of Anne Bullen was also descended the great Admiral Nelson.

Many present day holders of Dukedoms, Earldoms, &c., are direct descendants of city magnates. Sir Josiah Child, for example, a London trader, connected his family by marriage with the house of Russell and the Dukedom of Bedford. This Child, by the bye, was anything but a "Child" in guilelessness, for daring mismanagement of the East India Company he contrived to bribe in his interests Kings, Ministers, Priests, and at least one Judge. Heroes, statesmen, conquerors, &c., who have become Dukes and Marquises, have had a shop origin, within the course only of a few removes. This is the case with the Dukes of Marlborough, Leeds, Somerset, Buckingham and Chandos, New castle, and Devonshire; also with the Marquises Cornwallis, Camden, Cholmondeley, Ormonde, and Granby. The marquisate of Granby has probably furnished the title of more public-house signs than any other patronymic. The foundation of the house of Radnor was laid by Lawrence des Bonveries, who sold silk stockings of a "marvellously delicate wear" to Queen Elizabeth. The first Lord Mayor of London, Henry Fitzalwyu, who occupied that proud position for twenty-four years, was the ancestor of the Earls of Abingdon. The Earl of Coventry is descended from Dick Waittington's friend and executor John Coventry, who was Lord Mayor in 1425. The Earl of Essex together with other nobles claims descent from Sir William Capel, who, though Lord Mayor in 1503, was also a gallant soldier, and was knighted on the field of battle. The Earl of Warwick is a lineal descendant of Greville, "flower of the Woolstaplers"; and the Earl of Dartmouth's ancestor was one Thomas Legge, or Legget, a skinner by trade, and twice Lord Mayor about the middle of the fourteenth century. The Earls of Craven spring from Craven, Lord Mayor, in 1610; and the Earls of Denbigh from Sir Geoffrey Fielding, from whom also came a certain Henry Fielding, the immortal author of "Tom Jones". The Earl of Dudley and Ward is a descendant of one Ward, who was jeweller to Queen Henrietta Maria, consort of Charles I.

As regards statesmen, the famous Prime Minister, Sir Robert Walpole, was the descendant of one London Alderman and the son-in-law of another. That most persistent of all the opponents of Walpole, Alderman Sir John Barnard, had a daughter named Jane, who married, Henry Temple, son of Viscount Palmerston. There descended from this marriage Lord Palmerston, the popular Prime Minister in Queen Victoria's reign. The annals of Guildhall and the Mansion House show that Lord Palmerston's grand-mother acted as Lady Mayoress during the Mayoralty of her father; also that the late Vis-countess Palmerston Lord Melbourne's sister, was descended from Richard Hall, a grocer. Among her ladyship's ancestors were Aldermen Sir George Bond and Sir Henry Garway. The latter name was afterwards corrupted to Garraway, which gave the title to the celebrated London coffee-house. Sir Rowland Hill, Lord Mayor in the reign of Edward VI. was the ancestor of Lord Berwick, of Lord Hill, of "Post Office" Hill, and many others of the same name.

Such are a few gleanings from the city records in connection with a subject which could be pursued to an almost indefinite extent.

TWO BOOKS OF SONG.

"'Indian Love' by Laurence Hope."
"'The Golden Threshold' by Sorojini Naidu."

REVIEW BY

MR. EARDLEY NORTON, BAR.-AT-LAW.

I: INDIAN LOVE.*

UNDER the pseudonym of "Laurence Hope" a woman flashed four years ago across the firmament of modern erotic verse with her "Garden of Kama." For a while she kept her secret well, and the London papers gave a generous welcome to this new recruit to the ranks of manly lyrists. But Time and the world's curiosity—that vulgar and insatiable detective who lifts the roofs off private houses and strips the coverings off private lives, quick to hunt, eager to seize and relentless to betray—wrested her name and parentage from her, and we have all along known her as the daughter of Colonel Corrie, the sister of "Victoria Cross," and the wife and widow of General Nicolson. With her husband she wandered over more continents than one and, herself imbued with that mystic leaning which sees poetry in prose, beauty in dirt, and love and passion and perfume everywhere, she translated the many incidents with which he generously supplied her into a rythm which she made her own and into which she crowded all the metrical rhapsodies and lamentations of her own physical and psychical vibrations. Constituting herself the interpreter of Indian scenes and Indian sentiments, she retold them in harmonious melodies which if they will not, like Byron's, arrest the world's attention till "listening nations marvel at the sound," will at least have quickened many a readers' pulse into sympathetic cadence with a woman whose writings tell of great capacities for human love, and the crowning tragedy of whose death was but the final consecration of her earthly affection to the husband who had only recently preceded her and, as she heard and saw and believed, was summoning her to the spiritual reunion of an intimacy which laughed on both sides at the effects of time or distance to weaken or subdue it. She flung herself without reserve into the inner sanctuaries of Indian life, probed deep into the hidden impulses which sway the love-dreams of the hardy Pathan, the voluptuous reveries of the supple dancing girl and the coy awakening of the little maiden who finds love approach her unbidden and unknown amid the tall grasses by the river's edge; and re-sung the varying emotions of each in numbers which have only just missed the divine afflatus of true genius. Her description of nature as seen through the heat and film of an Indian atmosphere and of the elemental relations between Cupid and mankind arrested, if they somewhat scandalised, her readers' attention. Her surrender to the call of Passion is unconditional and supreme. The primal emotions of Hate and Revenge, of infinite longing and satiated desire smite their wild music across her responsive harp-strings, refusing to be stayed by conventional calls to order, or to obey the dictates of Cant, that Cant which is clothed in shining broad cloth and a Delhi Medal, gives an attenuated subscription to the plate in Church, moves lay resolutions at the convocation of the clergy, raises its eyes in thanksgiving to Heaven that it is not as other mortals are sinful and erring, and yet finds leisure to arrange compensation for the inconveniences of an enforced grass-widower-hood by providing for the bargained and thrifty endearments of a "hot-weather" wife. Her vocabulary is emotional and voluptuous, but it never descends by impurity of touch into nauseous detail, nor rivals the minute category of charms to be found in Swinburne's beautiful sonnet, "Love and sleep." Laurence Hope, at any rate, sturdily refuses to look at things darkly as through a glass. She elects to stand forth as the High Priestess of those who offer sacrifice at the thrones of Sentiment and Rapture. She is the bard of rounded arms and silken tresses and sensuous lips, of eyes that speak a language for high proficiency in which

EARDLEY NORTON.

* By Laurence Hope; William Heinemann, London.

no Indian Administration offers a reward. Rushes and reeds are the couches that appeal to her most, and under the midnight canopy of the star-spangled heavens, she sings the victories of evanescent passion and of abiding worship in tones which pushed her first venture through the remunerative triumphs of six impressions. If she communes with life's joy, as a rule, with bare feet and *en deshabille*, her tea-gowns at least fit her well, and her feet never splash in mud. Whether the "Garden of Kama" and its companion volumes are productions which it is desirable to leave invitingly within the reach of maidens of blushing fifteen, is a matter which may safely be left to the discretion and decision of the mothers of those out-of-date commodities. The father, it may safely be averred, will place his copy between the "Civil Precedence List" and the "Pilgrim's Progress," within easy reach of "Mademoiselle Giraud ma femme," and not far removed from the "Orders of the Board of Revenue." Too Puritanical a judgment, however, would be reprehensible and out of fashion in an age when a lady's entire evening outfit seems to oscillate for safety on a couple of insecure ribbons round the arms: when a leader of society has been known to enter a ball-room without any stockings inside her dainty shoes; where the feminine consumption of champagne, liqueurs and "pegs" registers a decisive increase in one's wine-merchant's account, and when Bridge, cigarettes and the newest departure in corsets have almost reduced reigning beauties to the familiarities of a "Dudu" or a "Pal."

From such vulgarities, at least, poor Laurence Hope was free. Her verse is rich with the fragrance of Indian scents; there is life and love of life in the joyous lilt of her verse; her veins throb with the fierce yet honest passions of uncultured youth; her heroines are maids of flesh and blood; her heroes are men of vigorous thews and healthy appetite. Not according to the doctrines that our clergy mouth is the spirit of revenge which the wounded frontier man nurses against the treacherous Afghan whose bullet he received at the horse fair at Sibi. But very intelligible is it to the muscular Christian of Kingsley's school that the wounded should bide his time to settle the issues of life and death with a spring, a clutch and a drive of the knife upto its studded hilt. Beautiful too is the sick man's longing for his home, and beautifully told:

> For though that kaffier bullet holds me here,
> My thoughts are ever free and wander far
> To where the Lilac Hills rise, soft and clear,
> Beyond the almond groves of Kandahar.

In 1903 Laurence Hope issued her "Star of the Desert," incorporating amid her Indian experiences recollections of a visit to Morocco, and those who would study their authoress under a different guise, divorced for a while from the spell of the Love-God, will find a delightful study in her "Song of the Enfifa River," where a lad of sixteen was drowned. The river had loved the boy and claimed him as her own.

> I waited in the heat; at length
> Again he came to bathe alone,
> Then in the fulness of my strength
> I caught and held him for my own!
>
> His strong young arms apart he flung,
> His red lips cried, I had no care,
> In eddies round his limbs I clung,
> And rippled in and out his hair.
>
> I bore him downwards to the sea,
> The white surf met us on the sand,
> His beauty was made one with me
> Who saw and loved it on the land.

The tragedy of a disappointed Queen is well told in the tale "In the Winter Palace", while all through her songs there rises the luscious odour of the champak and the rose, and lips and hands and eyes repeat the wonderful old story of which, in spite of clerical canons and C.I.E s, the world will never tire.

There can be no true poetry, as there can be no true living, without a tinge of sadness. Sorrow comes upon us all alike, hurting perhaps at the first, yet in its divine mission broadening and strengthening our sympathies, toning down something of our selfishness, and bidding us remember that even they who have wronged us most are our—brothers! Laurence Hope's poetry is full of sadness, not merely the sadness of unsatisfied longing, but that ever present regret which accompanies us in all our actions in life and makes us prize each moment that has slipped from us because it never can return. The shadow goes not back upon the face of the dial, and what has been never can be again. The love we have slighted and the blow we have struck—their effects we may appease by the offer of unstinted apology. But who can give us back the precious hours, consumed and wasted and unlived, during which we pushed from us the tenderness which would have flooded our lives with sympathy and sunshine and kisses, or the loyalty that would have

served us in our time of need? How true it is as our authoress herself says in "Yasin Khan."

> The years go hence, and wild and lovely things,
> Their own, go with them then, never to return.

Over and over again in her poems Laurence Hope tells of the constant struggle for existence, calling often on Death for release from the disappointments of life. So, too, as will be presently seen, such release came to her, not in the fulness of time but in her youth and self inflicted, cutting her off prematurely in the flow of her amorous songs and dedicating her a willing victim, on the grave-stone of her dear, dead lord.

"Indian Love" misses the fire of the two earlier collections. It would seem to be composed of stray verses written at different times, an *Olla Podidra* of Laurence Hope's portfolio of rhyme. The opening apostrophe to "The Masters" is a fine piece of work and the recognition of the relative position of man and woman is in keeping with the laws of that mysterious force called Nature, though it offend the maxims of the Women's suffrage society.

> For then the world is ordered thus
> To you the fame, the stress, the sword,
> We can but wait, until to us
> You give yourselves, for our reward.

Pretty, on the other hand, is "Krishna and his flute" the Indian version of our classic Orpheus.

> Be still my heart and listen,
> For sweet or yet acute
> I hear the restful music
> Of Krishna and his flute.
>
> Across the cool blue evenings,
> Throughout the burning days,
> Persuasive and beguiling,
> He plays and plays and plays.
>
> Oh! none may hear such music
> Resistant to its charms,
> The household work grows weary,
> And cold the husband's arms.
>
> I must arise and follow
> To seek, in vain pursuit,
> The blueness and the distance,
> The sweetness of that flute.

In August last year Laurence Hope lost her husband, General Nicolson, in Madras. He died under an operation, from the shock of which his wife never recovered. It is here that her life crosses mine. I had never met her, but a common friend, as I was leaving Madras for home, begged me to lend her my house while I was away. I gladly did so. Within six weeks I learnt she had destroyed herself. For a time she seemd better. But her husband's loss proved too much, and under the weight of the misplaced belief that better medical skill could have saved him and that she had not exerted herself to her utmost on his behalf, her mind gave way and she took her own life. In the garden on the bark of many trees she has cut mysterious initials, and her end was terribly painful. But I like to think that the old house gave her friendly shelter from life's heat: that she wrote some at least of her latest poems here; and that here, in her wifely devotion to the memory of a loved husband she wrote the dedication which opens her last collection of Indian love songs.

> I, who of lighter love wrote many a verse
> Made public never words inspired by thee,
> Lest strangers' lips should carelessly rehearse
> Things that were sacred and too dear to me.
>
> Thy soul was noble: through these fifteen years
> Mine eyes familiar, found no fleck or flaw,
> Stern to thyself, thy comrades' faults and fears
> Proved generosity thine only law.
>
> Small joy was I to thee; before we met
> Sorrow had left thee all too sad to save,
> Useless my love, as vain as this regret
> That pours my hopeless life across thy grave.

What matters it that Laurence Hope's rhythm is not always correct, her rhymes not always true? The music, sometimes missing in her ear, sings, like Keat's Nightingale, with "full throated ease" in her nature and her soul. Her verse is quick with sympathy and friendship, and if there be found in her melodies more than the conventional quantity and quality of self-abasement to the dictates of Passion and of self-immolation upon the arrows of Love, let us remember that she wrote of love and passion as she found them, and sullied no description of her discovery by any word or picture that can offend a Poet's eye or a Bishop's imagination. Her dedication to her husband thrills with loyalty and worship of a class that twentieth century wives are not always in a position to offer their spouses: it is sonorous with the pessimistic despair of lives not wholly complete, of tasks but imperfectly finished, and through all these steals the wail of lamentations and regrets for opportunities missed, when loving hands might have helped to loosen and

unpack some of the burdens laid by life upon a loved one's shoulder, and loving lips have kissed away something of the mist and darkness that toil had impressed and disappointment graven deep upon weary eyes and pain-drawn mouths.

Ah! Sweet, could you and I with fate conspire
To grasp this sorry scheme of things entire,
Should we not shatter it to bits, and then
Remould it nearer to our heart's desire?

Across the centuries that has been the heart-worn song of men and women who with Oomar Khayyam have longed to be permitted to recast the lines on which fate, or whatever fate stands for, had moulded their lives, believing in their impotent presumption they could fashion these in pleasanter places and endow them with a richer store of ambitions won and of hopes fulfilled. So, as we follow her in her verse, we trace Laurence Hope's rise and progress and fall: brave, constant, up-soaring, but realising at the end that her life's work too had been infructuous and waste, broken on the wheel of destiny, mangled in the hands of Fate. Like Oomar, she sang the wine cup of Life, its triumphs of mad kisses and its wealth of woman's vows, and like him, with some of whose spirit of philosophy she was imbued, in disentangling the crossed threads of existence she, too, must have,

Many knots unravel'd by the Road,
But not the master knot of Human fate.

Perhaps, in the unexplored regions of the unknown, Laurence Hope is standing by the shade of him who wrote of Naishapur and Babylon, and learning by comparison of their respective careers on earth the truth, the meaning, and the limits of his own great line.

The Mover's Finger writes, and having writ
Moves on!

—:o:—

II.

*THE GOLDEN THRESHOLD.**

A frontispiece by Mr. Yeats sketches a slim and shadowy figure with clasped fingers and great eyes peering full of wonder into the unmapped future, as though seeking to

Stretch a hand through time to catch
The far off interest of tears.

A fragile little figure, standing upon the sacred threshold of the Muses and wistfully striving to peep across the intervening space into the garden where all things are beautiful and fair, where by the alchemist's touch the prose of life is transmuted into golden verse, and where the crowned conquerors of rhythmic literature await with generous outstretched arms the advent of this trembling and latest product of a union between East and West. It is the great who are always pitiful, the strong who are always tender, to the weak. They will not garland her with the immortal bays which bind their own august foreheads: but they will spare a leaf or two by way of recognition and encouragement to the graceful and pathetic songstress whose verses lie before me as I write. Tennyson said of himself

I sing but as the linnets sing,

and in a letter extracted by Mr. Symons in his appreciative preface, Sarojini says of herself, "I am not a poet really. I have the vision and the desire, but not the voice. If I could write just one poem full of beauty and the spirit of greatness I should be exultantly silent for ever: but I sing just as the birds do, and my songs are as ephemeral," to which Mr. Symons adds: "It is for this bird-like quality of song, it seems to me, they are to be valued. They treat in a delicately evasive way, of a rare temperament, the temperament of a woman of the East, finding expression through a Western language, and under partly Western influences. They do not express the whole of that temperament: but they express, I think, its essence: and there is an Eastern magic in them."

The culicism is wholly just. Like a bird in a cage, the verses all beat their wings and flutter to the light. The bars prevent approach to Paradise: but the cage is at its portals. To-day the Sun's heat may melt the wings of wax: but the wax is sweet and pure and strong, and every flight is hardening the harness-joints. To-morrow the wings may bear their owner upwards in an ascent which may give her the private *entrée* of the inspired interpreters of song. Life lies all before Sarojini. She is but twenty-six, and began her efforts at seventeen. She was born at Hyderabad in 1879 of Brahmin ancestry. Her father, Doctor Aghoranath Chatopadhyay, is a well-known figure in the Nizam's capital. He graduated Doctor of Science at Edinburgh in 1875, studied brilliantly at Bonn and founded the Nizam's College at Hyderabad. "My ancestors

* By Sarojini Naidu. With an introduction by Arthur Symons, London. William Heinemann, 1905.

for thousands of years," writes his daughter, "have been lovers of the forest and mountain caves, great dreamers, great scholars and great ascetics. My father is a dreamer himself, a great man whose life has been a magnificent failure...... He has a great white beard and the profile of Homer, and a laugh that brings the roof down." He is also an alchemist with inherited tendencies for scholarship and dreams—the richest part of poor men's lives. Sarojini passed her Matriculation at the Madras University at the age of twelve and went with a scholarship from Hyderabad to London. Her health broke down, and she visited Italy the land of song, of beauty and romance; the land, too, of poverty and earthquakes and mititarism. Touched with curiosity and the desire of beauty, Sarojini expanded under the magnetism of Florence, she drank deep of the Pierian spring, studied at King's College and at Girton and returning to Hyderabad broke through the restraining environments of prejudice and caste by marrying in that year her present husband, Dr. Govindarajulu Naidu. Emancipated from the thraldom of superstition, Sarojini gave her imagination and her pen the reins, embodying her fancies and her wit alike in prose and verse. Extracts from her letters to Mr. Symons are given in her preface, extracts which make one wish for more. They are charming and unrestrained, delicate and dainty as a butterfly, introspective and bubbling with a delightful gift of humour.

The opening poem is entitled the "Palanquin bearers." Its melody and rhythm afford a fine example of Sarojini's method.

Lightly, O! lightly we bear her along,
She sings like a flower in the world of our song,
She sings like a bird on the foam of a stream,
She floats like a laugh from the lips of a dream.
Gently, O! gently we glide and we sing
We bear her along like a pearl on a string.

Softly, O! softly, we bear her along,
She hangs like a star in the dew of our song:
She springs like a beam on the brow of the tide,
She falls like a tear from the eyes of a bride.
Lightly O! lightly we glide and we sing,
We bear her along like a pearl on a string.

There is a beautiful touch of gipsy-hood in her "Wandering singers," whose kingdom is the world, whose home, is the wilds, who

Sing of old battles, the crown of old kings,
And happy and simple and sorrowful things.

"Coromandel Fishers" is disfigured by a hopeless accent on the word 'catamarans': but her "Snake-charmer" and "Corn-grinders"—the life histories of a mouse, a deer and a widowed bride—are "sweet, simple and sensuous," a famous definition of good verse. Her "Village Song" re-tells the old story of the magic of the fairies, strong enough to tempt maid from mother and jewels and lover to throw in her lot with the dances and the revelry of the unseen elves:

The bridal songs and cradle-songs have cadences [of sorrow
The laughter of the sun to-day, the wail of [death to-morrow
Far sweeter sound the forest notes where [forest streams are falling;
O mother mine, I cannot stay, the fairy folk [are calling.

Cradle songs are the experiment equally of poets and of poetasters. Here is our authoress's dainty contribution to our existing store.

From groves of spice,
O'er fields of rice,
Athwart the lotus stream,
I bring for you,
Aglint with dew,
A little lovely dream.

Sweet, shut your eyes,
The wild fire-flies
Dance through the fairy *neem*;
From the poppy-bole
For you I stole
A little lovely dream.

Dear eyes, goodnight,
In golden light
The stars around you gleam:
On you I press
With soft caress
A little lovely dream.

I would venture to suggest that the "Poet's Love Song" and "To the God of Pain" are in some measure autobiographical. Mr. Symon's preface tells us of Sarojini's cry for poet-fame, of her intense longing to write some one poem worth remembrance, and then "to cease upon the midnight without pain." The preface draws, too, pictures of bodily anguish, of pain bravely borne all through the young inspired life, till in very pity one cries aloud against the fates which let such things be. In the brilliant noon-tide of an Indian day Sarojini can thrust from her the call of Love: the beautiful plumage of songless-birds, the spring radiance of a March morning, the

sumptuous blaze of gold and sapphire sky," the scent of *neem* and *champak* and scarlet lilies more than voice for her all that Love can offer to her sense of perfect detachment. For she is rich with the ambition of the poet's madness.

Mad dreams are mine to bind
The world to my desire, and hold the wind.

But when the day is dead, and "all the world a solemn stillness holds," then

In the desolate hour of midnight, when
An ecstacy of starry silence sleeps
On the still mountains and the soundless [deeps,
And my soul hungers for thy voice, O then,
Love, like the magic of wild melodies,
Let thy soul answer mine across the seas.

Who shall say that this was not the young girl's nature calling out across the "smiling waves of many twinkling ocean" for that other being, divorced for a time from her by distance and the outraged modesty of a system of iron caste, calling on it to be faithful and loyal and strong and true to troths already plighted, overwhelming in the languorous stillness of the night the day-dreams of poetic fame? Poor little authoress. In her invocation to the God of Pain she writes,

For thy dark altars balm nor milk nor rice,
But mine own soul thous't ta' en for sacrifice,
All the rich honey of my youth's desire,

And all the sweet oils from my crushed [life drawn,
And all my flower-like dreams and gin- [like fire,
Of hopes up-leaping like the light of dawn.

But as her own brave nature has vanquished and crushed down the sufferings which threatened at one time to silence the melodies which delight the world to-day, so let us hope the cry across the seas has been answered in abundant measure generously pressed down and running over, so that the presence of love, well won, sanctifies and irradiates the privacy of our authoress's life. For after all, which is the truer and the finer prize—the guerdon of the world's eulogy, or the peace beside the private hearth? From Horace downwards men and women have echoed the soul's cry,

Quod si the numeris vatibus inseris,
Sublimi feriam sidera vertice.

And who has yet solved the fatal rivalry between Fame and Love?

Sarojini Naidu's command of the English language would be surprising even in an Englishwoman born and bred in England. Surprise is mixed with admiration in the case of our authoress. Her epithets never clog. She never destroys or delays the scene by an exuberance of adjective. Her thoughts flow simply and at ease. They are never strained or forced. Her ear is true, and she is refreshing in her sense of poetic cleanliness. There is not a phrase or an idea which is not sweet and pure. Nor does she stumble into the pitfall of excessive adulation even when she presents the Nizam with an Ode. Her sense of proportion and her bent to truth save her the ignominy of too expansive praise. If those more intimately acquainted than herself with the internal politics of Hyderabad cannot repress a smile at the "faithful stewards" who

Sleepless guard
The harvests of your gold and grain,

chivalry will make due allowance for the pressure of circumstances under which the ode was indited, and truth compel admiration for this description of the varied races over whom the Nizam reigns.

The votaries of the Prophet's faith,
Of whom you are the crown and chief,
And they who hear on Vedic brows
Their mystic symbols of belief,
And they who worshipping the Sun
Fled o'er the old Iranian sea,
And they who bow to Him who trod
The midnight waves of Galilee.

But long before the young singer's hope can be realised,

Your name within a nation's prayer,
Your music on a native tongue,

there must be such a thorough cleansing of the Augoon stables that old friends returning to visit the scene of their former triumphs (and deportations) shall exclaim in wonder that they have not even a bowing acquaintance with the place.

All through the verses of Sarojini runs the pleasant strain of sweet and earnest youth. In her young eyes life's service is worth the rendering, and life's prizes worth the winning. So may it always be. Before her lies the untrodden expanse of many unnumbered years. Husband, children, home, in these she is wealthy above most women's wealth. Hers, too, is the divine grace of beautiful thought rendered into

beautiful words. She is young for such triumphs. But she has left the seclusion of private life and adventured on the strong ocean of public competition and public praise or blame. I pretend to be no critic. But I am hungry for good work well done, and for what it be worth, much or little or nothing, I bid our charming authoress be of good cheer. The bread she has thrown upon the waters will return to her in time increased a hundred fold, and when she has enfolded herself in this mantle of the world's praise, she may remember my friendly cynicism, and softly ask herself," Cui Bono?"

—:o:—

THE DAISY.*

BY REV. DR. G. U. POPE.

—:o:—

ABOVE the empurpled mountains' western limit- [line,
The sun, expanded flower of splendours infinite,
Was lingering yet, full-orbed, before his going [down.

O'er a grey crumbling wall, 'midst tangled ivy- [twine,
On the turf's utmost edge, unfolded clear and [white,

A pearl-like daisy lifted pure her glory-crown.
And so the little flower, above the old wall's height,
On the great star, diffusing still undying light
Amid the azure vault, fixed lovingly her gaze,
And, whispering low, spake thus to him, "I too [have rays."

O soul! thy place is earth, 'mid ruins,—night is [nigh;
Yet far beyond those hills thy home abides on high.
And so, when on thee looks the eye of Love Divine,
Gaze thou not idly then; " thy Light is come, arise [and shine."

—:o:—

* From the French of Victor Hugo.

SOCIAL REFORM IN GUJARAT: A RETROSPECT.

BY

MR. UTTAMLAL K. TRIVEDI, B.A., LL.B.

—:o:—

ALL reform—political, social, religious,—has in the end a social significance. Social reform, in particular, however, is conscious re-adjustment of the existing relations of individuals and groups of individuals, constituting a body politic, with each other. It will include a revision of all those practices and observances which are the expressions of such existing relations. It comes into existence on the recognition of the necessity or advisability of such re-adjustment, the circumstances calling for which may or may not be the same for different countries and different ages. Ordinarily, there exists in every living society a certain dynamic energy which makes it possible for it to constantly adapt itself, unconsciously, to its environment. It is only when the inherent energy has, by the operation of some internal or external causes, lost its power to keep pace with some strong self-assertive force, that conscious effort to re-consider and re-adjust becomes necessary or possible. The cry for reform, in such a contingency is itself the expression of such energy in the higher individuals, whom the masses will hear, as they recognize the necessity or advisability of some re-adjustment.

In India, the endeavours of the earlier social reformers may be said to have succeeded in so far as the necessity of some re-adjustment has been more or less recognised. Differences, however, have arisen in the principles of the re-adjustment, and are necessarily emphasised in their application to details. And, speaking of Gujarat, while recognizing the earnestness, heroism and self-sacrifice of the pioneers of the movement, it may be safely affirmed that the distinctive social movement which began with the dawn of Western culture has had its day. Except in the passionate assertions of some of the surviving leaders of the reform party, social reform is no longer advocated in Gujarat, on radical grounds. The principal organs of public opinion and the chief leaders of new Gujarat, profess to be orthodox reformers, as distinguished from the radicals of the earlier generation. The vaunted popularity of the cause of Reform is not the popularity of the entire programme of the radical creed. People have begun to take kindly only to those items of

reform with which national ideals do not appear to them to conflict. One may well venture to affirm that at least in Gujarat, the cult of Rational Reform has been superseded by the more general movement on humbler, home-spun lines.

The history of that movement forms a very interesting study in social reform. The one truth that the history appears to inculcate is the utter inability of hasty growths of exotic plants to persist on the Indian soil. It affords a clear demonstration of the sociological law that high degree of evolution can be attained by any society only if the motion lost is slightly in excess of the motion gained. It is a truism of the doctrine of evolution that all advance must be slow, sympathetic and continuous in order to be able to persist.

In Gujarat, unfortunately the movement of social Reform began in a spirit of antagonism to the existing order of things. Its earliest apostle, Mahtaji Durgaram Mancharam, was one of the first products of the elementary education imparted by the then new Government. At the age of fifteen he joined a school in Bombay and after eighteen months' study in that school, young Mr. Durgaram was commissioned to start a school in Surat (about 1828. A.D.). The schoolmaster soon transformed himself into a public teacher. He early developed into an enemy of superstition, and had no hesitation in advocating widow remarriage, the breaking up of caste barriers, and total abolition of all rites and ceremonies usually performed by our people in the name of religion. His earnestness and moral intrepidity were so great that he never missed one opportunity to preach his new doctrines even under circumstances when etiquette, common sense and good breeding demanded a temporary suspension of the missionary zeal. He did not know English and what he knew of Sanskrit was too little to do justice to the various apparently conflicting layers of thought which one finds embodied in our old literature. He was able during his lifetime to get together a few units to talk of social reform, but all his activity could achieve nothing more than was possible for a man so ill-equipped for the work of recasting the society which has managed to move in the self-same groove for these thousands of years.

In 1849 the foundation of the Gujarat Vernacular Society opened an important centre of social reform in Ahmedabad. The society was primarily organized in the interests of the language and literature of Gujarat. But, naturally a body of reform in literature soon grew up under *its* auspices. The first to write under its patronage was Kavi Dalpatram Dahyabhai. He had a pretty good knowledge of Sanskrit and Hindi. He had a vivid sense of the past, and his literary culture gave him the power to assimilate the new with the old. He lived a very simple life; his manners were gentle in the extreme; and his reverent conservatism duly tempered by an unerring grip of the new situation made him a typical representative of the old Aryan civilization. He was a poet. In his muse, reform was correcting the abuses of the past, and was not a matter of logical necessity on abstract grounds. By means of every sonorous poetry, he taught the people of Gujarat, in the gentlest of gentle manners, the peculiarities of our new environment. A purist in literary thought and style, he managed, without one offensive word, to lift up the intellectual level of the people around him. His influence was always exerted in the interests of social reform, not on the lines of violent disorganization, but by means of the gradual assimilation of new knowledge and the suggestive operation of the new necessities. He carried the imagination to the glories of the past, and by inducing the desire to bring back the vanished superiority of character and riches, he touched the true national chord.

During this period Bombay was breeding a race of reformers, who were destined to leave permanently the stamp of their own individuality on the social mind of Gujarat. The year 1850, saw in the formation of the Buddhivardhak Sabha, the creation of a new centre for the discussion and propagation of Reform ideas among the Gujarati speaking population of Bombay. Here, as elsewhere, the educational institutions were already preparing the ground for change. Bombay was, comparatively, a new town. Social life was not so crystallized as in the mofussil. In a vast town with diffused populations, got together for business purposes, there is not the same preponderance of caste as an institution as in the homes. English education had begun to permeate among the peoples. Missionary influence was strong enough to command a hearing. The atmosphere was charged with ideas of wickedness of Indian institutions. The material advantages of freedom from caste and priesthood which had made the European populations so powerful on the earth were fully realized and the difficulties and disadvantages of subjection to the foreign yoke had already begun to sting the enlightened

consciences of the people of Bombay. The rapid rise of the Parsi community due to their wonderful adaptability to new conditions was an object lesson, which it was impossible to ignore.

At this juncture a band of earnest Gujaratis was rising to the front. Between 1850, and 1860 we find more than a dozen prominent names in the camp of Social Reform in Bombay, Narmadashankar, Lalshankar and Karsondas Mulji, being the most prominent among them. The former was a Nagar Brahman of Surat, born in 1834. He was educated enough to be qualified as a schoolmaster in an English School. After some service, he took to letters, and enlisted himself in the cause of Social Reform. As a reformer he was a fearless radical. His harrowing pictures of the miseries of widows and vigorous denunciations of the most objectionable features of the customs of the people of Gujarat had given him a place at the top of the Reform party of the day among the Gujaratis of Bombay. His reform was mainly the reflex effect of his intense patriotism. Some of the most successful of his songs are those in which he pictures the degeneration and decadence of his countrymen, and the moral helplessness of political subjection. His compatriot Karsondas was very nearly of the same school. He knew English, was for some time a school master, but ultimately preferred journalism with the consciousness of the opportunities it would afford to do good to his countrymen. The doctrine of liberty and equality supplied a chivalrous motive to push forward an all-round movement. The period was a period of almost revolutionary propaganda. The stir and ebullition caused, reached every home. Social Reform was at the tip of every man's tongue. Narmadashankar with his unpassioned poetry, and Karsondas with his journalistic onsets galvanized the otherwise apathetic society of Gujarat. The period was verily a period of soul-stirring agitation in the cause of Social Reform. Never in the history of Gujarat was the population almost all over the country so bestirred, simultaneously in one single cause as in this period. Among those who assisted these gentlemen with funds and active co-operation were the well known names of Mathuradas Lowji and Lakshmidas Khimji. They had keenly perceived the current abuses and put all the strength of their wealth and position at the service of the new movement.

The most decisive event of the period was the Maharaja libel case. Some of the Vallabhiya Acharyas at that period, had grown altogether irresponsible. The leaders of society had already advanced so far as to think it a matter of duty to consider for themselves the conduct of religious heads, *per se*, without reference either to long practice or religious or rather the superstitious sanction. The glare of rationalistic search-light was too powerful for these matters and the weak spots in the Vallabhiya system were detected and attacked with enthusiastic vehemence. The occasion was furnished by a member of the holy family who had the temerity in this age of universal equality to refuse attendance in a court of law on the ground of high and holy position. The pretension was too much for the new cult. Mr. Karsondas took up the matter with heroic zeal. The Reform party had at last got a commanding opportunity to make themselves heard in every home. The Goswamis did all they could to restrain the overwhelming tide. Caste fellows of Mr. Karsondas, themselves the followers of the Vallabhiya Church, threatened whomsoever that wrote against the Church with excommunication. A formal document to that effect was drawn up and several put their signatures to it. Such restraints on the liberties of individuals were not to be tolerated in the new age. The document characterised "the slavery bond," was attacked with all the strength of new knowledge and youthful energy. Hand-bills, pamphlets, letters and leading articles, all the literary weapons of the age of the printing press, were freely employed. The church of Vallabhacharya was for the first time in its history reduced almost to a life and death struggle. This was in the year 1858.

Two years after this, Goswami Jodunattiji of Surat, a scion of the Vallabha family, appeared on the scene. He had received some education and come to Bombay with the ambition of resuscitating the honours of the fallen church. Jodunattiji showed his sympathies with the reform movement, presiding at a prize-distribution at a girls' school. His presence in Bombay and his sympathies afforded a capital opportunity to the reformers. They had at last found a lever with which they could have moved the inert masses of ignorant India, only if they had accurately gauged the situation about them. They lost the opportunity. No they even abused it. They responded to the olive branch, so gracefully offered, by a single for further warfare. The vexed question of widow re-marriage was brought to the forefront, and Narmadashankar

challenged the Acharya to a debate on the subject as a shastraic question.

For a layman to challenge these heads of religious houses was itself an act of unpardonable irreverence. Their office is to judge, not to dispute. It is their privilege to authorize, to sanction, to condone. Apart from that, however, it was a tactical blunder. In face of the universal sentiment of the people, it was impossible for Jodunattiji to be a party, at that stage, to any conclusion, contrary to the received traditions, and prevailing practice of several centuries. Further, to base a programme on the doctrine of Liberty and Equality, and to expect unqualified approval from the shastras, which exist to command limitations on man's natural independence, with an eye to future existences, was to ignore the radical inconsistency of the two views of man's life on this earth. Moreover, it was nothing better than a child's play to challenge an Acharya to a shastraic debate, without being prepared to admit the binding authority of the shastras.

Jodunattiji accepted the challenge. At the debate the previous question was moved. The reformer was called upon to admit the infallible authority of the shastras. It was impossible for him to admit it. That settled the question. Naramadashankar's challenge only succeeded in converting a friend into an enemy and in earning for the reformers the stigma of 'irreligious and atheists.'

The third act now opens. The paper war became fiercer. The Vallabha church, under the leadership of Jodunattiji issued a monthly pamphlet as a sort of counter charm to the reform movement. That intensified the tension between the two parties. The reformers grew more enthusiastic. Once more they brought down the self-complacent church to a struggle for its very existence. The church, on the other hand, became more excited. Its supreme dignity was rudely shaken; its titles were irreverentially questioned; its weaknesses ruthlessly exposed. In an evil moment, Jodunattiji took it into his head to invoke the assistance of the Law Courts, against the malicious attacks, as he supposed them to be, of the reformers. The reformers succeeded in compelling a member of the holy family to take shelter under the protection of the Court, which only three years ago, another member thought was too unhallowed for him to attend. The result of the litigation was a triumph for the reformers. Karsondas was made the hero of the day. Peans of praise were sung from every side except the orthodox masses. And there, the Reformers were thence forward taken to be national enemies.

Thus was a Lutherian battle fought and won on the peaceful soil of Gujarat. Nothing substantial, however, came out of it. For a time, there was some talk of setting up a reformed church, but at that time it came to nothing. The next year Karsondas himself gave up journalism. Narmadashankar applied himself to literature once more. It appeared as if the success of the reformers in the libel case was merely the beginning of a crushing defeat in their main purpose. Bombay was coming to a period of unprecedented prosperity and was too busy first with making money and then with losing it, to think of Social Reform. Meanwhile Narmadashankar himself underwent a serious revolution in his attitude towards the whole movement. His biographer remarks that he read over two hundred works relating to the history of different countries. The vast discipline of the study of history, and some insight into the religious and philosophic literature of our country, cooled him down, and after 1875, we see in his own writings clear indications of a return to, and advocacy of orthodox thought and mode of life.

The earnestness, heroism and enthusiastic self-sacrifice of these apostles of Social Reform ought to be unstintedly recognized. Their mistake lay in applying foreign medicines to the diseases of our society. They madly tried to effect an easy cure by displacing the humours of the body, instead of patiently investigating remedies to suit the disease. Their impatience was their chief fault. In their haste they omitted to record the history of the patient. Like an overbearing quack they abused and punished him for his faults, instead of coaxing and cajoling him to accept their new treatment. They were so much in love with the foreign prescriptions, that they neglected their own ancient guides to national health and prosperity. They attempted the reconstruction of a society which required the attention of the most learned and the most experienced doctors. Their defence is that the work was forced upon them by the circumstances of the period.

All honour to their pioneer work !
All peace to those noble souls !

Meanwhile, the national school was not silent. Like Dalpatram in Ahmedabad, Ranchhodbhai Udayaram and Bhaishankar Nanabhai were educating the public by means of literary productions of high and permanent merit, mainly plays, picturing the miseries of our home-life, the result of many an abuse in every department of life

Their works took their share in rousing men's mind to the real state of affairs. Among them, though of a different type was Mr. Manassukhram Suryaram since known to the world, as the author of, "A sketch of the Vedanta Philosophy." With an unbounded faith in the unerring wisdom of our ancestors Mr. Manassukhram was during these years slowly but steadily influencing the mind of his contemporaries, so as to induce them to look to the past of their own country, rather than to the new ideas of the present, for the regeneration of their countrymen. The humbler efforts of these men have survived to this day, and their works are being read with increasing avidity by the people of Gujarat.

The centre of reform is again shifting to the interior. Mahipatram Rupram, who was a secondary Reformer in the storm of the fifties was about the year 1860, sent to England by the Educational Department, to study the normal schools of that country. On his return he was appointed Principal of the Gujarat Training College at Ahmedabad. The item of reform which on his return, took possession of Gujarat was foreign travel.

Mr. Mahipatram was a Nagar Brahman of Surat. The question was, whether he should be re-admitted to intercourse with the caste people. Some time elapsed before his community at Surat was unanimous in giving a *prayaschitta* with a limited resumption of intercourse. Mahipatram underwent the ceremony but his friends in Bombay called it moral cowardice. Mr. Mahipatram argued that his performance of the *prayaschitta* had nothing whatever to do with his conscience. The plea offended his community. His expiation was not accepted, and the *Vilayati* question is not yet set at rest. Mr. Mahipatram was an author and worker of the rational school. He entertained no doubts or difficulties in preaching from his chair in the Training College, to his youthful disciples, the most irreverent and revolutionary views on social and religious questions, and thereby contributed not a little towards throwing into disrepute the whole of the reform movement.

Mahipatram's question carried one orthodox Nagar Brahmin into the reform camp, R. B. Bholanath Sarabhai. He belonged to an aristocratic family and himself rose to the position of First Class Sub-Judge in the British service. In his early life, he was a devout follower of the main practices of the Hindu religion, primarily, it may be added, by virtue of hereditary associations. He was a Sanskrit scholar, and a thoughtful critic of Sanskrit religious literature. The poverty of moral and intellectual equipment of the Brahmans around him, and over the countries which he visited, appear to have created in him a feeling of revolt; and the deviation thus caused, gradually evolved into bitter antagonism to the time-honoured observances of the Hindu religion. It was a case of rationalist reaction in the sphere of ritualism. He was an amiable man, a spotless character, and except the active hostility to hold institutions which dominated his conduct towards the latter part of his life, there was not much in his beliefs which the enlightened portion of the orthodox community cannot forgive.

His greatest service in the cause of reform was the leading part he took in the establishment of the Prarthana Samaja at Ahmedabad about the year 1878. Of the similar institutions started under his leadership in a few other cities of Gujarat, the one in Ahmedabad only survives. He was a religious reformer, and he failed because he could not take proper account of the inequalities of religious consciousness in individuals. All his knowledge of Sanskrit religious literature could not keep up the sympathy and kindness which he owed to his inferiors, morally, intellectually and materially. He was a thoughtful critic of ancient Sanskrit literature, but, perhaps, not thoughtful enough. He had a historical vision, but that vision was not sufficiently penetrating. Had he been endowed with the supreme moral faculty of boundless sympathy, and the vast intellectual equipment, which make up a great religious leader this Nagar Brahman of Gujarat would probably have been a great force in the country. He was a poet and composer, and his religious songs remarkable for spiritual fervour as well as for purity of diction, are admired equally by the Samajists and the orthodox people of Gujarat.

The Prarthana Samaja was the fitting consummation of the earlier movement. It completed the alienation of the Reform party from the main body of the people. Subservient to the spirit of active hostility to the existing modes and institutions of religious worship, it sounded the death-knell of their influence in the reform cause, by reason, both of the emphasis it gave to the hostility against the popular ideals and institutions, and of its being a direct imitation of the Christian Church. Even the day of the

week chosen for congregation was Sunday the Christian Sabbath. No wonder, the unsophisticated people should look upon this as a huge denationalizing agency.

Thus ended the first social reform movement in Gujarat. Shortly after this, the duty of guiding the people on reform questions devolved upon Prof. Manilal N. Dvivedi the well-known English and Sanskrit scholar, and a powerful journalist. Theosophy had by this time begun to arrest the progress of materialism, and Mr. Manilal was a devoted theosophist. We have seen that active antagonism to the national ideals and institutions of the country was the keynote, and their suppression, the object, of the older movement. The new movement, in the hands of Mr. Manilal recognized the value of the old religious ideals and institutions, and sought to vitalize and purify them by a sympathetic treatment. Instead of attempting to co-ordinate the social relations of the community on the principle of absolute Liberty and Equality, he recognized the limitations of its application on the physical plane; and at the same time, clearly realized and vigorously advocated the same principle on the spiritual plane, where *all is one without a second*. His powerful pen practically subdued the hostile movement in the hands of the Prarthana Samajists the sole surviving representatives of the rational creed in Gujarat.

To the scholarship sympathy and power of Mr. Manilal is largely due the intelligent conservatism that flourishes so well in Gujarat. He directed the eyes of the people to their venerable past to the best in their literature and philosophy, and taught them that it was neither criminal nor sinful to stand by the national ideals and institutions. He did not hesitate at the same time to point out the evils of later growth; and while recommending unswerving loyalty to the past, taught them to think of the present as well, to correct the evils that had taken root, to co-ordinate the life and conduct to the eternal ideal of unity in variety of peacefulness in activity of duty unmindful of reward, of fearlessness, of love of truth and of justice. He was a teacher first. He taught us how to live. He emphasised improvement in the moral consciousness, teaching us to feel better that we may think better and act better.

Here my review of the first social reform movement ends. The rest is too near to be included in a retrospect. Moreover, H.H. the Gaekwar's reforms form a separate chapter and demand a separate treatment. Suffice it to summarise that the social reform movement in Gujarat began in violent antagonism to the existing order of things. Inspired by the maxim of Liberty and Equality it secured what may be termed a suicidal triumph over the Vallabhya Church. It ended in the establishment of the Prarthana Samaja, as a separate worship, which concluded its programme, and completed the isolation of the reformers from the masses of Gujarat. The whole movement was finally suppressed by a powerful brain, which drew its inspiration from the history and philosophy of the East and the West, and succeeded in tightening the hold of the people on their own ideals and institutions. Here the Society in Gujarat now stands. All reform questions are now examined in the light of ancient ideals. The people have been given light enough to recognize the new necessities, but the national ideals are always to be conformed to. Young men's unions, caste conferences, and sober discussions of reform matters in the periodical press, point a growing awakening which is bound to penetrate the remotest strata of society as education advances. There is no flourish of trumpets, no advertising celebrations, no grand demonstrations. The young men of the country are doing their best to raise the moral and intellectual level of the community, and by silent and, therefore, all the more effective example, are guiding their fellow countrymen to what they think to be the right path under the circumstances of the hour. It must be confessed that it is not all smooth sailing for the national school, but it cannot be gainsaid that they are right in their creed and their method, and bound to succeed in the end. Differences will arise among the members of the same school, as between the opposite schools, as well. But let all rationalists and nationalists alike guard themselves against the evils of arrogant assertion of superiority, of rivalry, impatience and contempt. Let all gently pursue the surer path of sympathetic persuasion, of patient and tactful perseverance, of toleration and respect. Let hostility and hatred disappear. Let sympathy and love govern the relations of all.

A PROTEST AGAINST LITERARY RIGIDITY.

BY MR. GERALDINE HODGSON.

——:o:——

I have chosen to enter a protest against rigidity because it seems to me that broadened taste is nothing but will illumined by reason; and in heaven above or on this middle earth, or in the under world I, at any rate, can conceive of nothing more beneficent, nothing more glorious, nothing more gracious than will illumined by reason. The first point which I desire to make concerns the greatness of the power of Literature. I am not going to affirm that Literature (in the widest sense of the word) actually does wield an enormous influence over the majority; I wish rather to suggest that it does not but might do so, to indicate the extent of a possibility too often neglected.

We know that one of the greatest—may we not add one of the stupidest?—struggles of the present day occurs between the narrow supporters of what is called science, and the narrow supporters of the Humanities. "The masters of those who know", to borrow a phrase from Dante, are satisfied that there is no real ground for antagonism: as a matter of fact it is about as futile to ask which blade of a pair of scissors cuts as to inquire which of these great departments of human knowledge is the more essential.

Matthew Arnold once said that the prime business of education is to "enable a man to know himself and the world". Elsewhere, he writes,

> "To know himself a man must know the capacities and performances of the human spirit: and the value of humanities.........is that it affords for this purpose an unsurpassed source of light and stimulus.........It is a vital and formative knowledge to know the most powerful manifestations of the human spirit's activity, for the knowledge of them greatly feeds and quickens our own activity...It is also vital and formative knowledge to know the world: the laws which govern nature, and man as a part of nature."

Further on, Arnold insists that we must borrow Aristotle's idea of "the correlation and equal dignity of the most different departments of human knowledge" and we must shew "the possibility of uniting them in a single mind's education."

With this reminder then that to the wise there is no antagonism between Science and the Humanities, let us turn for a moment to consider how important is the function of literature in a human being. Arnold, we saw above, argues that knowledge of the activity of the greatest minds quickens our own activity. This is no new idea. In the fourth century after Christ, S. Basil published a Homily whose title was "*Of the advantage which young people can derive from a study of profane authors*"; and therein he advised that the treasure house of Antiquity should be ransacked in the interests of studious youth.

In 1392, Petrus Paulus Vergerius, one of the earliest pedagogues of the Italian Renaissance, writing to Ubertinus of Carrara, observed:

> "In your own case Ubertinus, you had before you the choice of training in Arms or in Letters. Either holds a place of distinction amongst the pursuits which appeal to men of noble spirit: either leads to fame and honour in the world. It would have been natural that you a scion of House ennobled by its prowess in arms should have been content to accept your father's premission to devote yourself wholly to that discipline. But to your great credit, you elected to become proficient in both alike; to add to the career of arms traditional in your family an equal success in that other great discipline of mind and character, the study of Literature."

If we remember that the prime aim of all the great humanist educators from the 14th century onwards was to train up not retired philosophers but cultivated men of action, citizens in the noblest meaning of that word, we shall realise the worth of the tribute paid by Vergerius to Literature when he calls it "that other great dicipline of mind and character."

Æneas Sylvius, better known as Pope Pius the Second, writing in 1450 for Vladislas, King of Hungary and Bohemia urges upon him the essential truth contained in these words—"our one sure possession is character." This proposition reminds us again of the real deliberate aim of the humanists in education—to train up cultivated men and women, capable of sane action.

We might multiply examples from the humanist writers wherein they insist upon the value of a wide acquaintance with literature, holding too that value lies in the fact that without it a man or a woman is not truly educated, is not fitted for life, is not equipped as a citizen should be.

Lest this argument should be partially turned by the suggestion that all these men were professed educators, and that we should not expect professed educators, any more than other vendors of wares, to depreciate their own goods, let us quote the ruler of one of Italy's most splendid courts, Lodovico Sforza, Il Moro, the Great Duke of Milan. In the preamble to his will, he explains that "since the premature death of his wife, in

whose wisdom and knowledge he placed absolute trust, has deprived his sons of their natural guardian" he has drawn up instructions for their education, and for the government of the State until the elder, Maxmilian Count of Pavia shall attain the age of twenty. Among the other provisions, this one occurs :—

"His education is to be entrusted to none but the best governors and teachers, who are to train him carefully in all branches of religion and secular learning, in good conduct and habits, and in the knowledge of letters *which last is not merely an ornament but an absolute necessity for a prince.*"

"That high standard of education" says Bruni, from whom I quoted before," to which I have referred at the outset is only to be reached by one who has seen many things and read much. Poet, Orator, Historian and the rest, all must be studied, each must contribute a share. Our learning thus becomes full ready, varied and elegant, available for action, and for discourse in all subjects."

"Available for action." These words may suggest another reason why our knowledge and appreciation of literature should be wide and not narrow. It is by action that, most palpably at any rate, we affect our neighbours. And the humanist educators held, nor are they singular in this, that as what we are, determines what we do, so what we know, in the most elevated and broadest sense of the word, determines what we are. Consequently, our education, our knowledge, our culture, our scientific aptitudes, our literary tastes are not and cannot be purely private matters: we may not, if we would play our parts duly in the world's drama, shut our minds up in a narrow compound, hedged securely round with prickly prejudices. We are bound, so far as in us lies, to know, to appreciate, to assimilate all that we can in order that in life we may do our utmost.

This view of literature, as a preparation for noble life has never died out entirely since men possessed a literature; it recurs in all times of literary expansion, and also whenever an attack is made on the humanities : it is, no doubt, the most cogent argument in favour of literary breadth, the most convincing plea against preferential rigidity which can be urged. But though the most powerful, it is not the only one, perhaps not the most persuasive one that we can find. For in the second place we may look at this matter not from the social but from the intellectual stand-point. Because our education, our knowledge, our culture are not purely individual, it does not follow that they have not an individual side. Because in this sphere as in others we owe a debt to the community in which we live, it does not follow that we owe nothing to ourselves as separate beings. When at some distant date we know the truth of things, perhaps the seeming antinomies of our life-struggle may disappear, and among them the often apparent conflict between a man and his neighbours. Far be it from us to depreciate in any way our duty to the State. And yet when that is recognised and admitted, there remains the worth, the importance, the duty of an individual to himself.

Cardinal Newman in his *Doctrine of Assent* wrote :—

"I am what I am, or I am nothing... ... ...If I do not use myself, I have no other self to use."

"Man "is a person or a being of a particular constitution............One thing is certain, that he cannot transcend his personality, he cannot get outside himself. All his knowledge is personal knowledge, and is qualified and coloured by the fact."

Supposing all this to be true, supposing it is true to sum up the pith of these reflections in Newman's telling phrase—"If I do not use myself, I have no other self to use," then the importance of each man's individuality to himself is obvious, by overwhelming. Individualism, regarded in this light is not a selfish but an inspiring theory. If I fail to make the best of myself, I fail so far as I am concerned to make the best of anything of everything. In thus injuring myself, I dam up the very source of vital power. If personality really be the gateway through which all knowledge must inevitably pass, what an irresistible argument we have here against intellectual rigidity of every kind. What right has any individual to close, what possible interest has he, in closing up deliberately even so much as one single path leading to that inviting entrance?

It is not that which attracts and satisfies our taste which alone trains and educates the mind : that often needs to be stiffened by matter less pleasing, to be widened by thoughts offering possibilities which may even alarm it. A mind fed exclusively on fare of its own choice, on food exactly suited to its delectation is hardly more admirable perhaps than an epicure in the physical world.

All that we are justified in excluding absolutely is trash : for the rest, were life long enough and strength sufficient, there is room ; and there should be more than room, there should be welcome and gratitude.

Close upon the heels of the intellectual argument comes the moral. And here I may say that a plea for catholicity of taste and appreciation should not be construed into an argument

against special inclinations. Tennyson remarked through the medium of Guinevere:—

'We needs must love the highest when we see [it.'

To the cool observer of men it may seem that this necessity does not apply universally, and even Tennyson does not claim that we needs must love the highest best. I fancy that if we could obtain an honest avowal from a large number of cultivated people, we should find that the majority do not give their warmest affection to the greatest writers, painters, and musicians. I mean that when they seek refection and rest they will find themselves turning constantly to men in the second rank. It is not necessarily that they admire these most: they may frankly put them in the second rank; and yet in those moments when as I say the mind seeks repose, they choose Chopin or Botticelli, or Robert Browning, not Beethoven or Raphael or Dante. In those quiet hours when we ask for intimacy, for sympathy, we turn to the lesser men, to Henry Vaughan, to Gray, to Wordsworth, to Clough, it may be to Whitman. Greatness seems to make an over heavy demand on us then. Preferences we all have, may have legitimately, since feeling, though this is often forgotten and not seldom denied, is as integral a part of our human nature as reason.

Often it is hard to explain why one author attracts us; it is hidden under that mystery which we name affinity, and in naming leave unelucidated still. Of those literary likings which dominate our reading we can, in the last resort, give no more lucid explanation than Montaigne could offer concerning his friendship with Etienne de Boétie—"Parce que c'estait luy, parce que c'estait moy."

But though we have these preferences and are justified in having them, there is a moral plea for width, a moral prohibition of narrowness not less binding than the social and intellectual.

"Homo sum" said Terence "humani nihil a me alienum puto."

The moral use of great literature is to widen our sympathies. To take our own Literature, and from it only some instances, are not our affections broadened, our moral appreciation enlightened and strengthened if we cast our net widely? Not all that we read may fit our peculiar temperaments most exactly, most accurately: but we are more humane for meeting with the greatness of Shakespeare, the picturesqueness of Spenser, the plangent pathos of Herbert, the mysticism of Vaughan and Crashaw, the splendour of Milton, the restraint of Gray, the satire of Johnson, the polish of Pope, Swift's tragic edged wrath, the aptness of Addison, the gravity of Burke, the light of Shelly, the colour of Keats, the dreaminess of Coleridge, the spirituality of Wordsworth, the harmony of Tennyson, and Browning's manly strength. As Mr. Morley suggested once, we are not under any necessity "to place great men as if they were Collegians in a class list"; but we can with profit listen to them all: we can, to quote Mr. Morley again, "take with thankfulness and admiration from each man what he has to give." If we could once attain to this capacity for appreciating among those who are dead, men who may be alien perhaps to our own personal tastes, we might after a time find it less hard to tolerate the unattractive, the incompatible among the living. The healing of how many breaches might come with a wider literary sympathy. Sometimes even we might discover interest where prejudice had led us to expect offence. To understand views unlike our own, to admit the legitimacy of tastes which we do not share, or do not share in any very marked degree, to learn that setting aside the careless and the conventional, the hypocrite and the time-server, other men's ways are as sacred to them as ours to us—all that might follow if we could train our literary taste to catholicity really, thoroughly and irretrievably.

I suppose it is a commonplace of moralists and theologians that all honest effort after right doing is crowned, sooner or later by a reward for the individual fighter. Certainly, this gain of sympathy to be urged on moral grounds, is also a personal gain in realised tangible enjoyment. The best of us are creatures of how many needs. That which pleases to-day may disgust to-morrow: a prospect fair enough in sunshine grows intolerable beneath a grey sky. And beside offering relief to different moods, a genuine breadth of literary taste affords the pleasure of varied companionship, and even to some extent of change of scene.

If any one doubts the legitimacy of using literature as a pleasure, let him read Mr. Balfour's observations when he is combating Mr. Frederic Harrison's theory of "spiritual sustenance" as the end and aim of reading.

"It will not, I suppose, be denied that the beauties of Nature are at least as well qualified to minister to our higher needs as are the beauties of literature. Yet we do not say we are going to walk to the top of such and such a hill in order to drink in "spiritual sustenance". We say we are going to look at the view. And I am convinced that this which is the natural and simple way of considering literature as well as Nature is also the true way."

We have seen how much literature means to humanity in preparation for sane and useful life. That, rightly used, means pleasure, rest, consolation; change is not the least of its merits.

And therefore, for all these reasons—and doubtless many more might be found—let us widen our sympathies and open our minds: let us realise that if we are to play our parts in seemly fashion, it behoves us to have "preferences and no exclusions."

There is a storied vision accorded centuries ago to an enthusiast, a vision which faded on the startling monition 'What God has cleansed call not thou common or unclean', the record of which is probably familiar to us all. We may make that into an analogue for our position in this particular matter. The great spirits of literature call to us: in turn they demand our worship and our praise, forbidding us to scorn what they have acclaimed. There are the great deities whose singing robes cling round them in majesty and power: there are others who pass with shrouded face and form, whose audible notes are the dirge, the elegiac, the funeral lament: there are those whose winged and pregnant sentences enshrine for us the stored-up wisdom of the ages: whose embroidered pages bear us into far-off lands and scenes, whose poignant narratives inspire or console: there are those mirthful spirits who sing of wine, of the dawn, of the coming of flowers in spring, of the love, and youth and joy of the world: and somewhere, peeping fitfully from behind the rocks and shrubs which clothe the steep Parnassian slopes, gleams and glances the whimsical face of the spirit of Satire himself.

THE TEACHINGS OF SWAMI VIVEKANANDA.

BY MR. K. S. RAMASWAMI SASTRI, B.A., B.L.

IT is a matter for rejoicing that a good edition* of Swami Vivekananda's Speeches and Writings has been published. The life-work of one of the greatest sons of India—of one, who unfortunately for the world, died at an early age, while in the maturity of his marvellous powers, but yet has left behind him works of enduring beauty,—has been placed before the public in an attractive form. It is now fitting that we should arrive at a proper estimate of his character and achievements. There was a time when the brilliance of his personality so dazzled men's eyes that it was impossible to assign to him his proper place amidst "the splendours of the firmament of time." It was difficult to appreciate one whom everybody was inclined to worship; sane criticism was out of place when no one talked about him except in superlatives. But this period of blind admiration has gone by. People are asking themselves, who is this man that kept us spellbound by the witchery of his words? How was he able to exercise such a fascination over the minds of the people? What was his contribution to the world of thought?

We shall first consider Vivekananda the man.

SWAMI VIVEKANANDA.

No one who had the rare privilege of his acquaintance can ever forget the wonderful charm of his personality. Days in his presence would pass swiftly like hours, and hours like minutes. He had a magnificent presence and striking features; and his eyes always shone with extraordinary brightness. The first and foremost characteristic of his nature which exercised such a compelling influence on his hearers was his sincerity of soul. He could never have any patience with shams. He refused to allow himself to be cheated by mere phrases and sophistries. He saw through the surface of things, and denounced in deathless words that miserable clinging to forms—mere corpses of beautiful things long ago departed—which he saw everywhere around him. A second characteristic was his intense love of India. The very mention of that beloved name would bring new light into his eyes, and lend new animation to his mobile and handsome features. Patriotism was the motive force

* SWAMI VIVEKANANDA; An Exhaustive and Comprehensive Collection of His Speeches and Writings. Crown 8 Vo., 672 Pages. With Five Portraits. Cloth Bound. Price Rs. Two. G. A. Natesan & Co., Esplanade, Madras.

of all his varied activities; and unless we understand this we cannot realise the full significance of many of his actions and utterances. It led him to cross the seas, and stand before alien audiences in distant lands. He says in the volume before us: "Oh India, forget not that your ideal woman is Sita, Savitri, Damayanti; forget not that your ideal God is the great ascetic of ascetics, Umanath Sankar; forget not that your marriage, your wealth, your life are not for your sense enjoyment, —are not for your individual personal pleasure; forget not that from your very birth, you are sacrificed for the Mother.... Thou Hero, take courage, be proud that you are an Indian,—say, in pride, 'I am an Indian, every Indian is my brother'; say, 'the ignorant Indian, the poor Indian, the Brahmin Indian, the Pariah Indian, is my brother'; be clad in rags, and say, in pride, at the top of your voice, 'The Indians are my brothers,—the Indians are my very life, India's god and goddess are my God, India's society is the cradle of my childhood, the pleasure garden of my youth, the sacred seclusion of my old age'; say, brother, 'India's soil is my highest heaven, India's good is my good; and pray day and night, 'Thou Lord, Thou Mother of the Universe, Vouchsafe manliness unto me,—Thou Mother of strength, Take away my unmanliness, and make me man.'" It was this love of his country that led him to write some of his best works in his beloved vernacular, Bengalee; and we are glad that some of his best Bengalee poems have been placed before us in the volume now under consideration. A third trait was his thorough fearlessness. He said what he wanted to say with a noble scorn of consequences. He denounced the faults of the Americans in America, the defects of the English character before English audiences and never spared his brethren in India, when he thought that he ought to speak out in the interests of truth and humanity. Nor must we omit to mention his wonderful versatility. He had a gift of eloquence such as has been rarely met with in India; he commanded a style remarkable for its union of simplicity and force; his knowledge of Sanskrit was very great, and he could hold his own against any Pundit; he was a fine linguist and could speak many tongues including French and German; he was a considerable musician and had a marvellous voice; he wrote grand poems in Bengalee; he had great wit, but his wit 'ever loved to play, not wound;' and his grasp of the conclusions of science and philosophy was marvellous. Moreover, his affection for his disciples and friends was as remarkable as his towering eminence. Indeed, such a noble soul is born only once in an age. Last, but not least, we must mention that elevation of nature, that greatness of soul which made it impossible to think of anything low or mean in his presence, that Himalaya of purity the very sight of which had the power of transforming a sinner into a saint, that spiritual glory which could free the soul from the trammels of matter and set it free to march along the path to salvation.

Now, coming to his work, we must distinguish therein three distinct aspects. He was first of all, one of the greatest of the great succession of teachers who have lived in India, and who have passed the torch of religious knowledge undimmed through the long centuries, while invader after invader came to India and reduced her to political slavery. In this direction, he was a faithful exponent of ancient religious ideas, of ideas which have been given their most beautiful expression in the immortal Bhashya of Sri Sankaracharya. His claim to our gratitude in this respect lies in the new setting which he gave those ideas, in his having brought the ancient knowledge into line with the results of modern thought. One has to read only his epoch-making address before the Parliament of Religions to realise this. We shall mention here some of these new statements of old ideas, statements which are valuable in themselves because of the originality which they display, and their great beauty of language. In p. 41, we have a definition of the Vedas which will be felt convincing by any rational soul. "By the Vedas no books are meant. They mean the accumulated treasury of spiritual laws discovered by different men in different times. Just as the law of gravitation existed before its discovery and would exist if all humanity forgot it, so it is with the laws that govern the spiritual world; the moral, ethical, and spiritual relations between soul and soul, and between individual spirits and the father of all spirits were there before their discovery and will remain even if we forgot them." Again, we have in his article on *Reincarnation* (p. 119), a clear and convincing discussion of the problem of problems—a discussion which deals with the conclusions of science, and gives new and original explanations and suggestions. Again, in his *Freedom of the soul*, p. 163, there is a learned and lucid discussion of another problem which has been agitating the world for ages. We can only mention in passing his clear exposition of the three *Margas*—the *Karma Marga* or the path of work, the *Bhakti*

Marga or the path of devotion, and the *Jnana Marga* or the path of knowledge (pp. 93, 424, 448). Nor should we omit to mention a fine explanation of the three *gunas* at p. 93. "According to the Sankhya Philosophy there are in nature three kinds of forces, called in Sanskrit—*Sattva*, *Rajas*, and *Tamas*. These, as manifested in the physical world, are what we may call attraction, repulsion, and the control of the two. *Sattva* is what exercises the control, *Rajas* is the repulsion, while *Tamas* is the attraction. *Tamas* is typified as darkness or inactivity; *Rajas* is activity, where each particle is trying to fly off from the attracting centre, and *Sattva* is the equilibrium of the two, giving a due balancing of both." He taught also that truth of truths, which India has always proclaimed to the world, that religion is not an affair of the mind, or the heart, but is realisation. All the greatest and most fruitful ideas which India has given to the world are found in the pages of the volume before us, with a beauty unborrowed from anywhere, presented in a manner which will be felt convincing by the most advanced scientific thinkers of to-day.

The second aspect of his work is the message which he bore to the world from the great saint—Sri Bhagavan Ramakrishna Paramahamsa. He proclaimed in trumpet tones the great ideas which Sri Ramakrishna Paramahamsa gave to the world—the idea that all religions are but so many golden gateways to the temple of Truth, the idea that God should be realised as mother, the idea that religion is realisation. The very first lecture in the volume before us is a discourse on his master. It is a lecture which is full of noble ideas expressed in noble language, breathing a spirit of deep reverence for his spiritual guide, and of eagerness to convey to the world the great message which he was charged with by his guru. Again and again, in his writings and speeches, the note of reverence for his spiritual lord is to be heard, and we get in them the most perfect expression of Sri Ramakrishna Paramahamsa's teachings. He says, "Religion is not talk, nor doctrines, nor theories, nor is it sectarianism. Religion cannot live in sects and societies. It is the relation between the soul and God . . . . Religion consists in realisation." (p. 28). Again, "The second idea that I learnt from my Master, and which is perhaps the most vital, is the wonderful truth that the religions of the world are not contradictory, nor antagonistic; they are but various phases of One Eternal Religion." (p. 29). "This is the message of Sri Ramakrishna to the modern world. 'Do not care for doctrines, do not care for dogmas, or sects, or churches, or temples; they count for little compared with the essence of existence in each man which is spirituality, and the more that this is developed in a man, the more powerful is he for good. Earn that, first acquire that and criticise no one, for all doctrines and creeds have some good in them. Show by your lives that religion does not mean words, nor names, nor sects, but that it means spiritual realisation. Only those can understand who have felt. Only those that have attained to spirituality can communicate it to others, can be great teachers of mankind. They alone are the powers of light."

We now come to deal with what we consider to be his most distinctive, original and helpful contribution to the world of thought. The first great idea that he taught us is one the value of which lies not so much in its originality as in the new and surprisingly beautiful expression he gave it. He taught that religion is realisation. It was a refreshing lesson after the blind worship of manifold divinities that had set in in India, after the spiritual gropings and abortive attempts at founding new faiths which the world saw in Raja Ram Mohun Roy, Keshub Chunder Sen, and Protap Chunder Mozoomdar, after the forgetfulness of the spirit in the blind adherence to the letter, the observance of ceremonial as the be-all and end-all of religious life that had brought about the spiritual degeneration of India. He explained this great truth with an originality of argument and illustration which had been rarely seen before, and a beauty of language such as is seldom given to the sons of men. His second great idea is that each nation has a distinctive genius of its own, that no nation should give up its ideal and follow the ideal of another, that India's function in the world is to be the centre of spirituality for the universe, that her salvation lies through religion. At a time when India is in danger of being drawn into the whirlpool of materialism, when she is likely to forget her old ideals and aspirations, he has done signal service to our beloved country by pointing out that religion is our primary consideration in India, that, while trying to effect the social and economic regeneration of India, it is our duty to see that she continues to be what she has always been—the mother of religions and the saviour of the human soul. He says at p. 91: "India will be raised—not with the power of the flesh, but with the power of the spirit; not with the flag of de-

struction, but with the flag of peace and love, the garb of the Sanyasin; not by the power of wealth, but by the power of the begging bowl. Say not that you are weak. The spirit is omnipotent". His third great idea is that India will progress only if she cares more for the spirit of religion than for its letter, and walks in the path of spirituality giving up that blind care for conformity which had come to be the characteristic of Indian religious life. Another original idea of his is in the explanation he gave of the doctrine of *Maya*. This has been explained in various ways by various men; it has been bitterly assailed and covered with cheap ridicule; but he has given to it a new significance. He says: "But the *Maya* of the Vedanta, in its last developed form, is neither Idealism nor Realism, neither it is theory. It is a simple statement of facts,—what we are, and what we see all around us" (p. 186). We must also be thankful to him for another idea which he has given us, that there is no antagonism between dualistic, and monistic conceptions of God, that the latter is but the fulfilment of the former. He says: "The Dualist and the Advaitist need not fight each other; each has a place, and a great place in the national life; the dualist must remain; he is as much part and parcel of the national religious life as the Advaitst; one cannot exist without the other; one is the fulfilment of the other, one is the building, the other is the top; the one the root, the other the fruit and so on." (p. 512). He has taught also that the Vedanta is neither optimistic, nor pessimistic, that it takes the world as it is and shows the soul how it can never rest satisfied amid the shows of sense, and tells it how to realise its blissful nature. He says at p. 198: "Thus the Vedanta philosophy is neither optimistic nor pessimistic; it voices both of these, and takes things as they are, that this world is a mixture of good and evil, happiness and misery; increase the one, and the other must increase with it...To stop evil, therefore, the only way is to stop the good also; there is no other way that is sure." (p. 199). He has made us realise the great mission of the Vedanta, the truths that it proclaims to the world and which the world needs sorely now. He says at p. 546: "The world is waiting for this grand idea of universal toleration." It will be a great acquisition to civilisation. Again, "The other great idea that the world wants from us to-day, the thinking part of Europe and the whole world, more perhaps the lower classes than the higher, more the masses than the cultured, more the ignorant than the educated, more the weak than the strong—is that eternal grand idea of the spiritual Oneness of the whole universe." (p. 547). Next, he attacked and proved the hollowness of the views busily circulated by some that the Vedanta has no satisfactory basis for morality. He says at p. 178: "I do not believe at all that monistic ideas preached to the world would produce immorality and weakness and so forth. On the contrary, I have reason to believe that it is the only medicine there is." Another idea that he gave us is that the true work of man lies in renunciation, and not in Pravritti, that in this world there cannot be such a thing as the absolute destruction of evil, and that hence the goal of human effort should be to cease functioning in matter and reach the state of self-realisation. He says: "The Indian mythology has a theory of cycles, that all progression is in the form of waves. Every rise is attended by a fall, and that by a rise the next moment, that by a fall in the next, and again another rise. The motion is in cycles. Every evolution presupposes an involution" (pp. 252-3). Again, he insisted on the necessity for allowing perfect freedom in religious matters. He says at p. 224: "India has always had this magnificent idea of religious freedom—for you must always remember that freedom is the first condition of growth. What you do not make free will never grow." "Let men have the light of liberty. That is the only condition of growth." He taught also that we should set truth above all other things. In an eloquent passage, he says: 'Truth does not pay homage to any society, modern or ancient. Society has to pay homage to truth, or die (p. 265)...... 'That society is the greatest where the highest truths become practical' (p. 267). One great idea which he gave to the world was that people should learn to recognise the necessity of preventing confusion of duties. A householder who imitates a Sanyasin was as much his abomination as a Sanyasin who had the desires of a householder in his heart. He says: "Every man should take up his own ideal and endeavour to accomplish it; that is a surer way of progress than taking up other men's ideals, which he can never hope to accomplish" (p. 102). 'A householder who does not struggle to get wealth is immoral' (p. 107). He has given us many valuable ideas on various questions which are now clamouring for solution. On the question of caste reform, he tells us that the true method is the raising of the lower castes, and not an indiscriminate levelling down of all distinctions. On the question of education, he has

SWAMI VIVEKANANDA.

told us in eloquent words the indispensableness of spiritual education. He taught the reformers that what was wanted was constructive reform, and not a destruction of the fair fabric reared in ancient days by mighty hands. Above all, he taught the weak masses in this land sunk in self-abasement and self-contempt the need for a strenuous corporate life ; his voice was a trumpet-call to be up and doing, to regard their life as a sacred trust for their land and for humanity. To the West he gave two great and valuable ideas. He told them to give up the absurd notion that man is a sinner, and learn that man is God. He says, " Ye are the children of God, the sharers of immortal bliss, holy and perfect beings. Ye divinities on earth, sinners ! It is a sin to call a man so. It is standing libel on human nature." (p. 47.)' Also, he taught them the need for spirituality, how all earthly triumphs are hollow and unsatisfying, and how there is no empire so splendid as the attainment of spiritual prefection.

THE BRAHMANS & KAYASTHAS OF BENGAL III.

BY

BABU GIRINDRANATH DUTT, B.A., M.R.A.S.

(*Continued from the last issue.*)

—— : o : ——

ACCORDING to the native chroniclers, Ballal had simply exalted 19 Brahmans to be Kulins, but had not specified their respective ranks. So after his death they struggled among themselves, each one vying for supremacy and disdaining to acknowledge others' superiority or to marry their daughters to one whom they considered inferior in rank. On this Ballal's son Lukshman Sen called an assembly of the Brahmans and exalted for the first time 7 of them to equal rank of Kulins and again for the second time raised 14 others to that equality. This is known as समीकरण attributed to Lukshman. Of these 21 men so equally ranked there were 17 of those who were said to have been formerly honoured by Ballal. Lukshman Sen is alleged to have further regulated, as an imperative to preserve Kulinism, that there should be a mutual transfer परिवर्त्त in the marriages of Kulin's daughters, *i. e.*, a Kulin must necessarily marry the sister of one to whom he has given his sister in marriage, that whoever among the Kulins would make such connection he would be honoured as the primary (मुख्य) Kulin. But here he met with a crux. What will be the fate of those who have no daughters born ? To get over this difficulty, he is said to have formulated 5 sorts of transfer, परिवर्त्त, for the secondary गौण Kulins among which was the ridiculous practice of giving in marriage a daughter made of grass in the absence of a real daughter, and further classified them into ridiculously capricious divisions, sub-divisions and subdivisions under subdivisions, the enumeration and definitions of which we would omit here in order to save our readers from the sufferings of a troubled headache and a sickening nausea. It is needless to say that Lukshman Sen had nothing to do with these gigantic nonsense attributed to him. The works of his time and the inscriptions show that during the period of 8 years he ruled he had far more noble and honorable themes to devote his attention to than such stupidites. The author of the Backerganj plate makes him erect altars and pillars of victory at Benares, Allahabad and Jagannath. He is said by the Mahomedan historians to have greatly embellished the city of Gour and called it after his name Luksh-

nauty or Lukshnabati. It also does not stand to reason that in their vast dominion teeming with Brahmans, Ballal had found only 19* and Lukshman only 21 Brahmans worthy of being exalted to the rank of Kulins. If it is inferred that these kings had only thus honoured their courtiers, it would be absurd to suppose then that the great body of the Brahman public had humbly bowed down to such capricious and partial distinctions. It is also inexplicable why Lukshman in imitation of his father had not made such divisions and subdivisions among the Kayasthas who were left in an equally chaotic state with an undefined status by Ballal.

Apart from the fabulous connection with the king's name as organiser the narrative of the chroniclers reveals an important historical fact based on a natural law. It shows how the Brahmans struggled among themselves for supremacy over each other and at last the more learned and intelligent among them succeeded in putting down others by forming a clique and regulating a marriage law of mutual transfer to preserve the purity of blood by hereditary transmission, the object being the same as that of the Maithil Brahmans and the very system borrowed from them. Our recent research from many Maithil Pundits in the service of the Hutwa Raj reveals that the system of *Paribarta* marriage which they call गोलट was in vogue with them as well as the promise before *Ghataks* to give in marriage when a daughter would be born, and that even to this day the Maharajah of Durbhanga exercises the prerogative of allowing a *Sotriya* to marry† in the next intermediate class of *Yagya* retaining his Sotriyaship or raising a *Yagya* to the upper class, Sotriya. The ridiculous tomfoolery of a grass-made daughter, so far I have ascertained, is an original invention of the Bengal Brahmans only. The division and subdivisions of the secondary (Gowne) Kulins clearly show that the system had not leaped ready armed from its cradle by the stroke of a royal sceptre or a magician's wand but was the result of a long continued struggle and vicissitudes. The same natural law prevails in all countries and governs every society. Moreover, conservative as India is from all times, it is simply absurd to think that innovations such as these were hailed by the Brahmans, the most conservative class in the world, all at once at a mere royal idiosyncrasy. This natural law we will further prove as an indubitable fact when we will deal with the different phases that took place in the four Kayastha communities and the Brahmans later on.

"श्रद्धधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।
अ्प्रत्यादपि परं धर्म्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥
स्त्रियोरत्नान्यथो विद्याधर्मः शौचं सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः" ॥
प्रञ २ । २३ञ १२ ४० ।

यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संपुज्यते यथाविधि ।
तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा ॥
अ्प्रक्षमालावशिष्ठे संयुक्ताधमयोनिजा ।
शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्य हेर्णीयताम् ॥
अ. । २२ । २३ ।

But the marriage of a man simultaneously with two or more uterine sisters so much in vogue among the Kulins of Bengal or marriage of uterine brothers with uterine sisters is unsastraic.

"नचैकजन्मनोः पुंसारेकजन्मे तु कन्यके ।
नूनं कदाचिदुद्वात्ह्य नैकदामुण्डनं द्वयम्" इति नारदः
"न पुत्रिद्वयमेकस्मै प्रदद्यात्तुकदाचन ।" इदि वाशिष्ठः

We cannot here refrain from discussing a very important historical point in which to our greatest surprise we find the two renowned scholars of Bengal Mahamahopadhya Hara Prasad Sastri and Babu Nagendra Nath Bose have in our humble opinion sadly blundered. The learned Sastri in his History of India writes:

"Lukshman Sen is said to have been a great king in the early part of his life; but when he was about eighty years of age, his kingdom was invaded by Bakhtiyar Khilji who took possession of Gour and accordingly (1199.) Lukshman fled with his family to Vikrampore where his descendents reigned for 120 years more".

Mr. Bose in his Castes and Sects of Bengal Vol. I. Part I, writes: (*Bengali.*)

* Raja Rajundra Lal Mitra stated 10 (Vide Indo-Aryan, Vol. II P. 243.)

† When a Sotriya thus marries he either brings the bride to his own house and performs the marriage ceremony there or takes the bride to his house just after the milk ceremony on the 4th day of the marriage and will not thereafter dine with the members of his father-in-law's house or eat food cooked by them. This system of marriage with a bride of inferior rank is based on Manu's Dharmasastra.

"कुञ्जाणे महाराज लक्ष्मणसेन
शासनदण्ड ग्रहण करियाछिलेन ।
तांहार शौर्य्य वीर्म्म ओ पाण्डित्य
तांहाके दुरपनेय कलङ्कह इते
रक्षाकरिते पारिलेना । राजपुरुष
गणेर षड़यन्त्रो भीरुदैवज्ञगणेर
प्ररोचनाय गौड़ाधिपातिवन्धुवान्धाव
परित्यक्तहइया अवशेषे म ॊ
वखतियरेर कूटनीतिप्रभावे
सोनार गौडराज्य मुसलमानेर
करे अर्यणा करिलेन ।"

Probably they still cling to the antedeluvian opinion of Mr. Marsham.

But such a slip* may be pardonable for others but not for those great scholars of Indian history and antiquity. Bengal was never conquered by Muhmmad Bakhtiyar Kilji in the time of Lukshman Sen, son of Ballal Sen. The Tabaquati Naiseri of Minhajus-Siraj than whom there can be no better authority as the author wrote in 1260, only about a little more than half-a century after the conquest of Bengal, and that after a personal conversation with many persons who had assisted in the conquest of that country and after passing several months at the capital of Bengal, thus says of the conquest of Behar and Bengal by Bakhtiyar:

"Being a bold and enterprising man, he, (Bakhtiyar) used to make incursions into the districts of Munir (Monghir) and Behar, and bring away much plunder, until in this manner he obtained plenty of horses, arms, and men. The fame of his bravery and of his plundering raids spread abroad, and a body of Khilji joined him from Hindustan. His exploits were reported to Sultan Kutbuddin, and he sent him a dress and showed him great honour. Being thus encouraged, he led his army to Behar and ravaged it. In this manner he continued for a year or two to plunder the neighbourhood and at last prepared to invade the country. It is said by credible persons that he went to the gate of the fort of Behar with only two hundred horses, and began the war by taking the enemy unawares. In the service of Bakhityar there were two brothers of great intelligence. One of them was named Nizam-Uddin and the other Samsamuddin. The compiler of this book met Samsamuddin at Lukhnuti in the year 641 H. (1243 A. D.) and heard the following story from him. When Bakhtiyar reached the gate of the fort, and the fighting began, these two wise brothers were active in that army of heroes. Muhammad Bakhtiyar with great vigour and audacity rushed in at the gate of the fort and gained possession of the place. Great plunder fell into the hands of the victors. Most of the inhabitants of this place were Brahmans with shaven heads. They were put to death. Large number of books were found there, and when the Muhammadans saw them, they called some persons to explain their contents, but all the men had been killed. It was discovered that the whole fort and city was a place of study (Madrasa). Great fear of him (Bakhtiyar) prevailed in the minds of the infidels of the territories of Lukhnuti, Behar, Bang (Bengal) and Kamrup. It is related by reliable authorities that mention of the brave deeds and conquests of Malik Muhummad Bakhtiyar was made before Rai Lukshmaniya, whose capital was the city of Nuddea. He was a great Rai, and had sat upon the throne for a period of eight years. * * * His family was respected by all the Rais or chiefs of Hindustan and was considered to hold the rank of Khalif or sovereign. * * It is said by trustworthy persons that no one, great or small, ever suffered injustice at his hands. He gave a lakh to every person that asked him for charity. * * When Bakhtiyar came back from his visit to Sultan Kutbuddin and conquered Behar, his fame reached the ears of Rai Lukshmaniya and spread throughout all parts of the Rai's dominions. A body of astrologers, Brahmans and wise men of the kingdom, came to the Rai and represented to him that in their books the old Brahmans had written that the country would eventually fall into the hands of the Turks. The time appointed was approaching; the Turks had already taken Behar and next year they would also attack his country, it was, therefore, advisable that the Rai should make peace with them,

* The same slip has been made by another great scholar of Bengal Babu Manmohan Chakraburty, M.R.A.S., in his article on the Sen dynasty, of Bengal in J. & P. A. S. B. Vol. I, No. 3 of 1905 just to hand. The subject will be fully discussed in a separate paper.

so that all the people might emigrate from the territory, and save themselves from contention with the Turks. The Rai asked whether the man who was to conquer the country was described as having any peculiarity in his person. They replied, yes; the peculiarity is, that in standing upright both his hands hang down below the knees, so that his fingers touch his shins. The Rai observed that it was best for him to send some confidential agents to make enquiry about the peculiarity. Accordingly confidential agents were despatched, an examination was made, and the peculiarity was found in the person of Muhammad Bakhtiyar. When this was ascertained to be the fact, most of the Brahmans and many chiefs went away to the country of Sanknut (Jagganath), and to the cites of Bang and Kamrup but Rai Lukshmaniya did not like to leave his territory. Next year Muhammad Bakhtiyar prepared an army, and marched from Behar. He suddenly appeared before the city of Nuddea with only eighteen horsemen, the remainder of his army was left to follow. Muhammad Bakhtiyar did not molest any man but went on peaceably and without ostentation, so that no one could suspect who he was. The people rather thought that he was a merchant who had brought horses for sale. In this manner he reached the gate of Rai Lukshmaniya's palace when he drew his sword and commenced the attack. At this time the Rai was at his dinner, and golden and silver dishes filled with food were placed before him according to the usual custom. All of a sudden a cry was raised at the gate of the palace and in the city. Before he had ascertained what had occurred, Muhammad Bakhtiyar had rushed into the palace and put a number of men to the sword. The Rai left barefooted by the rear of the palace, and his whole treasure, and all his wives, maid servants, attendants and women fell into the hands of the invader. Numerous elephants were taken, and such booty was obtained by the Muhammadans as is beyond all compute. When his army arrived, the whole city was brought under subjection and he fixed his head quarters there. Rai Lukshmaniya went towards Sanknut and Bengal where he died. His sons are to this day rulers in the territory of Bengal." (Elliott's History of India as told by its own Historian, Vol. II.)

It is evident also from the authority of Mr. Stuart the author of the admirable History of Bengal that it was not Lukshman Sen but Lukshmaniyah from whom Bengal was wrested by Bakhtiyar. Regarding this Lukshmaniya the late Raja Rajendra Lal Mitra wrote: "The Tabaquati-Nasiri of Minhagjuddin Jowzjani says that the last king of the Sen dynasty was Lukshmaniya and this authority must be accepted as correct as the work was written within fifty-eight years after the conquest of Bengal by Bakhtiyar Khilji and its author had ample opportunities, during his sojourn in Bengal, of conversing with the contemporaries of Lukshmaniya who had taken part in the conquest and of collecting the most authentic information available in his time. * * Three things may be taken for granted in his (Minhaj's) statement; first that the name of the last king of the Sen dynasty was Lukshmaniya. Second, that he was a posthumous child; and third, he reigned for a long period. It must be admitted, however, that the word Lukshmaniya is very unlike a Bengalee proper name. The Bengalee or Sanskrit word to which it bears any resemblance is the patronymic* Lukshmaniya, "a son, grandson or descendant of Lukshman, and if it is admitted that the Lukshmaniya of the Mohammedan historians is a corruption of the Sanskrit Lukshmaniya, it would not be too much to assume that the prince under notice was the grandson of Lukshman, son of Ballal." (Indo-Aryan, Vol. II., pp. 249—251.)

The chronicler Hari Misra writes that the Mohammadans conquered Bengal in the reign of Keshav Sen,† the last son of Lukshman Sen and this ought to be accepted as right so long no monumental record of the Sen kings of Bengal is unearthed after Keshav contradicting Hari Misra.

---

* He gives the following footnote here:

"The affix *dhak* is ordinarily used after feminine nouns स्तीभ्योढक् Panini IV. I. 120, but under the especial rule *Subhradibhyascha* (P. IV. I. 123) Lukshmana of the Vasistha Gotra takes that affix. I know not whether the Sens were of the Vasistha Gotra. But such niceties of grammar were so little attended to in the middle ages that I do not think that anybody would have objection to its use in the case of persons not of the Vasistha Gotra."

† "वल्लालतनयो राजा लक्ष्मणोऽभू-
न्महाशयः ॥ तत्पुत्रः केशवोराजा
गौडराज्यं विहायच । मतिञ्चाप्य
करो द्वन्द्वे यवनस्य भयात्ततः ।
न शक्नुवान्ति ते विप्रास्तत्र स्थातुं यदा पुनः" ॥

(*To be continued.*)

THE HON. MR. G. K. GOKHALE, C.I.E.

Gopal Krishna Gokhale, a Mahratta Brahmin, was born at Kolhapur of humble parents in 1866. After passing the F. A. Examination from the local college, he joined the Elphinstone College in Bombay and took a good B.A. Degree in 1884. He then joined the members of the Deccan Education Society and became Professor of History and Political Economy in the Fergusson College, the staff of which took small salaries and agreed to give 20 years of their life to the work of the college so as to bring higher education within the means of the middle and poor classes. In 1887 under the guidance of Mr. M.G. Ranade he became editor of the quarterly journal of the Poona Sarvajanick Sabha. He subsequently became Honorary Secretary of the Deccan Sabha, and was likewise one of the editors of the *Sudharak*, an Anglo-Marathi weekly of Poona. His ability and knowledge of public affairs were so generally acknowledged that he came to be called the Rising Star of the Deccan. He was Secretary to the Bombay Provincial Conference for four years and to the Indian National Congress at Poona in 1895. In 1897 he gave evidence on behalf of the Bombay Public before the Royal Commission on Indian Expenditure presided over by Lord Welby. While in England he published a severe condemnation of the plague policy of the Bombay Government and the atrocities of soldiers on plague duty. These charges, however, he could not substantiate, and on his return to India he had to tender an open apology to the Government. He was for two years a member of the Bombay Legislative Council, and was then elected to the Supreme Legislative Council. In 1902 he retired from the Fergusson College with a pension of Rs. 25 a month and devoted himself solely to political work. He has been chosen a second time to represent Bombay in the Supreme Council. This year he went to England as a delegate of the Indian National Congress, and addressed more than 45 meetings in little over 50 days. He has returned to preside over the Indian Naional Congress at Benares.

At an age when other public men place a trembling step on the first rung of the ladder of fame, Mr. Gokhale has mounted to its very top. Among Indian patriots Dadabhai, Ranade, Mehta, Bonnerji, and Surendra Nath are names that take precedence of Gokhale in respect of bulk, familiarity on men's tongues and wealth of associated memories. For actual services to the country, judging these by quality as well as by volume, Mr. Gokhale, junior as he is to them all, will not suffer by comparison with any except his master and Mr. Dadabhai Naoroji. But if we look for the noblest type of patriotism, that which impels to sacrifice of self and takes joy therein, what name can be placed beside his, save only that of Dadabhai? Mr. Gokhale has made in his life, short as it has been, two renunciations, a lesser and a greater. The lesser renunciation he made in his nineteenth year, when for little more than a subsistence he undertook to devote his great talents and youthful energy to the education of his poorer countrymen. The greater renunciation he made when, after twenty years of strenuous labour in education, he dedicated his life, still full of vigour and promise, to the political regeneration of his country. Sacrifice and *Sannyasa* are ideas that have a peculiar charm for Hindus and have been brilliantly illustrated in all ages of their history. Mr. Gokhale has added a new significance to these expressions in keeping with the more spacious times we live in. A sacrificer of old, even when he gave up his self, had an eye to the joys of *Swarga*, and a *Sannyasin*, though he renounced the world, often strove only for his own salvation. From Mr. Gokhale's sacrifice and *Sannyasa* all thought of self is removed. Would that more of us sacrificed on that altar! Would that there were more of such political *Sannyasins*! All patriotic prayer is summed up in that wish.

Quick to learn and to feel, earnest, self-controlled, tenacious and proud, Mr. Gokhale typifies the Mahratta Brahman at his best. The poverty of his family, accustoming him to a life of simplicity and perhaps of hardship, preserved him from the tyranny of costly habits and expensive tastes which are too often the baneful accompaniment of prosperity in these days and which create a spirit of refined individualism not compatible with lively sympathy for the suffering masses and fatal to to ascetic self-denial for any noble cause. A propitious fate threw Mr. Gokhale at his first entry into life into an atmosphere charged with intense

public spirit and self-sacrificing zeal for education. Thus initiated in the school of sacrifice, he soon fell under the influence of a man who has been called a modern Rishi and whose life may be described as one long and continuous sacrifice to public good. No Guru was ever blessed with a more apt pupil. He has truly bettered the instruction. The master had given to the study and elucidation of Indian public questions the leisure time of a busy life, the surplus energy of a mighty intellect; the scholar has given his self, entire and undivided, to the service of his country. And this act was not the result of a sudden access of perfervid sentiment, it was a choice of vocation deliberately made and steadfastly adhered to. Nay, it is a doctrine that he zealously preaches to the young. He has seen the truth and must proclaim it. He has felt the joy and must impart it.

One essential condition of success is that a sufficient number of our countrymen must now come forward to devote themselves to the cause in the spirit in which religious work is undertaken. Public life must be spiritualised. Love of country must so fill the heart that all else shall appear as of little moment by its side. A fervent patriotism which rejoices at every opportunity of sacrifice for the mother-land, a dauntless heart which refuses to be turned back from its object by difficulty or danger, a deep faith in the purpose of Providence that nothing can shake—equipped with these the worker must start on his mission and reverently seek the joy which comes of spending one's self in the service of one's country.

Again:—

I think the time has come now when a number of our young men—and I speak especially to young men—should give up everything in life for the sake of serving their country. The magnitude of the task before us imperatively demands this. If all of us are absorbed in our own pursuits, and look mainly after our own individual interests, and leave the country to look after herself, we have no right to complain if things do not move faster than they do. I repeat, the time has come for a steadily increasing number of young men to take up this missionary work in the interests of our country.

* * *

What the situation demands is not mere ordinary devotion, but the highest form of love for the motherland—a love that would burn up all self and make all sacrifice for the country a pure joy. If a sufficient number of us were animated by such love, and came forward to dedicate our lives wholly to the service of our country, no power on earth could keep us back. Then, indeed, shall we catch a glimpse of that vision of glory, which, once seen, will not let us take our eyes off it. Then shall all doubts and misgivings vanish, all pettinesses disappear, and India shall march onwards—slowly it may be, but steadily—to the realisation of that destiny of which we should dream by night, and on which we should muse by day.

One of Mr. Gokhale's great desires is to gather a number of young men of promise and train them up to be political *Sannyasins* like himself, even as his master trained him. In this attempt to organise a band of servants of India, he has not perhaps been quite so successful as he could wish. But he is not disheartened. His firm grasp of the facts of Indian Society and his acute knowledge of human nature save him from the error of expecting too much. He is a confirmed optimist like his master Ranade, like Sir Pherozeshah Mehta, in fact like all active and far-sighted politicians. It is only the weak and passive natures that fall victims to despair. The man of real strength, feeling his power over circumstance, not only never loses hope in himself, but communicates it to others. What but a firm faith in himself and in the ultimate triumph of the truth could have upborne him in the storm of invective and malediction that followed the publication of his apology to Lord Sandhurst and his soldiers? By dint of quiet, unsparing exertion he not only recovered the lost ground, but soon made fresh conquests,—until now most people regret the rancour of their former criticism, and the unfortunate episode is remembered as a proof not so much of Mr. Gokhale's weakness as of the hasty judgment of the public. Mr. Ranade once said in reply to a remark about the futility of his Social Reform work, "Not that the work is hollow, but the faith in these men is shallow." Replying to the criticism that political agitation has never led in history to political emancipation, Mr. Gokhale used these valourous words:—

It may be that the history of the world does not furnish an instance where a subject-race has risen by agitation. If so, we shall supply that example for the first time. The history of the world has not yet come to an end, there are more chapters to be added; therefore, we must not be discouraged by the lessons which some people profess to draw from history.

He brings us now a message of hope from his campaign in England. We are bidden to look forward under the new Liberal Ministry to a fresh instalment of political freedom, possibly some measure of popular control in financial matters. All India hangs expectant on the Secretaryship of Mr. John Morley. Will Mr. Gokhale's reading of the political weather chart prove true? Or, optimist that he is, has he only seen what he would fain see? After the ensuing Congress, he returns to England to resume his campaign, and though he may not succeed in the event, he will most assuredly have deserved to succeed. As he himself would say, it is better to have hoped and failed than never to have hoped at all.

A remarkable feature of Mr. Gokhale's character is his habitual humility. Whether in the Council Chamber or on the platform, whether addressing legislators or students, whether in criticism, exposition or exhortation, there is a certain ring of modesty about his speech which does not take away from its point or vigour, but greatly adds to its persuasiveness. He does not arrogate superior wisdom to himself or ridicule the ignorance of others. In controversy he never forgets to be respectful to his adversaries. He calls himself a junior worker in the field of politics. Though now recognised as one of our foremost publicists, he refers with the utmost deference to the names of Dadabhai, Bonnerji and Mehta. To these he seems even now to look up with something of the undiscriminating awe and respect with which he must have regarded them when he first entered public life. May it be that his long course of discipleship under Mr. Ranade disposes him always to seek the shelter of a great name, as if he were, a tender creeper that must entwine itself round some stem? Anyhow, his deferential attitude towards seniors is in marked contrast to the what-do-I-care-for-you air of several persons younger than Mr. Gokhale and not so wise as he. When he said at the dinner of the London Indian Society, "I naturally hesitate to speak at any length in the presence of two such veteran leaders of our cause as Mr. Dadabhai Naoroji and Mr. Bonnerji," he was not paying a conventional compliment to age, but expressing the genuine diffidence natural to a youth in the presence of those who had won their spurs while he was yet at school. His soul warms towards a noble soul as only a noble soul will, and it is somewhat of a liberal education to observe the whole-hearted admiration and love with which he contemplates the greatness of Ranade and Naoroji. Of the former he said:

He was one of those men who appear, from time to time, in different countries and on different occasions, to serve as a light to guide the footsteps of our weak and erring humanity.

The same idea occurs in his panegyric of Dadabhai. "A loving and all-wise Providence gives to different times according to their need great men who serve as lights to guide the footsteps of our weak and erring humanity."

This faith in great men makes Mr. Gokhale an excellent political follower. He recognises that disciplined obedience to leaders is a necessary condition of the success of any political organisation, and himself sets the example of loyal following. Speaking in Madras last year, he observed:

It is true that we have not got many singleminded leaders in this country to lead us, but we are not wholly without them. We have one such man in Sir Pherozeshah Mehta; earnest and patriotic, possessing high abilities, and qualified in every way to lead the country. But these men must receive more implicit support from the bulk of our educated men. It is a good habit to think for oneself, but where concentration of effort is needed, unless questions of conscience are involved, men must be prepared to subordinate their judgment to that of those whom they are expected to follow. There must be more discipline in our public life.

But is there another Mehta in all India? Mr. Gokhale does not give a direct answer, but one may guess his answer is in the negative. Want of leaders means want of coherence in public life, and this, in Mr. Gokhale's opinion, constitutes one of the great differences between the condition of India and that of Japan. In Japan the people readily and cheerfully followed the leaders. In India we have still to learn the lesson of obedience. Are there no leaders because there are no followers? Or are there no followers because there are no leaders? Mr. Gokhale lays greater emphasis on the former than on the latter of these alternatives. The truth probably is that both are the effects of a common cause viz., the absence of organised public life. No public life is possible except upon a basis of strong national feeling. Japan never passed under a foreign yoke and her people never lost their patriotism. In India, where the people have not known the meaning of political freedom for ages, genuine national feeling and active public spirit must grow very slowly indeed as the result of popular enlightenment. At present, as Mr. Gokhale said, public life is "faint-hearted and soulless", not based as it should be on glowing faith in its righteousness, nor guided by the shining star of hope. Mr. Gokhale has a word to say to the leaders as well as to the followers. Let those hearken that have ears.

At the same time there must be a greater realisation on the part of the leaders of the responsibilities that devolve upon them. The day has gone by when politics could afford to be amateurish in this land. It has been amateurish in the past; but the struggle is growing keener and keener, and it is necessary that men should take up the duties and responsibilities of public life in the same manner as they choose their profession and devote their energies to it. For such work we have a right to look to the class from whose ranks the members of our Legislative Councils are drawn. I do not expect every one of these members to give up his daily occupation and to take up this work. But surely in every province the country has the right to expect at least one or two men to come forward and give more of their time and energy to the building up of the public life whose weakness we all so much deplore. These men could then be centres round whom our young

men could group and band themselves together, and it would then be possible to build up a much higher type of public life than now.

Truly, he can never lead who will not follow.

Even before Sir Henry Cotton told us of Lord Curzon's opinion of Mr. Gokhale, we all knew that the Viceroy must have been struck with the rare qualities of his chief opponent in the Council. His bestowal of the Companionship of the Indian Empire on Mr. Gokhale was one of the few acts of graceful recognition of Indian merit which the whole country appreciated. Himself a doughty champion, Lord Curzon felt, in crossing swords with Mr. Gokhale in Council, the "stern joy which warriors feel in foemen worthy of their steel." The expression 'ablest Indian' does not, however, fully bring out the chief quality that distinguishes Mr. Gokhale in such fighting as he carries on in Council. It consists not solely in his ability to understand and express his country's wants, though that ability is of the highest order, but in the unflinching boldness and thorough candour with which he puts the people's case before the highest authority in the land. Few that have not stood face to face with unsympathetic, frowning officials can have any idea of the moral courage that is required to utter unpleasant truths on every possible occasion with the chilling consciousness that you are in a hopeless minority, that you are speaking to deaf ears, and that your own friends are perhaps quaking in their shoes and would fain pull you down into your seat. Judged by the standard of public criticism in England, Mr. Gokhale may be commended for moderation, as in fact he was at the dinner of the National Liberal Club. In India, however, plainness of speech, unconventional directness of statement, and a thorough-going advocacy of the popular cause are regarded as dangerous qualities in a member of the Legislature. It is conceived that the official bureaucracy must be approached always in a respectful, petitionary tone, and that the surest means of achieving some little success in your day is to avoid anything that may offend or irritate, to blink the larger issues and be as vehement as you please on trifles, and generally to adopt frankly the role of those that beg for concessions, and not of those that demand the fulfilment of pledges and the full rights of citizenship. To this school of politicians, which is the most numerous and has its adherents even among those who will not openly profess to belong to it, Mr. Gokhale may not appear to possess the virtue of moderation. His moderation, they may say, is confined to the choice of adjectives, to the tone of his censure, and to his treatment of individuals. But in all that constitutes the essence of public criticism, he does not mince his language. He does not refrain from severe strictures, though he produces the impression that he speaks from a stern sense of duty and not from a desire to be rude or for the pleasure of condemning. Look at the way in which he retorted the example of Japan on Sir Edmond Elles who had cited it as a country that spent large sums on its military strength and therefore became great.

The Hon'ble Member then went on to cite the instance of Japan and ask what would have been her fate, if her future had been guided by statesmen holding the views of my Hon'ble friend Mr. Sri Ram and myself. I do not think the reference to Japan was quite a tactful thing. For Japan's destinies are guided by her own sons, whose one thought and aspiration is the greater glory of their country, furthering by every means in their power the moral and material advancement of their people. Is the Hon'ble Member prepared to adopt Japan as a model for all branches of the country's administration? If so, let him induce his colleagues in the Government to treat the people of India as the Japanese Government treats the people of Japan in matters of education, of industrial development, of military and naval service, of appointment to high and responsible office, and I, on my part, humble as I am, undertake to see that no Indian publicist raises any objection to such military expenditure as the Hon'ble Member thinks it necessary to incur.

Who can forget his scathing refutation, supported by facts and figures and tables of his own compiling, of the preposterous claim of the Government of India to having treated the natives of the country with unexampled liberality, his condemnation of the doctrines of *corps d'elite* and 'particular responsibility' and his masterly exposition (or exposure?) of the entire question of the surpluses in the Imperial Treasury, the unjustifiable manner in which they were obtained, and the objectionable uses to which they were put? It is a notorious fact, though it has been officially denied, that during Lord Curzon's regime Eurasians have been unduly favoured at the expense of Indians, ostensibly on the ground of superior education and superior character. Mr. Gokhale resented the imputation in open Council in no uncertain terms.

As regards the question of education and morals being involved in our exclusion from most of the offices in the special departments, is it really intended to be conveyed that among the thousands and thousands of educated Indians who are ready to seek employment under the State even a few cannot be found possessing the necessary education and moral character: or qualified to exercise the required degree of responsibility? I am sure the

question has only to be presented in this form to make the injustice of it clear to everybody. Why, my Lord, it is a matter of common knowledge that in the case of the smaller appointments at all events, it is not the Indian, but the European or Eurasian competitor whose education and morals it would really be desirable sometimes carefully to investigate.

In his addresses to English audiences he took high ground. Three extracts are given here, all chosen from one speech—that made at Liverpool—not with an eye to effect, but merely to indicate the bold tone and high level of his criticism.

England was entitled to great credit for having introduced into India so many of the appliances and inventions of modern Western civilisation, but these were only to be regarded as means to an end, and not the end itself. The achievements did not entitle Englishmen to any just sense of satisfaction. They had been one hundred years in India—surely time enough in which to have brought India into line with their other dependencies. Japan came under Western influences only forty years ago, but whilst Japan had been helped on by the whole weight of Government, India had had the whole weight of Government thrown against it. Therefore, they found that the progress achieved in India had been very halting, very slow, and very disappointing. For instance, in the matter of education, four villages out of every five in India were still without a school house, and seven children out of eight were growing up in ignorance and darkness, and with all the moral helplessness that followed. This was because the finances of the country were managed not for the sake of the Indian people, but for the sake of other interests. Secret agents, confidential reports, the shadowing of individuals, were part of the Government's methods, and there was no provision whatever for the people of the country to exercise any control over the administration. Everything that affected the people was settled by the officials in the dark. * * * *

From 60,000,000 to 70,000,000 of people in India did not know what it was to have their hunger satisfied even once in a year. It had been estimated by an English newspaper that during the last ten years 20,000,000 of people had died of starvation. This represented a sum of preventable human misery which was truly appalling, and he asked whether the people of England could continue indifferent to India whilst this terrible tragedy was being enacted. During the last twenty years the death-rate in India had been steadily rising, whereas in England it had been steadily falling. If they divided those twenty years into four parts of five years each, they found that in the first period the death-rate was 24 per 1,000 whilst in England it was 20 per 1,000; in the second period the death-rate of India was 28 per 1,000, whilst England's had dropped to 18; in the third period the Indian death-rate had increased to 30, whilst in England it had fallen to 17; and in the fourth period India's rate of mortality went up to 32, whilst England's came down to 16, where it stood to-day, whereas India's had now gone up to 34. These figures meant that there were 3,000,000 more people dying in India to-day than there were twenty years ago. It was a frightful tale, and if the people of England wished to do their duty by India they must no longer remain indifferent, for they alone could influence the character of the government. * * *

Lord Curzon had tried to tamper with the national honour when he said that race must be a qualification for equality. Men like him (Mr. Gokhale), who were educated under the influence of Lord Ripon's rule clung to their faith in England, but other generations were growing up who had only known England as a reactionary and, latterly, as a repressive Government, and whose frame of mind was a positive danger to the relations between England and India.

Will not our politicians of the mild type, those who would beg for favours bit by bit, disapprove of all these criticisms, and particularly of the last warning as going beyond the limits of prudence? But what will Mr. Gokhale say in answer? Hear what he says to those who accuse our Grand Old Man of doing disservice to the cause of India by employing bitter language:

If latterly he has been using language which to some may appear too strong, it is because he finds that he has been all these years like one crying in the wilderness; also because he finds, as we all find, that for some years past the ideals of British rule in this country are being steadily lowered. Further, Ladies and Gentlemen, a man of Dadabhai's great age and lifelong devotion to the interests of his country may well claim to state the naked truth as he perceives it without any artificial embellishments such as you or I are expected occasionally to employ. I think Mr. Dadabhai stands to-day in the position of a teacher not only to his countrymen, but also to the rulers of the land. And whoever has thought of complaining that a teacher does not care to overlay truth with a quantity of soft and plausible expressions? Moreover, Gentlemen, I do not mind Englishmen occasionally making such a complaint, but I really have no patience with those of our own countrymen who, having done nothing or next to nothing for their country themselves, do not hesitate to say that Mr. Dadabhai is injuring the country's cause by the use of violent language. No, Gentlemen, whether Mr. Dadabhai uses mild words or bitter words, our place is round his standard—by his side. Whoever repudiates Dadabhai, he is none of us. Whoever tries to lay rude and irreverent hands on him, strike him down.

Mr. Gokhale's three Budget speeches have established beyond doubt his ability as a critic, and, may one add, have created a fair presumption as to the competency of Indians even for the post of Finance Minister. His condemnation of the growth of military burdens out of proportion to India's needs or capacities and out of proportion to the benefits she receives from it, his demands for greater expenditure on education, irrigation, and administration, his appeals to the Government for increased employment of Indians in the higher ranks of the State service, his agitation on behalf of the impoverished peasant, including a plea for some great scheme of composition of his debt such as Mr. Samuel Smith advocates, his protest against the iniquitous excise duties on Indian cotton goods,—

these have awakened the people of India to a sense of their wrongs, and instructed them to a certain extent in the study of Indian finance. It is enough in this place to mention some of the points which he may be said, in an indirect way, to have gained by his masterly discussion of the Budget Statements. He exposed the misleading statement prepared in 1904 by Sir Edmond Elles for the purpose of showing that the military expenditure of the country was not only not growing out of proportion to the total revenue of the country, but that, as a matter of fact, there was a notable decline in the percentage of revenues spent on the army. The reduction of the salt-duty and the raising of the taxable minimum of income were advocated by him in 1902 and granted in 1903. In 1904 he asked in vain for a further reduction of the salt-duty, but the boon was granted this year. But let him tell the story in his own words:

I heartily welcome the further reduction of the salt-duty by eight annas a maund. The duty now stands, as the Hon'ble Member rightly claims, at a lower rate than it has ever done during the last quarter of a century. In urging this measure of relief last year, I had ventured to observe:—'The salt-duty was reduced by eight annas last year, and the measure of relief was received with deep gratitude throughout the country. The reduction might, however, be carried still further without any inconvenience. The salt-duty question in India is essentially a poor man's question; for it is the poorer many—and not the richer few—who eat more salt when it is cheap, and less when it is dear. The soundest policy in the matter—even financially—would, therefore, seem to be to raise an expanding revenue on an expanding consumption under a diminishing scale of duties.' The only reply which was then vouchsafed to my appeal by our late Finance Minister, Sir Edward Law, was the remark that I was 'one of the multitude who stand at the door of the treasury and always cry, "give, give"'! I rejoice, therefore, to find that in less than a year the Government have seen their way to effect this reduction, and I am confident that a rapid increase in consumption will follow, wiping out, before long, the loss that has been caused to the Exchequer and demonstrating at the same time the wisdom of the course adopted by Government. Two years ago, when the duty was lowered from Rs. 2-8 to Rs. 2 a maund, fears were expressed in certain quarters that the benefit of the reduction might not, after all, reach the poorer classes, being intercepted on the way by small traders. Many of us thought at the time that the fears were quite groundless, and I am glad to see that they have been most effectively disposed of by the remarkable increase in consumption that has since taken place. That there is still a very large margin for increased consumption is evidenced by the fact that in Burma, where the duty is only one rupee a maund, the average consumption of salt is 17 lbs. per head, as against about 10 lbs. in India proper, where the duty has been Rs. 2 a maund for the last two years and Rs. 2-8 before that. Even with the present reduction, the import amounts to about 1,600 per cent. of the cost price, as it takes only about an anna and-a-half to manufacture a maund of salt, and it is clear that this is a very heavy tax on a prime necessary of life, which, as Prof. Fawcett once said, should really be 'as free as the air we breathe and the water we drink.' And I earnestly trust that the Government will take another opportunity to carry this relief still further, especially as a low salt-duty means a valuable financial reserve at the disposal of Government, and there is now no doubt that the relief accorded directly benefits the poorest classes of the community.

At the last Congress in Bombay, Mr. Gokhale moved the proposition on surpluses asking among other things, that they be "employed in assisting Local and Municipal Boards, whose resources have been seriously crippled by famine and by the annual recurrence of the plague, to undertake urgently-needed measures of sanitary reform and the improvement of means of communication in the interior." In partial response to this appeal, the Government made to the District Boards a grant of 56½ lakhs a year, "a frank acknowledgment," says Mr. Gokhale, "of the claim of local bodies to participate in the financial prosperity of the Government of India and a recognition of the fact that without the aid of Government the resources of these bodies are utterly unequal to the proper discharge of the various duties laid on them." The only other success that will be referred to is clearly set forth in his own speech at this year's Budget discussion.

I rejoice also that the Hon'ble Member has put an end to the era of systematic underestimating of revenue and overestimating of expenditure. More than once had I complained of this practice in this Council, as unfairly prejudicing the chances of the tax-payer in the matter of remission of taxation. Last year, for instance, I had said:—'In the twelve years of storm and stress (*i.e.*, from 1885—1896) it was, perhaps, necessary for the Finance Minister to act on the safe, if somewhat over-cautious, plan of underestimating the revenue and over-estimating the expenditure. But though the difficulties of the position have passed away, the tradition, once established, still holds the field.' And this only drew on me a sharp remonstrance from Sir Edward Law. It was, therefore, with a certain amount of legitimate satisfaction that I found the Hon'ble Member virtually admitting the correctness of my contention and admitting it very nearly in my own words.

A few words may be said here about Mr Gokhale's style of speaking. He is no orator as Mr. Surendra Nath is. He makes no specific appeal to the feelings except in so far as his statements do so. His diction is apt and terse, but such as people use in exact argumentation. He reasons acutely, clearly, convincingly. But he cannot move to mirth, indignation, or pity. His delivery is rapid without becoming actually indistinct. He does not pause for a word, but speaks straight on without once faltering or turning back,

as if he had got it all by rote. His enunciation is clear, but he does not dwell on the telling words or emphasize them as more effective speakers do. There is no irony in his speech as there often is in Mr. Surendra Nath's, no humour or gentle raillery such as pervades all Mr. Mehta's addresses. One almost suspects that in the fervour of the *Sannyasin*, Mr. Gokhale has upon principle purged his mental constitution of all disposition to indulge in fun or laughter. But in eschewing rhetorical embellishment and cultivating a serene style of speaking, he resembles his great models, Ranade and Dadabhai. Downright earnestness and abounding knowledge, however, supply all deficiencies, and the audience is prepared resolutely to follow, though it is not carried off its feet.

What is the ideal of political advancement which he has placed before himself for India? *Self-government on the lines of English Colonies under British suzerainty*. The British connection he accepts "cheerfully as ordained, in the inscrutable dispensation of Providence, for India's good." Towards this goal, he would have Indians strive by all constitutional methods of agitation.

The reactionary and repressive rule of Lord Curzon has filled Mr. Gokhale with unspeakable sorrow. The character of British rule for fairness and justice, he holds, has been placed in jeopardy, and a mass of discontent has been created which constitutes a menace to the public life of the country. The open assertion by the Government of India of the disqualification of Indians on account of their race for the higher offices of the State is the worst blow dealt for many a long year at the aspirations of educated Indians. On this subject, Mr. Gokhale spoke out to Lord Curzon himself with great warmth:

"My Lord, this question of appointment to high office is to us something more than a mere question of careers. When all positions of power and of official trust and responsibility are the virtual monopoly of a class, those who are outside that class are constantly weighed down with a sense of their own inferior position, and the tallest of them have no option but to bend in order that the exigencies of the situation may be satisfied. Such a state of things, as a temporary arrangement, may be accepted as inevitable. As a permanent arrangement, it is impossible. This question thus is to us a question of national prestige and self-respect, and we feel that our future growth is bound up with a proper solution of it.

* * *

A succession of great statesmen, who in their day represented the highest thought and feeling of England, have declared that, in their opinion, England's greatest work in India is to associate the people of this country, slowly it may be, but steadliy, with the work of their own Government. To the extent to which this work is accomplished, will England's claim to our gratitude and attachment be real. If, on the other hand, this purpose is ever lost sight of or repudiated, much good work, which has been already done, will be destroyed, and a position created, which must fill all true well-wishers of both England and India with a feeling of deep anxiety."

More than eight years ago, when the racial superiority of the Englishman had not been openly declared, Mr. Gokhale, giving evidence before the Welby Commission, had spoken in a bolder tone against the exclusion of natives from the higher ranks of the service. Here is the protest:—

A kind of dwarfing or stunting of the Indian race is going on under the present system. We must live all the days of our life in an atmosphere of inferiority and the tallest of us must bend, in order that the exigencies of the system may be satisfied. The upward impulse, if I may use such an expression, which every school boy at Eton or Harrow may feel, that he may one day be a Gladstone, a Nelson or a Wellington, and which may draw forth the best efforts of which he is capable that is denied to us. The full height to which our manhood is capable of rising can never be reached by us under the present system. The moral elevation which every self-governing people feel cannot be felt by us. Our administrative and military talents must gradually disappear, owing to sheer disuse, till at last our lot, as hewers of wood and drawers of water in our own country is stereotyped.

In this *Review* a symposium has been published on the question whether Indian politicians should or should not ally themselves with the Liberal party in England. The weight of opinion, so far as members of Parliament are concerned, lies on the side of neutrality. But Mr. Gokhale and Mr. Lala Lajpat Rai have returned with a different conviction in their minds. Mr. Gokhale says:—

We are struggling to assert in our country those principles which are now the accepted creed of the Liberal party. The people of India, like the Liberals of England, are anxious for peace abroad and reform and retrenchment at home. The Indian people do not want that there should be any predominance of one class over the mass of the people, and they desire that the advantages which are now enjoyed by a privileged few should be spread among the unprivileged many.

Of the reforms he has been pressing on the attention of the British electors four stand out prominently.

Fifty years ago an English representative on the Council suggested a reform with which they would be satisfied to-day. It was that half the members of the Viceroy's Council should be nominated by the people, that these representatives should have power to divide the Council on financial as on other matters, but that the Viceroy should have the power of veto. So that if the Council carried a vote against the Viceroy, the Viceroy would be able to veto it if he thought fit. He (Mr. Gokhale) was prepared to limit the right of each member of the Council to one amendment.

With regard to Provincial Councils, he asked that they should have more control because they dealt with internal affairs. He would ask for another reform. In the Secretary of State's Council for India, they had a system under which the Secretary of State, who had never been in India, was advised by a Council of ex-Indian officials—all able men, but hardened in the traditions of the service. The people had a right to ask that at least three or four should be representatives of the Indian people, so that the Secretary of State should always be sure of having the Indian view of any question on which he was asked to decide. The fourth thing he would ask was—and no doubt that would be more difficult—that half-a-dozen Indian representatives—say two from each of the three leading provinces—should have places found for them in the British House of Commons. Six Indians out of a total of 670 members would not introduce any great disturbing influence—but, at any rate, it would ensure that the Indian view of Indian questions would be submitted to the House of Commons and the country. Their numbers would be small, but when they were united they would represent a great moral force. Moreover, it would associate them with the controlling body of the whole Empire, and elevate them from the position of a subject race to an equality with the rest of the Empire.

Mr. Gokhale has tried to impress on the English audiences that he addressed the nature of the bureaucracy that rules us here; he has told them plainly that India is governed with an eye rather to the interests of the rulers than to those of the ruled, and that the members of the bureaucracy naturally enough resist with their enormous resources all attempts on the part of the people to break the monopoly of power. He recognises their merit and their ability in a generous spirit.

Moreover, it is but fair to acknowledge that they are a body of picked men, that man for man they are better men than ourselves; they have a higher standard of duty, higher notions of patriotism, higher notions of loyalty to each other, higher notions of organised work and of discipline, and they know how to make a stand for the privileges of which they are in possession. We have no right to complain that they are what they are. If we understood the true dignity of political work, we should rejoice that we are confronted by opponents such as these. We should look upon it as a privilege that we have got to struggle with men of this calibre, and instead of giving ourselves up to despair, we should look upon every failure, as though it was intended by Providence to strengthen us for the next effort we have to make.

But he contends that they lack active sympathy for the people of the country and intimate knowledge of their wants and aspirations. Besides, they have no permanent interest in the land and are naturally disinclined to look to its remote future. Important measures and large policies that operate in long periods of time are seldom taken in hand; difficulties are only tided over by comparatively temporary remedies, as if each man said to himself, "this will last my time."

To those that turn away from political work to industrial work in the hope that salvation is more easily reached that way, Mr. Gokhale has a wise answer:—

In regard to the advice that we should now concentrate our efforts on the industrial development of the country, while I have the deepest sympathy with all efforts for our industrial advancement, I beg you to remember there are great limits to that kind of work also. It is with me a firm conviction thal unless you have a more effective and more potent voice in the Government of your own country, in the administration of your own affairs, in the expenditure of your own revenues, it is not possible for you to effect much in the way of industrial development. And I have no doubt in my own mind that those who are asking you to-day to give up political agitation and confine yourselves to industrial development will ten years hence be as despondent about the results achieved in the industrial field as they are to-day about political agitation.

Even among discerning people the tendency to look for tangible results in a short time is strong, and it is usual in public life to hear it said, "Let us have no more of this businesss, it appears to be useless." In fact this readiness to fall into despair and give up agitation is one of the greatest obstacles to our progress. To such weaklings a tonic is necessary. Even apparently fruitless public work has its educative value on people, and this, in a country of low national feeling like India, is of the first importance. Mr. Gokhale relates an anecdote about his master that conveys this lesson impressively. Once our young hero was depressed on receiving an order from Government merely noting the contents of a memorial which had been prepared after elaborate inquiries and discussions. Mr. Ranade thus consoled him. "You don't realise our place in the history of our country. These memorials are nominally addressed to Government; in reality they are addressed to the people, so that they may learn how to think in these matters. This work must be done for many years, without expecting any other result, because politics of this kind is altogether new in this land. Besides, if Government note the contents of what we say, even that is something."

CURRENT EVENTS.

BY RAJDUARI.

——:o:——

THE RUSSIAN CHAOS.

Russia continues to be in the very thick of internal anarchy and bloodshed. The condition of the country is growing worse, while there is not one man of practical sagacity, fertile resources and wide knowledge of the feelings and sentiments of the people, to change the condition and bring all domestic affairs to a haven of safety and rest. On the other hand, the organisation of the revolutionaries seems evidently to be of a most extensive and far-reaching character and exceedingly well conducted. For the second time the artisan's strikes in almost all the important towns of the empire have taken place cutting off communications with the capital and otherwise bringing the machinery of Government to a dead lock. Count Witte, a singularly feeble Minister and unconfided by the bureaucracy and the people with equal impartiality, is at his wit's end how to put down the anarchy with anything approaching tact and judgment. Mobocracy naturally is having the upper hand and carrying everything before it. But for the faithful Cossacks of the Czar they might even be more successful than they are in subverting government and putting the autocrat and his followers to an ignominious flight. It is a certain sign of the rottenness of the entire administration when the army itself, the mainstay of the might and strength of the Czar, shows unmistakable signs of disaffection. Already some regiments have mutinied; and it is not improbable that a prolongation of the present disintegrated condition of the country might lead the army to make common cause with the people and eventually march on the capital. When that final catastrophe occurs not even the faithful Cossacks and the more faithful Guards will be able to resist the surging tide. Provincial revolts, bloody massacres, military and naval mutiny, desecration of churches, wholesale pillage of property and all the other concomitants of popular revolution are the order of the day. The arrest of the foremost leader Kronstalleff, has had not the slightest effect on the movement. Indeed, that arrest has only nerved to a greater degree the populace to get itself rid of the existing autocracy with a vengeance. The constituent assembly is nowhere, while the official declaration that old laws should prevail till superseded by new legislation has had the effect of exasperating the people beyond all expectation. They have come to regard the new reforms as a sham and the Government as insincere. Nobody believes that the reforms will, at all, be accomplished. They are only promulgated on paper to appease the nation for a time, only to be cast away the moment that autocracy has regained its power and has the people in its iron grip. Meanwhile the temporarily dethroned bureaucracy is watching its own opportunity. Palace intrigues are ripe and the hands of intriguers are against each other. The Dukes and grand dukes are in disgrace and practically there is no Government. What to-morrow may bring forth, it is impossible to say. But the diverse events which have occurred all throughout the year and which have now culminated in disruption of the settled order and the ushering in of chaos are only a fresh illustration of the old adage which says that every autocracy digs its own grave.

JAPAN AND RUSSIA!

Meanwhile, the French and German bourses have felt the shock of the convulsion in Russia. The faith of holders of Russian bonds has been rudely shaken. Panic-stricken, these are forcing sales with the distinct effect of running down prices which, no doubt, gives ample opportunity to bearish capitalists to make hay later on when the sun shines once more on the Russian political horizon. It has been authoritatively computed that the total borrowings of Russia in France and Germany up to date are 800 and 350 millions sterling respectively—a heavy stake. On the other hand, Japan has seized the opportunity to raise a fresh loan in England and America with the view of discharging the war and other loans raised at a higher rate, and convert a large portion of the current debt into securities bearing a lower one. It is an astute financial move and undoubtedly in the best interests of the country. Part of this new loan will be allowed to remain in the hands of English and American Bankers in order to discharge gold liabilities fresh incurred or about to be incurred for warlike and other materials and for a stronger fleet. Thus, as far as Japan is concerned, the Mikado has not allowed the grass to grow under his feet. He is wide awake enough to see the necessity of a powerful navy for the future and a strong army of national defence which shall impart greater security to the empire. At the same time, minute attention is being paid to the economic development of

the country. For, after all, even the military security must depend on the ability and capacity of the nation to bear the strain. Greater production of wealth, therefore, is aimed at and who could deny the wisdom of that step? What a contrast do the two countries which were lately at war present! The one, exhausted in the terrible military campaign, plunged into a civic Frankenstein of a most revolutionary character the end of which it is not difficult to forecast, while the other, rising stronger from the war, going boldly forward with vigour and *elan* to develop the national resources, strengthen the finances, and determined to defend the Empire against all comers with greater ability and resources! Happy Japan, unhappy Russia.

THE CONTINENT.

On the Continent the Prince of Procrastination is playing his cards in the matter of the Macedonian reforms with consummate ability and unmatched diplomacy. Undisturbed by the threatened concert of the great Powers, and the naval demonstration at Dardanelles, the Sultan sits on his throne and smokes away his pipe, as if, to say, he knows what he is about and he knows what game of bluff the Powers are playing with him. Past success in diplomacy has greatly emboldened Abdul Hamid and it is ten to one he will again win his diplomatic triumph and laugh to scorn the combined strength of the Powers. The quarrel between the King of Austria and the Hungarians remains where it was six weeks since. Meanwhile, the Man of the Mailed Fist has, as usual, been talking his tall talk and astonishing Europe by his "blazing indiscretions." Anyhow, it is plain that though trying to imitate the Man of Sedan in the heyday of his Imperial glory, the Emperor William has shown himself to be a conspicuous failure. But Germany, as we write, is busy settling its old scores with England. In the Reichstag Prince Bulow has vigorously denounced the malignant agitators who do their very best in the Press to foment animosity between the two great Teutonic nations. England is also anxious to prove that there is really no ill-feeling between her and her neighbour. Only the war-dogs of a hired Press are barking and yelling to the top of their bent. Spain and Portugal are quiet; the former having just arranged to marry its youthful king with a daughter of the house of the illustrious Victoria. President Roosevelt had a tour round the States and has returned to his capital firmly determined to hold the scales even between the colossal monopolists who hold trusts in the hollow of their hands and the ultimate consumers. Meanwhile, Mr. Bryan, twice a candidate in democratic interests for the Presidentship, is having his ovations in the territory of the Mikado.

THE BALFOUR MINISTRY.

At last the Balfourian Ministry has been driven to resign. The event will be recorded in history as almost unprecedented in the political annals of the British nation. Hardly a Ministry during the last century or two has undergone such vicissitudes as have befallen this. And, it is doubtful, whether within the duration of a single Parliament had reached a lower level in point of statesmanship. But it is now admitted on all hands, that statesmanship died with the deaths of Gladstone and Salisbury. They, indeed, were the two surviving statesmen till their respective demise of a long line of giants who have made English history what it is during almost the whole of the nineteenth century. The giants have passed away leaving a race of pigmies Political morality there is very little to boast of. With the era of political opportunism has set in the era of unmitigated political mendacity of which, perhaps, no better types could be pointed out than Messrs. Balfour and Chamberlain. What a story one may relate of their respective public tergiversations, audacious contradictions, and unscrupulous declarations. Few, indeed, are the politicians of note who have escaped the political immorality of the times. How many may be counted on one's fingers who are so honest as John Morley! Alas for the days of Bright and Gladstone, the two "great" Christians whose lofty moral ideals so admirably leavened the Parliaments of their glorious days! But it is of no use going into this retrospect. The Balfour Ministry has resigned because there was no further resource left but to resign. It was a virtue of necessity. A "strong" Liberal Ministry, according to all shades of opinion, has been formed at the head of which is the sober, discreet, and tactful Sir Campbell Bannerman. Not a brilliant Minister any way we may readily admit. He may not possess the glorying and persuasive eloquence of Gladstone, he may not have his lofty ideals, he may not have his passion, and that art of dialectics which on great occasions carried the whole house with him; all the same under the existing conditions of the Great Liberal Party, perhaps, no better Premier could

be found. The very fact that he has by his judicious tact been able to form a Ministry which friends and foes alike have praised as a happy combination representing all shades of Liberalism shows the political stuff of which the Premier is made. Whether it will survive long, as its most bitter opponents doubt or whether it will travel safely along its long journey, avoiding many a precipice and pitfall remains to be seen. In such a case, we should not be surprised to find that the unexpected happens falsifying the ratiocinations of all who forecast a brief future for it.

INDIA.

In India an Amurath has retired and another Amurath has succeeded him. There would be time enough to judge him. A Viceroy in these degenerate days is a mere lottery. He may make or unmake India. But one thing has been demonstrated beyond doubt. The experience of the administration of Dalhousie and Curzon within half a century has clearly made manifest that it is a great mistake to send as Viceroys mere youths, full of buoyant energy and "Imperial" ideas, but sadly wanting in maturity of thought, trained administrative experience, and that modesty and dignity which distinguish the sober from the intoxicated. Hower, India has heaved a deep sigh of relief. Lord Curzon has been a good deliverance. Let us all forget the past and lay our hope in future, and let Lord Minto prove another Mayo if not a Northbrook and Ripon.

——:o:——

THE WORLD OF BOOKS.

——:o:——

Imperial Japan: The Country and its People. By George William Knox with many illustrations. (*George Newnes Ld.*) Price Rs. 5-10. To be had of G. A. Natesan & Co., Esplanade Madras.

Great Japan:—A study in national efficiency. By Alfred Stead. (*Mr. John Lane*) Price Rs. 9-3. To be had of G. A. Natesan & Co., Madras.

The brilliant and marvellous victories won by Japan recently both in peace and war have riveted the attention of the whole civilised world and India, with its natural pride in Japan being an Asiatic race has displayed not a little interest in the achievements of the sons of the land of the "Risen Sun" as Baron Suyematsu has rightly claimed for it. But in this country as elsewhere, people have not stopped with the mere admiration for the Japanese. A genuine and earnest desire has been evinced by Indians to study the origin and growth of this wonderful people with a view to learn lessons from them for the uplifting of the Indian race. We have no doubt therefore that all good and authoritative books on Japan will be welcomed in this country. "Imperial Japan" by Mr. G. W. Knox who has lived amidst the Japanese for several years is an excellent account of the country and its people. Those who are anxious to understand the true Japanese spirit and the real meaning of her tradition and civilisation cannot do better than peruse Mr. Knox's book. The nature of the work can well be gleaned from its contents which are as follows:—

The Tradition, Asiatic Civilisation; Feudal Wars; The Awakening; Buddhism; The Religion of the Common People; Confucianism; The Religion of Educated Men; Philosophy for the People; The War of the 'Samurai'; The Life of 'Samurai' in Old Japan; The Life of 'Samurai' in New Japan; The Common People; Farmers, Artisans and Artists; Merchants, Women and Servants; Language, Literature and Education; Tokyo, with an introductory chapter on 'The point of view.'

The many neat illustrations in the volume give an additional value to Mr. Knox's "Imperial Japan."

Mr. Alfred Stead, the enterprising and ambitious son of Mr. W. T. Stead the well known editor of the *Review of Reviews* has already made a name for himself as an authority on Japan. Some years ago he began with a little book entitled "Our New Ally." Its appearance just a few days after the first Anglo Japanese treaty claimed for it a great deal of attention. Later on Mr. Stead was successful in inducing leading Japanese statesmen, educationists, lawyers and merchants to write on various aspects of Japanese history and progress and the result was a bulky volume entitled "Japan by the Japanese" edited by Mr. Alfred Stead.

Now he has brought a smaller volume on "Great Japan, a study in national efficiency." Lord Rosebery has written a foreword to the book and as this contains in a short compass the facts and figures advanced by the distinguished Japanese writers in "Japan by the Japanese," we have no doubt that those that cannot afford the higher price for it will welcome Mr. Stead's latest "Great Japan" which could be had for almost half the price of the other book.

The Evolution of Knowledge; A Review of Philosophy. *Raymond St. James Perrin.* (*Williams and Norgate.*)

The writer is an out-and-out Spencerian and the Review of Philosophy is made from the Spencerian point of view. The work is an expansion of the writer's earlier essay entitled 'The Religion of Philosophy' or "The Unification of Knowledge," itself an expansion of an earlier "The Student's Dream."

The attempt has not only been the writer's 'dream' but has been the dream of all thinkers from the earliest days of Greek thought. To find the one, the constant, real unity underlying the fluctuating many has been the engrossing task of all thinkers. There is the obvious satisfaction of easing the burden of the mind—the reducing to unity what is manifold. The human mind may be constantly baffled and the '*ewieka* of every thinker may be found premature in the light of criticism; but the baffling is only to provoke fresh attempts on the impregnable rock of ages. The history of philosophy may be said to be a history of the failures of thinkers to unify knowledge.

Let us find what the latest attempt comes to. The writer does not mince matters and there is a refreshing plainness in his statement that his aim is to show that the most general terms of existence, space, time, matter and force, can be resolved into motion.

The first part of the work which gives an account of the history of philosophy from the above point of view shows what adumbrations of the truth have been given by the pre-evolutionary school of thinkers. 223pp. to dispose of thinkers from Thales to Sir William Hamilton would appear rather meager. But the point of view is limited; and the treatment superficial. One caution is however, to be borne in mind in accepting Mr. Perrin's views as to the trend of the teaching of the earlier thinkers and the caution has been given by Professor Batchu (p. 114. Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art). "Nor is it possible to determine by general rules how far the thought that is implicit in a philosophical system, but which the author himself has not drawn out, is to be reckoned as an integral part of the system." It has appeared to us that the writer has been over-ready to assume as forming an integral part of the system what is at best implicit in the teaching.

The second part gives an account of The Evolutionary Philosophy, four chapters being devoted to an exposition of the teaching of Herbert Spencer (knowledge, a form of motion; the interdependence of thought, feeling and action; The Analysis of reason; and the principles of Sociology), and three to the teaching of George Henry Lewes (the principles of Psychology, Experience and Belief; and the unity of Mind and Matter). There is no attempt at a critical examination of views opposed to Spencer's, of views that have pointed out the weak points in the synthetic philosophy. We would call attention only to one weakness of the philosophy of evolution or never ceasing change. It has not sufficient amount of the conserving force of the cosmos. Mr. Frederic Harrison brought out this weakness of synthetic philosophy in a recent address on Herbert Spencer at Oxford. "The laws of stability are equally essential and dominant; indeed they come prior to the laws of change. Progress is evolution out of order. It would be riding to death the old apophthegm of Heraclitus '*pánta sei,*' to think of things in flux, to ignore the vast field of type as dominating change." Again what is the use of a seeming unification of things that differ so much from one another, leaving out for the purpose their most essential aspects? "It does not advance us to be furnished with a set of formulas which profess equally to explain the rotation of the earth and the French revolution, the pressure of the atmosphere and the growth of the moral sense, the precession of the equinoxes and the social improvement of women, the indivisibility of molecules and the rise and growth of the Catholic Church."

In spite of its shortcomings the book may be commended as giving a readable account of the development of philosophic thought from the Spencerian point of view.

:o:

BOOKS RECEIVED.

MACMILLAN & Co.

Soprono. By F. Marion Crawford.

THE FREE AGE PRESS.

What is Religion. By Leo Tolstoy.
Popular Stories and Legends. By Tolstoy.
What I Believe (My Religion). By Tolstoy.

GEORGE BELL & SONS.

A Village Mystery. By Mrs. Coulson Kernahan.
An Australian Cricketer. By Frank Leer.
My Life, (two Vols.). By Alfred Russel Wallace.
The Inseparables. By James Baker.
For Richer, For Poorer. By Edith Henrietta Fowler.
The Mistress of Robes. By Sidney Herbert Burchell.

Indian Life in Town and Country. *By Herbert Compton (London; George Newnes.) G. A. Natesan & Co., Esplanade, Madras.* Rs. 2-10.

In less than 200 pages, the author of this captivating volume has managed to present successfully the impressions of men and matters Indian formed by a European resident of long standing. Mr. Compton's acquaintance with India extends only to the northern parts of the country and accordingly his generalisations are not of much value. But there is no gainsaying the fact that, though the picture is not true in many important details, the execution is marvellously artistic and the handling of the vast subject distinctly clever. The author, judging from the tone of the work which is on the whole rather sympathetic than otherwise, began his life in this country with an open mind; but he seems to have succumbed rapidly to the common malady of the Anglo-Indian mind which is quick to form prejudices and learn to generalise about the virtues and more often the vices of a people whom they make no attempts to read aright. Much of what Mr. Compton has to say regarding Indian character does not do credit to his observation and consequently need not distress his native readers, while every one must feel attracted by his manner, which is not second to the style of the late G. W. Steevens's book either in point of vivid description or epigrammatic terseness. The author disposes of native life in twelve chapters. The first, headed "India as it is" describes the vastness of the country, the variety of races that inhabit it and the religions that prevail in it. Writing of caste, Mr. Compton says in his second chapter: "The Englishman has sometimes been accused of insularity. If so be it is true, you would have to take your definition from Archipelago to obtain a term for the corresponding quality in the Hindu of India. For the system of caste has cut him into a thousand little bits of exclusiveness, each instinct with insularity reduced *ad absurdum.*" Notwithstanding that it is "unreasonable and unreasoning, unjust, arbitrary, and cruel," caste, says the author, is a great moral force. In the fourth chapter, Mr. Compton takes a comprehensive bird's-eye view of the manners and customs of the people of India.

Perhaps the most sympathetic portion of the book treats of the woes of the Indian ryot. Says Mr. Compton of that much suffering individual:

"His uneventful life is one of dreary monotony and labour, with a week of seven working days. Perhaps, three or four times a year he enjoys a holiday, when some festival of his caste permits the opportunity. If he has saved up four pence to squander on sweetmeats he is a jubilant man. But a little of this dissipation has to go a long way, and his eye is always on the sky, looking for that shower of rain. If it does not come, he is bankrupt. Nay, as like as not, the blue firmament may have his death warrant written on it. If he has no land, he must still be taxed. It is naturally rather difficult to levy on a person whose income is ten pence half-penny a week; but still it must be done in order that the wheels of the chariot of the British Empire may roll on. The Government of India in its infinite wisdom has discovered a method of bleeding stones. In the economy of nature, man is an animal who cannot avoid eating salt, and that necessary article of diet has been put under contribution, whereby even the beggars of the Empire pay their tribute to Cæsar. . . . . I vow there is no more pathetic figure in the British Empire than the Indian ryot.

Mr. Compton felicitously describes the Indian Rajah, the tradesman, the artisan, the sowcar, the Jacks in Office, the barber, the native doctor, the astrologer and several other types. For the sepoy, he has nothing but hearty praise. He has some hard words to say of Indian music and it is quite obvious that he has not heard any music except what is natural at the drunken orgies of the coolies on his plantation. The author deels in detail with "Woman's Wrongs" in India and it were interesting to quote from him, had we more space at our disposal. Six chapters are devoted to a description of Anglo-Indian life. The one dealing with the castes in Anglo-India is most entertaining and instructive to the Hindu reader.

Gita-Girisa Kavyam, of Rama-jit, *edited by Dwivedi Chunilal Jagannath, Baroda.*

This is a Sanskrit lyric, the hero of which, *viz.,* God Siva, plays the role of the "passionate lover." The style is as close an imitation as possible of the famous Gita-Govinda (or Krishna-ashtapadi) of "honey-tongued" Jayadeva. But, it must be stated, with due deference to the author, that the copy is far below the mark of the original. The rippling flow, the unartificial ease, the melody resembling the distant chime of bells, which are the distinct features of Jayadeva's work, are missing here. It reflects, however, great credit on the author that the lyric, judged by itself and not in comparison with Gita-Govinda, must be pronounced to be decidedly commendable production. The music is faultless too. But many of the *ragams* are not known by so much as their names in Southern India. The same is the case with Jayadeva too, and this leads us to the inference that music as it was known here some centuries ago was not in all respects the same as we at present know it to be.

Captain Sheen. A Romance of New Zealand History. *By Charles Owin. Published by Mr. T. Fisher Unwin.*

A party of three English adventurers set out on an expedition to the great lake in New Zealand lured by the invaluable treasure with which a ship had been wrecked for two centuries. A brig was bought and a crew was hired and they were commanded by one Captain Sheen, who was formerly a pirate captain. The adventurers having anchored the brig in the sea, and leaving it and the crew in the charge of one of the hired crew, landed in Kapita, a land inhabited by coloured races and ruled by bloodthirsty chieftains. During the night the adventurers were treacherously deserted and the brig was steered away by the crew. In spite of the false airs assumed by captain Sheen intended to make-believe the chieftains that he and his party were not deserted, the chieftains and the infuriate mob, had wit enough to understand their real plight. Half-believing Captain Sheen's story that the ship had "gone after the musketry" promised by him to them and fearing a wholesale massacre of his race, which a cold-blooded butchery of the Englishmen would vouchsafe in return, the chieftains in accordance with the request of the adventurers, provided them with a sufficient party of Maoris to safely conduct them and guide them to the wrecked ship. Subjecting themselves to the extremest troubles and privations, they at last succeeded in reaching the wreck and secured great amount of jewels and gold. On their return, one of the adventurers died unable to withstand the fatigue of the journey. Their prime object of amassing fortune from the wreck was accomplished and they again came to the land of the chieftains. The chieftains taking advantage of their helpless condition, put them into prison, threatened to have their heads 'cooked,' and promised them their freedom, only if they would help them in capturing a neighbour chieftain who was their perpetual enemy. While the surviving two adventurers were in this desperate condition, a Scotland vessel, was seen sailing off the coast, and Captain Sheen persuaded the other captain to help his party in carrying out the murderous condition on the fulfilment of which alone their freedom could be bought. Then they invaded the land of the inimical chieftain; a wholesale carnage of his race ensued, and the inimical chieftain was taken prisoner. They were thus let free, and they arranged with the captain of the Scotland vessel that they should be taken home aboard his vessel as passengers and that they would pay £ 50 each During the homeward voyage Captain Sheen was caught and put to death by one Speering whose brother he robbed of and murdered on a previous voyage as a pirate. The one left alone safely reached his home.

The Origin of Unrevealed Religion. *By R. K. Dadachanji. Bombay Education Society's Press, Byculla.*

This paper is intended to prove that man can continuously advance, if he will persevere in the right path; it is intended to refute the theory of the School of Pessimists who would condition the advance and limit the progress of mankind. The Prime Minister of England is the leader of such philosophic belief. According to him "man will reach a point, if he has not reached it already, beyond which no variation will bring with it increased intellectual grasp, &c...... That is the common destiny of man, according to Mr. Balfour. Mr. Dadachanji endeavours to show that this view is fundamentally wrong. He proclaims a bold optimism. He says man's advance can be cut down only by his own ineptitude. There is no limit to human possibilities. Higher and yet higher, man can go, provided there is no faltering, halting step. It looks as if we have heard of this before. Lord Buddha in preaching the possibility of *nirvana* set no limit upon human capability. Sankara proclaimed that man could attain to Godhead and Oneness with the Supreme; and Dadachanji follows in their wake. It has been said that the prevailing note of Hinduism in one of Pessimism: certainly not much of it is to be found in the accepted teachings of our philosophers. Here again the East is trying to bring round the West to a truer conception of the human capability. Mr. Dadachanji traces the growth of religious thought among Aryans and non-Aryans step by step and shows that there has been advance all round and no stagnation. He would abolish the theory that everything has decay. They may have their births and developments, they can be developed yet higher. This dissertation is a very thoughtful pronouncement. We recommend the booklet to all thoughtful students of the history of mankind and of its civilisation.

—:o:—

BOOKS RECEIVED.

W. R. CHAMBERS.

Children of the Empire. By John Finnemere.

Advanced German Grammar. Revised By Schropp.

UTTERANCES OF THE DAY.

Mr. Morley on Gladstone.

The statue of Mr. Gladstone, which occupies a prominent place in the *Strand*, London, and which forms a national memorial to the great statesman, was unveiled on November 4th, by Mr. John Morley who delivered an eloquent and fervid oration :—

It is good for us, to place on high this effigy of Mr. Gladstone, because great inspirations come from
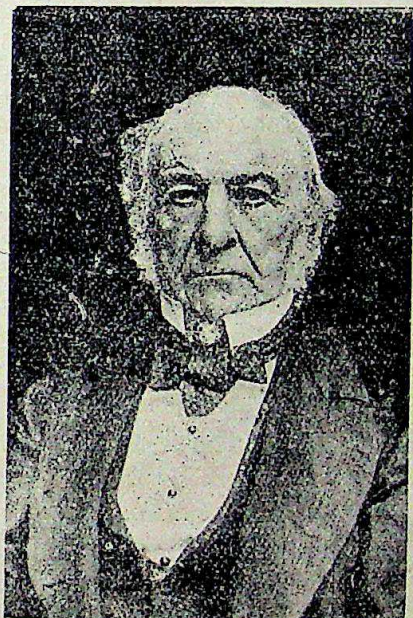
GLADSTONE.

heroic names, and his name was truly heroic. It is good that his effigy should be placed on high amidst this thronging tide of life, so that men may know by recollecting his achievements and his character—which was greater even than his achievements how great a thing the life of a man may be made. * * *

We are here in London, which, as has been said, is ten or twelve cities. We are here in the centre of one of them. Here in anywhere, we realize what Wordsworth meant when he talked of "ships, domes, towers, theatres and temples." Here we are surrounded by the tide of life; and as you know, Mr. Gladstone's sympathy with all the infinite varieties of human life was so rich and so manifold, his interest in human endeavour was so animated, his sense of the ebb and flow of human being was so keen and singular, that I for one find great ground not only to be reconciled to, but to rejoice in the fact that his effigy has a place here. He is very near the palace of the inland Revenue, in the doings of which he was so much concerned—and in the doings of which we are all of us in some degree concerned. He is close to the Palace of justice, where as you recollect, he presented a noble figure when it was opened in the reign of Queen Victoria. By day and by night a great tide flows past here through all the day and half the night.

Mr. Gladstone's Versatility.

And, when it is said by unkind critics that Mr. Gladstone was a rhetorician, I should like to say this—go down to the City of London and see the floods of men who surge that city every morning and make it the great centre of commerce, make it the centre of the financial world, remember that in the admirable qualities of the merchants and the bankers and the dealers, Mr. Gladstone would have been a match for the best of them in those very qualities. For exactitude in account, for unswerving, unfailing, unremitting labour, for precision in computation and calculation, for a vigilant survey of markets and of prices, they would have found in him a match and a master; and the Bank of England and the North-Western Railway and any other great concern—how much would they give, indeed, to get such a man as the rhetorician ? Mr. Gladstone was an extraordinary case, probably the most extraordinary case in our annals, of the combination of a man who had the magic and the glory of the orator combined with the passion and the power of the man of action. He was effective—and I will use the word effective in counsel, he was effective in the House of Commons almost beyond a parallel whether in exposition or in argument or debate. He was effective in one department—the Exchequer—almost beyond any man who has ever controlled the department of finance. He was effective in what he used to count the most difficult and laborious of all the operations of a public man namely the framing, the constructing, and the conducting of long, elaborate, and complicated measures through the House of Commons. He was effective beyond, I think, anybody in the English annals —I will not talk of Ireland—in the force with which he could draw first of all the House of Commons, which, in spite of what may be said, is still, as he himself gloried to think it, the *elite* of the business faculty of this country—he was effective there in persuasion; and he was, if possible, even more effective when he touched with his own passion great multitude of men. And his faith in this power was really boundless; for I have heard of cases where he would detain a huge audience of many thousands by a discussion of a Bulgarian constitution, or of some point about Maltese marriages. He was persuaded—and he was right—success justified him—that he could pour his own interest into these great masses of men. And when it is said that he followed public opinion—no gentleman, he did not follow public opinion,—in all the greatest causes in the high landmarks of his life he created, he shaped, he moulded, he inspired that public opinion upon which his success depended. The secret of his effectiveness did not reside, principally at all events, in his strong and powerful and capacious brain; it lay in his indomitable heart. It was pointed out the other day that his great qualities were faith, courage, labour. I think that is a prefectly true account of him. But courage, dauntless courage, was after all, the greatest of all those qualities; and where did that come from ? It came from his fervent conviction that the cause for which he was pressing at the time, the arguments by which he pressed it, were all unassailable. It was the fervour of his conviction that gave him that heart, along with his power of brain, to perform those great achievements for which we are today expressing our honour and our gratitude. I am glad to think that this monument is set up, not only because the citizens of this island, and of the United Kingdom, and of the great commonwealth

of free communities of which this is the centre—not only because they, but citizens of foreign countries too, will come where you and I are to-day and will gaze upon that statue.

HIS WORLDWIDE FAME.

We have to recollect, we cannot have forgotten, the tribute to his great memory which flowed unto Mrs. Gladstone when he died—tributes from every part of the globe from all the great powers—the President and Congress of the United States, the President and Cabinet of the French Republic, the Czar of Russia. In Italy they mourned him as they only had mourned when Victor Emmanuel and Garibaldi died. And what the great Powers and countries did so did the small—Norway, Denmark, Sweden, Greece, Roumania, Macedonia—from every quarter there flowed recognition of his splendid fight and struggle for freedom. I do not believe that I overstate it when I say, as I have said that no statesman in our glorious roll has touched the imagination of so wide a world. I do not overstate it, I think, when I say that no British statesman has ever been followed by so great and wide and noble a pomp as that which followed him to the grave. It was not a subject of the Crown, it was a foreign writer—I think an American if we may call the American foreigner—who said. "The day that Mr. Gladstone died the world lost its greatest citizen." Why? I will not answer in words of my own, because you might think they came from some private, some personal partiality or affection. I will quote the words of the illustrious statesman who by-and by followed him as Prime Minister,—I mean Lord Salisbury. And this bears out what Lord Peel said, and truly said, when he told us that this was no party gathering, but much greater. We can have a party gathering any day. We cannot have such a gathering as this. What Lord Salisbury said was this. He was explaining that the sentiments in the minds of those who disapproved much that Mr. Gladstone had done in his public career—that their sentiments of admiration for him were as vivid, or almost as vivid, as those of any of us who were his followers and his friends; and he explained it:—"What Mr. Gladstone sought was the achievement of great ideals, and whether they were based upon sound convictions or not they could have issued from nothing but the highest and purest moral aspirations". Set up necessarily on high the sight of him, his character, his motive, and his intentions would strike all the world. "It will have left a deep and most salutary influence." Lord Salisbury said, "on the political thought and the social thought of the generation in which he lived, he will be long remembered, not so much for the causes on which he was engaged, or the political projects which he favoured, but as a great example of which history hardly furnishes a parallel, of a great Christian man." Yes, the Christian Churches may well be proud of him. The secular State, this State and nation, may be proud of a man who made such an impression as he made all over the world. We show to-day that we are proud of him, and we fix in bronze these feelings of the world, and we call those who come to look upon this statue—we call them to his heroic example, to the grandeur of his exhortation—"Be inspired with the belief that life is a great and noble calling, not a mean grovelling thing to be shuffled through as we can, but a lofty and an exalted destiny."

Sarala Devi's Appeal to Indian Women.

The following inspiring and suggestive words were addressed by Mrs. Sarala Devi Chaudhurani to the girls and ladies assembled at the last prize distribution of the Putri Patshala of, the City Arya Samaj held during the anniversary week, at which she presided:

You, O fair ones, are wives of brave men, daughters and mothers of sages, the eternal womanhood of India. As the gleaming flame are your charms—by how many poets in what passionate accents have they not been sung! Why then to-day are you thus spiritless, ignorant shrinking, limp as a wet rag! How is it that you to-day are charged with being the impediments in the way of the pride of manhood of your husbands and sons—obstacles to their tasting the joys of triumph—the cause of the degeneration of the nation? Nay! It cannot be! All these are slanders. You deserve not this stigma on your fair name.

O ye who are the embodiment of Shakti, Mahadevi, the consort of Shiva, Mangala! Behold, India like Vishnu in the days of *pralaya* is lost in the deadly sleep of ignorance and illusion. Oh womanhood of India, which now dwelleth in his eyes as sleep, leave thou thy resting place and free his limbs and senses and his heart that he may awake!

O woman of this ancient land of Heroes and Rishis, manifest thyself! Assert thyself and instruct thyself! Be thine the duty of the remaking of this Nation!

Lord Curzon on the Indian Peasant.

[From the Farewell Speech at the Byculla Club.]

Amid the numerous races and creeds of whom India is composed, while I have sought to understand the needs and to espouse the interests of each, to win the confidence of the Princes, to encourage and strengthen the territorial aristocracy, to provide for the better education and thus increase the opportunities of the educated classes, to stimulate the energies of Hindus, Mahomedans, Buddhists and Sikhs, and to befriend those classes like the Eurasians who are not so powerful as to have many friends of their own, my eye has always rested upon a larger canvas crowded with untold numbers—the real people of India as distinct from any class or section of the people.—

> But thy poor endure and are with us yet.
> Be thy name a sure refuge for thy poor,
> Whom men's eyes forget.

It is the Indian poor, the Indian peasant, the patient, humble, silent millions, the 80 per cent. who subsist by agriculture, who know very little of policies but who profit or suffer by their results, and whom men's eyes, even the eyes of their own countrymen too often forget—to whom I refer. He has been in the background of every policy for which I have been responsible, of every surplus of which I have assisted in the disposition. We see him not in the splendour and opulence nor even in the squalor of great cities. He reads no newspapers, for as a rule he cannot read at all; he has no politics. But he is the bone and sinew of the country; by the sweat of his brow, the soil is tilled; from his labour comes one-fourth of the national income; he should be the first and the final object of every Viceroy's regard.

Topics from Periodicals.

:o:

Socialism in Early India.

The November number of the *Liberty Review* observes that when the matter is thought out, the socialism of early India is easily understood and sums up the arguments as follows :—

"Every social unit, down to the village community was self-supporting and almost self-sufficing. Food grew in the fields. For drink the villagers had the water of the wells, and the milk of the cows; if they wanted something stronger, sugarcane sap, or palm-tree sap, or the macerated petals of the *mahua* flower, could be distilled into a more or less nauseous but intoxicating spirit. India never was "teetotal," though some English politicians have slanderously said that "England found India sober, and made her drunken." Low-caste natives always drank, and always drank to excess, though intermittently. Rajputs always prepared for fighting by a dose of some such stimulant as opium or bhang. Brahmans, as a rule, are sober, and so are Vaisyas, the mercantile caste. Even Brahmans and Vaisyas are under no rule of total abstinence. But to return to the self-sufficing village, the village cotton fields supplied clothing; and so nothing had to be brought in from outside except brass cooking or drinking vessels, and the raw iron from which the blacksmith made horse-shoes or bullock shoes, plough-shares, and the tyres of the cart-wheels. In such conditions there is very little use for money. Wages—so to describe the earnings of the village artisan, the blacksmith, or wheelwright, the weaver, the worker in leather—would be paid by a sort of barter. So much corn for a pair of shoes, so much for a plough or cart harness, for the cart or plough itself, and so on. Again, there would be no competition, whether in the quality of goods or their cheapness. The artisan would have a monopoly of the village trade, his prices, however, being fixed by custom. The elaborate system of supervision existing in the cities of the Mauryan empire was a development of the primitive village socialism. Money became necessary as fast as exchange became complicated; but customary authority continued to enforce the conditions of trade. We are told that "a curious and not easily intelligible regulation prescribed the separation of new from old goods, and imposed a fine for violation of the rule." But this was nothing else but the converse of *caveat emptor*, public authority looking after the interest of the purchaser and the honesty of the vendor. In the village it would be easy to know what goods were old and what were new, and no inspection would be wanted. Indian society tended naturally and inevitably to socialism. The population depended almost wholly on the land for support. The village community was self-contained, and it was the social unit. Money was very little wanted, and very little used. Competition was wholly absent from village trade, and existed but little even in the trade of towns or of seaports. The latter, indeed, would naturally be the place where competition would first make itself felt. Where customary regulation of business is predominant, it is only natural that there should be customary supervision to see to its observance. In short, all that socialism proposes to do for the modern community, natural evolution did for early India, and the results have endured to this day. We submit that Indian history proves socialism to have done its work, contributed all it had to contribute to human evolution, and to be now out of date.

A New Constitution for India.

Mr. Prithwis Chandra Roy of the *Indian World*, in the October number of his magazine seizes the opportunity afforded by the Bengal Partition and Curzon-Kitchener controversies to propose a grand new constitution for this country which is briefly as follows :—

"The Viceroy must continue to be the nominee of the Crown and subordinate to the Secretary of State for India. His tenure of office must, under all circumstances, be strictly limited to five years and there shall be no renewal or extension of any such term. He ought to be obliged to pass at least six months of every year in Calcutta, no more than four months in Simla, and the remaining on tour. He should be assisted by a Council or Cabinet and should have personally nothing to do with the initiation of any legislative or administrative measures or with the administration of the Foreign Office or with the direction and organisation of Military expeditions. Foreign and Military affairs should be left in the hands of Boards, each of which is to be composed of three members, with headquarters permanently located at Simla, and working under direct instruction from the Secretary of State for India. The members of the Foreign Office and the Military Boards will be appointed by, and hold their office at the pleasure of the Crown, and each of these Boards should be entitled to send a member to the Viceroy's Council. Similar Boards, under similar conditions, each composed of three members only and with the power to return a member to the Viceroy's Council, should be entrusted with the control of the State finances, the Legislative Department and the Home Administration. A Board already exists for the Department of Commerce and Industry and should be re-constituted on the lines of the the other Boards as laid down above. Thus, all the principal Departments of the State should be entrusted to separate Boards, working independently of the Viceroy of India, and their members holding their offices at the pleasure of the Crown. In the Home, Legislative Commercial, Financial and the Foreign Department Boards, at least one of the members should be Indian."

The India Council is to be abolished, and Mr. Roy assures us that his scheme would only cost the country about Rs. 75 lakhs a year. With regard to the Swadeshi movement, Mr. Roy proposes to make it effective by inducing all the producers of just to co-operate in raising the price to buyers. The money thus obtained is to be spent in technical education and the establishment of an indigenous banking system.

:o:

The latest issue of the "LAW MAGAZINE AND REVIEW" contains the following :—

The Province of the Judge and of the Jury; By G. Glover Alexander, LL.M. The Dead Hand; By J. M. Lely. Reform of the Patent Law; By J. W. Gordon. Neutral Trade in Contraband of War; By Douglas Owen. The Congress of Advocates at Liege, 1905; By E. S. Cox-Sinclair. Current Notes on International Law. Notes on recent cases.

Outlook Ahead.

Mr. Edward Dicey, has a paper of absorbing interest in the *EmpireReview* of November, on some of the chief questions that are agitating at the present day the East as well as the West. He brings out very clearly the guiding policy of Russia in her affairs with other countries. He opens his article with the question which has become somewhat stale, and which have received various interpretations—the motive which prompted Japan to bring the war to a sudden close, even abandoning the claims which she at the outset, nay even during the negotiation of peace professed to press, at the risk of continuing the war to its bitter end. Mr. Dicey says, that the Ministers of Japan ought to be praised for their sagacity in procuring the peace at the cost of the territorial aggrandisement, which might otherwise have accrued to her. The real significance of the speedy close of the war can only be understood, when considered side by side with the alliance recently formed with England. The alliance vouchsafes Japan security from Russian invasion for the decade to come, and that is a far greater prize, than the territories, which she would have got, had she insisted on the conditions, originally proposed; and if Japan resumed the war the projected alliance would have to be postponed for an indefinite length of time. Further, the financial resources of Japan had run short and resumption of the war could only be prosecuted on loans, which would cripple her already depleted treasury. Further many officers of the Japanese army were either killed or made unfit for further service, whom it would not be possible to replace by officers of like mettle.

This treaty with Japan received the approval of the British public. But an indirect attack was brought against it, that a similar understanding with Russia should be advanced. But Russia has neither a wish nor a will to have any such understanding. Affairs international since the Crimean war have shown, somewhat too clearly the duplicity of Russian policy. Hence it will be sheer folly to enter into any such treaty with Russia.

There is an opinion current in Japan, that when Russia has settled her internal troubles by 'illusory concessions, or by severe repressive measures,' she will resume her own policy of aggression.

It is because Japan dreads this contingency that she attaches such value to her treaty of alliance with the British Empire as a guarantee against any renewal of hostility on the part of Russia. It is obvious therefore that the conclusion * * * of a private arrangement on the part of England with Russia would create a not unjustifiable suspicion in the minds of our ally. To speak the plain truth England has to choose between Russia and Japan. She cannot run with the hare and hunt with the hounds. Her own Imperial interests bind her to maintain the alliance with Japan in the spirit as well as the letter. And if she is to remain the friend of Japan she is forced by the logic of facts to remain antagonist of Russia. From this dilemma there is no escape.

The question of immediate interest to England is that of Morocco Conference as the *entente cordiale* between England and Germany has been a little shaken by the Delcasse's gossip of England's armed help against Germany. It is possible to preserve good feelings between France and Germany. France on the strength of the Anglo-French alliance proposed to have a nominal protection over Morocco and Germany wanted the question to be decided by an International Conference. M. Delcasse the French foreign Minister, the author of the treaty, proclaimed that England had promised armed help against Germany, if it was needed. Delcasse was dismissed his office and none of his party raised a word against it. "An identical note has been presented to the moorish Ministers of Morocco by the French and German representatives acquainting him with the conditions to be submitted to the conference, which had ben agreed upon beforehand by the German and French Government."

Again the Russian influence can be traced in the affairs of Macedonia.

"The Sultan had been asked to entrust the collection and administration of the revenue of Macedonia to agents of Russia, Germany, Austria, France, Italy and England. * * * If the Sultan should consent to the proposal submitted to him by the European concert, the final overthrow of the Turkish rule in Europe would obviously have been brought to very near accomplishment. So far the Sultan has steadfastly refused to accept a measure which he regards and justly regards as tantamount to signing the death-warrant of his own Empire. There is only one method by which he can succeed in his refusal, and that is by breaking the European concert. In order to do this, he must place himself under some one of the signatory powers. Everything points to Russia as the power to whom he can address himself with the best chance of success."

Success to the Sultan can only be an extension of his titular Sovereignty for some time more, and by placing himself under Russia he only jumps 'out of the frying pan into the fire.'

Again affairs in Hungary also give room for suspecting Russian influence. The Magyrs of Hungary forgetting the maxim "united we

stand and divided we fall" clamour for a separate army of their own, instead of the common Austrian army which has hitherto protected them from the grips of Russia. If it once divides itself from Austria, Russia may pounce upon it at any time.

In Norway also, Providence opens new prospects for Russia. Russia long wanted a site on the Western coast, which, she can now have easily, putting down Norway, which has separated itself from Sweden. Mr. dicey concludes:—

The longer I live, the more I am convinced that the one thing which lasts in this world of ours is human folly: and in this conviction I am confirmed by the knowledge of how Hungary on the south and Norway on the north are manufacturing opportunities for Russia to resume, without any action of her own, the paramount influence which she exercised throughout the Continent previously to her war with Japan.

Last Words of Celebrities.

The dramatist—and who does not fancy himself a dramatist?—delights to represent the last moments of great men as in harmony with their lives, and naturally would fain pourtray them as passing away with some appropriate ejaculation on their lips.

The death of Sir Henry Irving, while his words in the character of Thomas a Becket, "Into Thy hands, O Lord, into Thy hands——" were still almost ringing in his audience's ears, is one more piece of evidence that the element of the tragically dramatic is not confined to the stage. We associate the words "Light, more light," with the death of Gœthe. Oscar Wilde, true to the last to himself, apologized to his doctor for "dying beyond his means," having no money to pay his doctor's bill, just as the urbane second Charles did "for being such an unconscionable time dying"; and did not the late Archbishop Benson of Canterbury drop dead while repeating the Lord's Prayer?

On the other hand, should his hero fail to "come up to the scratch"—to use a somewhat vulgar expression—at the last moment, there is a great temptation for the dramatic historian to invent for him such appropriate words as he might be suspected to have uttered, and the consequence is that the last words of great men naturally tend to fall under suspicion. Cæsar, as the author of the *Comic History of Rome* cynically remarks, crawled under Pompey's statue, "that he might form a tableau in expiring"; and doubt has been thrown on the celebrated "Et tu, Brute!" as a touch of the historical dramatist. Pitt—the great Pitt, who ought to have known better—ejaculated as his last remark, "I think I could do with another of those mutton pies!" though I believe the historian has invented for him something more suitable to the occasion. Plon-Plon, otherwise Prince Jerome Napoleon, who lay so long on his death-bed, lamented that he had failed in everything else in life, and could not even succeed in dying.—*Occult Review.*

The Native Indian Army.

In the November issue of the *United Service Magazine*, a Punjabi writer, who belongs to the Indian Army Service, while refuting a scathing criticism of another Punjabi of the efficiency and loyalty of the Native Indian army, records among other things his own appreciation of the Sepoy in an article entitled "The Indian Army as it is." His views, we think, are impartial, and they are authoritative too, since the writer is in the Indian army itself and writes from personal experience.

He says:—

"As far as I have seen and heard, however, the trouble seems to be not the system, but the inadequate pay of the sowar which, however, is equally the trouble in the infantry. In both cases men find it hard to make ends meet but, perhaps, more so in the cavalry. The wear and tear of clothing, owing to the realistic training of modern days, runs away with more than double the amount given by the Government for the upkeep of kit. * * * The very unfavourable conditions of financial prosperity under which the sepoy now-a-days exists, is, I think, a fairly conclusive proof that, so far from serving from motives of self-interest, as stated by "Punjabi" the sepoy serves more from motives of keenness as a fighting man. He certainly makes no money at it.

I must take exception to the statement that "it is impossible to judge of the mettle of the Indian Army until it has been put to the fire test under modern conditions." What about the rifle fire at Dargai? There was no artillery fire, it is true, but I fancy the rifle fire was as hot as any that one would ever meet anywhere else. What about cold steel at Saragheri? I don't think the Sikhs could have displayed any finer bravery at Chilianwala than they did on that occasion. The "beneficient operation of a long period of peace" does not seem to have done them very much harm. As regards the asserted probable disloyalty of our Pathan troops, who "would be as likely to join in an invasion as to assist in repelling it," surely their behaviour in 1897, when fighting against their own tribesmen, is sufficient proof that the spirit of loyalty to the Sirkar, pervades even the much maligned Pathans—one of our finest fighting men.

I do not think that the present generation of our race in India is as blind to the imperfections of the native, or so prone to believe the men of their wn regiments absolutely perfect, as were our predecessors of Mutiny days. Yet a policy of distrust never succeeded with anybody.* * * Surely the way to get the best out of our magnificent fighting races, is to trust them, and to let them see that we do so.

We are told that the Japanese are the finest fighters in the world. I think that that statement requires a large pinch of salt. The chief reason for their brilliant victories seems to be the triumph of a thoroughly sound organisation, a thoroughly well-oiled and competent staff, and thoroughly well-trained regimental officers (and consequently rank and file), over an organisation and army exactly the reverse. Of actual bravery or patriotism there seems but little to choose between the Japanese or Russians, as regards the individual, and I fail to see why our Sepoys should have less than either.

Our struggle for Freedom.

:o:

"No patriotic Indian can return to his country after a trip to England including a visit, however short to other countries in Europe without being forcibly struck by the intense desire for political liberty and freedom that fills the European atmosphere and that distinguishes the West from the East.* * * The Government of the people, by the people and for the people, is the ideal all over European countries, whatever be the form of government which is allowed to exist." These are the observations with which Mr. Lajpat Rai begins his article under the above title in the *Hindustan Review* of October. The contrast which he brings about between political man of England, and political man of India, is very striking. In the one case excess of freedom is enjoyed, and in the other political freedom is a vanishing quantity. He illustrates his observations by the violent and threatening methods that the mob, the press and the platform adopted, to show their disapprobation of the legislative measures and even judicious and well-meant delays of Government in passing certain Bills into Acts. The cry of 'Down with the Lords,' was heard when the proposal of London County Council to take the tramway across the Thames was thrown out by the House of Lords on the ground that the spectacular effect of the bridges would be destroyed. A march to London was contemplated by the unemployed, as a menace to the Government when the Unemployed Bill was delayed passing into an Act. In the latter case when a deputation went to the House of Commons to meet the Premier, the Bill was immediately passed into an Act. Another instance is the Education Act which forces Non-Conformists to pay taxes which they consider, iniquitous. On such occasions party differences are even kept in abeyance. Business in Parliament is brought to a dead stop by the agitators. "In other parts of Europe they go a step further and in the deamand for political liberty have recourse to Anarchist methods which at times culminate in murders assassinations and crime" Mr. Rai not in the least wishing for any such dangerous and mad excesses, by way of contrast points out the apathy, the indifference, the want of earnestness, the absence of a spirit of sacrifice for the cause and the principle in India. He deprecates the methods of political agitators, who only talk of politics, who write on politics, and who even subscribe towards the political propaganda, and then leave matters to have their own course. He advocates that some at least should devote their whole lives to the political advancement of the country. "In our humble opinion" he says "no one is entitled to call himself a patriot who holds anything (excepting his religion of course) dearer than his country," and he wants everyone to try in any case" to do something better and more tangible than we have been doing hitherto. "Let us at the close of each year feel certain progress." The country is as yet wanting in those conditions which must precede the dawn of an era of real earnest struggle. Patriots, must not seek any payment for their services, except what it is essential for their sustenance. They must write political treatises deliver lectures to the masses about what law is, and what political freedom is.

Bengal has just shown the way in agitating against the Partition of Bengal. What Bengal has done should be done by every province in ventilating its grievances. Besides occasional provincial demonstrations like those recently held in Bengal, we ought to improve upon the general annual demonstration at the Congress Session by arranging to bring about a greater and a bigger meeting every year attended by no less than a hundred thousand persons from all parts of India. The education and the political value of such gatherings cannot be over-estimated. Let the next session of the Congress at Benares set the example. Actual deliberative work should be done by a smaller conference attended by not more than a hundred of the best men of the country. Two whole days may be reserved for this work and *one* the opening day, for popular demonstration, at which, speeches may be delivered to the assembled masses from different platforms by different men in their own vernaculars. The executive and administrative work of guiding the movement all round the year should be done by a still smaller standing Committee of 20 to 30 men. This Committee ought to meet at least twice or three times a year, and if Sir Pherozeshah Mehta cannot spare time to attend its sittings at some central place, let us unanimously agree to fix Bombay as the headquarters and meet only there. Or if that be not acceptable to our Bengal friends who are equally indispensable, let Bombay and Calcutta have the honour of being the meeting place every alternate year. Then the next thing which the whole country ought to do simultaneously with the above is the adopting of and giving effect to the Bengal resolutions *re* the boy-cotting of English goods. This in my opinion is the most effective way of bringing the Government to its senses and will be most telling on England. Even if we cannot do without foreign goods, let us import them from Japan and China first, and from Germany, France or the United States next. Let us try to gain the sympathy and good-will of the Indian retail-sellers, and there cannot be the least doubt that we can carry on an effective political propaganda. There is another thing which I would do, *viz.*, to spread a knowledge of English laws and Regulations broad-cast. Let the people realise the full significance of the laws under which they live and demand the full pound of flesh given to them by the same.

The Land Question of India.

Mr. Romesh Chunder Dutt, the enlightened retired Indian Civilian has recorded his views, in his characteristic impartiality of a historian, on the Settlement Problem in India. By placing side by side the treatment which the question received, in the hands of the Viceroys, previous to Lord Curzon, he brings to light the policy which governed the actions of such largehearted Viceroys as Lord Canning and Lord Ripon, and that of the self-praising Lord Curzon. The resolution of Lord Canning supported by the recommendations of the able statesmen such as Colonel Baird, Sir Richard Temple, Samuel Lang and John Lawrence, was for a permanent settlement, which fixed the State demand. This did not find favour with the official bureaucracy and the question was put by till twenty years after, when Lord Ripon took it into consideration. Lord Ripon's recommendation, too, met with a similar fate, though his recommendation was modest, and yet assured the cultivators' safety from the excessive encroachments of State demand except at times when the price and the cultivation increased. Again, the memorial submitted to the Secretary of State, was referred to Lord Curzon. This memorial asked not a permanent Settlement as was proposed in the days of Lord Ripon, but only a certain uniformity and certainty in the existing Land Revenue. The memorialists asked: (1) that settlements should be made for thirty years; (2) that the Land Revenue should be limited to half the rental when paid by landlords; (3) that it should be limited to half the net produce (never exceeding $\frac{1}{5}$ of the gross produce) when paid by cultivators direct; (4) that enhancements of the Land Revenue should be permitted only on definite grounds, such as rise in value of produce or improvements by irrigation; (5) that cesses should not exceed $6\frac{1}{4}$ per cent. of the rental or 10 per cent. of the Land Revenue. Lord Curzon while fully recognising the principles which underlay these proposals, would not bestow the least consideration to such of them as "give that assurance to the Indian landlord and cultivator, and that definiteness of State demand which are essential to successful agriculture all over the world," but has given us hopes with regard to some of the proposals with regard to the extension of the period of Settlement to thirty years. Indefiniteness in the State demand is the best system which any Government can contrive, to keep the agriculturists perpetually resourceless and miserable.

In Bengal the actual cultivator pays 11 per cent. of his gross produce to his landlord as rent; in Gujarat the cultivator pays 20 per cent. *on the average* to the State. The Bengal cultivator knows the specific grounds on which his landlord can claim enhancement; the Bombay and Madras cultivator does not know the specific grounds on which the State will claim enhancement at the next Settlement. The Bengal tenant can appeal to the Courts against excessive demands; the Madras and Bombay tenants can appeal to no independent tribunal against unduly severe assessments. Certainty and definiteness in the rental make the Bengal tenant value his tenant-right, and enable him to free himself from the thraldom of the money-lender; uncertainty and indefiniteness in the State demand make the Madras and Bombay tenant till his land without heart, without hope, without motive to improve, without possibility of acquiring wealth.

In the absence of such security and definiteness in the State demand, how has the Indian cultivator fared? During years of apparent prosperity the State demand was continuously increased in Bombay, in Madras, and in the Central Provinces. Then followed famines in the closing years of the last century, and the State demand is being revised and decreased in Bombay and the Central Provinces. Future eras of prosperity may lead to inconsiderate increase again and future famines may lead once more to decrease. Is this the settled Land Policy of India after a century and a half of British Rule, or, is it a policy which is conducive to agricultural prosperity and wealth? The policy reminds one of experiments on the frog under the air-pump, to find out on what minimum quantity of air frogs can sustain their life.

Of Lord Curzon's measures to restrict the alienation of land, the less said the better. Such restrictions of the tenant-right do not improve the position and prosperity of tenants anywhere in the world; and in Bengal the Policy of the Government during half a century has been to *foster* and *extend* tenant-rights; and the policy has been attended with success. One of the last acts of Lord Curzon was to lay down rules for the remission of Land Revenue in the years of bad harvests and famines. We are thankful to His Lordship for these rules, and hope they will be carried into execution in the spirit in which they have been conceived.

Some Problems of Co-operation.

Mr. Hope Simpson, I. C. S. writes in *East and West* of November, on the various difficulties, in the way of the success of the co-operative socie-ties. Co-operative societies have uniformly met with success in Europe and on a study of the relative advantages and disadvantages of India, he finds that many of the conditions of successful working of the co-operatives, wanting in India, such as, abundant capital, joint-stock banks, familiarity with banking methods and universal education, self-help and reliance and commercial equality. Hence, he says, without altering the principles of working, the methods of working are to be modified so as to suit the conditions of India. The urban co-operative societies, present no diffi-culty. It is only the rural, or agricultural co-operative societies that are beset with difficulties.

The difficulties * * are not so pronounced in the case of urban co-operative societies as in that of rural societies. In the towns, capital is cheaper and more easily acquired, contact with the banking world is possible, men with business knowledge and business training available, the tyranny of caste is less pronounced, education, is more widely spread. Public spirit already to a certain extent exists, and is undoubtedly growing, and there are many philanthropic and enlightened individuals who are willing to devote time and talents to the service of any progressive and reformatory movement. It is when solution of the agricultural problem is attempted that difficulties appear in full force. They may be roughly classed as of three descriptions, in accordance as they have their root in the constitution of the membership of village societies, in the financing of such societies, and in their management.

It has been said that the unit of rural co-ope-rative society should be the caste in a village, and not the village itself. When in some villages there are societies whose members, are not of the same caste, but of castes of approximate equality, with one another, Mr. Simpson proposes that members of more than one caste may be allowed, in the same society, for he says, it may be possi-ble for them to maintain equality among them as members of the same society. But in cases where the diffierent castes are very widely different, he advocates, that two societies may be opened one for the higher, and one for the lower castes, side by side. Caste system has further an advantage, which cannot be otherwise had in that it can punish a defaulting member more effectively, than by any artificial rules. Caste system, therefore far from being a hindrance for co-operation to thrive, tends to be helpful. As regards the problem of financing the newly-formed rural societies, it demands serious attention. In Europe the difficul-ty was solved by recourse to joint-stock banks, raising loans at low rates of interest, and in Ire-land by Agricultural Organisation Society. But in no country except France the State proferred any help in the shape of capital. In India there are no joint-stock banks. Even though the Government be willing to subscribe one half of the required capital, the members are unable to contribute towards the other half and so finally they have to fall back on the village money-lenders, who look upon the movement but with a jaundiced eye, as it affects their profit for the present. Even assuming that a long term loan can be raised, the difficulty still remains unsolved. What is required, is not cash loan, but cash cre-dit against which the society can draw as occasion requires, at a reasonable rate of interest. And this cash credit must be available in comparatively close proximity, to the society which desires to draw upon it else the credit is no better than cash loan.

First, village societies should be started in groups rather than as individuals, each member of the group being affiliated to a central society in the largest village of the group. Second, the advisability of starting co-ope-rative Town Banks should be insisted upon, and where these are started, the Central societies should in their turn be affiliated to the Town Banks.

It is necessary in order to rapid success, to begin work at both ends of the scale, and for the ultimate success of the movement, as the establishment of Town Banks is an urgent necessity—in most districts a sine qua non.

The difficulties in the way of management of small rural societies are frequently considerable. Management includes account keeping. Account keeping again argues education,

. The problem then is to remove account keeping from duties of the Panchayat of the low caste society. The remainder of the duties of management can well be entrusted to that body. * * * * Given two societies, one composed of high caste members, the other of low caste, the members of the latter will probably prove to be more punctual in repayment of their loans than the former. Among them the power of the caste is more pronounced, and disintegration is less advanced.

Each of the village institutions is not in a posi-tion to spend any money on the service of an accountant. The Central society as the Central bank can depute a whole-time accountant, who should look after the accounts of the rural insti-tutions, and he should be kept in central bank. The Central society or the Central bank, will be able to bear the pay of the accountant, when there are a good number of rural institutions, affiliated with it. All the records, except those of every day use, and the treasury of village insti-tutions can be placed in the Central Bank in order to insure safety.

Did America people the World?

The answer to this question is in a confident affirmative, and is the result of seven years' labour, of a great naturalist at great expense. The November issue of *Cosmopolitan*, under the above title deals with the theory newly expounded by the great naturalist, Morris K. Jesup of America. Various conflicting theories had existed, which seemed to have concrete facts to support them, but the theory, that America peopled the world, the writer says, upset the other theories. The new adventurers "concluded that the only satisfactory way to get this information was to make a thorough investigation of the oldest remaining tribes of both countries (Asia and America). By studying tribal customs, characteristics, traditions and languages, they believed that they could establish this one point," *viz.*, whether there was originally any contact between the people of Asia and America. "It was arranged to investigate the tribes from the Columbia river to the Northern Alaska and in Asia down to Southern Siberia where the area of civilisation begins. The first subject of enquiry was how long the tribes had been on various parts of the Pacific Coast and what changes had taken place in the tribal physical characteristics and cultures. The next aim was to determine what relation past or present, neighbouring or distant tribes bore to one another and the probable origin and connection of their languages, customs and cultures. By this plan it was entirely possible to trace the relationship between the American and Asiatic tribes, and probably the course of emigration in pre-historic times."

"From the study of both ethnological and archæological conditions in North-Western America and in North-Eastern Asia, it seems most probable that man on the American Continent didnot come from Asia at all, but crossed over into Asia by way of North-Western America. The emigration seems to have been from the interior of America westward to the Pacific Coast and then on to Asia. Mr. Harlan J. Smith found ample evidence of a remarkable change in the type between the pre-historic Indians of Southern British Columbia and the present tribes........This, the expedition thinks, goes to show that there must have been a considerable change of population in this region, which probably was due to an invasion of tribes from the interior. This conclusion is borne out by a study which the expedition made of the languages and ethnology of the different tribes."

Further, the writer says, that the most staunch adherents of the old theory that Asia peopled America, cast off their conviction, and turned proselytes of the new theory. Ethnologists, who before held that there was nothing in common between the different races of North-Western America and Siberia, seemed to have considerable foundation for their conviction, but it is now proved that it was only a superficial belief based on a lack of imagination. The members of the expedition not only established the ignored relation, "but they are inclined to believe that the tribes of both Siberia and North-Western America were originally one race and their culture was identical and sprang from the same source." "It was found that there is a noticeable resemblance between their culture (Chukchee and Koryek Indians) and that of Eskimo in the North America. They have much the same religious ideas and folklore. The expedition in other ways found by abundant evidence that far back at an extremely remote period there must have been an intimate relationship between the Indian tribes of the Pacific Coast and Eastern Asia." "The investigation proved that they (Eastern Asiatics) are much more closely akin to American Indian than to Asiatics. Originally of one family they became widely separated as time went on and isolated themselves. As the centuries passed, some people must have come in which interrupted the close contact between the Siberian and American tribes," and this disturbing factor was the Eskimo.

The story told by the investigators is very important and wonderful. It stands distinguished for the scientific procedure of its investigation. The facts are illustrated in a practical way, by putting an Asiatic in a West Indian costume, and an Indian in an Asiatic costume, when, as the pictures in the article seem to show, it will be seen that the theory is well worth consideration, and study, though not a ready belief as in a truth established.

The Religion of the Ancient Maharajahs of Mysore.

—:o:—

An interesting article of Mr Thirumalachar, B.A. on this subject appears partly in the October and partly in the November issue of the *Mysore Review*. As the writer says, there are three opinions current with regard to this question. The writer chiefly relying on the ancient inscriptions, and the patronymics of the Royal family of those days determines, which of the three views is correct. The inscriptions that came under his survey, are those chiefly relating to the grants and gifts of land, made by the kings to the temples, and Brahmans.

Thus he begins:

What religion the ancient Maharajahs of Mysore followed from the time of their settlement in the Province up to 1799 A.D., is a subject of controversy. Some historians of the nineteenth century assert the complete predominance of the Jangum religion within the palace precincts of the Mysore Wodiers up to the reign of Chicka Devaraj, whose career closed in 1704. The title "Wodier affixed to the names of the ruling Sovereigns, is urged as an argument in support of this view. The history of the Maharajahs, written by the palace genealogists in the middle of the nineteenth century and published under the title of "Vamsharatnakara of Chamarajendra Wodier," dissents from the above view and represents the Wodiers as the followers of the Brahmanical faith. The current belief regarding the question is that the Maharajahs, from the time of their founder, Vijaya, *alias* Yeduraya, up to 1610 A. D., were the staunch adherents of the Jangum religion and that the worship of Shiva in the Maharajah's palace was discontinued by Chicka Devaraj Wodier from the year 1687. This belief has been based on the authority of the eminent classical historian, Col. Wilks, British Resident at the Court of Mysore, who wrote his work in the early part of the nineteenth century. Mr. B. Lewis Rice, C. I. E., Director of Archæological Researches in Mysore, concurs in the view held by the eminent author. So the current belief has for its support the opinion of officers, distinguished for learning, ability and researches."

The inscriptions referred to by Mr. Char, tend to show that the kings, were inclined towards Vishnu. Hence he concludes they were followers of Vishnu. The affix 'Wodiers' to the names of the kings, the writer argues, means only "Lord" or "Master" as the title was not confined to the kings alone. The inscriptions refer to only the period from 1610 onward to 1799, and to determine the religion, and religious leaning of the kings before that, he falls back upon the names of the kings of the time as his authority.

The names of the members of the family, who then ruled, were Chamaraja, Thimmaraja, Krishnaraja, Devaraja, Rajaraja, Chamaraja and Narasaraja, as may be found in inscriptions. * * (The names of these three (Thimmaraja, Krishnaraja and Narasaraja are Vaishnavite ones.) The names Chamaraja, Chennaraja, and Rajaraja are commonly used both by the Vaishnavites and the Jangums. So among the given seven names, there is not a single name that is exclusively Jangum. On the other hand, the Brahmins can safely stand on the three exclusively Vaishnavite names and the name Devaraj, which is proved to be of the Vaishnavite origin. All these circumstances lead to the conclusion, that the Maharajahs of Mysore, from the time of the great-great-grand-father of Rajawodier up to 1510, were the followers of Vishnu."

—:o:—

The Frontier Policy.

In the November issue of the *Oriental Review* there appears an apt criticism of the Frontier Policy of Lord Curzon. From his debates in the House of Commons before he came to India, the people of India, entertained an apprehension, that he would be a supporter of the so-called forward policy. But in this, His Lordship most agreeably disappointed us. "His policy of withdrawing our soldiers from isolated and dangerous posts on the frontier and trusting to local levies the task of safeguarding the frontier and the mountain passes was wise and eminently successful. That policy has conciliated the tribes on the frontier, saved our soldiers from gratuitous danger and needless hardships and spared India's revenues which the previous policy had entailed and which those revenues could not always afford." But the same wise policy was abandoned in other directions. As regards Persia, the Viceroy went there in pomp and returned in disgrace, shamed and slighted by the Persian Governor. His affair with Tibet fared no better. We drove the Dalai Lama into exile; we made the Potala tenantless; we made a treaty only to be signed at the pleasure and leisure of Persia, China and, perhaps, of Germany. "The net result of this was unnecessary bloodshed, if not massacre on our part, unexpected bravery on the part of Tibet, astute and successful delay on the part of China, deferred hope and defeat for Viceroy himself."

As regards Afghanistan, the Viceroy left Afghanistan not as he found it, nor as he wished it. The Amir was made a king, with greater independence. We accepted a treaty dictated by him. "It means for India a stronger, but more unfriendly Afghanistan, an independent but more dangerous neighbour."

Industrial and Commercial Section.

:o:

GLASS AND ITS MANUFACTURE.

The manufacture of glass is one of the very highest beauty and utility. It is most probable that we are indebted for this wonderful art, as we are for the gift of letters, to the Phœnicians.

According to Pliny, glass had been made for many ages of sand found near the mouth of the small river Belus, in Phœnicia. "The report," says he, "is, that the crew of a merchant ship laden with nitre, having used some pieces of it to support the kettles, placed on the fires they had made on the sand, were surprised to see pieces formed of a translucent substance, or glass. This was a sufficient hint for the manufacturer. Ingenuity was immediately at work to improve the process thus happily suggested. Hence, the magnetical stone came to be added, from an idea that it contained not only iron, but glass. They also used clear pebbles, shells, and fossil sand. Indian glass is said to be formed of native crystal, and is, on that account, superior to every other. Phœnician glass is prepared with light dry wood, to which copper and nitre are added, the last being principally from Ophir. It is occasionally tinged with different colours. Sometimes it is brought to the desired shape by being blown; sometimes, by being ground on a lathe; and sometimes, it is embossed like silver. Sidon is famous for this manufacture. It was there that mirrors were first invented." In Pliny's time, glass was made in Italy of fine sand on the shore between Cumæ and the Lucrene Bay.

Glass was manufactured at Rome into various articles of convenience and ornament. Pliny mentions that Nero gave 6,000 Sesterces (about £50,000) for two glass cups, each having two handles. These, however, must have been of an immense size, and of exquisite workmanship, for glass was then in common use for drinking vessels, and was used in the form of bottles to keep wine.

There is no authentic evidence of glass being used in windows previously to the third or fourth century; and then, and long after, it was used only in churches and other public buildings. In England, even so late as the latter part of the sixteenth century, glass was very rarely met with. Sir F. M. Eden thinks it probable that glass windows were not introduced into farm-houses in England much before the reign of King James I. They are mentioned in a lease in 1615, in a parish of Suffolk. In Scotland, however, as late as 1661, the windows of ordinary country houses were not glazed, and only the upper parts of even those in the king's palaces had glass, the lower ones having two wooden shutters to open at pleasure, and admit fresh air. From a passage in Harrison's Description of England, it may be inferred, that glass was introduced into country houses more generally in the reign of Henery VIII. Formerly they had lattice work, either of wicker or rifts of oak, and the "better sort" had panels of horn.

Glass is now introduced into the windows of almost every cottage and it ought rather to be considered as a necessary of life than as the most elegant and useful of all conveniences.

Venice for a long time excelled all Europe in the manufacture of glass, but was subsequently rivalled by France. The manufacture was early introduced into England, but it was not carried on to any extent previously to the sixteenth century. The first plates for looking-glasses and coach windows were made in 1673, at Lambeth by Venetian artists, under the protection of the then Duke of Buckingham. The British Plate-glass Company was incorporated in 1773, when it erected its extensive works at Ravenshead, near St. Helens, Lancashire. The manufacture was at first conducted by workmen from France, whence we had previously brought all our plate glass. But that which is now made at Ravenshead, at Liverpool, and London, is equal or superior to any imported from the continent.

It is calculated that the value of glass annually manufactured in Great Britain amounts to not less than two millions sterling and that the trade gives employment to upwards of fifty thousand workmen in its various departments.

This admirable discovery, and its numerous applications, have contributed in a high degree both to the science and the comfort of mankind.—*Progress.*

COTTON EXPERIMENTS IN ASSAM.

Cotton experiments in Assam do not promise very successfully at present. The Nowsari and Caravanica cotton was tried last year. At the Wahjain plantation the Queensland variety did fairly well and a sample of lint obtained from there was valued at Rs. 36 per maund, which, it is said, compares favourably with the price obtained for Assam cotton. Elsewhere both varieties were practically failures, in many places the seed either having failed to germinate, or the plants died out prematurely.

MR. HAVELL ON INDIAN ART.

THE sixteenth Anniversary Meeting of the Chaitanya Library and Beadon Square Literary Club was held at the Dalhousie Institute, Calcutta, recently when Mr. E. B. Havell, Superintendent of the Calcutta School of Arts, delivered an Address on "The Uses of Art," from which the following are extracts:—

Perhaps, one of the greatest difficulties which artists and art-teachers meet with in the present day arose from the popular view of art as something separate from, if not altogether opposed to practical use. Any student of Art would soon realise that this was entirely contrary to all the teachings of art-tradition and history, but nevertheless, it had a firm hold upon public opinion. In India under the British administration the idea had taken firm root, and its influence was conspicuous in most of the institutions, educational and administrative, which India had borrowed from Europe. Indian Universities, faithfully imitating their European models, excluded Art from their curriculum, treating it as a non-essential factor in national culture. Particularly in Bengal, where nearly always Art was imported ready-made from Europe, or manufactured locally from European patterns, it played a very small part in both private and public affairs. If it were true that Art had really in the present day entered upon a new phase in which it had ceased to play an essential part in the national life, it must inevitably follow that Art would sooner or later cease to exist for there was no natural law more sure in its working than the one which ordained the extinction of everything which no longer served its intended use in the Cosmos......Art in man's work was but the faint echo of the divine on earth repeating the joy of the Creator. Art was in a special sense a form of worship, and the finest Art in all countries had nearly always been produced in the service of religion. But whether the Art was applied to religious purposes, to works of public utility, or to common domestic needs, they would find one spirit in all good art in all countries and in all epochs—the same spirit as they saw in Nature's work—the striving to make the work fit for the purpose for which it was intended. Art, in the abstract, thus became the striving to do things well. There was no question of separating utility and beauty—the joy of perfecting the use consciously or unconsciously created the beauty. The motive of the artist was writ large in every work of his hand and brain. . . . .

The general inferiority of modern Art thus merely reflected the narrowness of the utilitarianism and commercialism of the present age. Art in all countries always reflected the varying-phases of national sentiment. A vigorous and healthy national Art connoted a vigorous and healthy nation. The nations with the greatest Art had always been the leaders in the world's progress. Japan, which had suddenly sprung to the front rank of nations was the most artistic nation of the present day. The vitalising influence in true national culture was the artistic sense, and there must be something fundamentally wrong in the University system which led the educated classes to prefer the tawdry commercialism which generally represented European Art in India to the real Art of their own country, and, instead of broadening the basis of culture, drove the artists off the country to seek employment in office clerkships. A system of education which excluded both art and religion could never succeed, because it shut out the two great influences which mould the national character. There were obvious reasons why a State-aided University could not identify itself with religious teaching, but art was neutral ground upon which all creeds and schools of thought could meet. Until educationists in India recognised that the artistic sense was as necessary in the training of men of letters, of scientists, and of engineers, as it was in that of artists, no reforms in mere methods of teaching or examination systems would place higher education on the right road. Why was it that in spite of their honest endeavours to improve Indian Art they had only succeeded in bringing bad European Art to India and bad Indian Art to Europe? They would find the answer in those two wonderful ruined cities of Italy and Northern India, Pompeii and Fatehpur Sikri. In Pompeii they would see Greek Art in the forum, in the streets, in the shops, in the frescoes on the walls of the villas, in the furniture, and even in the cooking-pots which were left in the fireplaces. At Fatehpur Sikri they would see Indian Art in Akbar-Palace in his office, in his baths and in his stables, in all the public buildings and in the houses of his nobles. Everywhere in Pompeii and in Fatehpur Sikri they would find Art brought into practical use.

It was a great misfortune for Indian Art that at the time when European institutions began to be introduced into India all the old artistic traditions of Europe had been swept away by the social and industrial revolutions which began in the eighteenth century. Within the last five years there had been in England, and in many countries in Europe, a remarkable development of Art which had to some extent revived the artistic sense of the people and brought about at least a partial return to those methods and principles without which no real Art could exist. But from this great movement Art in India had as yet received no benefit and Indian Art continued to decay, because it was regarded by European and by most Indians with European education as made for nothing but curiosities. One of the most important of the civic and domestic uses of Art in all countries was to provide houses for the people to live in and public buildings in which to conduct the affairs of State. From the latter of these uses Indian Art had been almost completely excluded in modern times, and Indian builders had been taught to imitate the modern eclectic styles of Europe in the belief that these only were suitable for modern practical requirements. It would be most extraordinary if the hereditary builders of India who for untold centuries had kept alive the traditions of their Art, and adapted them time after time to the changes of fashion which one conquering race after another had brought into India, should now be found really incapable of meeting the very elementary practical requirements of modern public and private buildings. There is not a single modern building in India the construction of which presents engineering difficulties at all to be compared with those which had been successfully met by Indian builders in former times. Stability and durability were surely essentials of a practical kind in public buildings, places of worship, and other architectural works of a governing race, which had faith in the greatness of its mission and in the permanence of its rule.

In these respects it could hardly be disputed that Indian builders, who had been true to their old traditions had always worked on sounder principles than those which had been observed in modern Anglo-Indian archi-

tecture. The great monuments of Hind and Mahomedan rule all over India, which had stood for centuries neglected and exposed to all the fierce destructive influences of the Indian climate, the iconoclasm of the invaders, and the vandalism of philistines were incontrovertible evidence of the fact. The descendants of the architects who showed such remarkable constructive invention and skill still practised their Art in Rajputana, the Panjab, and in the United Provinces, and were only prevented from rivalling the great achievements of their ancestors because they were allowed no opportunity of doing so, except in a few of the Native States, in which the blind imitation of debased European Art had not yet become fashionable. Fergusson admitted that he had learnt more from these men of the principles of architecture as practised by the great architects of mediæval Europe than he had gained from all the books he had read. Yet these were the men who were ignored by Indian Universities, excluded from the system of Public Works, and neglected by their own countrymen because they were supposed to be deficient in practical knowledge.

The most important of the uses of Art, of a real living art, was its influence on national character. They would see it in the character of that great nation, the Japanese. What did they think inspired the magnanimity, humanity, devotion, and self-control which they had shown in this great crisis of their history, but the innate and supreme artistic sense of the people? He would give them an instance of the true artistic spirit which might be found also in India in the present day. Not so far from Calcutta, at Jaipur, the ancient capital of Orissa, the splendid Art of stone carving which flourished there in former days still lingered in obscurity. For the last 20 or 30 years, a few real Indian artists had been devotedly working on a pittance of four annas a day carving decorations more beautiful than any to be found in this city of palaces for the temple of Biroja in that town. Their wages were paid by a Sadhu, a religious mendicant, who had spent his whole life in begging for funds for this purpose. That was the spirit in which all true Art was produced. It was the spirit with which the glorious Gothic cathedrals of mediæval Europe were built. It was the moving spirit in everything great and noble that ever Art created. Let such devotion, reverence, and love permeate their universities, their public and private life, and everything which they undertook. They need not then clamour for political privileges, for there was no power on earth which could deny them. If they would see that true artistic spirit once more grow and spread, Art must be ever present in their daily lives. It must not be only a thing they want to see in Art galleries and Museums. It must be something for daily use, something they saw in the life which was round about them, in the streets and in their houses, in the trees and in the flowers, in the fields and in the sky, and something of the divine nature which was within them revealing to them thoughts divine. They must regard the books which they read only as commentaries on the great book of nature; they must go, as their fathers did of old, and learn from nature herself. Indian Art would then become a great intellectual and moral force which would stimulate every form of activity. It would re-light the lamp of Indian learning, revive their architecture, their industries, and their commerce, and give a higher motive for every work they found to do. Their art thus ennobled would not fail to ennoble themselves.

PAINT OILS.

At the Society of Arts Dr. J. Lewkowlsch, M.A., F.I.C., recenty delivered a lecture on "Oils and Fats: their Uses and Application," in the course of which he spoke as follows on paint oils: A great industry, consuming large quantities of oils, is that of paint oils. The paint oil *par excellence* is linseed oil. A few years ago, when the price of linseed oil was twice as high as it is at present, substitutes were largely in demand. The best substitutes will, of course, be those oils which are most nearly related to linseed oil, and the proper linseed-oil substitutes must, therefore, be looked for amongst vegetable drying oils. As possible linseed-oil substitutes I show here candle-nut oil, safflower-oil, tung oil, niger-seed oil, poppy-seed oil and walnut oil. Although at present, on account of the fall in price of linseed-oil, the stimulus for the production of these oils has been removed, they may, at any time when the turn of the wheel brings forth again high prices for linseed oil, force themselves on the attention of the manufacturer. The safflower oil of India and the candle-nut oil of the South Sea Islands may then deserve more attention than is at present bestowed upon them. Especial varieties of paint oils are those which are required for artists' use, and here, with the exception of poppyseed oil and walnut oil, which find great favour with artists for the best white paints, linseed oil bleached by sunlight is employed. Semi-drying oils are unsuitable, and although maize oil, enormous quantities of which were pressed heavily on the American market a few years ago, has been widely advertised as a paint oil, it must stand condemned as unsuitable for that purpose. The value of the drying oils rests on a remarkable property they possess—*viz.*, that of absorbing oxygen from the air. Linseed oil is capable of taking up as much as 20 per cent. of its own weight in the course of about three days, passing from its oily state through an intermediate stage of a viscous then tacky substance, until it is converted into a thin, elastic, flexible skin. The rapidity of drying can be much accelerated by the process of "boiling" the oil—that is, heating the oil with certain metallic oxides to a high temperature. We can well imagine how empiricism led an artist who had to mix the pigments with oil to discover such a process. Although several centuries have elapsed since this discovery was made, we are still unable fully to understand the chemical change which takes place when an oil boiled with metallic oxide dries.

THE MANUFACTURE OF SOAP.

In chemistry, the term *soap* is applied to all the salts or metallic compounds of the fatty acids. As some of our readers are probably unfamiliar with the terms "acid," "salt" and "alkali," it may be stated that an *acid* is a substance containing hydrogen, which can be replaced by the metal of a *base*, the product being a *salt* and water. A *base* is a metal, or a compound of a metal with oxygen or with hydrogen and oxygen, which can replace the hydrogen of an acid and form a salt. A specially active base is called an *alkali*. Thus common salt or sodium chloride and water are formed by the action of hydrochloric acid on caustic soda, a compound of sodium, oxygen and hydrogen.

In common language the term soap is restricted to the potassium and sodium salts of fatty acids. Potassium soap or 'potash soaps" are soft, and sodium soaps or "soda soaps" are hard. In pharmacy, there is another kind of soap, which is in fact a "lead soap," being prepared by boiling an oxide of lead with olive oil and water, and which, though easily melted by warmth, is quite insoluble in water, and thus differs essentially from other kinds of soap.

Hard soaps are generally made with tallow and solid fats or oils and a lye of caustic soda. The manufacture of caustic soda is a complicated process, and will be described afterwards. Among the fatty materials used in the manufacture of either hard or soft soaps are the following:—Tallow, South American beef-fat, Australian tallow mixtures of animal fats, lard, fish oil, seal oil, palm oil, olive oil, cocoa-nut oil, cotton-seed oil, etc. Many of these substances are produced in India, while English soap manufacturers have to import almost all these fatty materials, which are the more expensive of the two kinds of materials used in soap-making. In case of many of the oils, England imports the oil-seeds and exports the oil. Another substance used in the manufacture of soap is resin or colophony, the less volatile part of turpentine.

The process of soap manufacture may be conducted in the following way. The vessel used in the process is made of wrought iron plates riveted together and often so large (15 feet diameter and 15 feet deep) that from 20 to 30 tons can be manufactured at a time. These pans are generally heated by steam which may be directly introduced into the substance in the pot, or led through it in pipes, or made to surround the pot in a jacket. Some of the oil or fat, or mixture of these substances, is first put into the pan, and then some weak caustic lye (specific gravity 1·05 to 1·08) is added, while the mixture is stirred and gently warmed. Further quantities of lye of increasing strength, are added from time to time and the heating is continued until a sort of emulsion is formed. Fat (and resin in the manufacture of Yellow soap) continues to be added from time to time until the proper quantities of each have been introduced, and the action of the alkali upon the fat is complete. Precautions are taken that there be no excessive frothing and boiling over, and small quantities are withdrawn from the pan from time to time to ascertain whether the process is complete or not.

The soap is then separated from the mass of the liquor, and this separation is usually effected by adding 10 pounds of common salt for every 100 pounds of fatty matter employed. As soap is insoluble in strong solution of salt, it floats to the top of the liquor in an almost pure condition. The layer of soap may be drawn off while still in the molten state and by further heating it separates into a clear and a mottled potion. Or, as is usually the case, the watery and saline liquid at the bottom of the vessel may be run off and the soap left to be further treated in the following manner. To the soap is added some lye, and the whole mass is again subjected to the action of heat; then the mixture is allowed to settle down for some hours or even days, till the excess of lye sinks to the bottom, and the coloured impurities are likewise deposited. The liquid is then run off to be used in the next charge, while the soap is cast in iron frames or moulds, and, when it has cooled down, cut into blocks or bars by means of wires.

The following are the principal kinds of soda soaps:—

White or curd soaps made chiefly from tallow.

Yellow soap, of which resin is one of the ingredients.

Mottled soap, containing grey or brown patches of impurities.

Silicate of soda soaps, containing much water glass, or soluble alkaline silicate, and also a large quantity of water.

5. Fancy or toilet soaps, which are of many sorts, but differ only slightly in their composition. They are usually made from curd soap, by remelting and skimming it, and adding essences, etc. Thus perfumed soaps are nothing but curd soaps remelted, with addition of fragrant essential oils,

as those of bergamot, caraway, citronella, etc. Colouring matters are usually introduced to make the soaps attractive. Petroleum soap contains a small quantity of dark-coloured petroleum, and carbolic soap from 5 to 20 per cent. of crystallised carbolic acid. Glycerine soap contains, or should contain, a large proportion of glycerine, one of the by-products formed in soap-boiling. For the manufacture of transparent soap, curd soap is dissolved in its own weight of spirits of wine, and then perfumes are added and impurities allowed to settle. Some of the spirit is then driven off by distillation, and the smooth and strong solution is poured into moulds.

Pure soap, known to soap manufacturers as "Genuine Pale," contains, when fresh from the pan, about 7 per cent. of soda, 63 of fatty matters and 30 of water. By keeping it becomes drier and therefore stronger. A good soap for domestic use when offered for sale should be firm to the touch and should not contain more than 10 per cent. of soda or 25 per cent. of water. Bone-fat, essence of mirbane (nitrobenzob), and such colouring matters as arsenical and copper green and magenta, etc., should not be used in the composition of soaps intended to come in contact with the human skin.

Cocoanut oil is now extensively employed in the manufacture of soap, as, it makes a hard soap, which retains its firmness and consistency in spite of the presence of a high percentage of water.

Soft soaps consist essentially of oleic acid and caustic potash, but as they contain all the glycerine and other matters, they are in general very impure forms of soap. They are made by boiling rape, hemp, linseed and other vegetable oils, as well as fish oils, seal and whale oils, with a lye of caustic potash, a little tallow being sometimes added to produce a spotted appearance in the soap. The process of boiling differs from that followed in the case of hard soaps, in that the mixture, when saponification is complete, is merely boiled down, with constant stirring, till the greater portion of the water has been driven out by evaporation. These soaps generally used as cleansing material in manufactures, generally contain from 35 to 50 per cent. of water, a quantity much in excess of that found in hard soaps.

Caustic soda is made from common salt. The salt or sodium chloride is first converted into sodium sulphate by the action of sulphuric acid, a by-product being hydrochloric acid. The sodium sulphate thus obtained is formed into crude soda by being roasted with chalk and small coal. Then the crude soda is cleared of impurities, and finally the sulphur, or part of it is recovered from the waste products. The process is as follows. The crude sodium sulphate is mixed with its own weight of chalk, and about two-thirds of its weight of small coal or glade, and heated in a furnace. When the oxygen of the sulphate (NaSO4) has been almost completely removed by the carbon of the coal, the product, called "black ash," or ball-soda, is raked from the furnace into iron barrows, the masses or balls averaging 7 or 8 maunds a piece. The principal constituents of this black ash are sodium carbonate and calcium sulphide, which together make up three-fourths of its weight; but it also contains caustic lime, chalk, carbon, and a number of other impurities, including small quantities of undecomposed sodium sulphate, sodium sulphide and hyposulphide. Of true soda (NaO) it should contain 25 per cent.

To extract the sodium carbonate the black ash is broken up into pieces, and then treated in vats with water at 111° F. The vats are so arranged in series that each fresh charge of black ash comes at first in contact with strong black ash liquors; the partially exhausted ash comes in contact with weak lye and the nearly exhausted ash with fresh water. Some soda from 13 to 20 per cent. is always lost in the process, either by being left in the insoluble residue of the ash, or by leakage, or by imperfections in the process of manufacture. The liquor produced in the above manner contains when dried about 67 per cent. of sodium carbonate, 15 per cent. of caustic soda, and 17 per cent. of other sodium compounds. It is to some extent coloured on account of the presence of a compound of iron, which may be removed by passing air through the liquor, or by adding a little green vitriol solution.

To obtain caustic soda from it the lye is diluted and mixed with about 15 cwts. of lime for every ton of caustic soda to be obtained. When the lime and the liquor are thoroughly agitated by the aid of steam and air, caustic soda and calcium carbonate (chalk) are formed. When the calcium carbonate settles, the solution of caustic soda is run off, and boiled down in boat pans on which most of the other compounds of sodium are deposited. These are then removed and used with salt cake in the manufacture of black ash, while the calcium carbonate is used in the same process as a substitute for chalk.—*The Indian Economist.*

ONE MORE COTTON MILL IN BENGAL.

Messrs. R. C Gupta and Sons, of Calcutta, have decided on opening a Cotton Mill on their own account and have bought the old Serampore Cotton Mill at Rs 7,50,000. Messrs. Gupta and Sons are among the prominent Bengalee capitalists in Bengal, and they are not only enterprising, but have shown business capacity of a high order.

THE WORLD'S SUPPLY OF BENGAL.

Not much progress is being made in the cultivation of cotton in countries other than the United States. The movement for the promotion of cotton growing in West Africa, initiated at the memorable meeting at Manchester in May 1901, has not as yet done very much to quicken cotton production in those parts. In the West Indies the export has doubled during the last five years, but is still very small. It is only in India that there has been really large expansion in cotton cultivation. Egypt is practically stationary, and the world is still mainly dependent upon the United States for its supplies of cotton, as the following tables, giving imports of cotton into the United Kingdom, show :—

	1900.	1901.	1902.	1903.	1904.
	Cwts.	Cwts.	Cwts.	Cwts.	Cwts.
Sierra Leone	...	...	...	26	212
Gold Coast	184	20	...	150	363
Lagos ..	221	105	56	4,418	3,443
Niger Protectorate..	...	...	20	...	2,626
West India Islands.	3,892	3,124	3,747	16,897	7,374
India ..	311,841	335,480	289,923	7,26,963	846,471
Egypt ..	2,789,722	2,519,039	3,168,607	2,642,017	2,899,235
United States.	12,190,169	13,221,303	12,177,136	12,153,019	13,310,446

And it must be remembered that whilst a few years ago the American consumption of cotton was quite insignificant, America now consumes nearly a third of her produce.

COTTON TRADE.

During the month the cotton trade has received another impetus in the reduction in price of the raw material, and a better enquiry for yarns both for export and the home market, which latter has undoubtedly been brought about in some degree at least, by the Swadeshi movement. Shares have advanced by leaps and bounds, and at the moment they seem more buoyant than ever, and there certainly is no reason why they should not advance still more, as every mill is well sold and covered with cotton at a good paying margin. The future too is bright, as spinners hold large stocks of cotton, and the crop will be a large one both here and in America ; hence the price is likely to remain fairly cheap for this season at least apart from the merits, or demerits of the partition scheme. It is to be hoped the movement for patronizing Indian manufactures will not be allowed to die out, as it must tell eventually on all Indian industries, and through them on the labouring population, who may be enabled to purchase at least the necessaries, if not the luxuries of life. Whether we are Indian, or English, so long as we are employed in India, we must sympathize, and even give our support to the movement so far as this object is concerned.—*Indian Textile Journal.*

COKE.

The coke trade of India with Great Britain is very limited at present; but with the extensions in the iron and steel industry and the increased household demand for soft coke, the coke trade in general ought to develop satisfactorily during the next few years. Indian trade supplies two distinct classes of coke—hard and soft coke. The hard coke is really foundry and blast furnace coke, and is manufactured in open "kutcha" ovens of a most wasteful type. The enormous waste with the present system of coking in India may be judged by comparing the Indian yield of 25 to 30 per cent. with the British old-fashioned bee-hive oven which gives a coke percentage of 55 to 60 per cent. and with the modern Simon Carres ovens, which yield, in addition to valuable by-products, a coke percentage of 73 per cent. There is thus a fine field for immediate economy in the Indian coke-making industry.

A few tenths per cent. of vanadium raises the elastic limit of a mild structural steel one-half without impairing its ductility.

ECONOMIC SECTION.

:o:

THE HON. MR. HAMILTON ON INDIA'S ECONOMIC CLAIMS.

I shall now pass into India where the burning question of the day has been that of the Army Administration. This is, perhaps, neither the time nor place to discuss the details of this great question; and, besides, public opinion has already clearly expressed itself. It may, however, not be out of place that I, as a representative of the mercantile community, should take the opportunity to remind the Government that whatever changes may be deemed advisable in connection with the administration of the army, the economic claims of the empire must always be kept clearly in view. I urge this not only on behalf of the development of the country, but also in its military interests, for the army like every other branch of the administration, rests on an economic base, and unless that base be strong, it is folly to add to the superstructure. And what is the condition of India's base? Is it as strong as it ought to be: is it as strong as it might be? I unhesitatingly answer no. When we have it on the authority of Sir Antony MacDonnell that four-fifths of the people in the Bombay Presidency are more or less heavily in debt, a condition which applies to all India; when we have it on the authority of Sir Denzil Ibbetson and Sir Edward Buck, that over vast tracts of India it is a toss-up every year, whether the cultivator shall have a small crop or no crop at all; when they tell us that famine is but the deep and long cast shadow of chronic distress; when in the last few years, millions of men and cattle have been swept away, not so much for want of food as for want of money to buy it; when the credit of India's chief industry is so low that it has to pay from 20 to a 100 per cent. for its finance; when only ten per cent. of the men and one per cent. of the women of India can read and write; where Lord Curzon's seven years' strenuous service was one long fight with poverty, ignorance and oppression, no man can say that India's base is strong. These are India's battle-fields: for every man who falls fighting on the Frontier, a thousand fall fighting in the plains. For every man slain by Russia in the next twenty years, it is as certain as the sun will rise to-morrow, that a thousand will be slain by famine and fever, by poverty and plague. These are the campaigns for which we have to prepare. We want all our surpluses to extend our railways and to improve our waterways. We want forty crores of rupees to complete our canal programme. We want crores of rupees to improve our agriculture, and to reform the rotten financial saystem on which it is based. We want crores to re-build our cities, and make them fit to be the habitations of men. We want crores for education, and for scientific and medical research, and for our hospitals; and we want money to lay at the shrine of *Swadeshi*. Believe me, the only scientific frontier that India can have is a frontier of solid silver, and no other will yield that feeling of good-will and contentment, on which Lord Roberts has told us, the security of India must ultimately rest. Lay strong and true the base of empire; then shall the land we live in rise to the height of her great possibilities, and reach the destiny for which she is fitted.—*St. Andrew's Dinner Speech.*

THE NELLORE TALUK LANDHOLDER.

"The average land tax per landholder is Rs. 30 per annum. The average net income per landholder, after deducting land-revenue and the expenses, of cultivation cannot, in any case, exceed Rs. 30 per annum. Every landholder has, on an average, to maintain 5 persons consisting of himself, his wife, his mother, and his two children. The net income per head in a family consisting of 5 persons is Rs. 6 per annum, with which he has to feed and clothe himself and to provide against the rainy day. This shows clearly that there is frightful poverty in the country. If this is the case in the Nellore Taluq which is considered the richest in the district by reason of anicuts and deltas, what should be the case in the less favoured Taluqs of the Nellore district?"

A mixture of one part pitch, one part resin, and one part plaster of paris is said to be a good cement for coating acid troughs.

: o :

Messrs. S. K. Dhar & Brothers of Hugli are turning out very serviceable reflecting astronomical telescopes which are entirely the result of Indian labour. The mirrors and lenses have all been ground, polished and figured by them. The instruments are durable and can stand comparison with any of European-make as regards quality and finish. It is to be hoped that the enterprising firm will receive the encouragement it so well deserves, inasmuch as the achievement is unprecedented in India.

AGRICULTURAL SECTION.

OIL ENGINES AND IRRIGATION.

Visitors to India in the cold season have often been struck by the absence of irrigation machinery, even in the vicinity of rivers. Those who have seen Egypt and Syria would naturally expect to find engines replacing cattle especially at deep wells, but the mot and Persian wheel water the bulk of India's millions of acres, excepting only those that are within the reach of canals. The reason given for this state of things is the poverty of the farmer and the smallness of his holding which compel him to draw every gallon of his irrigation water by cattle power, from wells even when they are 60 feet deep. Mr. Chatterton, the very energetic Principal of the Madras School of Arts has for some years past maintained that water could be raised more cheaply by mechanical prime movers than by cattle, and as the Madras Government seems disposed to agree with him, there are now twelve oil engines at work on irrigation pumps under Government auspices. This experiment has aroused so much interest among landholders and ryots that thirteen applications have come in for engines and pumps to be erected by means of loans granted under the Land Improvement Loans Act. Three qualified Inspectors have been appointed to look after these installations, and a class is to be started by Mr. Chatterton to train oil engine drivers. An order of the Madras Government states,—"The success which has so far attended the efforts to demonstrate the economy of the oil engine in the irrigation of dry lands, and the keen interest evinced by the agricultural community; in the experiments are very encouraging." The success of the pumping experiments may lead to the introduction of light boring tackle, such as may now be had for a moderate price, for the deepening of existing wells or the search for water. The high cost of irrigation to the small cultivator is one of the reasons of his poverty and among well-to-do zemindars the greater the demand for water, the greater will be the economy of the oil engine and pump.—*Indian Textile Journal.*

REARING OF SILK-WORM.

One of the most promising of experiments being carried out by the Assam Agricultural Department is that connected with the rearing of silk-worms from seed imported from France, the experiments being carried out at Shillong and Kohima. The authorities are offering prizes for encouraging the planting of mulberry.

GROUND NUTS.

The Queensland *Agricultural Journal* has the following note on pea nuts or ground nuts:—

One of the easiest crops to grow, whether by itself or between the rows of some crop which takes from one to three years to mature, such as pine-apples, sisal hemp, etc., is the earth or pea nut. In the United States they are grown by almost every farmer. The nuts always command a ready sale for oil making. In America they are considered the best pig food, and thousands of bushels are used for human consumption. An American farmer in Florida sums up the advantages of growing pea nuts as follows:—They have no insect enemies; you are always sure of the crop; they will withstand more dry weather than any other crop; poor, sandy land that will not grow any other crop to pay will give a fine crop of pea nuts; such lands will yield 50 bushels per acre of nuts without any further fertilizer when they would not yield 8 bushels of corn. The vines make the finest of hay when properly cured.

THE STUDY OF AGRICULTURE.

Did it ever occur to you that there are the best of opportunities for the young man who will study agriculture? As the population increases food products will become higher, and he who knows how to turn the soil into these will reap a rich harvest.

It was this Fred. H. Rankin had in mind when he said: "I am often asked, will farming pay me as a life business?" I reply: "Yes, if you have brains, and intelligently use them. Why does every would-be lawyer or doctor spend two or three years in preparing to practise his profession? You say it is because he would starve to death without such training.

"Now, why is it, on the other hand, that no one has deemed it necessary to spend any time preparing for the life of a successful farmer? If one can make a living at farming without preparation, it argues well for the natural advantages of the business of farming. Now, how much more is it to the advantage of one who intelligently fits himself for farming, as do the lawyer, doctor and business man for their respective vocations? If you would better your income, why not grow the earliest and biggest crops in your neighbourhood? Why not have the best herd of improved stock? Why not increase the fertility of your land, and command your neighbour's respect by having the neatest and best-kept farm?

Departmental Reviews and Notes.

:o:

LITERARY.

THE BUSINESS SIDE OF LITERATURE.

Professor Harry Thurston Peck, who contributes to the September issue of *Munsey's Magazine* an article on "Books Which Publishers Rejected," tells the strange stories of such famous works as "Robinson Crusoe," "Uncle Tom's Cabin," "Jane Eyre," and many other well-known books of fiction, history, etc.

Usually it is due to the mistakes of the publisher or the publisher's reader that world famous books have been rejected, but in more recent times publishers have for excellent reasons frequently declined books which they knew would sell. An author, already popular, may demand too high terms, or the publisher may object to the nature of the book, or there may be some other special circumstance which militates against the publisher's acceptance of the book.

"ROBINSON CRUSOE" & "UNCLE TOM'S CABIN."

As his first example of a rejected manuscript, Professor Peck cites the case of "Robinson Crusoe." Defoe's book was refused by publisher after publisher, and was finally undertaken by a man doing business in a very small way. The price paid for it was no doubt very small, but "Robinson Crusoe" sprang at once into fame. An almost parallel case in America is that of "Uncle Tom's Cabin," "the most popular book ever written by an American." The publisher hesitated a good deal, but when he finally issued the book ten thousand copies were sold within three days, and it has been stated that this book found more readers than any other book except the Bible.

Charlotte Bronte, Sir Conan Doyle, Mr. Rudyard Kipling, Mr. Maarten Maartens, and many other writers of fiction had similar experiences with their first or early books. But the disappointment is not confined to novelists alone. Prescott and Motley both shared a like fate. Prescott's "Ferdinand and Isabella" was rejected by Longmans and Murray before it was accepted by Bentley; and Motley's "History of the Dutch Republic," after being declined by almost every London publisher, was at last published by John Chapman at the author's expense.

NEW LITERARY SPIRIT IN GERMANY.

The modern novel has been criticised so severely and its alleged worthlessness has been so frequently pointed out, that it is gratifying to hear a voice raised in Germany in favour of the modern romance, even though the praise is merely of the German novel. Herr Moritz Necker, writing in *Das Litterarische Echo*, of Berlin, says that there can be no doubt that the German novel, in the last five or six years, has taken a new lease of life, and that this improvement has been rewarded by largely increased interest on the part of the public, and by editions of a size never before known.

"For a long time," Herr Necker says, "it appeared as if the writing of novels would be left entirely in the hands of women. The young poets devoted themselves almost exclusively to the drama, attractive because of the large returns in case of success. Thus the great traditions of the romance seemed to grow pale, and in order to command a market many writers adopted the most questionable methods. The æsthetic degeneration soon changed to moral degeneration, and many believed it to be due to their 'literary honor' to shock conventional morality as much as possible. In fact, there was no novel placed on the market which did not contain one, preferably two or three objectionable scenes, and the material prepared by many feminine pens under the flag of the 'psychological,' was well on a par with the pseudo-naturalism of the men writers. Now, however, all this is changed. We are facing a new flowering of the romance upon which we may unreservedly congratulate ourselves; and for this change we have chiefly to thank such writers as Gustav Frenssen, Emil Strauss, Wilhelm Hegler, Hermann Hesse, Thomas Mann, and Clara Viebig. They have again taken up the great romantic traditions, proving that one may deal with the delicate question of the life-relations of men and women in a noble way, as well as that one may vie with Zola in depicting the events of the day without being prosaic or tiresome. And all of these writers do homage to that poetic realism whose greatest representative was Gottfried Keller of Goethe's school.

"Particularly," continues Herr Necker, "are we gratified by the diction of these authors. Speech with them is rich in color, thoughtful, pliant, sensitive, and in them we find the best and truest concept of naturalism. Zola's theory that the novel is only a clipping out of reality, seen through a personality, is not valid here—this merely leads to those geometrical figures and special romances which are more socio-historical or economic studies than poetical productions."

EDUCATIONAL.

TECHNICAL EDUCATION IN JAPAN.

For the sake of guidance and information of Indian students willing to come over to Japan for scientific and industrial education I write the following notes, which I hope will be of great use to them.

COLLEGE AND SCHOOL EDUCATION.

Here are two Imperial Universities at Tokyo and Kyoto and four Higher Technological Schools at Tokyo, Kyoto, Osaka and Nagoya. Besides these, there are many Industrial Schools of lower grade.

In the University of Tokyo there are among others, Colleges of Medicine, Engineering, Science and Agriculture. In the College of Medicine there are two courses of :—

1. Medicine (4 years.)
2. Pharmacy (3 years.)

In the College of Engineering there are nine courses each of which extends for three years, (*a*) Civil Engineering, (*b*) Mechanical Engineering, (*c*) Naval Architecture, (*d*) Technology of Arms, (*e*) Technology of explosives, (*f*) Electrical Engineering, (*g*) Architecture, (*h*) Applied Chemistry, and (i) Mining and Metallurgy.

In the College of Science there are the following eight courses each of which extends for three years.

(1) Mathematics, (2) Astronomy, (3) Theoretical Physics, (4) Experimental Physics, (5) Chemistry, (6) Zoology, (7) Botany and (8) Geology.

In the College of Agriculture there are the following four courses each of three years' duration.

(1) Agriculture, (2) Agricultural Chemistry, (3) Forestry and (4) Veterinary Medicine.

In this College there is a department for Agriculture which can be joined for one year.

In the University of Kyoto all the above subjects are taught :—

The Higher Technological School of Tokyo has provisions to teach the following subjects each of which extends for three years.

(1) Dyeing and weaving, (2) Ceramics (Porcelain, glass cement, brick, tiles, etc.), Applied chemistry (Cosmetics, drugs, brewing, sugar refining, oils, etc.), (4) Mechanical Engineering, (5) Electrical Engineering, (6) Electro Chemistry, (7) Industrial design and (8) Architecture.

The above subjects are taught also in the other three Technological Schools.

In Tokyo there is an Imperial School of Art in which the following subjects are taught.

(1) Painting, (2) Sculpture, (3) Bronze and metal works (statues, etc.), and (4) Lacquer works. Each of these courses extends for four years, but an Indian student may find it convenient to study for three years.

For females there are many schools of arts where Indian ladies can study with advantage.

The subjects taught are (1) Painting, (2) Artificial flower making, (3) Embroidery, (4) Sewing and knitting, (5) Lacquering and (6) Sculpture.

Out of these courses one or more may be chosen at a time. The duration of the courses is from one year to more.

PRACTICAL EDUCATION IN FACTORIES.

There are some subjects which can be only learnt by working in factories, while studying the theoretical portions at home. The following subjects might be chosen :—Matches, pencil, buttons, wire-drawing (needles, nail, etc.), metal sheet work, umbrella, weaving, knitting, soap, paper making, felt cloth making, tools making, etc.,

GENERAL INFORMATIONS.

(1) The sessions in all the institutions begin from September.

(2) Candidates for admission are to send in their applications by the middle of June while staying here.

(3) The school and college fees will not exceed 3 yen per month (1 yen is equal to $1\frac{1}{2}$ Rs.)

(4) The class lectures are in Japanese language with very little of English. The important books are in English or German.

(5) Students are advised to reach Japan by the month of March and study Japanese.

(6) As large numbers of students from China, India, Philippines, Corea and Siam come to study here and since there is a limited number of seats, it is becoming very difficult for foreigners to get seats. So students should come here early, send their applications through proper channels, study Japanese and German in the meantime and be well equipped to avoid disappointment.

(7) Students may live in Japanese hostels with an expenditure of 15 to 20 yen per month or in messes formed among themselves with the same expense (Boarding and lodging only.)

(8) Students to be dressed in the European fashion which is prevalent here and much appreciated. The temperature in summer rises to 90 deg. F. and falls in winter to the freezing point. Good summer and winter dresses should be brought from India to suit the climates. Beddings, rugs, blankets, thick quilts, mosquito-curtains will be necessary. Dresses and books are very dear here.

(9) The total expense will be 40 to 45 yens per month, considering the occasional expenses of a man in a foreign country.—Mr. A. Ghose *in the "Patrika."*

NATIONAL EDUCATION IN BENGAL.

The Committee appointed to frame a scheme of education on national lines, and under national control, has reported. The scheme, briefly, is for the creation of a Council of National Education for imparting education, both literary and technical, through the vernacular as far as possible, English being compulsory ; the preparation of suitable text-books ; the promotion of the physical, moral, scientific and technical education, calculated to develop the material resources of the country. Lastly, new schools and colleges will be started with a suitable course of studies. The above is subject to the approval of the General Committee appointed at the recent Conference.

THE MARVEL OF JAPANESE EDUCATION.

In the *National Review* Mr. E. P. Culverwell supplies a most interesting paper on Japanese Education and Character. He says that the Japanese child in an elementary school breakfasts at six, and stays at school from seven till twelve. These

five hours are broken by gymnastics and play. Sunday is a whole holiday, Saturday is a half-holiday, a fortnight in midwinter, a week in April and the month of August. An English teacher of some years' experience, reports that he never saw Japanese school boys quarrel. There is, at least, one school journey in the year, when everything that can be taught is taught. There is no corporal punishment. No Japanese teacher ever loses his temper without being disgraced. The pupil's mental attitude is earnestness. The English schoolboy's fashion of despising school task is unknown. Children of all classes, rich and poor, go together to the same school. All classes in Japan are characterised by extraordinary courtesy of action and speech. There are few honorary prizes for "the precepts of the Sermon on the Mount are far more faithfully observed in Japan than in those nations of Christendom which profess to recognize their Divine authority;" for duty, not self-advancement, is the motive appealed to. But loan scholarships are given, the student promising to repay them afterwards for the benefit of another student. Gymnastics are carefully taught, parrot memory is discouraged. Morals are taught two hours a week in the elementary schools, one hour a week in the secondary schools. Moral maxims are illustrated by deeds of history or actions of private men. These stories are not tales of triumphant strength and conquest, but of self-effacement. The nearest approach to them in Christian teaching would be the stories of the martyrs, but for the Japanese mind the martyr's hope of reward in heaven would rob the act of virtue. This force of self-control and self-effacement is rooted in public opinion, habit, and patriotism. Of religious enthusiasm there seems to be none. A class of children in 1892, asked what was their dearest wish, wrote, "To be allowed to die for our beloved Emperor." The Emperor is an abstraction put in the place for God reserved in our minds. The writer adds a note to say that since Western education has passed out of the hands of the Missionaries, Christianity has been practically at a standstill in Japan.

FEMALE EDUCATION IN JAPAN.

"We propose to show that the Japanese have not neglected a factor in National Education to which Eastern peoples are often culpably indifferent and apathetic. The heroic deeds which can be laid to the account of the fair sex are no less astonishing than the achievements of the "scientific fanatics." This is the title which the patriotic soldiers of Japan have won on account of their Spartan contempt. We learn from the *Practical Teacher* of London that the most notable of Japan's Universities is the University for women established at Tokyo in the year 1900. The idea of founding a University like this did not meet with universal acceptance inasmuch as the orthodox portion of the Japanese nation offered strenuous opposition to it. But subscriptions poured in and adequate buildings were constructed on a site given by the Mitoni family Even before the University was formally opened applications for admission were received in such large numbers that hundreds of intending students had to be refused admission. The number of students at present on the rolls of the University is between 600 and 700. The recent war will have the effect of swelling the number inasmuch as many women will have to renounce the idea of marriage and seek independent means of livelihood. The staff comprises 49 professors, 9 tutors and 9 lecturers. All the professors are natives with the exception of 2 from England and 1 from the United States. The compulsory subjects taught at the University are psychology, child-study, ethics, hygiene, purericulture, and the history of the fine arts. To these are added Japanese etiquette, and the art of arranging flowers. Other subjects of study are chemistry, physics, domestic economy, Asiatic history, philosophy, the laws and constitution of Japan, English, music, drawing and painting. The resident students act in turn as house-wives and, under the direction of a lady professor, learn how to manage efficiently the affairs of a Japanese household. With doubtful wisdom the authorities have fitted up one of the dormitories in the European style. Students can, at their own request, be admitted to it and under the guidance of a teacher be initiated into English modes of life. The Japanese are a poor and economical people and if they encourage their ladies to copy Western modes of living, the consequences will be fatal to their national well-being."—*Arya Patrika.*

LEGAL.

THE BARRISTER PLYING FOR HIRE.

Incidentally in the discharge of his "duty" it falls to the barrister to blacken the character of hostile witnesses. This is notoriously now a scandal of the courts. A witness is called to prove that a prisoner was drunk, and he is forced to answer questions regarding his past life which have no relation to his credibility. Often judges will intervene and prevent this, but oftener still the mischief is already done by insinuation, and in any case the latitude extended to counsel is preposterous. It would thus seem as though the barrister of to-day, the courteous, blackcoated, and amiable gentleman of everyday life, is in his professional capacity a survival of barbarism and a perverser of justice. He is in effect a modern bravo at anyone's hire. You pay his fee, he will assail the character and pocket of your adversary with all his might, cunning, and vehemence. But, unlike the bravo, he has not to be sought in secret and under the rose. He plies for hire openly; he lives in respectable chambers, and his name is on the door.—*Morning Leader*.

PERJURY.

"Perjury," said Mr. Justice Ridley at the Assizes "is becoming very common". If Mr. Justice Ridley only knew, perjury has always been very common, and always will be as long as the present system of cooking evidence is allowed. The way in which a "brief" is prepared for a barrister by a certain class of solicitor is an instance. The solicitor's desire is to win the case. He, therefore, touches up and improves the evidence of witnesses, and has the "fair copy" typewritten. He, or his clerk, hands this to the witness after standing him several drinks, with the remark: "Oh, here's your evidence. Read it over carefully, and if there is anything there which you object to saying, let me know." The witness, fed with drink ad lib., and comforted by the promise of a handsome recompense in the shape of "expenses," learns his lesson and swears to the thing which is not. Barristers may claim that their only wish is to elicit the truth, but truth is so skilfully interwoven with the fiction that their desire is only too often unattainable. —*Free Lance*.

THE WILL OF SUICIDES.

"Eight months ago a 'bookmaker' committed suicide, and at the inquest the jury returned a verdict to the effect that he had slain himself whilst he was temporarily insane. By his last will, made shortly before the fatal act, he had left over £2,000 to some lady friends with whom he lodged. In the Probate Division of the High Court his relatives sought to upset this will, contending that he was mentally incapable of making a will at the time alleged, for the verdict indicated that he had not the sound disposing mind which is essential for the execution of such a legal instrument. The President, however, pronounced for the validity of the will. A coroner's jury can only deal with the state of mind of a successful *self*-murderer at the time of his death, it has nothing to do with the mental condition of a prisoner whom the coroner commits for murder or for manslaughter. Its opinion as to a suicide's state of mind has, apart from life insurance practice, very little forensic weight attached to it should subsequent legal proceedings arise in connection with the death. The opinion cannot be given as a proof but merely as an indication of the facts of the case. Since early in the reign of George I, it has been doubtful whether the finding of an inquest jury that a suicide was lunatic can be received in evidence in a trial of an issue out of Chancery of that fact. It was claimed in vain that death by suicide during temporary insanity was an accident within the terms of an insurance policy. A suicide's last act is allowed to stand, although he be immediately afterwards declared to have been insane."—The *Lancet*.

THE LAW AS TO ROYAL MARRIAGES.

"The publication of the Fitzherbert papers seems to have led to some confusion. Royal marriages are expressly exempted from the Marriage Act of 1754 (Lord Hardwicke's) and latter Acts, and are, therefore, only subject to the law in force before 1754, which required nothing but the presence of a clergyman of the Church of England or of Rome at the solemnisation. Members of the Royal family, consequently, 'can validly marry without banns or licence, and in a place where marriages could not otherwise be solemnised, as, for example, in a private room or chapel not licensed for marriages.' (Encycl. of Laws.) But, on the ether hand, they alone are subject to the Royal Marriage Act of 1772 which declares that no descendant of George II. (other than the issue of Princesses married or who may marry into foreign families) shall be capable of 'contracting matrimony' without the previous consent of the Sovereign, and every marriage without that consent is to be "null and void."—*The Pall Mall Gazette*.

MEDICAL.

NOBLE VEGETARIANS.

Under the attractive and daintly displayed heading of "Living on fruits and vegetables," the *Daily Mirror* gives the portraits of Baron and Baroness Meyer, Lord Charles Beresford, commanding the Mediterranean Fleet; Lady Henry Somerset, Mr. George Bernard Shaw and the Countess of Essex. Did we feel at liberty to do so, we could considerably add to the list of such names. The *Daily Mirror* also tells us that :—

"Vegetarianism has become so popular of late among members of the peerage that no smart dinner is complete without a separate menu of 'fad' dishes for the food reformer."

"The majority of noble vegetarians are known as "Wallaceites,' or devotees of the system of food-reform introduced by Mr. Joseph Wallace. Their pet aversions are salt and all kinds of fermented foods. Lady Henry Somerset has been a most ardent follower of the new diet. Her menus include only bread, fruit and vegetables. She believes that a vegetable diet for the masses would eliminate the drink evil. Lady Paget strongly advocates the use of apples as food. Lord Charles Beresford, fighting man that he is, has become a convert to vegetarianism, and his youthfulness is attributed to a well regulated diet. Mr. George Bernard Shaw has made himself famous as a vegetarian by his flings at the meat-eating public. He has called meat-foods "scorched corpse," and has said that when he dies he wants all the animals he has not eaten to attend his funeral.

"Other prominent advocates of the vegetarian diet are the Countess of Essex, Lady Windsor, Lady Gwendolen Herbert, Lady Hamilton, Mrs. C. Leigh Hunt Wallace, and the Earl of Buchan."

DEATH IN HANGING : REFORM WANTED.

A correspondent of the *Lancet* sends some peculiar facts in connection with four cases of judicial hanging which he attended as medical officer. In each case the drop was 11 feet, and everything apparently went smoothly. Case 1.—The heart was observed beating five minutes after the drop. Case 2.—The executed prisoner expanded his chest in an attempt to inspire two and a half minutes and his heart ceased beating four and a half minutes after the drop. Case 3.—An attempt to inspire occurred three and a half minutes and the heart did not cease beating till nine minutes after the drop. Case 4.—An attempt to inspire occurred four and a half minutes and the heart stopped six and a half minutes after the the drop. It appears, therefore, that death is by no means instantaneous in judicial hanging. Surely it is time that our method of executing murderers was enquired into and reform instituted, if found necessary.

AT WHAT AGE ARE WE STRONGEST ?

The muscles, in common with all the organs of the body, have their stages of development and decline; our physical strength increases up to a certain age, and then decreases. Tests of the strength of several thousands of people have been made, and the following are given as the average figures: The lifting power of a youth of seventeen years is 280 lb.; in his twentieth year this increases to 320 lb.; and in the thirtieth and thirty-first years it reaches its height, 365 lb. At the end of the thirty-first year the strength begins to decline, very solwly at first. By the fortieth year it has decreased 8 lb., and this diminution continues at a slightly increasing rate until the fiftieth year is reached, when the figure is 330 lb. After this period the strength fails more and more rapidly until the weakness of old age is reached. It is not possible to give statistics of the decline of strength after the fiftieth year, as it varies to a large extent in different individuals.

THE EFFECT OF DRESS COLOURS ON HEALTH.

For people to wear black or dark-coloured cloths habitually is not a good thing. Medical men have long been trying to get us to realise that a person's surroundings have a great deal to do with his general health. Even the cloths he wears have their due effect on his temperament and disposition, and, therefore, upon his health. It is because everything looks so bright in summer that we feel gay and lively, although from another point of view also, the sun itself is a wonderful health giver. On a cloudy, rainy day, it would be much better in dress to strike a greater contrast to the weather than we do. This would offset the gloomy outdoor world and make things seem more cheerful, thereby improving the general disposition of oneself and all with whom one comes in contact.

SCIENCE.

MECHANICAL SCIENCE IN JAPAN.

Of Japanese progress in Mechanical Science, Professor R. H. Smith says as follows :—

"The birth and rise of a new mechanical science in Japan, will soon transform our old-world machinery into unusable antiquities if our Scottish, and English, and German, and American engineers do not gird up their loins and educate themselves to a really scientific standard in the design of machines. We must throw overboard the hoary simplicities of Molesworth and Kempe; we must no longer be dumb, faithful followers of rule-of-thumb instead of reason and observation; for fetish worship at the altar of formulas we must substitute common-sense consideration of practical requirements; we must abandon the habit of 'assuming' a hyperbola to be a straight line 'for the sake of simplicity in calculation' merely because somebody said 80 years ago that it appeared to be not very far out of the straight; we must study economy and efficiency with dreadhard scientific accuracy, and those who decline to take the trouble to do so must be requested to step off the manufacturing stage. It is, of course, a troublesome programme to set before a nation who has never 'passed' beyond linear equations of a single unknown quantity, but there are so many unknowns in Nature, and so many degrees in art, that those who will not move beyond the simplicities of last century must certainly succumb to the new yellow science of mechanical manufacture. There is yet time to escape the peril, because, although the baby is already clever with his tools, he is not yet endowed with any abundance of reserve strength or capital."

EXPERIMENTAL WORK IN BENGAL.

Dr. Cook's report in the sulphate of copper treatment of tanks in India does not carry out the great hopes at first launched out by our American friends. One great point of difference is that the experiments in America were carried out with clean tanks with only a thin layer of algæ which were easily precipitated by the copper. In India the tanks are very foul, and thick with often very strong and thick masses of algæ. To precipitate this would require an enormous quantity of copper sulphate. Lately experiments have been conducted in Bengal by the Sanitary Commissioner in his circle, whose results, though not published, are also not favourable to the treatment.

But malarial operations are being carried out by that energetic officer, Captain Gourlay, I.M.S., in certain districts, and in one especially to prove, if possible, by way of an example to other districts the likelihood of success. The experiments are still being continued with vigour. This young sanitarian has found that copper sulphate can (but in a very strong dose) kill the larvæ of culex, but that for some reason or other it is impossible to kill the larvæ of anopheles—at least with such, much, stronger solution as he experimented with. The question to determine is: if after all anopheles pools have been destroyed will not anopheles be forced to lay their eggs in places at present only relegated to culex? We think so.—*Extract.*

A DISTINGUISHED PHYSICIST.

Lord Rayleigh, who has been nominated for the coveted position of President of the Royal Society in succession to Sir William Huggins, is a distinguished physicist, and in co-operation with Sir W. Ramsay discovered the presence of gas-argon in the atmosphere. Lord Rayleigh was born in 1842 and educated at Trinity College, Cambridge, where he gained many academic honours, being senior wrangler and first Smith's Prizeman in 1865. He is Lord Lieutenant of Essex, and Professor of Natural Philosophy at the Royal Institution. At one time his Lordship was Professor of Experimental Physics in the University of Cambridge, and in 1866 was elected a Fellow of his College. In 1871 he married the daughter of the late Mr. James Maitland Balfour, of Whittingehame, Prestonkirk, and has three sons living.

A NEW ACHIEVEMENT IN WIRELESS TELEGRAPHY.

In order to prevent wireless messages interfering with one another, endeavours have been made to send electrical waves only in one direction, as luminous signals are given off from a concave mirror. Professor Braun has been engaged in experiments of this kind, and in a lecture held recently before the Strassburg University Association of Electricians and Naturalists he announced that these experiments had come to a successful conclusion. Professor Braun's methods are based on the fact that three antennæ arranged in the angles of a regular triangle are excited by waves of the same periodicity, but of different phases. The inventor states that one of the three antennæ begins vibrating by 1,250,000 seconds earlier or later than the two others, this difference in time being kept up according to experiments with an accuracy of about one second in three years. This will result in different radiation according to the difference of the space and by simply inverting a crank the direction of maximum effects can be shifted by 60 or 120°.

PERSONAL.

YOUNG INDIANS ABROAD.

A note in *The Indian Magazine and Review* for November has brought together a number of facts regarding some of the young Indians who are now receiving scientific and technical training out of India. A Mr. N. D. Daru, of Surat, is in Canada, to learn practical mining, having been sent there by the India Office to take a post-graduate course in practical Geology by studying the methods of the Canadian Geological Survey in the field and the laboratories. He obtained in England the double Associateship of the Royal School of Mines, in Metallurgy and in Mining, besides being the first graduate in the London University B. Sc. Examination in Metallurgy. He has been on tour with the Director of the Canadian Geological Survey and a party to learn Geological work in the Nova Scotian goldfields On his return to India he is to be employed in the Government Geological Survey Department. Another Geologist Mr. Balaram Pandurang, who has done mining work in the Central Provinces and Berar, has been awarded a technical scholarship of £150 a year to help him to complete his studies in mining at the Birmingham University. There are more than half a dozen Indian gentlemen at the Municipal School of Techonology in Manchester which is said to be a splendid institution of technical education. Few of them hail from Bombay Presidency, including the Municipal Secretary of Sholapur to learn Sanitary Engineering, a Parsi gentlemen, a State scholar, to study the textile industry, Dr. Jattar from Poona to study advanced Chemistry. From other parts of India, there are Mr. Chowdhuri from Bengal, who is making a living as meteorological observer supplying forecasts of the weather to local papers; also a Mr. Mudga who is carrying on a successful business in Manchester as a shipper under the name of Koshish and Co., and Pandit Shiv Dat Ram, of Amritsar, who has turned to business after a long career in the Education Department of the Punjab. There is hope for India yet if its students turn to such practical and scientific pursuits rather than to Government service, the Law or Education; and the way these young men are prosecuting their studies certainly does them credit.

A STORY ABOUT KING EDWARD.

When King Edward was Prince of Wales his habits and movements were marked by great simplicity. In the days before His Majesty's accession, he was one day driving a dog-cart alone and unattended, when he encountered on a country road an old woman coming back from market, carrying a heavy basket. She seemed very weary and the Prince stopped and talked to her. Then he offered to give her a lift, which the good dame gladly accepted. Chatting as they went, His Royal Highness asked the old woman what she had in her basket.

"Eggs, butter, and fruit, which I hope soon to find customers for," was the reply.

"I like fresh eggs," said the Prince, "and if you'll let me have some I'll give you the portrait of my mother."

"The portrait of your mother!" exclaimed the poor woman in astonishment. "What good would that do me?"

"Well, you never know," said the Prince of Wales, smiling; "just you let me have the eggs." And as they were nearing her cottage, His Royal Highness laid his hands on the basket, took out half-a-dozen eggs, and handed the old woman a sovereign.

THE LATE SIR RICHARD COUCH.

Sir Richard Couch was born in 1817, called to the Bar in 1841, appointed a judge of the Bombay High Court in 1862, Chief Justice of Bombay in 1866, and Chief Justice of Bengal in 1870, retiring from India in 1875. He was appointed to the Judicial Committee of the Privy Council until 1881. From that year onwards, however, his name has figured almost constantly in the reports of those cases coming before the Privy Council which are of interest to India. He was knighted in 1875.

THE LATE SIR CLINTON DAWKINS.

Born in 1859 he was educated at Cheltenham and Balliol, and entered the India Office in 1884. He subsequently became Private Secretary in succession to Lord Cross, Secretary of State, and to Mr. Goschen when Chancellor of the Exchequer. In 1891 he acted as representative of the Peruvian Corporation in South America. His next appointment was that of Under-Secretary of State for Finance in Egypt, in 1895. In 1899 he was appointed to succeed Sir James Westland as Finance Member of the Government of India, but only held the post for a year, as in 1900 he returned to England as a partner in the firm of J. S. Morgan and Co.

GENERAL.

THE AWAKENING OF NATIONAL CONSCIOUSNESS.

India has an encouraging object lesson in Norway. It enables Indians to learn, what constitutes a nation and what circumstances favour the birth of the national sense in a people. The *Dawn Society's Magazine* for November has an instructive article on the subject, which assumes the same point of view.

"That bringing home to the people of a country—all that has belonged to that people and the awakening of a passionate and spontaneous love for place and people,—this must for ever represent the central fact in all movements for the awakening of the national sense".

"With the birth of the national idea in Norway two things forced themselves upon the attention of the Norwegians, as of paramount importance (1) the institution of a national festival to celebrate the birth-day of Norway, as a free independent indivisible kingdom; and (2) the foundation of a national university". The National day is the 17th May as on that day in the year 1814 the dissolution of Norway from Denmark took place, and the university of Christiania is the national university. Since then the 17th May has been a day of festivity for Norwegians. "A national university and a national literature for Norway were signals for Norway's intellectual independence", and national drama and national music followed not long afterwards. The great novelist Bjornson supplied the want of a national song, which breathes but pure love to the country and its people.

And this "national inheritance," for the creator of Norway's National music was nothing but a passion for his country—the land and the people, its folk songs and "folk-music" and its dances; and its mountain forests and dark nights and "terror-striking" storm on the seas; a spontaneous, passionate love for place and people, a steadfast love and hope for the common people such as distinguishes the martyr-patriots from the rest of mankind.

The basis of nationality, then, is to be found in a deep-seated, abiding love and hope for the common people, the land or the soil and people. It is through such love and hope that one learns to *think* of his country *as a whole*. Indians have lost the habit of thinking like a king and they have got to recover that habit. And with us the love of the common people, must be the basis of a national awakening, for through this love and hope for them should we be able once more to think of our country *as a whole*, and so recover a habit which is the secret of all self-government.

JAPANESE COMMERCIAL HONESTY.

The *Times* prints an interesting letter giving some details of the sale of the "Encyclopædia Britannica" in Japan as a kind of set-off to the recent letter of the Bishop of South Tokio on Japanese character.

Ninety-five per cent. of the "Encyclopædias" sold in Japan, it is stated, were sold to the Japanese. In Japan, as elsewhere, each purchaser, when he signs his "order-form," promises to pay, on certain dates, certain sums of money. "In Japan the monthly payment was 10 yen, equal to about a sovereign, while in this country the amount was a guinea. In Great Britain less than half the payments arrived on the day promised. In Japan less than 1 per cent. of the payments were even one day late, and more than one-half of the payments were made the day before they were due, because the Japanese did not like to run the risk of any accidental delay that might make them even one day late. The cost of collecting these instalment payments in Japan is less than half as much as in England, simply because the Japanese are so punctilious that clerical labour and postage are not expended in reminding them that their payments are overdue. They seem to look upon every debt as a debt of honour, which must not be forgotten for even a day. There is certainly no such delicacy of feeling in this country about commercial transactions."

RENUNCIATION IN THE MAKING UP OF A NATION.

The October number of *Buddhism* the organ of the International Buddhist Society in a closely reasoned article considers the part played by the doctrine of Renunciation in the making up of nations and observes that wheresoever the spirit of Renunciation has not been the dominating power of life there the weakness is seen; the degeneration and evanishment of peoples and of States once mighty; the overthrow of Empires and the subversion of immemorial thrones. It attributes the decay of the Roman Empire to the abandonment of the ideal of self-sacrifice for the well-being of the Roman State and the substitution of the incomparably lesser ideal of living one's life that one might win to personal glory and to a life beyond the grave. Of India, the writer says: "If on India has fallen so much of suffering and such irredeemable poverty as appears to-day, it has been because India abandoned this great teaching of Renunciation."

——:o:——

Swami Vivekananda.

Messrs. G. A. Natesan and Co., of Madras, have rendered an important public service by publishing a handsome volume of nearly 700 pages of the Speeches and Writings of Swami Vivekananda, the price being fixed at Two Rupees only. * * * This is the first attempt to put together in a single comprehensive volume a representative collection of his works—the spoken as well as the written word. Besides a selected number of lectures, the book before us contains "a choice collection of the contributions of the Swami to various papers and periodicals hitherto not available in book form; some of his private letters to friends; and a selection from the beautiful poetry that he wrote in the true spirit of the seer." * * * There is that in this book which will remind the reader of the vanished hand and hushed voice of one of the most remarkable men India has produced in recent times. Leaving the book itself to the judgment of the reader, we think, we might say something about the man, since we had the privilege of knowing him long and intimately.—*The Indian People.*

———:o:———

The publishers have certainly endeavoured to perform a public duty in collecting the Speeches and Writings of Swami Vivekananda, for there is scarcely a word which fell from the lips of that great teacher which does not deserve to be reverently stored up and studied.

* * * * * *

Space will not allow us to follow the teaching of Swami Vivekananda further, but we would strongly recommend our readers to study for themselves this collection of his Speeches and Writings now brought into the easy reach of all.—*The Madras Times.*

POVERTY AND UN-BRITISH RULE IN INDIA.

By Dadabhai Naoroji. This is a compendium and reprint of all that the author has uttered on this, and on kindred subjects, during a long and busy life. These consist of a paper read before the East India Association in 1876, correspondence with the Indian Office 1883, a memorandum on the moral poverty of India of 1880, papers of 1887 refuting articles by Sir Mountstuart Grant Duff, the author's speeches in the House of Commons in 1894 and 1895, his contributions written in 1895 to the Royal Commission on Indian Expenditure; a paper on the simultaneous Examination question, his statements submitted to the Indian Currency Committee in 1898, selections from his addresses and a paper on the State and Government of India under its native rulers. Price Rs. 4. To subscribers of the *Indian Review*, Rs. Three. To those who purchase two copies at a time Rs. 2-8 each. This concession to subscribers of the *Review* only. Apply to G. A. Natesan & Co., Esplanade, Madras.

INDUSTRIAL INDIA.

By Glyn Barlow, M.A., Principal, Victoria College, Palghat, and formerly Editor of *The Madras Times.*

CONTENTS.—1. Patriotism in Trade. 2. Co-operation. 3. Industrial Exhibitions. 4. The Inquiring Mind. 5. Investigation. 6. Indian Art. 7. Indian Stores. 8. India's Customers. 9. Turning the Corner. 10. Conclusion. Rs. 1-8. To subscribers of *The Indian Review*, Re. 1 only. G. A. Natesan & Co., Esplanade, Madras.

A LIST OF REPUTABLE HOME MANUFACTURERS

Trading with the Colonies and India.

Medicinal Preparations.

Prepared according to

Professor J. K. Gajjac's Formulae.

THE PLAGUE PROBLEM SOLVED.

The Plague Solution, 8 Annas.

HIGHEST PERCENTAGE OF CURES.

This is a preparation which is very extensively used by Medical men, Hospitals, Plague authorities, Municipalities, and laymen. It is a very popular remedy because by simply following the simple instructions, you can cure the largest percentage of plague patients.

GERMICIDE, 8 Annas.

This preparation, if taken internally by persons nursing the infected or by those moving or living in infected localities, disinfects and keeps the internal system so sweet, clean and healthy, that it furnishes no proper soil for any disease germs (such as Plague) to take root in.

BUBO OINTMENT, 4 Annas.

It is used for external application to Buboes in Plague cases.

DISINFECTING FLUID, 8 Annas.

Is used for disinfecting the sick room, the surroundings, closets, excreta of patients, &c., &c. It is superior to Phenyle, and such other preparations, as it destroys the smell directly by preventing decomposition and does not, by a strong smell of its own, disguise the offensive smell.

Other Preparations Equally Efficacious.

FEVER DROPS.

(Concentrated Fever Solution.)

A specific for ALL SORTS OF FEVERS. It is unfailing in its action. As. 4 per bottle.

Cholera Solution.

A well-known cure for Diarrhœa, Dysentery, and Cholera. As. 8, per bottle.

Blood Purifying or Alterative Solution.

Dispelling all poisonous matters, it improves the blood and gives tone to the whole system. Strongly recommended for Syphilitic diseases. Re. 1. per bottle.

FOR MEDICAL MEN ONLY

Liq. Iodine Terchloride.

For Plague Fevers and all germ diseases As. 12 per oz.; Rs. 11 per lb. in stoppered bottle As. 3 & 6 extra.

Ung. Iodine Terchloride.

For all skin diseases, As. 4 per bottle.

Antiseptic Lotion.

For the Surgeon and his Assistants in dressing wounds, &c., and also for syringing the various cavities in the body. As. 8 per bottle.

Of all Chemists or Wholesale from the undersigned.

PACKING, POSTAGE AND FORWARDING CHARGES EXTRA.

Special terms to the Trade, Hospitals, Municipalities and wholesale purchasers. Sent by **V. P. P. or Cash on Delivery.** When ordering, please state whether the same should be sent by Post or Rail and write legibly the name of the Post Office or Railway Station.

N. B.—As there are several places with the same name, the District in which and the Railway line on which your place is situated should be mentioned in order to prevent confusion and delay.

Address :—The Superintendent, **TECHNO-CHEMICAL LABORATORY,**
Girgaum, Bombay.

Telegraphic Address :—" Chemicus, BOMBAY,

THE

ORIENTAL REVIEW

OF

Politics, Literature, Science, Art & Sport.

Published Every Wednesday.

PUBLISHERS' NOTICE.

"THE ORIENTAL REVIEW" is published every week by **R. Cleven & Co.**, at the **"Crown Printing Works," Homji Street, Fort, Bombay.**

All business communications and remittances should be addressed to the MANAGER, The *Oriental Review*.

The Editor will be pleased to accept contributions on Literary, Scientific, Social, Municipal, Sanitary, and Political subjects, and pay for them if they are accepted.

SUBSCRIPTION RATES.

(Post Free, Payable in Advance.)

	INDIA. RS.	A	FOREIGN. S.	d.
QUARTERLY	3	8	5	0
HALF-YEARLY .. .	6	0	8	0
YEARLY	10	0	15	0

Advertisement Rates on Application to

Messrs. Cleven & Co., BOMBAY.

IN CEREBRAL DISORDER

USE OUR WORLD-FAMED

KESHRANJAN OIL

THE BEST HAIR TONIC.

IT CURES BALDNESS; SOOTHES THE BRAIN; REMOVES DANDRUFF; PRESERVES, BEAUTIFIES AND RESTORES HAIR.

MILLIONS OF INDIA'S best people use our

World-Renowned Keshra Oil.

Price per phial Re. 1. Packing and postage As. 5. 3 Phials Rs. 2-8. Packing and Postage As. 11.

The Condition that makes Life worth Living.

And how that is to be secured perhaps you may not know. Our AMRITABALLI KASHAYA is a safe remedy for all skin and blood disease and if you suffer from any troublesome malady due to an impure state of Blood arising from whatsoever cause, you should test the value of our AMRITABALLI-KASHAYA—the world famed Blood-purifier and restorer. It is the only successful specific for that virulent disease . . . . which can be cured in any of its stage. The effects of mercurial poisoning are thoroughly eradicated from the system and painful ulcers, scrofula, scurvy, bad legs, eczema, spots and pimples of all sorts are perfectcy cured.

Price per Phial ... ... Rs. 1- 8.
Packing and postage ... ... As. 0-11.

KAVIRAJ NOGENDRANATH SEN,

Govt. Medical Diploma-holder,

18-1, & 19, Lower Chitpur Road, CALCUTTA

THE IMPERIAL AND ASIATIC QUARTERLY REVIEW

AND ORIENTAL AND COLONIAL RECORD.

(FOUNDED JANUARY, 1886.)

Third Series.] **OCTOBER, 1905.** [Vol. XX, No. 4

CONTENTS.

ASIA.—Lieutenant-Colonel Sir David Barr, K.C.S.I.: "Hyderabad: Past and Present."
W. Hughes, M.A., M.I.C.E.,: "Madras Irrigation and Navigation."
Sirdar Arjan Singh (of Kapurthala): "Early Marriages in India."
L. V. Dalteu, F.R.G.S.: "Sakhalin or Karafto?"

ORIENTALIA.—Professor L. Mills, D.D.: "The Dualism of Isaiah xlv. 7: Was it Zoroastrian?"

COLONIES.—G. Brown, M.D.: "A Trip to the Antipodes" (*continued*).
Alfred Edmund Murrell: "A Trip round Sunny Ceylon."

GENERAL.—E. H. Parker: "Kashgar."
J. B. Pennington: "India in the Victorian Age."

PROCEEDINGS OF THE EAST INDIA ASSOCIATION.

CORRESPONDENCE, NOTES, AND NEWS.

REVIEWS AND NOTICES.

SUMMARY OF EVENTS in Asia, Africa, and the Colonies.

PUBLISHERS: ORIENTAL INSTITUTE, WOKING.

SUBSCRIBE

FOR THE

D. A. D. COLLEGE, UNION MAGAZINE.

In Advance. Annual Subscription, Re. 1. (Including postage.)

From bona fide Students, As. 12. (Including postage.)

Pages 32. *Size Royal-octavo.*

A HIGH CLASS MONTHLY DEVOTED TO

Literary, Scientific, Philosophical and Educational Topics,

AND

Containing the fullest information regarding the Working and Progress

OF THE

DAYANAND ANGLO-VEDIC COLLEGE,

Published at Lahore

IN THE

FIRST WEEK OF EVERY MONTH

Under the Editorship of

Babu Yajneshwar Ghose, M.A.

AND

Lala Gokal Chand, M.A.

Apply to—**THE MANAGER.**

RARE OPPORTUNITY:—FOR PRESENTS ONLY.

Never offered before at such a great sacrifice.

FOR CLEARANCE ONLY.

Courvoisierreres and Omega F Watches. Gold, 18 & 14ct. Keyless and Keywinding, Hunting, Half Hunting and Open faced.
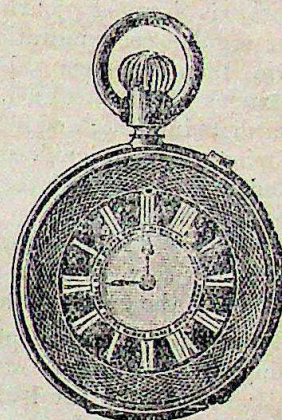
Different sizes offered for a short time only below actual cost prices. To prevent disappointment

Apply Sharp to—

MESSRS. HEGERLE, SULZER & CO.,
20, Hummum Street, BOMBAY.

P. S. PONNOOSWAMY PILLAY,

CABINET MAKER AND UPHOLSTERER.

Established 1874.

No. 42, Rattan Bazaar Row, Madras.

GENTLEMEN,

I beg to inform many numerous patrons and customers that I keep always in stock a large supply of TEAKWOOD AND ROSEWOOD BED, DRAWING, DINING AND BATHROOM FURNITURE, and that I guarantee to supply the best materials at reasonable rates instead of breaking down the prices by supplying shabby articles. I have also the pleasure to express that all my European Patrons are well satisfied, and they always recommend me to their friends with confidence and reliance.

Yours faithfully,

P. S. PONNOOSWAMY PILLAY.

"INDIAN OPINION"

Is a practical demonstration of those principles of **UNITY! EQUALITY! FREEDOM!** which are rightly claimed and sought for by all **BRITISH INDIANS IN SOUTH AFRICA.**

Published Weekly in Four Languages :—English, Gujarati, Hindi and Tamil.

———:o:———

Subscription, | per annum, post-free.

Printed and produced by English and British Indian labour combined.

You can best assist your countrymen's struggles for liberty

by at once becoming a subscriber to "Indian Opinion".

Money Orders should be made payable to

The International Printing Press.
PHOENIX, NATAL.

THE MADRAS LAW JOURNAL.

THE LEADING LAW JOURNAL IN INDIA:

EDITED BY

V. KRISHNASWAMI AIYAR, B.A., B.L., P. R. SUNDARA AIYAR, B.A., B.L., and P. S. SIVASWAMY AIYAR, B.A., B.L.

THIS Journal was started in 1891 and has obtained a wide circulation in India. It contains articles on legal questions of interest or difficulty, discussions of important Bills before the Legislative Councils and of important decisions, suggestions for the remedy of existing defects in the law, translations from Sanskrit texts, critical notes of the Indian decisions, and brief notes of English cases, besides interesting extracts from other professional Journals. The Journal also contains a report of important and recent decisions of the Madras High Court and occasionally of the Privy Council.

It offers an excellent medium for advertisement to book-sellers and publishers.

The Journal is published monthly by the Proprietors at their Office in 45, High Court Buildings, Madras.

TERMS OF SUBSCRIPTION.

Annual Subscription in India	Rs. 12
Foreign rate of Subscription	One Guinea.

TERMS OF ADVERTISEMENT ON APPLICATION.

NOTE.—From 1901, the Acts of the Imperial and Local Legislative Councils will be published as a supplement and given free to subscribers.

The Digest of the first ten Volumes (1891-1900) can be had on application to the Madras Law Journal office for Rs. 5/-postage Extra. A Supplemental Digest of the subsequent Volumes up to July 1903 can be had for Re. 1/. Postage Extra.

All money orders and communications to be addressed to—

P. S. Sivaswamy Aiyar, B.A., B. L., Managing Proprietor, 45, High Court Buildings, Esplanade, Madras.

THE WEDNESDAY REVIEW

IS

A HIGH CLASS WEEKLY JOURNAL OF POLITICS, LITERATURE, SOCIETY, SCIENCE, ETC.

HAS AN EMINENT LIST OF CONTRIBUTORS.

Some Press Opinions.

Sir Alfred Lyall.—'I have received several numbers of the *Wednesday Review* which you have been good enough to send to me. The moderation in tone, the choice of subjects, and the good English writing are very appreciable; and since I think that high class periodical literature is of great value in India. I wish your enterprise substantial success.'

Sir P. M. Mehta. M.A., K.C.I.E.—'finds the paper conducted with great ability.'

J. B. Pennington, Esq., I.C.S. (RETIRED).—I should like to congratulate you on the very excellent get up of your new venture the *Wednesday Review*,......I have read the first two numbers you so kindly sent me from beginning to end with the greatest interest and may take them as a text for notice elsewhere.'

The Hon. Mr. Gokhale, B.A., C.I.E.—' Your Review seems to be a Journal of striking excellence, and I heartily congratulate you upon it. I wish we had more journals of this kind in this country.'

D. E. Wacha, Esq.,—'Your Review which I read carefully, is edited excellently."

We wish our contemporary every success and full fruition of its laudable ambition to " act as faithful interpreters between Englishmen and Indians, and try to bring nearer to each other the two races whose destinies have been so providentially wedded together." The *Madras Mail*, January 19, 1905.

We trust that the *Wednesday Review* will be able to fulfil the mission it has so bravely and patriotically undertaken and that before long it will establish itself as an instrument and power for good in the land......Indeed, the issue before us affords promise of a bright future. The subjects chosen for comment and the manner in which they are dealt with show judgment, care and literary ability which, with increased experience, knowledge and influence, are sure to grow ever more. The *Madras Standard*, January 19, 1905.

The first three numbers of the *Wednesday Review*, a new English weekly issued from Trichinopoly in the Madras Presidency by Mr. S. M. Rajaram Rao, are carefully edited, form interesting reading, and bear promise of future usefulness for the journal. The *Wednesday Review* is got up on the lines of the *Saturday Review*—the appearance in fact so closely resembles the famous London weekly that at first sight one mistakes it for the latter......The *Indian People*, February 5, 1905.

Judging from the appearance and get-up of the numbers before us we have no hesitation in saying that the journal will soon prove itself an ornament and credit to Indian Journalism.......The *Panjabee*, February 6,1905.

It is one of the best-written papers in the country, and is conducted with judgment and ability. The *Indian Social Reformer*, Bombay July 30, 1905.

The *Wednesday Review*, has completed the first six months of its existence. The able editor and his devoted band of contributors are to be heartily congratulated on the success of the venture so far.... Though published in a provincial town, with no prospects of a territorial partition which might elevate Trichinopoly to the importance of a capital, there is nothing provincial about the Review and it ought to be as much appreciated to Aska as it is at Tuticorin: The *Indian Spectator*, Bombay August 12, 1905.

RATES OF

Subscription Rs. 8 in India. Foreign 15 Shillings.

☛ Subscriptions may be paid in half-yearly or quarterly instalments.

Advertisements Rs. 8 per page for every insertion. Proportionate rates for half and quarter pages. Contract rates on application.

It is requested that all communications be addressed to :—

THE WEDNESDAY REVIEW OFFICE,
TEPPAKULAM, *Trichinopoly.*

S. M. RAJARAM RAO,
Editor & Proprietor.

THE CRIMINAL LAW JOURNAL OF INDIA

A MONTHLY LEGAL PUBLICATION

CONTAINS

1.—Full Reports of all the Recent Published Criminal Cases decided by various High Courts, Chief Courts and Judicial Commissioners' Courts in India, and reported in—

I. Allahabad Series (Indian Law Reports). 2. Allahabad Law Journal. 3. Allahabad Weekly Notes. 4. Bombay Series (Indian Law Reports). 5. Bombay Law Reporter. 6 Burma Law Reports. 7. Calcutta Series (Indian Law Reports). 8. Calcutta Weekly Notes. 9. Central Provinces Reports. 10. Kathiawar Law Reports. 11. Lower Burma Chief Court. 12. Madras Series (Indian Law Reports). 13. Madras Law Journal. 14. Mysore Chief Court Reports. 15. Oudh Cases. 16. Punjab Law Reporter. 17. Punjab Records. 18. Sind Sadar Courts Criminal Rulings.

II.—Reports and Notes of Recent English and American Criminal Cases. III.—Articles, Notes and Discussions on Criminal Law Topics. IV.—Penal Enactments passed by various Legislative Bodies in India.

ANNUAL SUBSCRIPTION Rs. 12.

Advertisement Rates	Single Insertion. Rs.	Twelve Months. Rs.
FOR A FULL PAGE	10	100
FOR HALF A PAGE	6	60
FOR QUARTER OF A PAGE	4	40

The Manager, "*The Criminal Law Journal of India,*" LAHORE, PUNJAB, INDIA.

SOME OF THE OPINIONS.

The Hon'ble Sir FRANCIS WILLIAM MACLEAN, Kt., K.C., K.C.I.E., *Chief Justice, High Court, Calcutta.* "No doubt but that it will prove a useful publication."

The Hon'ble Sir SUBRAHMANIA AIYAR, B.L., K.C.I.E., *Offg. Chief Justice, High Court, Madras.* "I have glanced through it, and have no doubt the journal will be of great use to Practitioners and Judges bringing together in a handy form the case law of the day and other valuable matters connected with Criminal Law in this country."

The Hon'ble Mr. JUSTICE R. HARINGTON, *Judge, High Court, Calcutta.* "The Criminal Law Journal, I have no doubt, will prove a useful publication."

The 'Patriot.'

The only English Weekly of Gujarat.

PUBLISHED EVERY SATURDAY FROM AHMEDABAD.

This is the only English weekly of independent views and liberal thoughts published from Ahmedabad—the metropolis of the commercial province.

It treats of all the questions of the day, reviews books and supplies news, etc.

Every year a good and readable book consisting of crown 8vo., 250-300 pp. will be presented to subscribers free of any charge.

Annual subscription is only Rs. six per annum, post free. Foreign subscription is 12s. per annum.

Specimen copy sent free on application. As this is the only paper of the province of Gujarat, it is read by all classes of men both Europeans and Indians and hence it is a good medium for advertisements, rates for which can be obtained from

The Manager, Patriot,
AHMEDABAD.

Just ready.—The Writings and Speeches of the late Mr. V. R. SANDHI, the Jaina representative to Chicago Religious Congress. Vol. I.

Price Rs. 1-8. Postage extra.

Apply Sharp :— MANAGER, PATRIOT,
AHMEDABAD.

THE

Kolar Gold Fields News.

The only Newspaper devoted to Mining interests in India.

Published every Wednesday morning

With an earlier and later edition for the Mails.

ITS CIRCULATION OFFERS AN EXCEPTIONALLY VALUABLE VEHICLE TO

ADVERTISERS

As a means of bringing their business to the attention of a splendid trade, and especially commends itself to merchants and business men as the medium through which to reach a very desirable class of patrons.

ALBERT CORNELIUS,
Proprietor & Editor.

Place of Publication:—
BOWRINGPET,
Kolar District,
SOUTH INDIA.

E A D I E
EADIE CYCLES
BUILT BY THE EADIE MFG. CO., LTD., REDDITCH.
A Machine, Rigid, Safe, Fast, Light, and Graceful in appearance.
Write for
Catalogue & Prices.
T.R.RAM&Co. MADRAS.
AND WHICH HAS MORE TALKING POINTS THAN ANY OTHER CYCLE COMPONENTS MADE.
The Front Forks are of registered design, D to round section 19 gauge, with machined fork ends.
The Box Crown is of exceptionally strong design, and smart in appearance.
The Hubs are oil-retaining and dust-proof.
The Cones and Cups are made from finest tempered cast steel.
The Bottom Bracket is of the latest and most approved design. The Bearings, known as "Two Point," ensure easy running and simplicity of adjustment.
The Chain Adjusters are novel—the adjustment being effected by a draw bolt and nut, allows the wheel to be actuated in either direction.
Agents : T. R. Ram & Co., City Cycle Works, Esplanade, Madras.
A D I
A D I
E A D I E
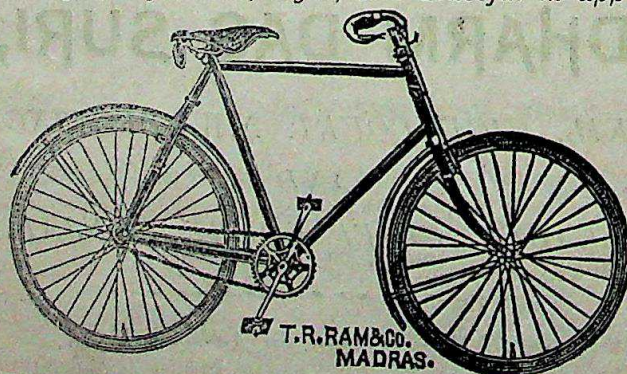
The Mysore Review.

(An English monthly devoted to Science, Industry, Agriculture, Literature, Society, &c., &c., and contributed to by the best men of the day in and out of the Province.)

Contributions are invited on all topics of general interest, and they must bear the full subscription of the authors. **Industrial and Agricultural articles will receive prior consideration.**

Also short stories bearing on the Social and Economic Problems of the Indian People are published if interesting.

Sample copies will be sent only on receipt of stamps to the value of 6 annas 6 pies.

SUBSCRIPTION.

Rs. 5 INDIAN: 8s. Foreign.

Single copy 6 annas.

TO ADVERTISERS.

(The cheapest medium for advertisement.)

Per page	per month	Rs. 8.
Per ½ a page	do.	,, 4.

And corresponding rates for ¼ page, &c. Casual advertisements six annas per line per issue.

Apply to:

THE MANAGER, MYSORE REVIEW, MYSORE.

THE MAHRATTA.

The cheapest and one of the best newspapers in the Bombay Presidency.

PROPRIETOR:

BAL GANGADHAR TILAK, B.A., LL.B.

EDITOR:

N. C. KELKAR, B.A., LL.B.

Annual Subscription in India, Rupees 4 only inclusive of postage.

(The "Mahratta" is a fearless critic of political and social matters and voices forth the sentiments of the large class of catholic orthodoxy in matters religious and is a progressivist in politics.)

HOMŒOPATHIC POOR DISPENSARY.

P. O. Kankanady, Mangalore, S. C.

Mother Tinctures, powders and high dilutions.
Schussler's Tissue Remedies, all at 2 As. per dram.
External pills and low dilutions, at 1½ As. per dram.
A box of the 30 principal medicines in 1½ dram phials, Rs. 3-4; in 2 dram phials, Rs. 6.

Manual of Homœopathy, Rs. 3-4-0.
Domestic Indicator, by Dr. W. Schwabe, As. 8.
Homœopathic Guide, by Dr. Luyties, As. 8.

The Schussler's Tissue Remedies.

Boxes with lock and key containing all the 12 tissue remedies may be had in 4 dram phials at Rs. 5,
in 1 oz. phials at Rs. 8.
in 2 oz. phials at Rs. 14.
in 4 oz. phials at Rs. 20.

Biochemic Guide, by Dr. Luyties, As. 8.
Biochemistry, by J. B. Chapman, M.D., Rs. 4.

The Soleri-Bellotti Specifics,

at As. 4 per tube.
A box of the 33 specifics, Rs. 7.
A small trial box of the 16 principal remedies, Rs. 2-8-0.
Guide for the same Re. 1.

Send for Price List.

N.B.—*All the profits go to the Leper Asylum, the Hospital and the Poor House.*

Renowned as the Physician for 200 years past of
H. H. the Jam Saheb of Jamnagar.

TWO UNFAILING FRIENDS OF THE WEAK.

1. Madan Manjari Pills.

Perfectly harmless and most wholesome native medicine prepared from vegetable drugs. These pills are all excellent tonic and restorative. Purification of blood, the invigorating of nerves and the rebuilding of broken-down constitution are the chief among many of its wholesome functions. For loss of memory and vital powers, losses in sleep and with dreams and for all sorts of urinary complaints they are the safest and the surest remedy. It is impossible to come across a more effective medicine in cases of general and seminal debility. A medicine which enjoys an unbroken record of a successful career for the last two hundred years must attract all sufferers towards it. In short, they are a boon to the doomed, a hope to the hopeless and sure of a cure. Price Re. 1-0-0 for 40 pills.

2. Napunshakatwari Ghrit.

It is the herald of a strong and permanent manhood and is an invaluable remedy for impotency. It has effected so prompt and permanent a cure to all those who have used it, that thousands of unsolicited testimonials as to its wonderful curative powers, are pouring in from all quarters every year. A medicine that has known no failure for the last 200 years cannot fail to give a speedy relief to all sufferers. Price Re. 1-0-0 for 2 Tolas. Postage extra.

All medicines of the best quality can be had at this Hall.
Ours is the oldest Medical Hall on this side of India.

BRANCH OFFICE,
Kalbadevi Road,
BOMBAY.

RAJ VAIDYA NARAYANJI KESHAVJI,
Proprietor, Ayurvedodaya Aushadhalay, Hd. Office, Jamnagar, Kathiawar.

SCIENCE SIFTINGS.

A POPULAR PRECIS OF THE WORLD'S SCIENTIFIC WORK.
15th YEAR OF PUBLICATION

One Penny Weekly. 6s. per Annum, Post Free.

It should be in every Household because it shows the taste for Science.

It should be in every Laboratory and Workshop because it keeps the Scientist up-to-date.

Ask your Newsagent or Bookstall for it, or send 1*d.* for Specimen Copies.

A NEW BOOK.

A sleeping Giant 4*s.* post free.
Every reader should possess a copy of this Novel, which is based on hypnotism with hospital experiments.

Publishing & Editorial Offices:
123, 124 & 125, FLEET STREET, LONDON, E.C.

"THE VIVEKA CHINTAMANI."

Devoted to the Diffusion of Truth and Knowledge.
As the Way to Health, Happiness and Life through Self-help, Self-control and Self-culture.

The *Vivekachintamani* aims at revealing the "Truth as it presents itself to a seeker who seeks it without reference to this or that more or less imaginary divine system" as a correspondent puts it, and it shows unmistakable evidence in its pages of an earnest desire to demonstrate that the ultimate ideal of all true religions is the unification of mankind; and its writings of late are imbued with such a spirit."—*The Brahmavadin.*

Published by the Diffusion of Knowledge Agency, Anandashrama, (2, Sydogy Lane,) Triplicane, for Satyananda of the Ananda Misssion.

Subscriptions registered by Volume only. *(May April), and cannot be discontinued in the middle of the Volume.* Yearly Rs. 4. Thick Paper Edition Rs 5. Payable strictly in advance. Foreign 5*s.* 6*d.* & 7*s* 6*d.* a year.

Apply with remittance to
The Secretary, D. K. Agency, Anandashrama,
Triplicane, Madras.

BENARES EXHIBITION.

Have a look at the **Diamond Soap** exhibits and write for V. P. orders to

THE MANAGER
Diamond Soap Co.,
Girgaon, Bombay.

IMPORTANT NOTICE.

STUDENTS' SERIES OF LAW BOOKS

BY

M. L. AGARWALA, B.SC., LL. B. (LONDON),

Barrister-at-Law.

1. **The Principles of Equity** with reference to Mortgages, Specific Reliefs and Trusts, 318 pages, with copious Index, Double Crown 16mo. cloth .. .. Rs. 3.

2. **The Law of Transfers of Property and Easements** containing the Transfer of Property Act, the Indian Succession Act, the Probate and Administration Act, the Hindu Wills Act, and the Easements Act, with a Table of Cases and a copious Index, Double crown 16mo. cloth .. .. Rs. 3.

3. **The Law of Contracts and Torts,** containing the Contract Act, the Negotiable Instruments Act, and the Law of Torts with a Table of Cases and a copious Index, 422 pages, Double Crown 16mo. cloth .. .. Rs. 4.

4. **The Criminal Law,** containing the Penal and the Criminal Procedure Codes, and the Whipping Act with a Table of Cases and a copious Index, 700 pages, Double Crown 16 mo. cloth. Rs. 4.

5. **The Tenancy and Revenue Laws** of the United Provinces of Agra and Oudh, 289 pages, with a Table of Cases and a copious Index Crown 8 vo. .. .. Rs. 3

6. **The Registration and Stamps Laws** containing the Registration Act, the Stamp Act, the Court Fees Act, and the Suits Valuation Act with a Table of Cases and a copious Index. Rs. 3

7. **The Law of Limitation,** containing the Limitation Act 450 pages with a Table of Cases and a copious Index .. .. Rs 4.

8. **The Hindu and Muhammadan Laws,** 362 pages, with a Table of Cases and a copious Index, Crown 8 vo. .. .. .. Rs. 4

ORIENTAL LANGUAGES.

	Rs.	A.	P.
Baital Pachisi (*Nagri Character*) ..	0	4	0
Do. Translated into English by CAPTAIN W. HOLLINGS	0	12	0
Gulistan (*Urdu Character*)	0	8	0
Do. Translated into English ..	1	0	0
Gul Bakauli (*Urdu Character*) ..	0	5	0
Do. Translated into English ..	0	12	0
Chahar Darvesh (*Urdu Character*) ..	0	6	0
Do. Translated into English ..	1	0	0

Ram Narain Lall, Book-seller, *ALLAHABAD.*

THE INDIAN MESSENGER

A Weekly Religious and General Newspaper.

Advocates Social, Political and other Reforms on the basis of a free and liberal Religious Faith.

Records the work done by the Brahmo Samaj and other liberal religious organisations.

Contains articles on doctrinal and practical Religion, Eastern and Western Philosophy and other kindred subjects.

And gives a comprehensive summary of general news.

Subscription in India. Rs. 4—0—0 } per
In foreign countries. „ 4-12—0 } annum.

A good medium of advertisement.

211, CORNWALIS ST., CALCUTTA. MANAGER, *Indian Messenger.*

USEFUL BOOKS.

Modern Letter Writer. (Seventh-Edition).— Containing 635 letters. Useful to every man in every rank and position of life for daily use. Re. 1, post 1 anna.

Helps to the Study of English, (Third Edition).— Containing an exhaustive collection of Phrases, Idioms, Proverbs, with their explanations and proper uses. Rs. 3, post 3 annas.

Every-Day Doubts aad Difficulties (in reading, writing and speaking the English Language.) *Third Edition* Re. 1, post 1 anna.

A hand-Book of English Syanonyms.—Explained illustrative sentences. *(Third Edition)* Aids to the right use of synonymous words in composition. Re. 1, post 1 anna.

Beauties of Hinduism.—With Notes. As. 8. Post 1 anna. *Wonders of the World* (in Nature, Art and Science.) Very interesting and instructive. Re. 1, post 1 anna.

Select Speeches of Great Orators. Vols. 1 & 11.— These books help to write idiomatic English, to improve the oratorical and argumentative powers, &c. Each Volume Rs. 2, post $1\frac{1}{2}$ annas.

Solutions of 642 very important examples in *Arithmetic, Algebra and Geometry.*—for Entrance and Preparatory Classes. Rs. 1-8, post 1 anna.

Solutions of over 300 typical examples in *Trigonometry.* For F.A. students Rs. 1. post 1 anna.

By V. P. Post 1 anna extra. To be had of:—

The Manager,
"*INDIAN ECHO*" *OFFICE,*
106, Upper Circular, Road.
CALCUTTA.

A. Splendid Xmas' Prsenet.

Rs 100! Rs 100!! Rs 100!!!

To mark in a special manner the Visit of Their Royal Highnesses

The Prince and Princess of Wales,

We offer two pricess of Rs. 50 each to any one among our subscribers who correctly places the first three horses in either of the two following Races :—

I. The Viceroy's Cup.
II. The Prince of Wales' Cup.

In the event, of ties the prices will be divided. (Races run on 26th & 30th December 1905.)

Answers, which should be addressed to the **"Competition Editor", Evening Dispatch, Poona** must reach us not later than by the first post on Saturday 23rd December, 1905.

☞ *N.B.* Only subscribers who have paid in their subscription for 6 months in advance (*viz.*, Rs. 12) will be entitled to compete.

ALL REPLIES MUST BE ON OUR COUPONS.

A competitor may send in as many answers as he likes.

☞ **Become a Subscriber at once.**

Reports of Criminal cases between Europeans and INDIANS.

Out! Out!! Out!!!

The first volume of the above work containing all available Criminal Cases between Europeans and Indians decided in 1901 is just out. The volume contains among others the following cases:

CONTENTS OF VOL. I.

1. The Bihta Soldier's Assault Case. 2. The Dinapur Soldiers' Case. 3. The Daudpore Soldiers' Case. 4. The Fort William Murder Case. 5. The Hazaribagh Shooting Case. 6. The Cawnpore Robbery Case. 7. Charge against a Gunner. 8. The Benares Assault Case. 9. Assault by a Tea-Planter. 10. A Rangoon Assault Case. 11. The Madras Planters' Case. 12. The *Englishman* Office Assault Case. 13. The *A. B. Patrika* Defamation Case. 14. The Darjeeling Soldier's Case. 15. The Allahabad Soldier's Case. 16. The Lyall Case.

Price Rupee One.

Postage and V. P. P. Charges (Annas Two) extra.

To be had of K. M. BANERJEE, "Indian Empire" Office, Shambazar, Calcutta.

Vol. II and vol. III which will contain cases decided in 1902 and 1903 are in the press.

For fuller particulars apply for a *free* copy of the *Indian Empire* newspaper, Calcutta.

THE ANNALS AND ANTIQUITIES OF RAJASTHAN by Lieutenant-Colonel James Todd, in two vols., consisting of 1,648 pages bound in half morocco popular Edition Rs. 3-8. Postage and V. P. P. extra.

For the above, please apply to K. M. Banerjee, *Indian Empire* Office, Shambazar, Calcutta.

THE

LONDON DIRECTORY.

Containing over 2,000 pages of condensed commercial matter, enables enterprising traders throughout the Empire to keep in close touch with the trade of the Motherland. Besides being a complete commercial guide to London and its Suburbs, the London Directory contains lists of :—

EXPORT MERCHANTS

with the Goods they ship, and the Colonial and Foreign markets they supply;

STEAMSHIP LINES

arranged under the Ports to which they sail, and indicating the approximate sailing;

PROVINCIAL APPENDIX

of Trade Notices of leading Manufacturers Merchants, etc., in the principal provincial towns and Industrial centres of the United Kingdom.

A copy of the 1904 edition will be forwarded freight paid on receipt of Post Office Order for £1,

THE LONDON DIRECTORY & Co. Ltd,

25, Abchurch Lane, London, E.C.,

England.

THE ROAD TO WEALTH.

Is not in Government employ, but in industrial and commercial pursuits, which have mad England what it is and have brought Japan to the forefront among the nations of the earth. I you want an opportunity to know how money grows, read the *Indian Economist* publishe monthly. The important problems of successful money-making are herein explained, showin how men became rich. It gives facts which may help you to make money and may be the basis a fortune. It tells how you may make money with limited capital and how you may becon independent, whether your income is large or small. It will interest every one who desires better his financial condition.

Only a few of the **Press Notices** are here given.

1. The "Nagasaki Press," (Japan).

"....Now that a commercial convention has been signed between Japan and India, granting a reciprocal customs tariff, it is certain that the trade between the two countries will rapidly increase and the *Indian Economist* should prove of much value to merchants in this country. Every department of Indian trade and commerce receives attention and the special articles are well written and interesting.

2. The "Eastern World," (Japan).

"....The Press notices appearing in it show that the venture has been well received and the contents warrant the favourable opinions its contemporaries have expressed about it, the editorials covering a wide range of topics within the scope of the paper...."

3. The "Observer," (Lahore).

"Now when there is a universal desire for the industrial development of India, the absence of journals exclusively devoted to industry and commerce was an anomaly. The appearance of the *Indian Economist*, we are sure, removes the reproach........it will prove most useful in assisting in the agricultural, industrial and technical education of the Indian youths, as it will help those who are already engaged in commerce and industry. It also contains valuable information for investors and useful hints to other men of business. The annual subscription is Rs. 2, a very moderate price, judging from the get-up and print."

4. "The Madras Mail," (Madras).

"Those interested in the industrial and econo mic development of India will heartily welcom the *Indian Economist*. The journal owes its birt to a feeling on the part of a large section of edu cated Indians....The aim of the *Indian Econ mist* is to promote the study of the causes o this decay and to suggest methods for the in dustrial revival of the country....Besides th editorial, there are many other contributions interest in the magazine....It is a complete r cord of the month's activities in this new fie throughout India and serves as an excelle medium to acquaint leading workers in vario parts with what their fellow workers are doin in other parts to secure their industrial salvatio The journal is offered at the very low rate subscription of Rs. 2 per annum which ought place it within the reach of all."

5. "The Hindu Patriot," (Calcutta).

"The get-up and the printing of the journ are truly admirable and such excellent work rarely turned out by an Indian press....the su ject are immensely useful and instructive and ma if properly read and studied, turn away t thoughts of the educated public from Governme service to commerce, which is the object wi which the journal has been started. The ne items are carefully selected and the papers on t different industrial subjects are thoughtful, vari and interesting, and contains a good deal of i formation......The annual subscription is Rs. only, an extremely cheap rate....

Annual Subscription (inclusive of postage) Rs. 2 **payable in advance or by V. P.** Sample free.

N. N. BOSE & Co., 11, Harrison Road, Calcutta

SOME IMPORTANT BOOKS.

Report of the Indian Universities' Commission.—Extracts from the Report. Price As. 8. To subscribers of the *Indian Review*. As. 4.
Teaching Universities ; The Senate ; The Syndicate ; Graduates of the Universities ; Governing the College ; Teaching Staff of a College ; Buildings, Furniture, etc. ; Discipline and Residence of students ; Courses of Study ; Classical Languages of the East ; Vernacular Language of India ; Matriculation and Government Services ; Universities' Funds ; Legislation ; Conclusion. Also Justice Bannerjee's Minute of Dissent in full.

IMPERIAL JAPAN.

The country and its people, by G. W. Knox, with a number of illustrations. Price Rs. 5-10.
CONTENTS :—The tradition ; Asiatic civilisation ; Feudal wars ; The Awakening ; Buddhism ; The religion of the common people ; Confucianism ; the religion of educated men ; Philosophy for the people ; The war of the 'Samurai' ; The life of 'Samurai' in Old Japan ; The life of 'Samurai' in New Japan ; The common people ; Farmers, Artisans and Artists ; Merchants, women and servants ; Language, literature and education ; Tokyo, with an introductory chapter on 'The point of view.'

Land Problems in India.—CONTENTS :—The Indian Land Question. *By Mr. Romesh Chunder Dutt, C. I. E.* Reply to the Government of India. *By Mr. Romesh Chunder Dutt, C. I. E.* Madras Land Revenue System since 1885. *By Dewan Bahadur R. Ragunatha Rao.* The Madras Land Revenue System. *By Mr. Ganjam Venkataratnam.* The Bombay Land Revenue System. *By the Hon. Mr. Goculdas Parekh.* The Central Provinces Land Revenue System. *By the Hon. Mr. B. K. Bose.* Proposal of a Permanent Settlement. *By Mr. Romesh Chunder Dutt, C. I. E.*
APPENDIX.—Memorial of Retired Indian officials. Full Text of the Resolution of the Government of India. Opinions of Local Governments: The Central Provinces, Madras, The Punjab, The N. W. Provinces and Oudh and Bengal. Sir Louis Mallet's Minute on Indian Land Revenue. Lord Salisbury's Minute on Indian Land Revenue Sir James Caird on the condition of India. Mr. J. E. Sullivan on Indian Land Revenue. The Proposal of a Permanent Settlement in the Central Provinces. Proposal of a Permanent Settlement in Madras. Proposal of a Permanent Settlement in Bombay. Land Revenue under Hindu rule. Land Revenue under Mahomedan rule.

British Industries under Free Trade. Essays by members of leading English firms. Edited by Harold Cox, *Secretary of the Cobden Club.* Linen by Sir R. Lloyd Paterson ; Wool by Sir Swire Smith ; Cotton by Elijah Helm ; Grocery by J. Innes Rogers ; Alkali by Alfred Mond ; Coal by D. A. Thomas ; Tramp Shipping by Walter Runciman ; Shipping Liners by M. Ll. Davies ; Cutlery by F. Callis ; Soap by A. H. Scott ; Silk by Mathan Blair., etc. Rs. 4-8.

Labour and Protection. Essays edited by H. W. Massingham. Political Dangers of Protection ; Protection as a Working Class Policy ; in the Days of Protection ; the Workman's Cupboard ; the Co-operative Housewife ; the People on the Margin ; Protection and the Staple Trades ; and other essays. Rs. 4-8.

The Inner Life of the House of Commons. Selected from the writings of William White, with a Prefatory Note by his son. Rs. 5-5.

Swami Vivekananda: An exhaustive and comprehensive collection of his Speeches and Writings, with five portraits. 672 pp., crown octavo., cloth bound. Price Rs. Two. To subscribers of the *Indian Review*, Re. 1-8.

Atlas of Hind[illegible] Astronomy.—With Key and Notes, by Kali[illegible] Mukerji, B.A., B.L. (In Devanagiri type) wit[illegible] plates.—**Price Rs. 3.**

AGGRESSIVE HI[illegible]SM. By the Sister Nivedita of Ramak[illegible]ivekananda, Author of "The Web of I[illegible]." As. 4. To subscribers of the *Ind*[illegible] As. 2.

Industrial India[illegible] [illegible]lyn Barlow, M.A. Price Rs. 1-8. To sub[illegible] the *Indian Review*, Re. 1 only.

SRI SANKARACHARYA. I. His Life and Times. By C. N. Krishnaswami Aiyar ; M. A., L. T. II. His Philosophy. By Pandit Sitanath Tattvabhushan. It is hoped that the readers of this volume will find therein such materials of thought and history as will enable them to know accurately the position of Sankara in the evolution of the national, religious life of the Hindu people and enable them also at the same time to estimate correctly the great value of this work in life as viewed from the stand-point of history. Both in one volume. Cloth bound, Re. 1.

———:o:———

Apply to :—G. A. NATESAN & CO., Printers and Publishers, Esplanade, Madras.

WADESHI MOVEMENT.

INDUSTRIAL INDIA

BY GLYN BARLOW, M.A.

PRINCIPAL, VICTORIA COLLEGE, PALGHAT.
FORMERLY EDITOR OF "THE MADRAS TIMES."

CONTENTS.

DETAILED CONTENTS.

Price Rs. 1-8. To Subscribers of the "Indian Review," Re. One only.

HE DICTIONARY OF STATISTICS.

By Michael G. Mulhall. Rs. 15-12.

Part 1.—Comprehends all statistics from the iest times. Part II.—Since 1890.

HE WORLD'S OPINIONS.—Emile de lge—"This admirable dictionary." Leroy ulien—"The quintessence of statistics." Baron ortie—"His statistics are most reliable." mann Spallart—"History of Prices is accu-."

on Beacon—"This wonderful work stands alone."
my—"An unrivalled arrangement of statistics."
Times—"A boon to the student or public writer."
tor—"Compiled in a convenient and intelligible form."
nto Globe—"Clear, accurate and comprehensive."
kly Register—"They are a mine of facts."
k Lane Gazette—"The model of a statistical work."

British Industries under Free Trade.

Essays by members of leading English firms. Edited by Harold Cox, *Secretary of the Cobden Club.* Linen by Sir R. Lloyd Patterson; Wool by Sir Swire Smith; Cotton by Elijah Helm; Grocery by J. Innes Rogers; Alkali by Alfred Mond; Coal by D. A. Thomas; Tramp Shipping by Walter Runciman; Shipping Liners by M. Ll. Davies; Cutlery by F. Callis; Soap by A. H. Scott; Silk by Mathan Blair., etc. Rs. 4-8.

Labour and Protection. Essays edited by H. W. Massingham. Political Dangers of Protection; Protection as a Working Class Policy; in the Days of Protection; the Workman's Cupboard; the Co-operative Housewife; the People on the Margin; Protection and the Staple Trades; and other essays. Rs. 4-8.

Apply to—G. A. NATESAN & CO., BOOKSELLERS, ESPLANADE, MADRAS.

The OLIVER
STANDARD VISIBLE WRITER